रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ

अनुवादक

रामसिंह तोमर



साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

Ravindranath ki Kahaniyan – **Hindi translation by Ram Singh Tomar of Rabindranath Tagore's 21 short stories in Bengali. Sahitya Akademi, New Delhi. Price Rs. 8/– (1961).**

प्रथम संस्करण, १९६१

विश्व भारती प्रकाशन विभाग के सौजन्य पे
इस संस्करण का प्रकाशन

मुद्रक :
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य : आठ रुपये

सूची

परिचय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों के संकलन का देवनागरी लिपि में प्रकाशन तथा भारत की प्रधान भाषाओं में उनके अनुवाद को प्रकाशित करने की साहित्य अकादमी की योजना की वे सभी भारतीय प्रशंसा करेंगे जो श्रेष्ठ साहित्य का आदर करते हैं।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों ने उन्हें विश्व के कहानी-कला के श्रेष्ठतम शिल्पियों में स्थान प्रदान किया है, अतः उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा करना रोचक होगा। किन्तु ऐसा करने के पूर्व हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कहानियाँ लिखना ही उनके जीवन का प्रधान कार्य नहीं था और वे उन धाराओं में से, जिनमें होकर उनकी बहुमुखी प्रतिभा व्यक्त हुई है, केवल एक का प्रतिनिधित्व करती हैं। यहाँ प्रस्तुत की गई कहानियों के उचित मूल्यांकन की दृष्टि से प्रारम्भ में ही उनके लेखक के व्यक्तित्व, उसकी उपलब्धियों की प्रकृति तथा सीमाओं को मोटे तौर पर समझ लेना सहायक होगा।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर संसार के महानतम साहित्यकारों में से हैं। यह तो सर्वविदित है कि गीति-कवि की दृष्टि से किसी युग तथा देश में उनकी बराबरी करने वाला दूसरा कवि नहीं हुआ, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्य अनेक काव्य-रूपों की रचना में भी उन्होंने श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त किया। महाकाव्य को छोड़कर साहित्यिक अभिव्यक्ति का ऐसा कोई प्रकार नही है जिसके प्रयोग में उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त न की हो। कवि के रूप में तो वे महान् थे ही, अपने उपन्यासों में, कहानियों में, गद्य-पद्य दोनों में लिखे गए सामाजिक नाटकों तथा रूपकों में, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक और धार्मिक विषयों पर लिखे अपने निबन्धों में, अपने अनेक सरस पत्रों में, प्रभावशाली साहित्यिक समीक्षाओं में, बच्चों के लिए लिखी आकर्षक पुस्तकों में, आत्म-परिचयात्मक संस्मरण आदि में भी वे कम नहीं है। सृजनात्मक प्रेरणा उनमें इतनी बलवती और आग्रहशील थी कि साठ वर्ष से भी अधिक समय तक निरंतर साहित्य-रचना के पश्चात् भी वह क्षीण नहीं हुई। उनके रचे साहित्य की

प्रचुरता और विविधता अद्‌भुत हैं, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस परिमाण में से अधिकांश बहुत ही उच्चकोटि का है। सुदीर्घ जीवन-व्यापी अपनी कला के सतत अभ्यास ने उसे क्षीण और रसहीन बनाने की अपेक्षा उल्टे अनुपम सौंदर्य से युक्त नई कृतियाँ प्रदान कीं।

लेखक के रूप में रवीन्द्रनाथ की पहुँच और गहराई उनके समृद्ध और उच्च व्यक्तित्व के केवल एक पक्ष को ही प्रकट करती हैं, और उनके विषय में यह कहना नितांत सत्य है कि अपनी प्रसिद्ध कविता के सम्राट् शाहजहाँ के समान वह अपनी रचनाओं से भी महान् हैं। उनकी महत्ता तथा हमारे समय और भविष्य के लिए उनके महत्त्व को पूर्ण रूप से तब तक समझना संभव नहीं होगा जब तक हम उनके विविध कार्यों को एक-दूसरे के साथ मिलाकर नहीं देखेंगे और उनके जीवन को एक पूर्ण प्रकाशमान नक्षत्र के रूप में नहीं देखेंगे। उनकी प्रारंभिक अवस्था का समय ऐसा था जब उन्होंने अपनी पारिवारिक जायदाद की देख-भाल करते हुए पद्मा नदी के किनारे स्थित बंगाल के गाँव के आकर्षक वातावरण में जन-समाज की आँखों से ओझल रहकर एकांत जीवन बिताना पसंद किया था, जहाँ वे गरीबों के घरों के नीरव जीवन-प्रवाह का सहानुभूति से निरीक्षण करते थे और विविध प्रकार की साहित्य-रचना करके, विशेषकर कविताओं और कहानियों की रचना में सारा दिन व्यतीत करते थे। किन्तु उनके लिए वह जीवन बहुत दिन तक नहीं टिक सकता था, क्योंकि उनके अन्दर की शक्ति उन्हें निरंतर चिर नूतन कार्यों के लिए प्रेरित कर रही थी और उन्हें बीच में आराम करने के लिए नहीं छोड़ सकती थी। इसलिए हम उन्हें सदा आगे बढ़ता पाते हैं और अपने लिए किसी एक काम या सफलता पर संतोष करके बैठे नहीं देखते। उस समय के लिखे हुए पत्रों में से एक में हम उन्हें यह कहता हुआ पाते हैं कि वे विविध प्रकार के कार्य स्वीकार कर रहे थे; क्योंकि वे सोचते थे कि वास्तविक महत्त्व के कार्य द्वारा ही मनुष्य अपने को पूर्ण कर सकता है। विशाल जगत् के मनुष्यों और उनके विविध क्रिया-कलापों के साथ अपने को एकरूप करने की अपनी इच्छा के कारण पद्मा के किनारे के सुखमय एकांत शांतिपूर्ण जीवन को छोड़कर वे परिश्रम और संघर्ष के जगत् में प्रविष्ट हुए। यह केवल एक उदाहरण है कि जब जीवन एक विशेष ढंग पर निर्बाध गति से प्रवाहित होने लगता तो वे कैसे एक प्रकार की ऊब का अनुभव करने लगते और मुड़कर एक नया पथ ग्रहण कर लेते जो सृजनात्मक प्रयास के विशाल क्षेत्र में ले जाता। उनके जीवन में यह बार-बार घटित हुआ, और एक अध्याय बंद करके नये अध्याय का प्रारंभ करने में, जो उनके व्यक्तित्व

के अभी तक किसी अज्ञात पहलू को प्रकट होने का स्वतंत्र अवसर प्रदान कर सकता, उन्होंने कभी संकोच का अनुभव नहीं किया।

रवीन्द्रनाथ की सृजनात्मकता की किसी एक अभिव्यक्ति को अलग करके देखना भूल है। उन्होंने जो कुछ किया उसमें से—उनकी साहित्यिक कृतियों में, उनकी गीति-रचनाओं में, विश्वभारती तथा ग्राम-संगठन-केन्द्र और श्री निकेतन के कार्य में, हर प्रकार के अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध उनके संघर्ष में, स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष में उनके योगदान में, संसार के लोगों के समीप भारत का संदेश पहुँचाने के लिए पूर्व और पश्चिम में की गई उनकी अनेक यात्राओं में, संसार के प्रतिष्ठित व्यक्ति के नाते प्रत्येक देश के उच्चतम व्यक्तियों के साथ उनके घनिष्ठ संपर्क में, और अन्य अगणित कार्यों में—एकता और सामंजस्य का स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है। वह प्रधान और केन्द्रीय स्वर कहाँ से आया यह हम अभी देखेंगे। एक व्यक्ति का इतने प्रकार की प्रतिभाओं से सम्पन्न होना एक अद्भुत बात है और उनमें इन शक्तियों का जो सम्मिलित सामंजस्य था वह और भी दुर्लभ बात है। उनके व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों ने एक-दूसरे से जैसे अभिन्न रूप में मिलकर उनके व्यक्तित्व को सर्वांग पूर्णता प्रदान की थी। जो भी कार्य उन्होंने किये अथवा अपने हाथ में लिये, जैसा कि हम स्पष्ट करने की चेष्टा करते आ रहे हैं, वे विविध, विभिन्न तथा प्रायः प्रभावशाली महत्त्व के थे। किन्तु वे उन्हें इतनी शांति के साथ तथा ऐसे सलीके और अधिकार के साथ करते कि दर्शक उन्हें बिलकुल सरल समझ बैठता था—और यह भूल जाता था कि उनके पीछे प्रायः जीवन-भर की तैयारी थी। निरन्तर कार्य में लगे रहने पर भी इस महापुरुष को नीरवता और विश्राम का जो वातावरण घेरे हुए दिखता उसका ध्यान आते ही आश्चर्य होने लगता है। उनकी भावनाएँ, निजी जीवन की संकीर्ण सीमाओं में नहीं, अपितु विश्व-भर की मानवता में बसती थीं; और उनमें मानवीय भाव-जगत् और मानवीय जीवन की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों के प्रति आश्चर्यजनक संवेदनशीलता थी। फिर भी उनका चित्त और व्यक्तित्व अविचलित रहता था।

अपने आत्म-परिचय के एक सुन्दर उद्धरण में उन्होंने उस विश्वास और आदर्श के रहस्य से हमें परिचित कराया है जिसने जीवन में उन्हें प्रेरणा दी, उनका पथ-प्रदर्शन किया और उनके नाना कार्यों को यह समन्वय प्रदान किया। मैं उसको यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ, "मैंने इस पृथ्वी को प्रेम किया है, महत्ता के सम्मुख श्रद्धा से सिर झुकाया है, मैंने मुक्ति की कामना की है—उस मुक्ति की जो परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण से आती है। उसमें निहित मानव-सत्य में

मैंने विश्वास किया है, वह सदा मानव-हृदय में निवास करता है। मैं अपनी बाल्यावस्था से साहित्य-साधना बड़ी लगन से करता आ रहा हूँ, मैं उसके क्षेत्र से परे पहुँच गया हूँ, और मैंने यथाशक्ति अपने समस्त कृतित्व और त्याग को परमात्मा के प्रति नैवेद्य के रूप में एकत्रित किया है। यदि बाहर से मुझे विरोध मिला है तो गहन आंतरिक संतोष से मैं पुरस्कृत भी हुआ हूँ। मैं इस पवित्र तीर्थ, इस पृथ्वी पर आया हूँ। यहाँ प्रत्येक युग और देश में मानव-इतिहास के केन्द्र में उसका ईश्वर रहता है। उसी ईश्वर की वेदी के चरण तले मैं ध्यानमग्न होकर बैठा हूँ, और अहंकार और भेद-बुद्धि से मुक्त होने के कठिन प्रयत्न में निरंतर लगा रहा हूँ।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो कुछ लिखा तथा जो कुछ किया उस सबमें यही आदर्श उन्हें प्रेरित कर रहा था। अपने देशवासियों के लिए जो सर्वोत्तम देन वे दे सकते थे उसे वे अपनी साहित्य-रचना तथा अपने अनुपम, सुन्दर और उदात्त जीवन की अमूल्य विरासत के रूप में छोड़ गए हैं। उनका मस्तिष्क सारे संसार के लिए उन्मुक्त था। वह मस्तिष्क जहाँ "सारा विश्व एक ही नीड़ में एक साथ समा सकता था।" अपनी उपलब्धियों की महत्ता और अपने व्यक्तित्व की महिमा के फलस्वरूप उन्होंने अपने युग पर अधिकार किया और अपनी जाति के लोगों के जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित किया। उन्होंने उनको शिथिलता और मिथ्या आत्म-संतोष से बचाने का प्रयत्न किया, और कर्म, आत्म-विश्वास और सत्य के निर्भय अनुगमन द्वारा पूर्णता और सुख का मार्ग दिखाया। परन्तु उनका हृदय केवल देशवासियों के ही लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण मानवता के लिए अर्पित था। वे जीवन के पथों के पथिक थे और विषाद और कुरूपता के बीच सौंदर्य की खोज करते और उसके गीत गाते थे। और ऐसे संसार को मानव-धर्म का उपदेश दे रहे थे जिसके अमानवीय हो जाने का भय था। ये सब बातें जर्मन दार्शनिक काउंट हेरमन्न केयसेरलिंग के मन में रही होंगी, जब सन् १९३१ में 'गोल्डन बुक अव् टैगोर' में उन्होंने टैगोर की प्रशंसा करते हुए लिखा था। उसके कुछ स्मरणीय शब्दों को मैं उद्धृत करता हूँ : "कई शतियों तक उनके समान हमारी पृथ्वी पर और कोई नहीं हुआ···वे एक राष्ट्र के निर्माता हैं··· मैं अपने परम मित्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जितनी प्रशंसा करता हूँ उतनी और किसी जीवित व्यक्ति की नहीं करता, क्योंकि वे सर्वाधिक विश्वजनीन हैं, सबसे अधिक विशाल और जहाँ तक मुझे ज्ञात है सबसे अधिक पूर्ण मानव हैं।"

: २ :

अब हमें रवीन्द्रनाथ की कहानियों को देखना चाहिए। कहानियों को लेकर उनके साहित्यिक स्रोत खोजना या प्रभाव की खोज करना व्यर्थ होगा, क्योंकि अपनी कहानियों में रवीन्द्रनाथ अनुपम हैं। बंगाल में कहानी-कला के क्षेत्र में उनसे पहले कोई नहीं था और किसी विदेशी लेखक का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी कहानियों में वे नितांत और अद्भुत ढंग से स्वयं हैं। यथार्थ में प्रवेश करने की सूक्ष्म दृष्टि से समन्वित उनकी सजीव कल्पना, सार तत्वों को ग्रहण करने की क्षमता, अतिशयोक्ति और भावुकता से दूर रहने की प्रवृत्ति, उनकी विशाल मानवता, असत्य और अन्याय के प्रति उनकी असहिष्णुता तथा उनकी अनुपम रचनात्मक क्षमता, आदि उनकी प्रतिभा के विशिष्ट गुणों के प्रदर्शन की दृष्टि से उनकी कहानियाँ केवल उनकी कविता से पीछे हैं। और फिर वे उस दृष्टि से भी रोचक है कि उनमें उनके आस-पास के वातावरण तथा उन विचारों और भावों तथा उन समस्याओं की झलक मिलती है, जिन्होंने उनके जीवन में समय-समय पर उनके मन को प्रभावित किया।

गल्पगुच्छ की तीन जिल्दों में तीन-चार कहानियों को छोड़कर उनकी सब कहानियाँ संग्रहीत हैं; जिनकी संख्या ८४ है (**से,** और **गल्पसल्प** को मैं छोड़ देता हूँ; क्योंकि वे ऐसी कल्पित, तारतम्यहीन और रेखाचित्रात्मक हैं कि वे कहानियों की सीमा में नहीं आ सकतीं)। इनमें से आधी कहानियाँ सन् १८९१ और १८९५ के बीच में लिखी गई जो उनके रचनात्मक जीवन का पहला महान् काल था, जिसे साधारण रूप से **साधना**-काल कहा जाता है। यह नाम इसी नाम के मासिक पत्र के आधार पर दिया गया है, जिसके सम्पादक रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। शेष कहानियाँ समय-समय पर लिखी जाती रहीं, कभी-कभी कई वर्षों के अन्तर से।

बाद का सबसे बड़ा गल्प-समूह—सात सन् १९१४ में तथा तीन १९१७ में—उस युग से सम्बन्धित हैं जो **सबुज पत्र**-काल कहलाता है और जो सामान्यतः उनका सर्वोत्तम रचना-काल माना जाता है। इस काल में वे अपनी रचनाएँ प्रायः **सबुज पत्र** (हरे पत्ते) नामक मासिक पत्र में छपाते थे, जिसका सम्पादन प्रमथ चौधुरी करते थे। प्रस्तुत संग्रह की प्रथम ग्यारह कहानियाँ प्रारंभिक तथा सबसे बड़े गल्प-समूह से सम्बन्धित हैं, दूसरी छः कहानियाँ १८९८ और १९११ के बीच में प्रकाशित हुई थीं और शेष चार **सबुज पत्र**-काल से सम्बन्ध रखती हैं। अंतिम कहानी **पात्र और पात्री** सन् १९१७ में प्रकाशित हुई थी।

मैं उनके जीवन के उस बसंत काल का उल्लेख कर चुका हूँ जब वे प्रायः

सिलाइदा, पातीसार, शाजादपुर आदि गाँवों में रहकर अपनी पारिवारिक जायदाद की देख-भाल कर रहे थे, जिसकी अत्यन्त सुन्दर झाँकियाँ 'छिन्न पत्रों' में मिलती हैं। ग्रामीण बंगाल के इसी वातावरण में इनकी प्रारंभिक कहानियाँ लिखी गईं और उनमें से कई का प्रारंभ हम इन अनुपम पत्रों में खोज सकते हैं। अपनी समस्त कहानियों में रवीन्द्रनाथ को ये प्रारंभिक कहानियाँ सबसे अधिक प्रिय थीं। वे प्राय: कहा करते थे कि इनमें विचारों की ऐसी ताज़गी और निरीक्षण की ऐसी सिधाई है जो उनमें वर्णित वातावरण तथा लेखक की यौवनावस्था के फलस्वरूप उन्हें मिली है और जो,(उन्होंने खेद-पूर्वक कहा) ज्यों-ज्यों वे वृद्ध होते गए, निरन्तर बढ़ते गए और उत्तरदायित्वों से उत्पन्न चिन्ताओं और समस्याओं का भार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों विलीन होती गई। अपने बाद के जीवन में जब इन कहानियों को वे पढ़ते तो वे अनुभव करते थे मानो धरती से एक शालीनता चली गई हो। सन् १६३२ में इस विषय पर लिखे हुए एक पत्र में वे कहते हैं : "जब मैं बंगाल के गाँवों में प्रकृति के सामने उपस्थित हुआ तो मेरे दिन प्रसन्नता से उमड़ पड़े। वह हर्ष इन सरल, अनलंकृत कहानियों में प्रवाहित है·········ग्रामीण बंगाल के उस स्नेहपूर्ण आतिथ्य से अब मैं बहुत दूर चला आया हूँ, और इसका परिणाम यह हुआ है कि मोटर-कार में सवार मेरी कलम अब कभी साहित्य के उन शीतल छायामय हरे मार्गों में नहीं चलेगी।"

इन प्रारंभिक कहानियों की प्रकृति का अनुमान उनकी उत्पत्ति के विषय में रवीन्द्रनाथ के दिये हुए अपने वर्णन से हो सकेगा। २५ जून १८९५ को एक पत्र में वे शाजादपुर से लिखते हैं, "बैठा हुआ धीरे-धीरे मैं एक कहानी साधना के लिए लिख रहा हूँ, मेरे आस-पास के प्रकाश, छाया और रंग मेरे शब्दों में घुले जा रहे हैं। दृश्य, पात्र और घटनाएँ जिनकी कि मैं अभी कल्पना कर रहा हूँ, उन्हें यह सूर्य, वर्षा, नदियाँ और नदी-किनारे के सरकण्डे, वर्षा ऋतु का आकाश, यह छायापूर्ण गाँव, वर्षा से प्लावित अनाज के प्रसन्न खेत जीवन और वास्तविकता प्रदान करने तथा उनकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का काम करते हैं।···यदि मैं अपनी कहानी के पृष्ठों में अपने पाठक के सामने वर्षा ऋतु के मेघरहित उस दिन के अपने सामने से बहते हुए छोटे स्रोत के धूप में चमकते हुए जल को उपस्थित कर सकता, यदि मैं गाँव के दृश्य की इस शांति तथा इन पेड़ों की छाया को तथा इस सरिता-तट को अपने पूर्ण रूप में पाठकों के सामने रख सकता तो वे क्षण-भर में मेरी कहानी के सत्य को पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकते।"

पात्र प्रधानत: ऐसे हैं जो उन्हें गाँवों की यात्रा करते समय मिले थे—

नर-नारियाँ, लड़के-लड़कियाँ और बच्चे—जीवन के निम्न स्तर से आने वाले लोग—और घटनाएँ ऐसी हैं जो गरीब लोगों की जीवन-कहानी में प्रायः मिलती हैं। इन सामान्य लोगों के जीवन-नाटक को उन्होंने असीम सहानुभूति और सद्भावना के साथ देखा था, और वास्तविकता से रत्ती-भर भी हटे बिना ऐसे आकर्षक ढंग से चित्रित किया है कि हम दया, क्रोध, हर्ष और विषाद से अभिभूत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए पोस्टमास्टर की रतन को लीजिये। बारह-तेरह वर्ष की यह अनाथ बालिका, जिसकी चिंता करने वाला तथा जिसे अपना कहने वाला कोई नहीं था, पोस्टमास्टर के लिए सब तरह के काम करती है। शहर में पले उलापुर-जैसे सुदूरवर्ती गाँव में नियुक्त पोस्टमास्टर को निर्वासित के जीवन की उदासीनता में उसके सहवास के कारण कुछ राहत मिलती है। फिर वह बीमार हो जाता है और छोटी अपढ़ लड़की रतन के ऊपर उसकी सेवा करने तथा स्वस्थ बनाने का भार आ पड़ता है। अचानक वह नारी के रूप में सामने आती है, वह उसकी देख-भाल उसी प्रकार करती है जैसे माता अपने बच्चे की। वह अच्छा होकर उठ बैठता है। किन्तु देहाती जीवन से वह थक जाता है और वहाँ से चले जाने का निश्चय करता है। वह किसी प्रकार भी कठोर-हृदय नहीं है, अपने ढंग से वास्तव में वह रतन के प्रति सदय है, और उसे छोड़ने के कारण वह क्षणिक पश्चात्ताप का भी अनुभव करता है। किन्तु उसकी सदय उदासीनता और रतन की गहन आसक्ति तथा संशय-रहित निर्भरता में कितनी महान् विषमता है। जब वह अपना काम छोड़कर अपने घर कलकत्ता चला जाता और कलकत्ता ले चलने की उसकी भीरु प्रार्थना को अनुचित समझकर अस्वीकार कर देता है तो उसकी मूक पीड़ा की करुणा हमारे हृदय को अभिभूत कर लेती है और गृह-विहीन बालिका को रवीन्द्रनाथ के पात्रों में एक निश्चित स्थान प्रदान करती है। 'पोस्टमास्टर' इसका सजीव उदाहरण है कि एक सच्चा कलाकार साधारण उपकरणों को लेकर कैसी सृष्टि कर सकता है। कहानी में केवल दो पात्र हैं, जिनमें से वास्तविक जीवन में कोई भी विशेष ध्यान देने योग्य नहीं है। वातावरण मलेरिया-ग्रस्त देहाती बंगाल का एक सुदूर कोना है। कहानी के प्रवाह में बहुत कम घटनाएँ हैं, वास्तव में ऐसा कुछ घटित नहीं होता जिसे 'हृदय-द्रावक घटना' कहा जा सके। तो भी वह हमें आकर्षित कर लेती है, और रतन के निराश दुःख का चित्र हमारे मन पर अंकित हो जाता है।

एक अन्य कारण से भी हम इन कहानियों की प्रशंसा करने को बाध्य होते हैं। उनके लिखे जाने के समय तक साधारण नर-नारियों, विशेष रूप से

ग़रीबों तथा निम्न स्तर के लोगों ने हमारे साहित्य में प्रवेश नहीं पाया था। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में पहली बार उन्हें अपना उचित स्थान मिला; और यह लक्ष्य करने की बात है कि उनसे पहले ही नहीं उनके बाद भी हमारे साहित्य में कहीं भी उनको इससे अधिक सहानुभूति तथा इससे अधिक सही जानकारी के साथ चित्रित नहीं किया गया। कभी-कभी रवीन्द्रनाथ पर यह मिथ्या आरोप लगाया जाता है कि उनकी कृतियाँ केवल विशेष वर्ग के लोगों का ध्यान रखती हैं; सामान्य जन-समुदाय का नहीं; इस धारणा का खण्डन करने के लिए उनकी कहानियों पर दृष्टि डालना ही पर्याप्त होगा। उनकी कहानियों में विविध प्रकार के पात्र मिलते हैं, जैसे, संभ्रांत बद्राओन घराने की शाहज़ादी तथा बंगाली ग्रामीण लड़कियाँ गिरिबाला तथा मृण्मयी, नयनजोड़ तथा शनियाड़ी-जैसे संभ्रांत वंशों के व्यक्ति तथा निम्न रुइ-परिवार के सदस्य, कलकत्ता की सड़कों पर अंगूर तथा सूखे फल बेचता हुआ अफ़ग़ानिस्तान का काबुलीवाला और बरिच में कपास-कर की वसूली करने वाला कर्मचारी तथा समाज के नाना स्तरों के अनेक पात्र। सच तो यह है कि वे हर प्रकार के आदमी में रुचि रखते थे, कोई भी मानव उनके लिए पराया नहीं था। किन्तु सामान्य निरीह जनता का इन कहानियों को छोड़कर साहित्य के क्षेत्र में और कभी ऐसा स्वागत नहीं हुआ, यह हम फिर दुहराते हैं।

उनकी कहानियों में से **काबुलीवाला** सबसे अधिक लोकप्रिय है और यह उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में भी है। यह कुछ असाधारण भी लगता है, क्योंकि लोकप्रियता प्रायः सर्वश्रेष्ठता की प्रतीक नहीं होती। पाँच वर्ष की बंगाली लड़की मिनी ने सहज स्वाभाविकता के साथ काबुल से आए हुए इस विशालकाय आदमी को अपना मित्र बना लिया था। जब उसके घर के पास से होकर सड़क पर आराम से अपना सौदा बेचता हुआ निकलता तो वह उसे बुलाती, और वह आकर उसके पास बैठ जाता और बातें होने लगतीं। उनका अपना खास बँधा हुआ मज़ाक था, जो प्रतिदिन चलते रहने पर भी बासी नहीं होता था और न अपनी विशेषता खोता था। और तब एक दिन काबुलीवाले ने एक आदमी को छुरा भोंक दिया जो उसे धोखा देना चाहता था। फलस्वरूप उसे जेल भेज दिया गया—'ससुराल' में जिसको लेकर मिनी और वह मिलकर कितनी बार हँसे थे। कई वर्षों के पश्चात् जब वह लौटकर आया और 'छोटी बच्ची' को देखने गया, तो उसने सोचा था कि मिनी अभी भी बच्ची होगी। पर वह उसके विवाह का दिन था। पहले तो उसके पिता ने बाहर आकर उससे मिलने की अनुमति नहीं दी। इसके पश्चात् मिनी के पिता और काबुली-

वाला—दो व्यक्तियों का अद्वितीय वर्णन आता है, जाति, भाषा, संस्कृति, सामाजिक स्थिति की दृष्टि से इतना विषम अंतर होते हुए भी वे एक समान भाव की श्रृंखला के द्वारा एक-दूसरे के समीप आ गए थे—दोनों एक लड़की के पिता थे, जिसे वे असीम स्नेह करते थे। अपने घर में काबुलीवाला की भी मिनी के समान एक पुत्री थी, और जितने वर्ष वह कलकत्ता की सड़कों पर चक्कर लगाता रहा या जेल में रहा एक छोटे और मैले कागज के टुकड़े पर एक नन्हे तथा मैले हाथ की छाप अपने साथ लिये रहा—अपनी नन्ही पुत्री का स्पर्श। जैसे ही उसने यह सुना और कागज का टुकड़ा देखा तो मिनी के पिता ने अनुभव किया कि अन्य सब स्पष्ट अंतरों के होते हुए भी अपढ़ काबुली और सुसंस्कृत बंगाली मूल बातों में एक समान हैं।

यह किसी भी प्रकार दुःखान्त कहानी नहीं है। फिर भी संसार के हर घर के स्नेह की प्रतीक, अजस्र वाचालता, अदम्य उत्सुकता, और प्रत्येक आदमी के साथ मित्रता स्थापित करने की स्वाभाविक क्षमता से युक्त आकर्षक नन्ही-मिनी; अपनी प्रकृति में एक ही कोमल भाव छिपाए अफगानिस्तान के पहाड़ों से आने वाला ऊँचा, हट्टा-कट्टा फेरीवाला, अपनी पुत्री के लिए उसका स्नेह ही मिनी के लिए उसके स्नेह का कारण होता है, तथा मिनी का पिता जो अपनी प्रिय पुत्री को स्नेहपूर्ण दृष्टि से बड़ी होते हुए देखता है और उसके विवाह योग्य हो जाने पर उसकी आसन्न विदाई की कल्पना करके जिसका हृदय भारी हो जाता है; अपनी कल्पना के इन पात्रों के साथ रवीन्द्रनाथ की अद्भुत सहानुभूतिपूर्ण एकात्मता और उसके चित्रण का अतीव सौंदर्य इस कहानी को उत्कृष्ट बना देते हैं जिसको पढ़कर द्रवित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

प्रस्तुत संग्रह की प्रत्येक कहानी विस्तार से विचार करने योग्य है। किन्तु स्थानाभाव के कारण उनमें से केवल कुछ का ही उल्लेख-मात्र किया जा सकता है।

धूप और छाया (मेघ ओ रौद्र) यद्यपि सब मिलाकर बहुत सुगठित नहीं है, तथापि उसमें महान् काव्य-सौंदर्य से युक्त कई अवतरण तथा नाटकीय प्रकार की घटनाएँ हैं। यह भी उल्लेख योग्य है कि इस कहानी में जातीय औद्धत्य और शक्ति के दर्प के विषय में रवीन्द्रनाथ का मत प्रदर्शित हुआ है। मनुष्य के अधिकारों का उनके-जैसा सतर्क प्रहरी दूसरा नहीं हुआ। मानवता तथा न्याय का कहीं भी उल्लंघन होने पर रवीन्द्रनाथ की आवाज संसार के सामने उसे प्रकट करने तथा उसकी भर्त्सना करने के लिए गूंज उठती। इस

कहानी के तीन अँग्रेजों से संबंधित घटनाएँ तत्कालीन (१८९४) तथा आगे के अनेक दशकों के भारत की करुण परिस्थिति की परिचायिका हैं।

समाप्ति में ऊधमी, लापरवाह मृण्मयी का कोमल स्नेहमयी महिला में परिवर्तन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथा चित्ताकर्षक हास्य के साथ दिखाया गया है।

दृष्टिदान अपने पति के लिए अंधी पत्नी के प्रेम का वास्तविक और हृदय-द्रावक चित्र प्रस्तुत करती है जिसमें एक ओर पूर्ण निर्भरता तथा कोमलता दिखती है और दूसरी ओर ईर्ष्या, अविश्वास और झूठ को पहचानने की अद्भुत क्षमता। साधारण लेखक के हाथों में पड़कर यह कहानी भावुकता का प्रदर्शन-मात्र बनकर रह जाती और पत्नी नाटकीय ढंग से आत्म-प्रवंचना प्रदर्शित करती हुई मर जाती। रवीन्द्रनाथ के अचूक अनुपात-बोध ने उसे ऐसे घिसे-पिटे अन्त से बचा लिया है।

अतिथि का तारापद रवीन्द्रनाथ की अविस्मरणीय सृष्टियों में से है। उसकी आयु के लड़के में जितने भी गुण संभवतया हो सकते हैं वे सब उसमें हैं और ऊपर से उसकी आकृति भी आकर्षक है। वह जिसके भी संपर्क में आता है उसीको अभिभूत कर लेता है, किन्तु उनमें से किसी के भी साथ वह स्थायी संबंध स्थापित नहीं कर पाता। प्रकृति ने उसे एक घुमक्कड़ का जीवन दिया है; एक 'अतिथि' का स्वभाव जो क्षणिक आकर्षण के वश चाहे जहाँ रुक जाता है, पर सदा के लिए कहीं बस जाना जिसके भाग्य ही में नहीं है। वह वास्तव में प्रकृति-शिशु है, क्योंकि उसमें पूर्ण उदारता, पक्षपातहीनता और उदासीनता है; दुनिया की कोई शक्ति उसे स्थायी रूप से किसी व्यक्ति या स्थान में आसक्त नहीं कर सकती। और इसीलिए वह एक दिन चुपचाप प्रेम, स्नेह और मैत्री द्वारा पूर्ण रूप से जकड़े जाने के पहले ही न जाने कहाँ ओझल हो जाता है।

क्षुधित पाषाण, आधी रात में (निशीथे), तथा **मास्टर साहब**—प्रस्तुत संग्रह की इन तीन कहानियों में दैवी तत्त्व का स्पर्श मिलता है। इनमें पहली निस्संदेह सुन्दरतम है। यह कल्पना की अनुपम रचना है। इसमें असीम भोगों, प्रणयों, निर्दयताओं और अतृप्त वासनाओं से युक्त एक बीते युग की कल्पना की गई है। यह कहानी सूक्ष्म दर्शन, विशद वर्णन और महान् काव्यात्मक सौंदर्य के अवतरणों से युक्त है। कहानी का केन्द्र एक मुग़लकालीन विशाल भग्नावशिष्ट महल है, जिसके पत्थर तक जीवित मास के भूखे जान पड़ते हैं। यह धुँधले प्रकाश वाला प्रान्त है, जहाँ अतीत वर्तमान के साथ आदान-प्रदान करता है—रंगीन प्रभामय अतीत के साथ नीरस और दो-टूक वर्तमान।

उस काल की कहानियों में से, जिसे रवीन्द्रनाथ का मध्य युग कहा जा सकता है, **नष्टनीड़** और **रासमणि का लड़का** ये दोनों सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पहली १९०१ में लिखी गई थी और दूसरी १९११ में। **नष्टनीड़** एक विवाहिता महिला के अपने पति के चचेरे भाई के प्रति प्रेम के उदय तथा विकास का शक्तिशाली अध्ययन है। यह प्रेम अन्त में ऐसी सर्वभक्षी वासना का रूप धारण कर लेता है जिसका आवेग असहनीय हो जाता है। यह प्रेम अव्यावहारिक पति की बुद्धिहीन अवहेलना से अनजाने ही पल्लवित होता है—एक ऐसे पति की अवहेलना से जो सर्वथा सम्माननीय है, यद्यपि वह कुछ अंतर्मुखी वृत्ति का है। परंपरावादी लोगों को इस कहानी से धक्का लगा था, किन्तु उसमें 'निषिद्ध' प्रेम का चित्रण ऐसा संयमित, ऐसा कोमल, तथा अशुद्धता की लेश-मात्र भी व्यंजना से इतना मुक्त है कि मर्मज्ञों ने इसका उत्कृष्ट रचना कहकर स्वागत किया था और अब यह कहानी 'क्लासिक' मानी जाती है।

रासमणि का लड़का शैली के ओज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस कहानी में एक संभ्रांत परिवार की एक दरिद्र शाखा का अभावों से जूझने का करुण संघर्ष, उसकी एक-मात्र आशा—दुर्बल, भावुक तथा अपनी अद्भुत लौह-इच्छा वाली किन्तु साथ ही स्नेहालु माता रासमणि के समान ही दृढ़ इच्छा वाले—कालीपद की मृत्यु की भयंकर विभीषिका चित्रित है।

सबुज पत्र-काल की भव्य कहानियों के न तो पात्र ही ग्रामीण जनता के लोग रह गए थे, और न उनकी पृष्ठभूमि ही ग्रामीण बंगाल के दृश्यों की रह गई थी। उनकी प्रकृति भी बदल गई थी; रवीन्द्रनाथ का मस्तिष्क अब समस्याओं में उलझ गया था तथा वे सामाजिक अन्यायों का प्रतिकार करने में लगे हुए थे। बंगाल के मध्यम वर्ग के घरों में स्त्रियों की दुर्दशा से उनको विशेष रूप से क्लेश हुआ और उन्हें ओजपूर्ण प्रभावशाली भाषा में इन अन्यायों को निर्भीक भाव से प्रकट करने की प्रेरणा मिली। सन् १९१४ में प्रकाशित **स्त्री का पत्र** में बड़े प्रशंसनीय ढंग से उनके विचार प्रकट हुए हैं। पत्नी के रूप में पीड़ा और निराशा के पंद्रह वर्षों ने यह अनुभव करने में मृणाल की सहायता की कि एक महिला की इतिश्री केवल पत्नीपन तक ही सीमित नहीं है। स्वार्थपरता, झूठ और अकथनीय नीचता का भद्दा वातावरण, जो परिवार के लोगों ने अपने घर में उत्पन्न कर रखा था और जिसके विषय में उन्होंने यह सहज आशा की थी कि उनकी महिलाएँ उसे स्वाभाविक समझकर स्वीकार कर लेंगी, अदम्य भावना वाली मृणाल-जैसी महिला के लिए दम घोंटने वाला था। अन्त में पारिवारिक जीवन के घृणित कारावास से जब उसे मुक्त होने

का अवसर मिला तो अवर्णनीय हर्ष और मुक्ति के साथ उसने अनुभव किया कि अभी भी एक आत्मा है जिसे वह अपनी कह सकती है। अपने पति को लिखा गया उसका पत्र—यह कहानी पत्र के रूप में ही लिखी गई है—उसके कभी न लौटने के दृढ़ निश्चय की घोषणा के साथ समाप्त होता है, यह पत्र पुरुष के उन अन्यायों, नीचताओं और निर्दयता के सम्पूर्ण इतिहास पर, एक कटु निर्णय है, जो परंपरा के रूप में अप्रतिहत भाव से माने जाते थे तथा प्रथा के कारण पवित्र समझे जाते थे।

इस युग की अन्य अनेक कहानियों में इस विषय के अनेक रूपान्तर मिलते हैं, क्योंकि समाज में महिलाओं का स्थान तथा नारी जीवन की विशेषताएँ उनके लिए गंभीर चिंता के विषय थे और वे इस युग में बराबर उनके विचारों के विषय बने रहे।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों की पूर्ण समीक्षा के लिए विस्तृत स्थान की आवश्यकता है। उनकी कहानियों के इस अत्यंत अपूर्ण पर्यवेक्षण को यहीं समाप्त करना उचित होगा। वास्तव में उनकी कहानियों के परिचय की आवश्यकता नहीं है, वे अपने विषय में स्वयं बहुत अच्छी तरह बता सकती हैं। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुवाद में भी उनके अमर सौंदर्य का कुछ भाग पाठक के हृदय का हर्ष के साथ स्पर्श करेगा, और क्योंकि मानव-स्वभाव सर्वत्र एक समान है, अतः भारत के विभिन्न भागों के पाठक इन पात्रों में—बंग-भूमि के पुत्र-पुत्रियों में—अपने सगे-संबंधियों की परिचित रूप-रेखाएँ पायेंगे।

२० सितम्बर १९५९ —सोमनाथ मैत्र

पोस्टमास्टर

पहले-पहल काम शुरू करते ही पोस्टमास्टर को उलापुर गाँव में आना पड़ा। गाँव बहुत साधारण था। पास ही एक नील-कोठी थी। इसलिए कोठी के स्वामी ने बहुत कोशिश करके यह नया पोस्टऑफ़िस खुलवाया था।

हमारे पोस्टमास्टर कलकत्ता के थे। पानी से निकालकर सूखे में डाल देने से मछली की जो दशा होती है वही दशा इस बड़े गाँव में आकर उन पोस्टमास्टर की हुई। एक अँधेरी आठचाला[1] में उनका ऑफ़िस था। पास ही काई से घिरा एक तालाब था, जिसके चारों ओर जंगल था। कोठी में गुमाश्ते वगैरह जितने भी कर्मचारी थे उन्हें अक्सर फुरसत नहीं रहती थी, न वे भले आदमियों से मिलने-जुलने के योग्य ही थे।

खास तौर से कलकत्ता के बाबू ठीक तरह से मिलना-जुलना नहीं जानते। नई जगह में पहुँचकर वे या तो उद्धत हो जाते हैं या अप्रतिभ। इसलिए स्थानीय लोगों से उनका मेल-जोल नहीं हो पाता। इधर काम भी ज्यादा नहीं था। कभी-कभी एकाध कविता लिखने की कोशिश करते। उनमें इस प्रकार के भाव व्यक्त करते—दिन-भर तरु-पल्लवों का कम्पन और आकाश के बादल देखते-देखते जीवन बड़े सुख से कट जाता है, लेकिन अन्तर्यामी जानते हैं कि यदि अरबी उपन्यास का कोई दैत्य आकर एक ही रात में तरु-पल्लव-समेत इन सारे पेड़-पौधों को काटकर पक्का रास्ता तैयार कर देता और पंक्ति-बद्ध अट्टालिकाओं द्वारा बादलों को दृष्टि से ओझल कर देता तो यह मृतप्राय भद्र वंशधर नवीन जीवन-लाभ कर लेता।

पोस्टमास्टर को बहुत कम तनख्वाह मिलती थी। अपने हाथों बनाकर खाना पड़ता और गाँव की एक मातृ-पितृ-हीन अनाथ बालिका उनका काम-काज कर देती थी। उसको थोड़ा-बहुत खाना मिल जाता। लड़की का नाम था रतन। उम्र बारह-तेरह। उसके विवाह की कोई विशेष सम्भावना नहीं दिखाई देती थी।

---

१. फूस के आठपहलू छप्पर से ढका बड़ा घर।

शाम को जब गाँव की गोशाला से कुंडलाकार धुआँ उठता, झाड़ियों में झींगुर बोलते, दूर के गाँव में नशेबाज़ बाउलों का दल ढोल-करताल बजाकर ऊँचे स्वर में गाना छेड़ देता—जब अन्दर बरामदे में अकेले बैठे-बैठे वृक्षों का कम्पन देखकर कवि-हृदय में भी ईषत् हृत्कंप होने लगता तब कमरे के कोने में एक टिमटिमाता हुआ दिया जलाकर पोस्टमास्टर आवाज़ लगाते—'रतन'।

रतन दरवाजे पर बैठी इस आवाज़ की प्रतीक्षा करती रहती। लेकिन पहली आवाज़ पर ही अन्दर नहीं आती। वहीं से कहती, "क्या है बाबू, किस लिए बुला रहे हो ?"

पोस्टमास्टर—तू क्या कर रही है ?

रतन—बस चूल्हा जलाने ही जा रही हूँ रसोईघर में।

पोस्टमास्टर—तेरा रसोई का काम पीछे होगा। पहले तम्बाकू भर ला!

थोड़ी देर में अपने गाल फुलाए चिलम में फूंक मारते-मारते रतन भीतर आती। उसके हाथ से हुक्का लेकर पोस्टमास्टर चट से पूछ बैठते, "अच्छा रतन, तुझे अपनी माँ की याद है ?"

बड़ी लम्बी बातें हैं, बहुत-सी याद हैं, बहुत-सी याद भी नहीं। माँ की अपेक्षा पिता उसको अधिक प्यार करते थे। पिता की उसे थोड़ी-थोड़ी याद है। दिन-भर मेहनत करके उसके पिता शाम को घर लौटकर आते। भाग्य से उन्हीं में से दो-एक शामों की याद उसके मन में चित्र के समान अंकित है। उन्हींकी बात करते-करते धीरे-धीरे रतन पोस्टमास्टर के पैरों के पास ही ज़मीन पर बैठ जाती। उसे ध्यान आता, उसका एक भाई था। बहुत दिन पहले बर-सात में एक दिन एक तालाब के किनारे दोनों ने मिलकर पेड़ की टूटी हुई टहनी की बंसी बनाकर झूठ-मूठ मछली पकड़ने का खेल खेला था। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की अपेक्षा इसी बात की याद उसे अधिक आती। इस तरह बातें करते-करते कभी-कभी काफ़ी रात हो जाती। तब आलस के मारे पोस्टमास्टर को खाना बनाने की इच्छा न होती। सवेरे की बासी तरकारी रहती और रतन झटपट चूल्हा जलाकर कुछ रोटियाँ सेक लेती। उन्हीं से दोनों के रात्रि-भोजन का काम चल जाता। कभी-कभी शाम को उस बृहत् आठचाला के एक कोने में ऑफ़िस की काठ की चौकी पर बैठे-बैठे पोस्टमास्टर भी अपने घर की बात चलाते—छोटे भाई की बात, माँ और दीदी की बात। प्रवास में एकान्त कमरे में बैठकर जिन लोगों के लिए हृदय कातर हो उठता उनकी बात। जो बातें उनके मन में बार-बार उदय होती रहतीं, पर जो नील-कोठी के गुमाश्तों के सामने किसी भी तरह नहीं उठाई जा सकती थीं, उन्हीं बातों को उस अपढ़ नन्ही

बालिका से कहते उन्हें बिलकुल संकोच न लगता। अन्त में ऐसा हुआ कि बालिका बातचीत करते समय उनके घर वालों को चिरपरिचितों के समान खुद भी मा, दादा, दीदी कहने लगी। यहाँ तक कि अपने नन्हे-से हृदय-पट पर उसने उनकी काल्पनिक मूर्त्ति भी चित्रित कर ली थी।

एक दिन बरसात की दोपहर में बादल छँट गए थे और हल्का-सा ताप लिये सुकोमल हवा चल रही थी। धूप में नहाई घास से और पेड़-पौधों से एक प्रकार की गन्ध निकल रही थी; ऐसा लगता था मानो क्लान्त धरती का उष्ण निःश्वास अंगों को छू रहा हो और न जाने कहाँ का एक हठी पक्षी दोपहर-भर प्रकृति के दरबार में लगातार एक लय से अत्यन्त करुण स्वर में अपनी नालिश दुहरा रहा था। उस दिन पोस्टमास्टर के हाथ खाली थे। वर्षा से धुले लहलहाते चिकने मृदुल तरु-पल्लव और धूप में चमकते-पराजित वर्षा के भग्नावशिष्ट स्तूपाकार बादल सचमुच देखने योग्य थे।

पोस्टमास्टर उन्हें देखते जाते और सोचते जाते कि इस समय यदि कोई आत्मीय अपने पास होता, हृदय के साथ एकान्त संलग्न कोई स्नेह की प्रतिमा मानव-मूर्त्ति। धीरे-धीरे उन्हें ऐसा लगने लगा मानो वह पक्षी भी बार-बार यही कह रहा हो, और मानो उस निर्जन में तरु-छाया में डूबी दोपहर के पल्लव-मर्मर का भी कुछ ऐसा ही अर्थ हो। न तो कोई विश्वास कर सकता, न जान पाता, लेकिन उस छोटे-से गाँव के सामान्य वेतन-भोगी उस सब-पोस्ट मास्टर के मन में छुट्टी के लम्बे दिनों में गम्भीर सुनसान दोपहर में इसी प्रकार के भाव उदय होते रहते।

पोस्टमास्टर ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और फिर आवाज लगाई, "रतन !"

रतन उस समय अमरूद के पेड़ के नीचे पैर फैलाए कच्चा अमरूद खा रही थी। वह मालिक की आवाज सुनते ही तुरन्त दौड़ी हुई आई और हाँफती-हाँफती बोली, "भैयाजी, बुला रहे थे ?"

पोस्टमास्टर ने कहा, "मैं तुझे थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ना सिखाऊँगा।" और फिर दोपहर-भर उसके साथ 'छोटा अ,' 'बड़ा अ' करते रहे। इस तरह कुछ दिनों में संयुक्त अक्षर भी पार कर लिए।

सावन का महीना था। लगातार वर्षा हो रही थी। गड्ढे, नाले, तालाब सब पानी से भर गए थे। रात-दिन मेंढक की टर्र-टर्र और वर्षा की आवाज। गाँव के रास्तों में चलना-फिरना लगभग बन्द हो गया था। हाट के लिए नाव में चढ़कर जाना पड़ता।

एक दिन सवेरे से ही बादल खूब घिरे हुए थे। पोस्टमास्टर की शिष्या बड़ी देर से दरवाजे के पास बैठी प्रतीक्षा कर रही थी, लेकिन और दिनों की तरह जब यथासमय उसकी बुलाहट न हुई तो वह खुद किताबों का थैला लिये धीरे-धीरे भीतर आई। देखा, पोस्टमास्टर अपनी खटिया पर लेटे हुए हैं। यह सोचकर कि वे आराम कर रहे हैं, वह चुपचाप फिर बाहर जाने लगी। तभी अचानक सुनाई पड़ा, 'रतन !' झटपट लौटकर भीतर जाकर उसने कहा, "भैयाजी, सो रहे थे ?"

पोस्टमास्टर ने कातर स्वर में कहा, "तबियत ठीक नहीं मालूम होती। ज़रा मेरे माथे पर हाथ रखकर तो देख !"

घोर वर्षा के समय प्रवास में इस तरह बिलकुल अकेले रहने पर रोग से पीड़ित शरीर को कुछ सेवा पाने की इच्छा होती है। तप्त ललाट पर शंख की चूड़ियाँ पहने कोमल हाथ याद आने लगते हैं। ऐसे कठिन प्रवास में रोग की पीड़ा में यह सोचने की इच्छा होती है कि पास ही स्नेहमयी नारी के रूप में माता और दीदी बैठी हैं। और प्रवासी के मन की यह अभिलाषा व्यर्थ नहीं गई। बालिका रतन बालिका न रही। उसने फौरन माता का पद ग्रहण कर लिया। वह जाकर वैद्य को बुला लाई, यथासमय गोली खिलाई, सारी रात सिरहाने बैठी रही, अपने हाथों पथ्य तैयार किया और सैकड़ों बार पूछती रही, "भैयाजी, कुछ आराम है क्या ?"

बहुत दिनों बाद पोस्टमास्टर जब रोग-शय्या छोड़कर उठे तो उनका शरीर दुर्बल हो गया था। उन्होंने मन में तय किया, अब और नहीं। जैसे भी हो अब यहाँ से बदली करानी चाहिए। अपनी अस्वस्थता का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसी समय अधिकारियों के पास बदली के लिए कलकत्ता दरख्वास्त भेज दी।

रोगी की सेवा से छुट्टी पाकर रतन ने दरवाजे के बाहर फिर अपने स्थान पर अधिकार जमा लिया। लेकिन अब पहले की तरह उसकी बुलाहट नहीं होती थी। वह बीच-बीच में झाँककर देखती—पोस्टमास्टर बड़े ही अनमने भाव से या तो चौकी पर बैठे रहते या खाट पर लेटे रहते। जिस समय इधर रतन बुलाहट की प्रतीक्षा में रहती, वे अधीर होकर अपनी दरख्वास्त के उत्तर की प्रतीक्षा करते रहते। दरवाजे के बाहर बैठी रतन ने हजारों बार अपना पुराना पाठ दुहराया। बाद में यदि किसी दिन सहसा उसकी बुलाहट हुई तो उस दिन कहीं उसका संयुक्त अक्षरों का ज्ञान गड़बड़ न हो जाये इसकी उसे आशंका थी। आखिर लगभग एक सप्ताह के बाद एक दिन शाम को उसकी

पुकार हुई। काँपते हृदय से उसने भीतर प्रवेश किया और पूछा, "भैयाजी, मुझे बुलाया था ?"

पोस्टमास्टर ने कहा, "रतन, मैं कल ही चला जाऊँगा।"

रतन—"कहाँ चले जाओगे भैयाजी !"

पोस्टमास्टर—"घर जाऊँगा।"

रतन—"फिर कब लौटोगे ?"

पोस्टमास्टर—"अब नहीं लौटूंगा।"

रतन ने और कोई बात नहीं पूछी। पोस्टमास्टर ने स्वयं ही उसे बताया कि उन्होंने बदली के लिए दरख्वास्त दी थी, पर दरख्वास्त नामंजूर हो गई, इसलिए वे काम छोड़कर घर चले जा रहे हैं। बहुत देर तक दोनों में से किसी ने और कोई बात नहीं की। दीया टिमटिमाता रहा और घर के जीर्ण छप्पर को भेदकर वर्षा का पानी मिट्टी के सकोरे में टप-टप करता टपकता रहा।

बड़ी देर के बाद रतन धीरे-धीरे उठकर रसोईघर में रोटियाँ बनाने चली गई। पर आज और दिनों की तरह उसके हाथ जल्दी-जल्दी नहीं चल रहे थे। शायद उसके मन में रह-रहकर तरह-तरह की आशंकाएँ उठ रही थीं। जब पोस्टमास्टर भोजन कर चुके तब उसने पूछा, "भैयाजी, मुझे अपने घर ले चलोगे ?"

पोस्टमास्टर ने हँसकर कहा, "वाह, यह कैसे हो सकता है !" किन कारणों से यह बात सम्भव न थी, बालिका को यह समझाना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

रात-भर जागते और स्वप्न देखते हुए बालिका के कानों में पोस्टमास्टर के हँसी-मिश्रित स्वर गूँजते रहे : 'वाह, यह कैसे हो सकता है।'

सवेरे उठकर पोस्टमास्टर ने देखा कि उनके नहाने के लिए पानी पहले से ही रख दिया गया है। कलकत्ता की अपनी आदत के अनुसार वे ताजे पानी से ही स्नान करते थे। न जाने क्यों बालिका यह नहीं पूछ सकी थी कि वे सवेरे किस समय यात्रा करेंगे। बाद में कहीं तड़के ही जरूरत न पड़ जाय, यह सोचकर रतन उतनी रात में ही नदी से उनके नहाने के लिए पानी भरकर ले आई थी। स्नान समाप्त होते ही रतन की पुकार हुई। रतन ने चुपचाप भीतर प्रवेश किया और आदेश की प्रतीक्षा में मौन भाव से एक बार अपने मालिक की ओर देखा।

मालिक ने कहा, "रतन, मेरी जगह जो सज्जन आयेंगे मैं उन्हें कह जाऊँगा। वे मेरी ही तरह तेरी देख-भाल करेंगे। मेरे जाने से तुझे कोई चिंता

करने की जरूरत नहीं है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये बातें अत्यन्त स्नेहपूर्ण और दयार्द्र हृदय से निकली थीं, किन्तु नारी के हृदय को कौन समझ सकता है! रतन इसके पहले बहुत बार अपने मालिक के हाथों अपना तिरस्कार चुपचाप सहन कर चुकी थी, लेकिन इस कोमल बात को वह सहन न कर पाई। उसका हृदय एकाएक उमड़ आया और उसने रोते-रोते कहा, "नहीं, नहीं। तुम्हें किसी से कुछ कहने की जरूरत नहीं है, मैं रहना नहीं चाहती।"

पोस्टमास्टर ने रतन का ऐसा व्यवहार पहले कभी नहीं देखा था, इसलिए वे अवाक् रह गए।

नया पोस्टमास्टर आया। उसको सारा चार्ज सौंप देने के बाद पुराने पोस्टमास्टर चलने को तैयार हुए। चलते-चलते रतन को बुलाकर बोले, "रतन, तुझे मैं कभी भी कुछ दे नहीं सका, आज जाते समय कुछ दिये जा रहा हूँ, इससे कुछ दिन तेरा काम चल जायगा।"

तनख्वाह में जो रुपये मिले थे उनमें से राह-खर्च के लिए कुछ बचा लेने के बाद उन्होंने बाकी रुपये जेब से निकाले। यह देखकर रतन धूल में लोटकर उनके पैरों से लिपटकर बोली, "भैयाजी, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मेरे लिए किसी को कुछ चिन्ता करने की जरूरत नहीं।" और यह कहते-कहते वह तुरन्त वहाँ से भाग गई।

भूतपूर्व पोस्टमास्टर दीर्घ निःश्वास लेकर हाथ में कारपेट का बैग लटकाए, कन्धे पर छाता रखे, कुली के सिर पर नीली-सफेद धारियों से चित्रित टीन की पेटी रखवाकर धीरे-धीरे नाव की ओर चल दिए।

जब वे नौका पर सवार हो गए और नाव चल पड़ी, वर्षा से उमड़ी नदी धरती की छलछलाती अश्रु-धारा के समान चारों ओर छलछल करने लगी, तब वे अपने हृदय में एक तीव्र व्यथा अनुभव करने लगे। एक साधारण ग्रामीण बालिका के करुण मुख का चित्र मानो विश्व-व्यापी बृहत् अव्यक्त मर्म-व्यथा प्रकट करने लग गया।

एक बार बड़े ज़ोर से उनकी इच्छा हुई कि लौट जायँ और जगत् की गोद से वंचित उस अनाथिनी को साथ ले आयें। लेकिन तब तक पाल में हवा भर गई थी, वर्षा का प्रवाह और भी तेज़ हो गया था। गाँव को पार करने पर नदी-किनारे का श्मशान दिखाई दे रहा था और नदी की धारा के साथ बढ़ते हुए पथिक के उदास हृदय में यह सत्य उदित हो रहा था—'जीवन में न जाने कितना वियोग है, कितना मरण है, लौटने से क्या लाभ! संसार में कौन किसका है!'

लेकिन रतन के हृदय में किसी भी सत्य का उदय नहीं हुआ। वह उस पोस्ट ऑफिस के चारों ओर चुपचाप आँसू बहाती चक्कर काटती रही। शायद उसके मन में हल्की-सी आशा जीवित थी कि हो सकता है, भैयाजी लौट आयें। आशा के इसी बन्धन में बँधी वह किसी भी तरह दूर नहीं जा पा रही थी।

हाय रे बुद्धिहीन मानव-हृदय! तेरी भ्रान्ति किसी भी तरह नहीं मिटती। युक्ति-शास्त्र का तर्क बड़ी देर बाद मस्तिष्क में प्रवेश करता है। प्रबल-से-प्रबल प्रमाण पर भी अविश्वास करके मिथ्या आशा को अपनी दोनों बाँहों से जकड़कर तू भरसक छाती से चिपकाए रहता है। अन्त में एक दिन सारी नाड़ियाँ काटकर, हृदय का सारा रक्त सोखकर वह निकल भागती है। तब होश आते ही मन किसी दूसरी भ्रान्ति के जाल में बँध जाने के लिए व्याकुल हो उठता है।

एक रात

सुरबाला के संग एक ही पाठशाला में पढ़ा हूँ, और बउ-बंउ[1] खेला है। उसके घर जाने पर सुरबाला की माँ मेरा बड़ा दुलार करतीं और हम दोनों को साथ बिठाकर आपस में कहतीं, 'वाह, कितनी सुन्दर जोड़ी है।'

छोटा था, किन्तु बात का अभिप्राय प्रायः समझ लेता था। सुरबाला पर अन्य सर्वसाधारण की अपेक्षा मेरा कुछ विशेष अधिकार था, यह धारणा मेरे मन में बद्धमूल हो गई थी। इस अधिकार-मद से मत्त होकर उस पर मैं शासन और अत्याचार न करता होऊँ, ऐसी बात नहीं थी। वह भी सहिष्णु-भाव से हर तरह से मेरी फ़रमाइश पूरी करती और दण्ड वहन करती। मुहल्ले में उसके रूप की प्रशंसा थी, किन्तु बर्बर बालक की दृष्टि में उस सौंदर्य का कोई महत्त्व नहीं था—मैं तो बस यही जानता था कि सुरबाला ने अपने पिता के घर में मेरा प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए ही जन्म लिया है, इसीलिए वह विशेष रूप से मेरी अवहेलना की पात्री है।

मेरे पिता चौधुरी जमींदार के नायब थे। उनकी इच्छा थी, मेरे काम करने योग्य होते ही मुझे जमींदारी-सरिश्ते का काम सिखाकर कहीं गुमाश्तागिरी दिला दें। किन्तु, मैं मन-ही-मन इसका विरोधी था। हमारे मुहल्ले के नीलरतन जिस तरह भागकर कलकत्ता में पढ़ना-लिखना सीखकर कलक्टर साहब के नाज़िर हो गए थे उसी तरह मेरे जीवन का लक्ष्य भी अत्युच्च था—'कलक्टर का नाज़िर न बन सका तो जजी अदालत का हेड क्लर्क हो जाऊँगा', मैंने मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया था।

मैं हमेशा देखता कि मेरे पिता इन अदालतजीवियों का बहुत सम्मान करते थे—अनेक अवसरों पर मछली-तरकारी, रुपये-पैसे से उनकी पूजार्चना करनी पड़ती यह बात भी मैं बाल्यावस्था से ही जानता था; इसलिए मैंने अदालत के छोटे कर्मचारी, यहाँ तक कि हरकारों को भी अपने हृदय में बड़े सम्मान

---

१. छोटी बालिकाओं का खेल; जिसमें वे बहू के समान सजकर, घूँघट निकालकर गृहिणी का अभिनय करती हैं।

का स्थान ले रखा था। ये हमारे बंगाल के पूज्य देवता थे, तेतीस कोटि देवताओं के छोटे-छोटे नवीन संस्करण। कार्य-सिद्धि-लाभ के सम्बन्ध में स्वयं सिद्धिदाता गणेश की अपेक्षा उनके प्रति लोगों में आन्तरिक निर्भरता कहीं अधिक थी, अतएव पहले गणेश को जो कुछ प्राप्त होता था वह आजकल इन्हें मिलता था।

नीलरतन के दृष्टांत से उत्साहित होकर मैं भी एक दिन विशेष सुविधा पाकर कलकत्ता भाग गया। पहले तो गाँव के एक परिचित व्यक्ति के घर ठहरा, उसके बाद पढ़ाई के लिए पिता से भी थोड़ी-बहुत सहायता मिलने लग गई। पढ़ना-लिखना नियम पूर्वक चलने लगा।

इसके अतिरिक्त मैं सभा-समितियों में भी योग देता। देश के लिए प्राण-विसर्जन करने की तत्काल आवश्यकता है, इस विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं था। किन्तु, यह दुःस्साध्य कार्य किस प्रकार किया जा सकता है, यह मैं नहीं जानता था; न इसका कोई दृष्टांत ही दिखाई पड़ता था। किन्तु इससे मेरे उत्साह में कोई कमी नहीं आई। हम देहाती थे, कम उम्र में ही प्रौढ़ बुद्धि रखने वाले कलकत्ता वालों की तरह हर चीज़ का मज़ाक उड़ाना हमने नहीं सीखा था; इसलिए हम लोगों की निष्ठा अत्यन्त दृढ़ थी। हमारी सभा के कार्यकर्ता व्याख्यान देते, और हम लोग चन्दे की किताब लेकर भूखे-प्यासे दोपहर की धूप में दर-दर भीख माँगते फिरते, सड़क के किनारे खड़े होकर विज्ञापन बाँटते, सभा-स्थल में जाकर बेंच-चौकी लगाते, दलपति के बारे में किसी के कुछ कहने पर कमर बाँधकर मार-पीट करने पर उतारू हो जाते। शहर के लड़के हमारे ये लक्षण देखकर हमें गँवार कहते।

आया तो था नाज़िर सरिश्तेदार बनने, पर मैजिनी, गैरीबाल्डी बनने की तैयारी करने लग गया।

इसी समय मेरे पिता और सुरबाला के पिता ने एकमत होकर सुरबाला के साथ मेरा विवाह कर देने का निश्चय किया।

मैं पन्द्रह वर्ष की अवस्था में कलकत्ता भाग आया था, उस समय सुरबाला की अवस्था आठ वर्ष थी; अब मैं अठारह वर्ष का था। पिता के अनुसार मेरे विवाह की आयु धीरे-धीरे निकली जा रही थी। पर इधर मैंने मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि आजीवन अविवाहित रहकर स्वदेश के लिए मर मिटूंगा। मैंने पिता से कहा, 'पढ़ाई पूरी किये बिना मैं विवाह नहीं कर सकता।'

दो-चार महीने के बाद ही खबर मिली कि वकील रामलोचन बाबू के साथ सुरबाला का विवाह हो गया है। मैं तो पतित भारत की चंदा-वसूली के काम में व्यस्त था, मुझे यह समाचार अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ा।

एन्ट्रेंस पास कर लिया था, फर्स्ट ईयर आर्ट्‌स में जाने का विचार था कि तभी पिता की मृत्यु हो गई। परिवार में मैं अकेला नहीं था; माता थीं और दो बहनें। अतएव कॉलेज छोड़कर काम की तलाश में निकलना पड़ा। बहुत कोशिशों के बाद नोआखाली डिवीजन के एक छोटे-से शहर के एक एन्ट्रेंस स्कूल में असिस्टेंण्ट मास्टर का पद मिला।

सोचा, 'मेरे उपयुक्त काम मिल गया। उपदेश तथा उत्साह प्रदान करके प्रत्येक विद्यार्थी को भावी भारत का सेनापति बना दूंगा।'

काम आरम्भ कर दिया। देखा, भारतवर्ष के भविष्य की अपेक्षा आसन्न इम्तहान की चिन्ता कहीं ज्यादा की जाती थी। छात्रों को ग्रामर और एलजेबरा के बाहर की कोई बात बताते ही हेडमास्टर नाराज़ हो जाते। दो-एक महीने में मेरा उत्साह भी ठंडा पड़ गया।

हमारे-जैसे प्रतिभाहीन लोग घर में बैठकर तो अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते रहते हैं, पर अन्त में कर्म-क्षेत्र में उतरते ही कन्धे पर हल का बोझ ढोते हुए पीछे से पूँछ मरोड़ी जाने पर भी सिर झुकाए सहिष्णु भाव से प्रतिदिन खेत गोड़ने का काम कर संध्या को भर-पेट चारा पाकर ही सन्तुष्ट रहते हैं; फिर कूद-फाँद करने का उत्साह नहीं बचता।

आग लगने के डर से एक-न-एक मास्टर को स्कूल में ही रहना पड़ता। मैं अकेला था, इसलिए यह भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। स्कूल के बड़े आटचाला से सटी हुई एक झोंपड़ी में मैं रहता।

स्कूल बस्ती से कुछ दूर एक बड़ी पुष्करिणी के किनारे था। चारों ओर सुपारी, नारियल और मदार के पेड़ तथा स्कूल से लगे आपस में सटे हुए नीम के दो पुराने विशाल पेड़ छाया देते रहते।

अभी तक मैंने एक बात का उल्लेख नहीं किया, न मैंने उसे इस योग्य ही समझा। यहाँ के सरकारी वकील रामलोचन राय का घर हमारे स्कूल के पास ही था। और उनके साथ उनकी स्त्री मेरी बाल्य-सखी सुरबाला थी, यह मैं जानता था।

रामलोचन बाबू के साथ मेरा परिचय हुआ। सुरबाला के साथ मेरा बचपन में परिचय था यह रामलोचन बाबू जानते थे या नहीं, मैं नहीं जानता। मैंने भी नया परिचय होने के कारण उस विषय में कुछ कहना उचित नहीं समझा। यही नहीं, सुरबाला किसी समय मेरे जीवन के साथ किसी रूप में जुड़ी हुई थी, यह बात मेरे मन में ठीक तरह से उठी ही नहीं।

एक दिन छुट्टी के रोज़ रामलोचन बाबू से भेंट करने उनके घर गया

था। याद नहीं किस विषय पर बातचीत हो रही थी, शायद वर्तमान भारतवर्ष की दुरवस्था के सम्बन्ध में। यह बात नहीं थी कि वे इसके लिए विशेष चिंतित और उदास थे, किन्तु विषय ऐसा था कि तम्बाकू पीते-पीते उस पर एक डेढ़ घण्टे तक यों ही शौकिया दुःख प्रकट किया जा सकता था।

तभी बगल के कमरे से चूड़ियों की हल्की-सी खनखनाहट, साड़ी की मरसराहट और पैरों की भी कुछ आहट सुनाई पड़ी, मैं अच्छी तरह समझ गया कि जँगले की संध से कोई कुतूहलपूर्ण आँखें मुझे देख रही है।

मुझे तत्काल वे आँखें याद हो आई—विश्वास, सरलता और बाल-सुलभ प्रीति से छलछलाती दो बड़ी-बड़ी आँखें, काली-काली पुतलियाँ, घनी काली पलकें, और स्थिर स्निग्ध दृष्टि। सहसा मेरे हृत्पिंड को मानो किसी ने अपनी कड़ी मुट्ठी में भींच लिया। वेदना से मेरा अन्तर झनझना उठा।

लौटकर घर आ गया, किन्तु वह व्यथा बनी रही। पढ़ना-लिखना, जो भी करता किसी भी तरह मन का भार दूर न हो पाता, मन सहसा एक भारी बोझ के समान हो हृदय की शिराओं को पकड़कर झूलने लग गया।

संध्या समय मैं कुछ शांत-चित्त होकर सोचने लगा कि आखिर ऐसा हुआ क्यों। उत्तर में मन बोल उठा, 'तुम्हारी वह सुरबाला कहाँ गई।'

मैंने प्रत्युत्तर दिया, मैने तो उसे स्वेच्छा से ही छोड़ दिया था। वह क्या चिरकाल तक मेरे लिए बैठी रहती।'

मन के भीतर से कोई बोला, 'उस समय जिसे चाहते ही पा सकते थे अब उसे सिर पटककर मर जाने पर भी एक बार देखने तक का अधिकार तुम्हें नहीं मिल सकता। बाल्यावस्था की वह सुरबाला तुम्हारे कितने ही निकट क्यों न रहे, चाहे तुम उसकी चूड़ियों की खनक सुनते रहो, उसके बालों की सुगन्ध की महक पाते रहो, किन्तु तुम्हारे बीच में एक दीवार बराबर बनी रहेगी।'

मैंने कहा, 'जाने भी दो सुरबाला मेरी कौन है।'

उत्तर मिला, 'आज सुरबाला तुम्हारी कोई नहीं है, लेकिन सुरबाला तुम्हारी क्या नहीं हो सकती थी?'

सच बात है, सुरबाला मेरी क्या नहीं हो सकती थी। जो मेरी सबसे अधिक अंतरंग, सबसे निकटवर्तिनी, मेरे जीवन के समस्त सुख-दुःख की सम-भागिनी हो सकती थी—वह अब इतनी दूर, इतनी पराई हो गई है कि आज उसको देखना भी निषिद्ध है, उससे बात करना अपराध है, उसके विषय में सोचना पाप है। और यह रामलोचन न जाने कहाँ से आ धमका, बस दो-एक रटे-रटाए मन्त्र पढ़कर सुरबाला को पलक मारते ही एक झपट्टे में धरती के

और सब लोगों से छीन ले गया।

मैं मानव-समाज में किसी नई नीति का प्रचार करने नहीं बैठा हूँ, न समाज-भंग करने आया हूँ, बन्धन तोड़ना भी नहीं चाहता। मैं तो बस अपने मन का प्रकृत भाव व्यक्त कर रहा हूँ। हमारे मन में जो भाव उदित होते हैं वे क्या सब-के-सब तर्कसंगत होते हैं। रामलोचन के घर की दीवार की आड़ में जो सुरबाला विराजमान थी वह रामलोचन की भी अपेक्षा मेरी अधिक थी, यह बात मैं किसी भी प्रकार मन से नहीं निकाल पाता था। इस प्रकार का विचार नितान्त असंगत और अन्याययुक्त था, यह स्वीकार करता हूँ, किन्तु अस्वाभाविक नहीं था।

तब से और किसी भी काम में मन को एकाग्र नहीं कर सका। दोपहर के समय क्लास में जब छात्र गुनगुनाते रहते, बाहर सन्नाटा छाया रहता, हल्की उत्तप्त वायु नीम की पुष्प-मञ्जरियों की सुगंध वहन कर लाती, तब इच्छा होती—क्या इच्छा होती नहीं जानता—बस, इतना कह सकता हूँ कि भारत-वर्ष के इन समस्त भावी आशास्पदों के व्याकरण की भूलों का संशोधन करते हुए जीवन-यापन करने की इच्छा नहीं होती।

स्कूल की छुट्टी हो जाने पर अपने बड़े कमरे में अकेले मन न लगता, किन्तु किसी सज्जन के मिलने आने पर भी असह्य लगता। सन्ध्या समय पुष्क-रिणी के किनारे सुपारी-नारियल के वृक्षों की अर्थहीन मर्मर ध्वनि सुनते-सुनते सोचता, 'मनुष्य-समाज एक जटिल भ्रम-जाल है। ठीक समय पर ठीक काम करना किसी को नहीं सूझता, बाद में अनुपयुक्त समय पर अनुचित वासना लेकर अस्थिर होकर मर जाता है।'

'तुम्हारे-जैसा आदमी सुरबाला का पति होकर वृद्धावस्था पर्यंत बड़े सुख से रह सकता था; तुम होने तो चले थे गैरीबाल्डी, और अन्त में हुए एक देहाती स्कूल के असिस्टेंण्ट मास्टर! और रामलोचन राय वकील, जिसे विशेष रूप से सुरबाला का ही पति होना कोई खास आवश्यक नहीं था; विवाह के एक मुहूर्त्त पहले तक जिसके लिए जैसी सुरबाला थी वैसी ही भवशंकरी, अब निश्चिन्त होकर विवाह करके सरकारी वकील बनकर अच्छा खासा रोज-गार करने लगा। जिस दिन दूध में धुएँ की बू आती, वह सुरबाला को डाँट देता और जिस दिन उसका मन प्रसन्न रहता उस दिन सुरबाला के लिए गहने बनवा देता। अपनी मोटी थलथल देह पर अचकन डाटे वह परम संतुष्ट रहता; वह कभी भी तालाब के किनारे बैठकर आकाश के तारों की ओर देखता हुआ आहें भरते हुए सन्ध्या नहीं बिताता था।'

एक बड़े मुकदमे में रामलोचन कुछ दिन के लिए बाहर गया था। अपने स्कूल-भवन में मैं जिस तरह अकेला था, कदाचित् उस दिन सुरबाला भी अपने घर में वैसी तरह अकेली थी।

मुझे याद है, उस दिन सोमवार था। सवेरे से ही आकाश में बादल छाए हुए थे। दस बजे से टप्-टप् करके वर्षा शुरू हो गई थी। आकाश की दशा देखकर हैडमास्टर ने जल्दी छुट्टी कर दी। काले-काले मेघ-खण्ड जैसे किसी विराट् आयोजन के लिए सारे दिन आकाश-भर में गमनागमन करते घूम रहे थे। दूसरे दिन तीसरे पहर से मूसलाधार वृष्टि होनी शुरू हुई और साथ-साथ आँधी चलने लगी। ज्यों-ज्यों रात होने लगी वर्षा और आँधी का का वेग भी बढ़ने लगा। पहले पुरवैया चल रही थी, फिर उत्तर तथा उत्तर-पूर्व की ओर से हवा बहने लगी।

उस रात सोने का प्रयत्न करना व्यर्थ था। खयाल आया, इस दुर्योग के समय सुरबाला घर में अकेली है!' हमारा स्कूल-भवन उनके घर की अपेक्षा कहीं अधिक मजबूत था, कई बार मन में आया, 'उसे स्कूल-भवन में बुला लाऊँ और मैं पुष्करिणी के किनारे रात्रि बिता लूँ।' किन्तु किसी भी तरह निश्चय नहीं कर पाया।

रात एक-डेढ़ पहर गई होगी कि सहसा बाढ़ आने की आवाज़ सुनाई पड़ी। समुद्र बढ़ा चला आ रहा था। घर से बाहर निकला। सुरबाला के घर की ओर चला। रास्ते में अपनी पुष्करिणी का किनारा पड़ा—वहाँ तक आते-आते पानी मेरे घुटनों तक पहुँच गया था। मैं ज्यों ही किनारे पर जाकर खड़ा हुआ त्यों ही एक और तरंग आ पहुँची।

हमारे तालाब के किनारे का एक हिस्सा लगभग दस-ग्यारह हाथ ऊँचा था। जिस समय मैं किनारे के ऊपर चढ़ा उसी समय विपरीत दिशा से एक और व्यक्ति भी चढ़ा। व्यक्ति कौन था यह सिर से लेकर पैर तक मेरी संपूर्ण अन्तरात्मा समझ गई थी। और उसने भी मुझे पहचान लिया था इसमें मुझे सन्देह नहीं।

और तो सब-कुछ जलमग्न हो गया था, केवल पाँच-छै हाथ के उस द्वीप के ऊपर हम दोनों प्राणी आकर खड़े हुए थे।

प्रलय-काल था, आकाश में तारों का प्रकाश नहीं था और धरती के सब प्रदीप बुझ गए थे—उस समय कोई बात करने में भी हानि नहीं थी—किन्तु एक भी शब्द नहीं निकला। एक-दूसरे से कुशल प्रश्न भी नहीं किया। दोनों केवल अन्धकार की ओर ताकते रहे। पैरों के नीचे गाढ़े कृष्णवर्ण

का उन्मत्त मृत्यु-स्रोत गर्जन करता हुआ बढ़ चला।

आज समस्त विश्व को छोड़कर सुरबाला मेरे पास आकर खड़ी थी। मुझे छोड़कर आज सुरबाला का कोई नहीं था। उस कब के बीते हुए शैशव-काल में सुरबाला किसी जन्मान्तर के बाद, किसी प्राचीन रहस्यान्धकार पर उतराती हुई इस सूर्य चन्द्रालोकित जनाकीर्ण पृथ्वी के ऊपर, मेरी ही बगल में आकर खड़ी हुई थी; और आज कितने दिनों के बाद उसी आलोकमय जनपूर्ण जगत् को छोड़कर इस भयंकर जन-शून्य प्रलयान्धकार में एकाकिनी सुरबाला मेरे ही निकट आकर उपस्थित हुई। जन्म-स्रोत ने उस नवकलिका को मेरे पास लाकर फेंक दिया था, मृत्यु-स्रोत ने उस विकसित पुष्प को मेरे ही पास लाकर फेंका—इस समय केवल एक और लहर के आते ही धरती के इस प्रदेश से, विच्छेद के इस वृन्त से छूटकर हम दोनों एक हो जाते।

वह लहर न आवे। पति-पुत्र, घर-धन-जन को लेकर सुरबाला चिरकाल सुख से रहे। मैंने इसी रात में महा प्रलय के किनारे खड़े होकर अनन्त आनन्द का स्वाद पा लिया।

रात प्रायः समाप्त होने को आई—आँधी थम गई, पानी उतर गया—सुरबाला बिना कुछ कहे घर चली गई, मैं भी बिना कुछ कहे अपने घर चला आया। मैंने सोचा, 'मैं नाज़िर भी नहीं हुआ, सरिश्तेदार भी नहीं हुआ, गैरीबाल्डी भी नहीं हुआ, मैं एक टूटे-फूटे स्कूल का असिस्टैण्ट मास्टर रह गया, मेरे इस सम्पूर्ण जीवन में केवल क्षण-भर के लिए एक अनन्त रात्रि का उदय हुआ था—मेरे सुदीर्घ जीवन के सारे दिन-रातों में केवल वही एक रात मेरे तुच्छ जीवन की एक-मात्र चरम सार्थकता थी।'

जीवित और मृत

: १ :

रानीहाट के जमींदार बाबू शारदाशंकर के परिवार की विधवा बहू के पितृ-कुल में कोई नहीं था; एक-एक करके सब मर गए। पति-कुल में भी सच-मुच अपना कहने योग्य कोई नहीं था, पति भी नहीं, पुत्र भी नहीं। जेठ का एक लड़का था, शारदाशंकर का छोटा पुत्र, वही उसकी आँखों का तारा था। उसके जन्म के बाद उसकी माता बहुत दिन तक कठिन रोग से पीड़ित रहीं, इसलिए उसकी विधवा काकी कादम्बिनी ने ही उसका पालन-पोषण किया। पराये लड़के का पालन-पोषण करने पर उसके प्रति स्नेह का आकर्षण मानो और भी अधिक हो जाता है, क्योंकि उस पर कोई अधिकार नहीं होता, न उस पर कोई सामाजिक दावा रहता है बस केवल स्नेह का अधिकार रहता है। किन्तु अकेला स्नेह समाज के सामने अपने अधिकार को तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं कर पाता, और वह करना भी नहीं चाहता, केवल अनिश्चित प्राण-धन को दुगुनी व्याकुलता से प्यार करने लगता है। विधवा की सारी रुद्ध प्रीति से इस बालक को सींचकर श्रावण की एक रात में अकस्मात् कादम्बिनी की मृत्यु हो गई। न जाने किस कारण सहसा उसका हृत्स्पंदन स्तब्ध हो गया—बाकी सारे संसार में समय की गति चलती रही, केवल उस स्नेह-कातर छोटे कोमल वक्ष के भीतर समय की घड़ी की कल चिरकाल के लिए बन्द हो गई।

कहीं पुलिस का उपद्रव न हो इस डर से बिना विशेष आडम्बर के जमींदार के चार ब्राह्मण कर्मचारी मृत देह को तुरन्त दाह-संस्कार के लिए ले गए।

रानीहाट का श्मशान बस्ती से बहुत दूर था। पोखर के किनारे एक झोंपड़ी थी और उसके निकट ही एक विशाल वट वृक्ष था, विस्तृत मैदान में और कहीं कुछ नहीं था। पहले यहाँ होकर नदी बहती थी, इस समय नदी बिलकुल सूख गई थी। उसी शुष्क जल-धारा के एक अंश को खोदकर श्मशान के पोखर का निर्माण कर लिया गया था। वर्तमान निवासी उस पोखर को ही पुण्य-स्रोतस्विनी का प्रतिनिधिस्वरूप मानते थे।

मृत देह को झोंपड़ी में रखकर चिता के लिए लकड़ी आने की प्रतीक्षा में चारों जने बैठे रहे। समय इतना लम्बा मालूम होने लगा कि अधीर होकर उनमें से निताइ और गुरुचरण तो यह देखने के लिए चल दिए कि लकड़ी आने में इतनी देर क्यों हो रही है। और विधु तथा वनमाली मृत देह की रक्षा करते बैठे रहे।

सावन की अँधेरी रात थी। सघन बादल छाए हुए थे, आकाश में एक भी तारा नहीं दिखता था। अँधेरी झोंपड़ी में दोनों चुपचाप बैठे रहे। एक की चादर में दियासलाई और बत्ती बँधी हुई थी। वर्षा ऋतु की दियासलाई बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं जली—जो लालटेन साथ थी वह भी बुझ गई।

बहुत देर चुप बैठे रहने के बाद एक ने कहा, "भाई, एक चिलम तम्बाकू का प्रबन्ध होता तो बड़ी सुविधा होती। जल्दी-जल्दी में कुछ भी नहीं ला सके।"

दूसरे ने कहा, "मैं झट से एक सपाटे में सब-कुछ इकट्ठा करके ला सकता हूँ।"

वनमाली के भागने के अभिप्राय को ताड़कर विधु ने कहा, "मैया री! और मैं क्या यहाँ अकेला बैठा रहूँगा।"

बातचीत फिर बन्द हो गई। पाँच मिनट एक घण्टे के समान लगने लगे। जो जने लकड़ी लेने गए थे उनको ये लोग मन-ही-मन गाली देने लगे—'वे कहीं खूब आराम से बैठे बातें करते हुए तम्बाकू पी रहे होंगे,' धीरे-धीरे यह सन्देह उनके मन में दृढ़ होने लगा।

कहीं कोई आहट नहीं—केवल पोखर के किनारे से झिल्लियों और मेढ़कों की अविरल पुकार सुनाई पड़ रही थी। इतने में प्रतीत हुआ जैसे खाट कुछ हिली, जैसे मृत देह ने करवट बदली।

विधु और वनमाली राम नाम जपते-जपते काँपने लगे। हठात् झोंपड़ी में दीर्घ निःश्वास लेने की आवाज सुनाई पड़ी। विधु और वनमाली पलक मारते झोंपड़ी से झपटकर बाहर निकले और गाँव की ओर दौड़े।

लगभग डेढ़ कोस रास्ता पार करने पर उन्होंने देखा उनके बाकी दो साथी हाथ में लालटेन लिये चले आ रहे हैं। वे वास्तव में तम्बाकू पीने ही गए थे, लकड़ी का उन्हें कोई पता नहीं था, तो भी उन्होंने समाचार दिया कि पेड़ काटकर लकड़ी चीरी जा रही है—जल्दी ही पहुँच जायगी। तब विधु और वनमाली ने झोंपड़ी की सारी घटना का वर्णन किया। निताइ और गुरुचरण ने अविश्वास करते हुए उसे उड़ा दिया, और कर्तव्य त्यागकर भाग आने के लिए उन दोनों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और डाँटने-फटकारने लगे।

अविलम्ब चारों व्यक्ति उस झोंपड़ी में जाकर उपस्थित हुए। भीतर घुसकर देखा मृत देह नहीं है, खाट सूनी पड़ी है।

वे परस्पर एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। शायद शृगाल ले गए हों? किन्तु आच्छादन-वस्त्र तक नहीं था। खोजते-खोजते बाहर जाकर देखा, झोंपड़ी के द्वार के पास थोड़ी कीचड़ जमी थी, उस पर किसी स्त्री के छोटे पैरों के ताजे चिह्न थे।

शारदाशंकर सहज आदमी नहीं थे, उनसे भूत की यह कहानी कहने पर सहसा कोई शुभ फल मिलेगा, ऐसी सम्भावना नहीं थी। इसलिए चारों व्यक्तियों ने खूब सलाह करके निश्चय किया कि यही खबर देना ठीक होगा कि दाह-कार्य पूरा कर दिया है।

भोर में जो लोग लकड़ी लेकर आए उन्हें खबर मिली कि देर होती देखकर पहले ही कार्य सम्पन्न कर दिया गया, झोंपड़ी में लकड़ी मौजूद थीं। इस विषय में किसी को भी सहज ही सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता—क्योंकि मृत देह ऐसी कोई बहुमूल्य सम्पत्ति नहीं है, जिसे धोखा देकर कोई चुरा ले जायगा।

सभी जानते हैं, जीवन का जब कोई लक्षण नहीं मिलता तब भी कई बार जीवन प्रच्छन्न रूप में बना रहता है, और समयानुकूल फिर मृतवत् देह में उसका कार्य आरम्भ होता है। कादम्बिनी भी मरी नहीं थी—सहसा न जाने किस कारण से उसके जीवन की गति बन्द हो गई थी।

जब उसकी चेतना लौटी तो देखा, चारों ओर निबिड़ अन्धकार था। हमेशा की आदत के अनुसार जहाँ सोती थी, उसे लगा यह वह जगह नहीं है। एक बार पुकारा 'दीदी'—अँधेरी झोंपड़ी में किसी ने उत्तर नहीं दिया। भय-भीत होकर उठ बैठी, उसे उस मृत्युशय्या की बात याद आई। एकाएक छाती में हुई पीड़ा—साँस रुकने की बात। उसकी बड़ी जिठानी कमरे के कोने में बैठी चूल्हे पर बच्चे के लिए दूध गरम कर रही थी—कादम्बिनी खड़ी न रह सकी और पछाड़ खाकर बिछौने पर गिर पड़ी—रुँधे गले से पुकारा 'दीदी, एक बार बच्चे को ले आओ, मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है।' उसके बाद सब-कुछ काला पड़ गया—जैसे किसी लिखी हुई पुस्तिका पर दावात की पूरी स्याही उलट गई हो—कादम्बिनी की सारी स्मृति एवं चेतना, विश्व-ग्रन्थ के समस्त अक्षर एक मुहूर्त्त में एकाकार हो गए। बच्चे ने उसको अन्तिम बार

अपने उस मीठे प्यार-भरे स्वर में 'काकी' कहकर पुकारा था या नहीं, उसकी अनन्त अज्ञात मरण-यात्रा के पथ के लिए चिरपरिचित पृथ्वी से यह अन्तिम स्नेह पाथेय-मात्र इकट्ठा करके लाया था या नहीं, विधवा को यह भी याद नहीं आ रहा था।

पहले तो लगा, यम-लोक कदाचित् इसी प्रकार चिर-निर्जन और चिरान्धकारपूर्ण है। वहाँ कुछ भी देखने को नहीं है, सुनने को नहीं है, काम करने को नहीं है। केवल सदा इसी प्रकार जागते हुए बैठे रहना पड़ेगा।

उसके पश्चात् जब मुक्त द्वार से एकाएक वर्षा-काल की ठंडी हवा का झोंका आया और वर्षा के मेंढकों की पुकार कानों में पड़ी, तब क्षण-भर में इस लघु जीवन की आशैशव समस्त वर्षा की स्मृति घनीभूत होकर उसके मन में उदित हुई और वह पृथ्वी के निकट स्पर्श का अनुभव कर सकी। एक बार बिजली चमकी; सामने के पोखर, वट वृक्ष, विस्तृत मैदान, और सुदूर की तरु-श्रेणी पर अचानक उसकी दृष्टि पड़ी। उसे याद आया कि पुण्य तिथियों के अवसर पर बीच-बीच में आकर उसने इस पोखर में स्नान किया था और यह भी याद आया कि उस समय श्मशान में मृत देह को देखकर मृत्यु कैसी भयानक प्रतीत होती थी।

पहले तो मन में आया कि घर लौटना चाहिए। किन्तु साथ ही सोचा, 'मैं तो जीवित नहीं हूँ, मुझे वे घर में क्यों घुसने देंगे। वहाँ तो अमंगल माना जायगा। जीव-जगत् से मैं निर्वासित होकर आई हूँ—मैं अपनी ही प्रेतात्मा हूँ।'

यदि यह सही नहीं है तो इस अर्धरात्रि में शारदाशंकर के सुरक्षित अन्तःपुर से इस दुर्गम श्मशान में आई कैसे। यदि उसकी अन्त्येष्टि क्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है तो दाह-क्रिया करने वाले आदमी गए कहाँ। शारदाशंकर के आलोकित घर में अपनी मृत्यु के अन्तिम क्षण उसे याद आए और उसके बाद ही इस बहुदूरवर्ती जन-शून्य अँधेरे श्मशान में अपने को अकेली देखकर उसने अनुभव किया, 'मैं इस पृथ्वी के जन-समाज की अब कोई नहीं—मैं अति भीषण, अकल्याणकारिणी; मैं अपनी ही प्रेतात्मा हूँ।'

मन में यह बात आते ही लगा, जैसे उसके चारों ओर से विश्व-नियमों के समस्त बन्धन टूट गए हैं। जैसे उसमें अद्भुत शक्ति हो, उसे असीम स्वाधीनता हो—वह जहाँ चाहे जा सकती है, जो चाहे कर सकती है। इस अभूतपूर्व नूतन विचार के आविर्भाव से वह उन्मत्त की भाँति प्रबल वायु के झोंके के समान झोंपड़ी से बाहर निकलकर अन्धकारपूर्ण श्मशान को रौंदती हुई चल पड़ी—मन में लज्जा, भय, चिन्ता का लेश-मात्र न रहा।

चलते-चलते पैर थकने लग गए, देह दुर्बल लगने लगी; एक-मैदान पार करते न करते दूसरा आ जाता था। बीच-बीच में धान के खेत पार करने पड़ते या फिर कहीं-कहीं घुटनों तक पानी भरा मिलता। जब भोर का प्रकाश कुछ-कुछ दिखाई देने लगा तब जाकर थोड़ी दूर पर बस्ती के बाँस के झाड़ों से दो-एक पक्षियों की चहचहाहट सुनाई दी।

तब उसे न जाने कैसा भय लगने लगा। जगत् और जीते-जागते लोगों के साथ इस समय उसका कैसा नया सम्पर्क स्थापित हो गया था यह वह तनिक भी नहीं जानती थी। जब तक मैदान में थी, श्मशान में थी, श्रावण-रजनी के अँधेरे में थी, तब तक वह जैसे निर्भय थी, जैसे अपने राज्य में थी। दिन के प्रकाश में लोगों की बस्ती उसे अत्यन्त भयंकर स्थान लगने लगी। मनुष्य भूत से डरता है, भूत भी मनुष्य से डरता है; मृत्यु-नदी के अलग-अलग किनारे पर उनका वास है।

: ३ :

कपड़ों में कीचड़ लपेटे, अद्भुत भावों में डूबी और रात्रि-जागरण के कारण पागल के समान कादम्बिनी के चेहरे की जो दशा हो गई थी उसे देखकर यह सम्भव था कि लोग डर जाते और लड़के शायद दूर भागकर उस पर ढेले फेंकने लगते। सौभाग्य से उसे सबसे पहले इस अवस्था में एक सज्जन पथिक ने देखा।

उसने आकर कहा, "बेटी, तुम भले परिवार की वधू लगती हो, तुम भला इस अवस्था में अकेली कहाँ जा रही हो?"

पहले तो कादम्बिनी कोई उत्तर न देकर ताकती रह गई। सहसा कुछ भी नहीं सोच पाई। वह संसार में है, वह भद्र कुलवधू-जैसी दीखती है, गाँव के रास्ते में पथिक उससे प्रश्न पूछ रहा है, वे सारी बातें उसे कल्पनातीत लगीं।

पथिक ने उससे फिर कहा, "चलो बेटी, मैं तुम्हें घर पहुँचा दूँ—तुम्हारा घर कहाँ है, मुझे बताओ!"

कादम्बिनी सोचने लगी। ससुराल लौटने की बात मन में ला भी नहीं सकती थी, पिता का घर था ही नहीं—तभी उसे बचपन की सहेली याद आई।

यद्यपि सहेली योगमाया का साथ बचपन में ही छूट गया था फिर भी कभी-कभी चिट्ठी-पत्री आती-जाती रहती थी। कभी-कभी बाकायदा प्रेम-कलह छिड़ जाता। कादम्बिनी जताना चाहती कि उसीका स्नेह प्रबल है; योगमाया जताना चाहती कि कादम्बिनी उसके स्नेह का यथोचित प्रतिदान नहीं देती।

यदि किसी सुयोग से वे एक बार मिल सकें तो फिर वे क्षण-भर के लिए भी एक-दूसरे को आंख की ओट नहीं करेंगी, इस विषय में उन दोनों में से किसी को भी कोई सन्देह नहीं था।

कादम्बिनी ने उन सज्जन से कहा, "निशिन्दापुर में श्रीपतिचरण बाबू के घर जाना है।" पथिक कलकत्ता जा रहे थे; निशिन्दापुर पास तो नहीं था, पर फिर भी उनके मार्ग में पड़ता था। उन्होंने स्वयं बन्दोबस्त करके कादम्बिनी को श्रीपतिचरण बाबू के घर पहुँचा दिया।

दोनों सखियों का मिलन हुआ। पहले पहचानने में कुछ देर हुई, फिर दोनों के नेत्रों के सामने बचपन का चित्र धीरे-धीरे परिस्फुट हो उठा।

योगमाया ने कहा, "वाह-वाह, मेरा भाग्य कितना अच्छा है फिर से तुम्हारे दर्शन कर सकूँगी, इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी। लेकिन बहन, तुम आईं कैसे ? तुम्हारी ससुराल के लोगों ने क्या तुम्हें छोड़ दिया।"

कादम्बिनी चुप लगा गई। अंत में बोली, "बहन ससुराल की बात मुझसे मत पूछो ! मुझे दासी की भाँति घर के एक कोने में जगह दे दो, मैं तुम लोगों का काम-काज कर दिया करूँगी।"

योगमाया बोली, "वाह री, यह खूब कही; दासी की तरह क्यों रहोगी। तुम मेरी सहेली हो, तुम मेरी···" इत्यादि।

इसी समय श्रीपति ने कमरे में प्रवेश किया। कादम्बिनी कुछ देर उनके मुँह की ओर ताकती रही, फिर धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गई—सिर पर पल्ला ठीक कर लेने का, या किसी प्रकार के संकोच या संभ्रम का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ा।

बाद में श्रीपति कहीं उसीकी सहेली के विरुद्ध कुछ सोच न बैठें, इसी संभावना से विकल होकर योगमाया ने अनेक प्रकार से उनको समझाना शुरू किया। किन्तु समझाना इतना कम पड़ा और श्रीपति ने योगमाया के सारे प्रस्तावों का इतनी आसानी से अनुमोदन किया कि योगमाया मन-ही-मन विशेष संतुष्ट न हो सकी।

कादम्बिनी सहेली के घर आ तो गई, पर सहेली के साथ हिल-मिल नहीं सकी—बीच में मृत्यु की दीवार थी। अपने बारे में निरन्तर कोई सन्देह एवं चेतना बनी रहने पर दूसरे के साथ घुला-मिला नहीं जा सकता। कादम्बिनी योगमाया के मुँह की ओर देखती और न जाने क्या सोचती—सोचती,'अपने पति और अपनी घर-गृहस्थी लिये वह मानो बहुत दूर किसी दूसरे ही लोक में हो।

स्नेह-ममता और समस्त कर्तव्य लिये हुए वह मानो धरती की निवासिनी हो, और मैं मानो कोई शून्य छाया। वह जैसे अस्तित्व के देश में हो, और मैं जैसे किसी अनन्त में।'

योगमाया को भी न जाने कैसा-कैसा लगा, कुछ भी नहीं समझ पाई। स्त्री की जाति रहस्य नहीं सह सकती; क्योंकि अनिश्चित को लेकर कवित्व किया जा सकता है, वीरत्व प्रदर्शित किया जा सकता है, पाण्डित्य दिखाया जा सकता है, किन्तु घर-गृहस्थी नहीं चलाई जा सकती। इसी कारण स्त्री जाति जिसको समझ नहीं सकती, या तो वह उसके अस्तित्व का विलोप करके उसके साथ कोई संपर्क ही नही रखती या फिर उसको अपने हाथ से नया रूप देकर उसे अपने व्यवहार के योग्य कोई वस्तु गढ़ लेती है—यदि दोनों में से एक भी नही कर पाती, तो फिर उसके ऊपर वह भीषण क्रोध करती रहती है।

कादम्बिनी जितनी ही दुर्बोध होने लगी, योगमाया उसके ऊपर उतनी ही क्रोधित होने लगी। उसने सोचा,'सिर पर यह क्या मुसीबत आ पड़ी।'

तिस पर एक और भी आफ़त थी। कादम्बिनी स्वय अपने से डरती थी। वह अपने सामीप्य से स्वयं किसी प्रकार भी नही भाग पाती थी। जो भूत से डरते हैं उन्हें अपने पिछाड़ी का डर सताया करता है—जहाँ दृष्टि नहीं जा पाती वहीं का भय लगता है। लेकिन कादम्बिनी को अपने से ही सबसे अधिक डर लगता था, बाहर का उसे कोई भय नहीं था।

इसीलिए निर्जन दोपहरी में वह कभी-कभी कमरे में अकेली चीख उठती और संध्या समय दिये के उजाले में अपनी छाया देखकर उसका शरीर थर-थर करने लग जाता।

उसका यह डर देखकर घर के सभी जनों के मन में न जाने कैसा एक भय समा गया। नौकर-चाकर, दास-दासियाँ, यहाँ तक कि योगमाया को भी जब-तब जहाँ-तहाँ भूत दिखाई पड़ने लगा।

एक दिन ऐसा हुआ कि अचानक आधी रात को कादम्बिनी रोती हुई सोने के कमरे से बाहर निकली और योगमाया के कमरे के द्वार पर आकर बोली, "दीदी, दीदी, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ! मुझे अकेली मत छोड़ा करो!"

योगमाया को एक ओर डर लगा, तो दूसरी ओर क्रोध भी आया। उसकी इच्छा हुई कादम्बिनी को उसी क्षण निकाल दे। श्रीपति ने दया पूर्वक जैसे-तैसे उसको शांत करके पास के कमरे में स्थान दिया।

दूसरे दिन असमय श्रीपति को अंतःपुर में तलब किया गया। योगमाया ने उनको अचानक डाँटना-फटकारना आरंभ किया, "क्यों जी, तुम कैसे आदमी

हो। एक औरत अपनी ससुराल छोड़कर तुम्हारे घर में आकर डट गई है, महीना होने को आया, फिर भी टलने का नाम नहीं लेती, और तुम्हारे मुँह से विरोध का एक शब्द भी नहीं सुनाई पड़ा। तुम्हारे मन में क्या है साफ़-साफ़ कहो न! पुरुषों की तो जात ही ऐसी होती है।"

वास्तव में, साधारणत: स्त्री जाति पर पुरुषों का एक तर्कहीन पक्षपात रहता है और इसके लिए स्त्रियाँ ही उनको अधिक अपराधी ठहराती हैं। नि:सहाय किन्तु सुन्दर कादम्बिनी के प्रति उनकी करुणा यथोचित मात्रा से कुछ अधिक थी, इस बात के विरोध में श्रीपति योगमाया की देह छूकर सौगंध खाने को भी तैयार थे। फिर भी, उनके व्यवहार में उसका प्रमाण मिल ही जाता।

वे सोचते, 'इसकी ससुराल के लोग ज़रूर इस पुत्रहीना विधवा के प्रति अन्याय-अत्याचार करते होंगे, तभी तो किसी भी प्रकार सहन न कर सकने पर ही वहाँ से भागकर कादम्बिनी ने मेरा आश्रय लिया है। जब इसके माँ या बाप कोई है ही नहीं तब इसे मैं कैसे त्याग दूँ।' इसी कारण वे किसी प्रकार की खोज-खबर लेने की ओर से उदासीन थे और इस अप्रीतिकर विषय पर प्रश्न करके कादम्बिनी को व्यथित करने की भी उनकी इच्छा नहीं होती थी।

हारकर उनकी पत्नी उनकी निष्क्रिय कर्तव्य-बुद्धि पर नाना प्रकार से आघात करने लगी। कादम्बिनी की ससुराल में समाचार भिजवाना उनके घर की शांति-रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, यह वे अच्छी तरह समझ गए। अंत में उन्होंने निश्चय किया, अचानक चिट्ठी लिख भेजने का परिणाम शायद अच्छा न भी हो, अतएव स्वयं रानीहाट जाकर पता लगाने के बाद अपना कर्तव्य तय करेंगे।

श्रीपति तो चले गए, इधर योगमाया ने आकर कादम्बिनी से कहा, "बहन, तुम्हारा यहाँ पर अब और टिके रहना अच्छा नहीं दिखता। लोग क्या कहेंगे।"

गंभीरता से योगमाया के मुँह की ओर देखकर कादम्बिनी बोली, "लोगों से मुझे क्या लेना-देना है।"

योगमाया सुनकर अवाक् रह गई। ज़रा झल्लाकर बोली, "तुम्हें न हो, हमें तो लेना-देना है। हम पराए घर की बहू को क्या कहकर टिकाए रहें।"

कादम्बिनी ने कहा, "मेरी ससुराल है ही कहाँ।"

योगमाया ने सोचा, 'मर गए, न जाने क्या कहती है, जलमुँही!'

कादम्बिनी धीरे-धीरे बोली, "मैं क्या कोई तुम लोगों की हूँ। मैं क्या इस जगत् की हूँ। तुम लोग हँसते हो, रोते हो, प्यार करते हो, सब अपने में

मगन हां, मैं…तो बस देखती रहती हूं। तुम लोग मनुष्य हो, और मैं हूं छाया। समझ में नहीं आता भगवान् ने मुझे तुम लोगों के इस जगत् में क्यों ला रखा है। तुम लोगों को भी डर लगा रहता है कि कहीं मैं तुम लोगों के हंसी-खेल में अमंगल न ले आऊं—मैं भी नहीं समझ पाती कि तुम लोगों के साथ मेरा क्या संबंध है। किन्तु, ईश्वर ने जब हमारे लिए कोई दूसरा स्थान बनाया ही नहीं, तब चाहे बात-बात में बन्धन टूटता रहे फिर भी तुम्हीं लोगों के आस-पास चक्कर काटती रहती हूं।"

उसने ये बातें कुछ इस ढंग से देखते हुए कहीं कि योगमाया जैसे-तैसे मोटे तौर पर कुछ तो समझ पाई किन्तु असल बात वह नहीं समझी, जवाब भी नहीं दे सकी। दुबारा प्रश्न भी नहीं कर सकी। वह अत्यंत भारग्रस्त होकर गंभीर भाव से चली गई।

: ४ :

जब रात के लगभग दस बज रहे थे तब श्रीपति रानीहाट होकर लौटे। मूसलाधार वर्षा में धरती डूबी जा रही थी। उसकी निरंतर झर-झर ध्वनि से ऐसा प्रतीत होता था कि यह वर्षा समाप्त नहीं होगी, आज रात-भर चलती रहेगी।

योगमाया ने पूछा, "क्या हुआ।"

श्रीपति ने कहा, "ढेरों बातें हैं, फिर होंगी।" कहकर उन्होंने कपड़े बदलकर भोजन किया और हुक्का पीकर सोने चले गए। मुद्रा अत्यन्त चिन्तित थी।

योगमाया बहुत देर से कौतूहल दबाए हुए थी, बिस्तर पर पहुंचते ही उसने पूछा, "क्या सुन आए, बताओ!"

श्रीपति ने कहा, "तुमने जरूर एक भूल की है।"

सुनते ही योगमाया मन-ही-मन कुछ नाराज हुई। औरतें कभी भूल नहीं करतीं; यदि करें भी तो किसी बुद्धिमान पुरुष के लिए उसका उल्लेख करना उचित नहीं है। उसे अपने ही सिर पर ले लेना बुद्धिमानी है। योगमाया ने थोड़ा गर्म होकर कहा, "कैसी, सुनूं तो!"

श्रीपति ने कहा, "तुमने जिस स्त्री को अपने घर में स्थान दिया है वह तुम्हारी सखी कादम्बिनी नहीं है।"

ऐसी बात सुनकर सहज ही क्रोध आ सकता है—विशेष रूप से अपने पति के मुंह से सुनने पर तो कहना ही क्या। योगमाया ने कहा, "अपनी सहेली

को मैं नहीं पहचानती, तुमसे पहचान करवा लेनी होगी—खूब कही।"

श्रीपति ने समझाया, "यहाँ बात की खूबी को लेकर किसी प्रकार का तर्क नहीं हो रहा है, प्रमाण देखना होगा। योगमाया की सहेली कादम्बिनी मर गई है इसमें कोई सन्देह नहीं।"

योगमाया ने कहा, "लो, और सुनो! तुम ज़रूर कोई गड़बड़ कर आए हो। न जाने कहाँ-के-कहाँ पहुँचे और क्या-का-क्या सुन आए, भला कोई ठिकाना है! तुम्हें खुद वहाँ जाने के लिए किसने कहा था, एक चिट्ठी लिख देते, सब बात साफ़ हो जाती।"

अपनी कर्म-कुशलता के प्रति स्त्री के ऐसे विश्वासाभाव से श्रीपति अत्यन्त खिन्न होकर विस्तारपूर्वक सब प्रमाणों का उल्लेख करने लगे, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। उभय पक्ष के हाँ-ना करते-करने आधी रात हो गई।

यद्यपि कादम्बिनी को उसी क्षण घर से बाहर निकाल देने के विषय में पति-पत्नी किसी में मतभेद नहीं था—क्योंकि, श्रीपति का विश्वास था कि उनके अतिथि ने छद्म परिचय देकर उनकी स्त्री को इतने दिन तक धोखा दिया है, और योगमाया का विश्वास था कि वह कुल-त्यागिनी है—तथापि प्रस्तुत तर्क के सम्बन्ध में दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार न था।

धीरे-धीरे दोनों की आवाज़ चढ़ने लगी। वे भूल गए कि बग़ल के ही कमरे में कादम्बिनी सो रही है।

एक ने कहा, "अच्छी आफ़त में पड़ गए। मैं अपने कानों से सुन आया हूँ।"

दूसरे ने दृढ़ स्वर में कहा, "तो क्या तुम्हारे कहने से ही मान लूँ, मैं अपनी आँखों देख रही हूँ।"

अन्त में योगमाया ने पूछा, "अच्छा, कादम्बिनी कब मरी थी, बताओ तो!"

उसने सोचा कि कादम्बिनी की किसी चिट्ठी की तारीख से इस बात का विरोध दिखाकर श्रीपति के भ्रम को प्रमाणित कर देगी।

श्रीपति ने जिस तारीख की बात कही, दोनों ने हिसाब करके देखा कि वह तारीख़ जिस दिन संध्या-समय कादम्बिनी उनके घर आई थी, ठीक उसके पहले दिन पड़ती थी। सुनते ही योगमाया का हृदय सहसा काँप उठा, श्रीपति को भी न जाने कैसा लगने लगा।

इतने में उनके कमरे का द्वार खुल गया, चौमासे की हवा के एक झोंके से दिया भक् से बुझ गया। पलक मारते ही बाहर का अँधेरा सारे कमरे में ऊपर से नीचे तक भर गया। कादम्बिनी एकाएक कमरे के भीतर आ खड़ी हुई। उस

समय ढाई पहर रात बीत चुकी थी, बाहर लगातार वर्षा हो रही थी।

कादम्बिनी ने कहा, "बहन, मैं तुम्हारी वही कादम्बिनी हूँ, किन्तु अब मैं जीवित नहीं हूँ। मैं मर चुकी हूँ।"

योगमाया भय से चीख पड़ी। श्रीपति की बोलती बन्द हो गई।

"लेकिन मैंने मरने के अलावा तुम लोगों की दृष्टि में और क्या अपराध किया है। मेरे लिए अगर न इस लोक में स्थान है, न परलोक में—तो फिर हाय! मैं कहाँ जाऊँ?"

ज़ोर से चीखकर वह मानो उस घोर वर्षा की रात में सोते हुए विधाता को जगाकर पूछ उठी, "हाय! तो फिर मैं कहाँ जाऊँ?"

यह कहकर मूर्छित दम्पति को अँधेरे कमरे में छोड़कर कादम्बिनी विश्व में अपना स्थान खोजने निकल पड़ी।

: ५ :

कादम्बिनी किस प्रकार वापिस रानीहाट पहुँची, यह कहना कठिन है। किन्तु, पहले किसी को भी दिखाई नहीं पड़ी। उसने सारा दिन बिना खाए-पिए एक टूटे मन्दिर के खण्डहर में बिताया।

वर्षा ऋतु की अकाल सध्या जब अत्यन्त सघन हो गई और आसन्न दुर्योग की आशंका से गाँव के लोगों ने घबराकर अपने-अपने घरों की शरण ली, तब कादम्बिनी बाहर निकली। ससुराल के दरवाज़े पर पहुँचकर एक बार तो उसका हृदय काँप उठा, लेकिन जब वह लम्बा घूंघट निकालकर भीतर जाने लगी तो उसको दासी समझकर दरबानों ने कोई रोक-टोक नहीं की। तभी बड़े ज़ोर की वर्षा होने लगी, और हवा भी तेज़ी से चलने लगी।

उस समय घर की मालकिन शारदाशंकर की स्त्री अपनी विधवा ननद के साथ ताश खेल रही थीं। नौकरानी रसोईघर में थी और बीमार मुन्ना ज्वर उतर जाने पर सोने के कमरे में बिछौने पर सो रहा था। कादम्बिनी सबकी आँख बचाकर उसी कमरे में प्रविष्ट हुई। वह क्या सोचकर ससुराल आई थी पता नहीं, वह स्वयं भी नहीं जानती थी, बस इतना जानती थी कि एक बार आकर मुन्ने को एक नज़र देख लेने की इच्छा थी। उसके बाद कहाँ जायगी, क्या होगा, यह तो उसने सोचा भी नही था।

दिए के उजाले में उसने देखा, रुग्ण, क्षीणकाय मुन्ना मुट्ठी बाँधे सोया हुआ है। देखते ही उसका उत्तप्त हृदय मानो तृषातुर हो उठा—उसकी सारी बलाएँ लेकर उसको एक बार छाती से लगाए बिना क्या रहा जा सकता है।

और, फिर उसे याद आया, 'मैं रही नहीं, अब इसको देखने वाला कौन है। इसकी माँ को संगत अच्छी लगती है, गप-शप अच्छी लगती है, खेल-तमाशा अच्छा लगता है, इतने दिन तक इसका भार मुझे सौंपकर वे निश्चिन्त थीं, लड़के के पालन-पोषण का कोई झंझट उन्हें नहीं उठाना पड़ा। आज इसकी उस प्रकार देख-भाल कौन करेगा!'

तभी मुन्ना अचानक करवट बदलकर अर्धनिद्रित अवस्था में बोल पड़ा, "काकी, पानी दो।" हाय! मैं वारी! मेरे लाल, अपनी काकी को तू अब भी नहीं भूला! झटपट सुराही से पानी लेकर मुन्ने को छाती से चिपटाकर कादम्बिनी ने उसे पानी पिलाया।

जब तक वह नींद के झोंके में रहा, अपनी आदत के अनुसार काकी के हाथ से पानी पीने में मुन्ने को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। अन्त में कादम्बिनी ने जब अपनी बहुत दिनों की आकांक्षा पूरी करने के लिए उसका मुँह चूमकर उसे फिर लिटा दिया, तो उसकी नींद खुल गई और उसने काकी से लिपटकर पूछा, "काकी, तू मर गई थी?"

काकी बोली, "हाँ, बेटा!"

"तू फिर मुन्ने के पास लौट आई है? अब तो नहीं मरेगी?"

उसका उत्तर देने के पहले ही हल्ला मच गया—नौकरानी कटोरी में साबूदाना लिये कमरे में घुसी थी, अकस्मात् कटोरी फेंककर 'मैया री!' पुकारती हुई वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

उसकी चीख सुनकर मालकिन ताश फेंककर दौड़ी हुई आई, कमरे में घुसते ही उन्हें मानो काठ मार गया, न तो भाग ही सकीं, न मुँह से एक भी बात निकली।

ये सब बातें देखकर मुन्ने के मन में भी भय का सञ्चार होने लगा—वह रोते-रोते बोला, "काकी तू जा!"

बहुत दिनों बाद आज कादम्बिनी को अनुभव हुआ कि वह मरी नहीं है—वही पुराना घर-द्वार, वही सब-कुछ, वही मुन्ना, वही स्नेह, उसके लिए ज्यों-के-त्यों जीवित हैं, बीच में कोई विच्छेद, कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं हुआ। सहेली के घर जाकर उसे अनुभव हुआ था कि बाल्य-काल की वह सखी मर चुकी है, पर मुन्ने के कमरे में आकर उसने अनुभव किया कि मुन्ने की काकी तनिक भी नहीं मरी है।

उसने विकल होकर कहा, "दीदी, मुझे देखकर तुम लोग डर क्यों रही हो। ये देखो, मैं तो आज भी उसी तरह तुम्हारी हूँ।"

आजकिन ज्यादा खड़ी नहीं रह सकीं, मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। बहन से समाचार पाकर शारदाशंकर बाबू स्वयं अन्तःपुर में आकर उपस्थित हुए; हाथ जोड़कर उन्होंने कादम्बिनी से कहा, "छोटी बहू, यह क्या तुम्हारे लिए उचित है। सतीश मेरे कुल का इकलौता लड़का है, उसको तुम नजर क्यों लगा रही हो। हम क्या कोई पराए हैं। तुम्हारे जाने के बाद से वह दिनों-दिन सूखता जा रहा है, बीमारी जाने का नाम नहीं लेती, बस रात-दिन 'काकी काकी' रटता रहता है। तुमने जब संसार से विदा ले ली है तो अब यह माया-बन्धन भी तोड़ डालो—हम तुम्हारा यथोचित संस्कार करेंगे।"

कादम्बिनी अब और अधिक नहीं सह सकी, जोर से बोल उठी, "अरे, मैं मरी नहीं हूँ, मरी नहीं हूँ। मैं तुम लोगों को कैसे समझाऊँ, मैं मरी नहीं हूँ। ये देखो, मैं जीवित हूँ।"

यह कहकर वह धरती पर पड़ी काँसे की कटोरी उठाकर माथे पर मारने लगी, माथे से रक्त फूटकर बहने लगा।

तब वह बोली, "ये देखो, मैं जीवित हूँ।"

शारदाशंकर मूर्तिवत् खड़े रहे; मुन्ना डर के मारे पिता को पुकारने लगा; दोनों मूर्छित स्त्रियाँ जमीन पर पड़ी रहीं।

तब कादम्बिनी "अरे! मैं मरी नहीं हूँ रे, नहीं मरी रे, नहीं मरी—" चीखती हुई कमरे से बाहर निकलकर सीढ़ियों से उतरती हुई अन्तःपुर की पुष्करिणी में कूद पड़ी। ऊपर के कमरे से शारदाशंकर ने छपाक् की आवाज सुनी।

सारी रात वर्षा होती रही, अगले दिन सवेरे भी वर्षा होती रही, दोपहर को भी वर्षा रुकने के कोई आसार दिखाई नहीं दिए। कादम्बिनी ने मरकर प्रमाणित किया कि वह मरी नहीं थी।

काबुलीवाला

मेरी पाँच बरस की छोटी बेटी मिनी बिना बोले पल-भर भी नहीं रह सकती। संसार में जन्म लेने के बाद भाषा सीखने में उसने केवल एक वर्ष का समय खर्च किया था, उसके बाद से जब तक वह जगती रहती है एक पल भी मौन रहकर नष्ट नहीं करती। उसकी माँ बहुत बार डाँटकर उसका मुँह बन्द कर देती है, किन्तु मैं यह नहीं कर पाता। चुपचाप बैठी मिनी देखने में ऐसी अस्वाभाविक लगती है कि मुझे बहुत देर तक सहन नहीं होता। इसलिए मेरे साथ उसका वार्तालाप कुछ उत्साह के साथ चलता है।

सुबह मैंने अपने उपन्यास के सत्ररहवें परिच्छेद में हाथ लगाया था कि मिनी ने आते ही बात छेड़ दी, "पिताजी, रामदयाल दरबान काक को कौआ कहता था, वह कुछ नहीं जानता। है न ?"

संसार की भाषाओं की विभिन्नता के सम्बन्ध में उसे ज्ञानदान करने के लिए मेरे प्रवृत्त होने के पहले ही वह दूसरे प्रसंग पर चली गई, "देखो पिताजी, भोला कह रहा था कि आकाश में हाथी सूँड से पानी ढालता है, उसीसे वर्षा होती है। मैया री ! भोला कैसी बेकार की बातें करता रहता है ! खाली बकबक करता रहता है, दिन-रात बकबक लगाये रहता है।"

इस बारे में मेरी हाँ-ना की तनिक भी प्रतीक्षा किये बिना वह अचानक प्रश्न कर बैठी, "पिताजी, माँ तुम्हारी कौन होती हैं ?"

मन-ही-मन कहा, 'साली'; ऊपर से कहा, "मिनी, जा तू भोला के साथ खेल ! मुझे इस समय काम है।"

तब वह मेरे लिखने की मेज़ के किनारे मेरे पैरों के पास बैठकर अपने दोनों घुटनों पर हाथ रखकर बड़ी तेजी से 'आगड़ूम् बागड़ूम्' कहते हुए खेलने लगी। मेरे सत्ररहवें परिच्छेद में उस समय प्रतापसिंह काञ्चनमाला को लेकर अँधेरी रात में कारागार के उच्च वातायन से नीचे बहती नदी के जल में कूद रहे थे।

मेरा कमरा सड़क के किनारे पर था। सहसा मिनी 'आगड़ूम बागड़ूम'

का खेल छोड़कर बंगले की तरफ भागी और जोर-जोर से पुकारने लगी, "काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले !"

मैले-से ढीले-ढाले कपड़े पहने, सिर पर पगड़ी बांधे, पीठ पर झोली लिये, हाथों में अंगूरों के दो-चार बक्स लिये एक लम्बा काबुलीवाला सड़क पर धीरे-धीरे आ रहा था—उसे देखकर मेरी कन्या-रत्न के मन में कैसे भाव उठे, कहना कठिन है। उसने उसको ऊँची आवाज़ में बुलाना शुरू कर दिया। मैंने सोचा, 'बस अब पीठ पर झोली लिये एक आफत आ खड़ी होगी, मेरा सत्रहवाँ परिच्छेद अब पूरा नहीं हो सकता।'

किन्तु, मिनी की चीख पर ज्यों ही काबुलीवाले ने हँसकर मुँह फेरा और मेरे घर की ओर आने लगा, त्यों ही वह झपटकर अन्तःपुर में भाग गई—उसका नाम-निशान भी दिखाई नहीं पड़ा। उसके मन में एक तरह का अन्धविश्वास था कि उस झोली के भीतर खोज करने पर उसके समान दो-चार जीवित मानव-सन्तान मिल सकती हैं।

इधर काबुलीवाला आकर मुस्कराता हुआ मुझे सलाम करके खड़ा हो गया—मैंने सोचा, 'यद्यपि प्रतापसिंह और काञ्चनमाला की अवस्था अत्यन्त संकटापन्न है तथापि आदमी को घर पर बुला लेने के बाद उससे कुछ न खरीदना शोभा नहीं देता।'

कुछ खरीदा। उसके बाद दो-चार बातें हुईं। अब्दुर्रहमान, रूस, अंग्रेज आदि को लेकर सीमान्तप्रदेश की रक्षा-नीति के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी।

अन्त में उठकर चलते समय उसने पूछा, "बाबू, तुम्हारी लड़की कहाँ गई।"

मैंने मिनी के भय को समूल नष्ट कर देने के अभिप्राय से उसे भीतर से बुलवा लिया—वह मेरी देह से सटकर काबुली के चेहरे और झोली की ओर संदिग्ध दृष्टि से देखती खड़ी रही। काबुली उसे झोली से किशमिश, खुबानी निकालकर देने लगा, पर वह लेने को किसी तरह राजी नहीं हुई। दुगुने सन्देह से मेरे घुटने से सटकर रह गई। प्रथम परिचय इस प्रकार पूरा हुआ।

कुछ दिन बाद एक दिन सवेरे किसी काम से घर से बाहर जाते समय देखा, मेरी दुहिता द्वार के पास बेंच के ऊपर बैठकर अनर्गल बातें कर रही है और काबुलीवाला उसके पैरों के पास बैठा मुस्कराता हुआ सुन रहा है और बीच-बीच में प्रसंगानुसार अपना मतामत भी मिश्रित बंगाली में व्यक्त कर रहा है। मिनी को अपने पंचवर्षीय जीवन की अभिज्ञता में पिता के अतिरिक्त

ऐसा धैर्यवान श्रोता कभी नहीं मिला था। मैंने यह भी देखा कि उसका छोटा आँचल बादाम-किशमिश से भरा था। मैंने काबुलीवाले से कहा, "उसे यह सब क्यों दिया। अब फिर मत देना!" और मैंने जेब से एक अठन्नी निकालकर उसको दे दी। बिना संकोच के अठन्नी लेकर उसने झोली में रख ली।

घर लौटकर देखा उस अठन्नी को लेकर पूरा झगड़ा मचा हुआ है।

मिनी की माँ सफ़ेद चमचमाते हुए गोलाकार पदार्थ को लेकर कड़े स्वर में मिनी से पूछ रही थी, "तुझे यह अठन्नी कहाँ मिली?"

मिनी कह रही थी, "काबुलीवाले ने दी है।"

उसकी माँ कह रही थीं, "काबुलीवाले से अठन्नी लेने तू क्यों गई।"

मिनी ने रोने की तैयारी करते हुए कहा, "मैंने माँगी थोड़े ही थी, उसने स्वयं दी।"

मैंने आकर आसन्न विपद् से मिनी का उद्धार किया और उसे बाहर ले गया।

पता लगा, काबुलीवाले के साथ मिनी की यह दूसरी मुलाकात हो, ऐसा नहीं था। इस बीच में उसने प्रायः प्रतिदिन आकर पिस्ता-बादाम, घूँस में देकर मिनी के नन्हे लुब्ध हृदय पर बहुत-कुछ अधिकार कर लिया है।

मालूम हुआ, उन दो मित्रों में कुछ बँधी हुई बातें और परिहास प्रचलित हैं—जैसे रहमत को देखते ही मेरी कन्या हँसते-हँसते पूछती, "काबुलीवाले! ओ काबुलीवाले! तुम्हारी झोली में क्या है।"

रहमत अनावश्यक चन्द्रबिन्दु जोड़कर हँसते हुए उत्तर देता, "हाँति।"

अर्थात्, उसकी झोली में एक हाथी है उसकी हँसी का यही गूढ़ रहस्य था। यह रहस्य बहुत ज्यादा गूढ़ था यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस परिहास से दोनों ही काफी विनोद का अनुभव करते रहते—और शरत्काल के प्रभात में एक वयस्क और एक अप्राप्तवयस्क शिशु का सरल हास्य देखकर मुझे भी अच्छा लगता।

इनमें एक और बात भी प्रचलित थी। रहमत मिनी से कहता, "मुन्नी, तुम क्या ससुराल कभी नहीं जाओगी!"

बंगाली परिवार की लड़की जन्म-काल से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित रहती है, किन्तु हम लोगों के कुछ आधुनिक ढंग के लोग होने के कारण शिशु बालिका को ससुराल के सम्बन्ध में परिचित नहीं कराया गया था। इसीलिए वह रहमत के अनुरोध को ठीक से नहीं समझ पाती थी, फिर भी प्रश्न का कुछ-न-कुछ उत्तर दिये बिना चुप रह जाना उसके स्वभाव के बिलकुल विपरीत

था—वह उलटकर पूछती, "तुम ससुराल जाओगे ?"

रहमत काल्पनिक ससुर के प्रति खूब मोटा घूँसा तानकर कहता, "मैं ससुर को मारूँगा।"

सुनकर मिनी 'ससुर'-नामक किसी एक अपरिचित जीव की दुरवस्था की कल्पना करके खूब हँसती।

शुभ्र शरत्काल था। प्राचीन काल मे राजे-महाराजे दिग्विजय के लिए इसी ऋतु में निकलते थे। मैं कलकत्ता छोड़कर कभी कहीं नहीं गया, किन्तु इसी से मेरा मन पृथ्वी-भर मे चक्कर काटता फिरता है। मैं मानो अपने घर के कोने मे चिर-प्रवासी होऊँ, बाहर के जगत् के लिए मेरा मन सदा विकल रहता है। विदेश का कोई नाम सुनते ही मेरा मन दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार विदेशी व्यक्ति को देखते ही नदी-पर्वत-अरण्य के बीच कुटी का दृश्य मन मे उदित होता है और एक उल्लासपूर्ण स्वाधीन जीवन-यात्रा की बात कल्पना म साकार हो उठती है।

दूसरी ओर मैं ऐसा उद्भिजप्रकृति हूँ कि अपना कोना छोडकर बाहर निकलते ही सिर पर वज्राघात हो जाता है। इसलिए सुबह अपने छोटे कमरे मे मेज के सामने बैठकर इस काबुली के साथ बातचीत करने से भ्रमण का मेरा काफी काम हो जाता। दोनो ओर बन्धुर दुर्गम दग्ध रक्तवर्ण उच्च गिरि-श्रेणी, बीच में संकीर्ण मरुपथ, भार से लदे ऊँटो की चलती हुई पक्ति; साफा बाँधे वणिक, पथिकों में से कोई ऊँट के ऊपर, कोई पैदल, किसी के हाथ मे बल्लम, किसी के हाथ मे पुरानी चाल की चकमच जड़ी बन्दूक—काबुली मेघ-मन्द्र स्वर में टूटी-फूटी बँगला मे अपने देश की बातें कहता और उसकी तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ जाती।

मिनी की माँ बहुत शंकालु स्वभाव की महिला थी। रास्ते में कोई आवाज सुनते ही उन्हें लगता, धरती के सारे शराबी उन्हीके घर को लक्ष्य बनाकर दौड़े चले आ रहे है। यह पृथ्वी सर्वत्र चोर, डकैत, शराबी, साँप, बाघ, मलेरिया, शूककीट, तिलचट्टों और गोरो से परिपूर्ण है, इतने दिन (बहुत अधिक दिन नही) धरती पर वास करने पर भी यह विभीषिका उनके मन से दूर नहीं हुई थी।

रहमत काबुलीवाले के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से निःसंशय नही थीं। उस पर विशेष दृष्टि रखने के लिए उन्होंने मुझसे बार-बार अनुरोध किया

था। उसके सन्देह को मेरे हँसकर उड़ा देने के प्रयत्न करने पर उन्होंने मुझसे एक-एक करके कई प्रश्न पूछे, "क्या कभी किसी के बच्चे चोरी नहीं हो जाते ? काबुल देश में क्या दास-व्यवसाय प्रचलित नहीं है ? एक भीमकाय काबुली के लिए एक छोटे-से बच्चे को चुरा ले जाना क्या नितान्त असम्भव है ?"

मुझे स्वीकार करना पड़ा, बात असम्भव हो, ऐसा तो नहीं, किन्तु अविश्वास्य है। पर विश्वास करने की शक्ति सबमें समान नहीं होती, इसीलिए मेरी पत्नी के मन में भय बना रहा। किन्तु, मैं इस कारण निर्दोष रहमत को अपने घर आने से मना नहीं कर सका।

प्रतिवर्ष माघ के महीने के बीचों-बीच रहमत अपने देश चला जाता। इस समय वह अपना सारा उधार रुपया वसूल करने में बड़ा व्यस्त रहता। दूर-दूर घूमना पड़ता, पर फिर भी वह मिनी को एक बार दर्शन दे जाता। देखने पर सचमुच ऐसा लगता मानो दोनों में कोई षड्यन्त्र चल रहा हो। जिस दिन वह सवेरे नहीं आ पाता, उस दिन देखता कि वह सन्ध्या को आ पहुँचा है। अँधेरे में कमरे के कोने में उसे ढीले-ढाले कुरता-पायजामा पहने, झोला-झोली वाले उस लम्बे आदमी को देखने पर मन में सचमुच ही अचानक एक आशंका उठती। किन्तु, जब देखता कि मिनी 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' कहती हँसती हुई दौड़ी चली आती एवं उन दो असमान वय वाले मित्रों में पुराना सरल परिहास चलता रहता, तो हृदय प्रसन्नता से भर उठता।

एक दिन सवेरे मैं अपने छोटे कमरे में बैठा प्रूफ-संशोधन कर रहा था। बिदा होने के पहले आज दो-तीन दिन से जाड़ा खूब कँप-कँपा रहा था, चारों ओर एकाएक सीत्कार मच गई थी। जंगले को पार करके सुबह की धूप टेबिल के नीचे आकर मेरे पैरों पर पड़ रही थी, उसकी गरमाहट बड़ी मीठी लग रही थी। लगता है, आठ बजे का समय रहा होगा, सिर पर गुलूबन्द लपेटे तड़के टहलने वाले प्रायः सभी सवेरे की सैर पूरी करके घर लौट आए थे। तभी सड़क पर बड़े जोर का हल्ला सुनाई पड़ा। आँख उठाई तो देखा दो पहरे वाले अपने रहमत को बाँधे लिये आ रहे हैं—उसके पीछे तमाशबीन लड़कों की टोली चली आ रही है। रहमत के शरीर तथा कपड़ों पर खून के दाग हैं और एक पहरे वाले के हाथ में खून से सना छुरा है। मैंने दरवाजे के बाहर जाकर पहरे वालों को रोककर पूछा, 'मामला क्या है ?'

कुछ उससे, कुछ रहमत से सुनकर मालूम हुआ कि हमारे एक पड़ोसी ने रामपुरी चादर के लिए रहमत से कुछ रुपया उधार लिया था—उसने झूठ बोलकर रुपया देने से इंकार कर दिया, और इसी बात को लेकर कहा-सुना

करते-करते रहमत ने उसके छुरा भोंक दिया।

रहमत उस झूठे को लक्ष्य करके भाँति-भाँति की अश्राव्य गालियाँ दे रहा था, तभी 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' पुकारती हुई मिनी घर से निकल आई।

पलक मारते रहमत का चेहरा कौतुकपूर्ण हँसी से प्रफुल्लित हो उठा। उसके कन्धे पर आज झोली नहीं थी, इसलिए झोली के सम्बन्ध में उनकी नियमित आलोचना नहीं हो सकी। मिनी ने छूटते ही उससे पूछा, "तुम ससुराल जाओगे ?"

रहमत ने हँसकर कहा, "वहीं जा रहा हूँ।"

देखा, उत्तर मिनी को विनोदपूर्ण नहीं लगा, तब वह हाथ दिखाकर बोला, "ससुर को मारता, पर क्या करूँ—हाथ बँधे हैं।"

घातक प्रहार करने के अपराध में रहमत को कई वर्ष की जेल हो गई।

उसकी बात करीब-करीब भूल गया। हम जिस समय घर में बैठकर सदा के समान नित्य नियमित काम मे एक के बाद एक दिन काट रहे थे, उस समय एक स्वाधीन पर्वतचारी पुरुष कारा-प्राचीर में किस प्रकार वर्ष बिता रहा था, यह बात हमारे मन में उठी भी नहीं।

और चंचलहृदया मिनी का आचरण तो अत्यन्त लज्जाजनक था, यह उसके पिता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उसने स्वच्छंदतापूर्वक अपने पुराने मित्र को भुलाकर पहले तो नबी सईस के साथ साख्य स्थापित किया। बाद में धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उसकी उम्र बढ़ने लगी त्यों-त्यो सखा के बदले एक-एक करके सखियाँ जुटने लगीं। यही नहीं अब वह अपने पिता के लिखने-पढ़ने के कमरे में भी नहीं दिखाई पड़ती थी। मैंने तो उसके साथ एक प्रकार से कुट्टी कर ली थी।

न जाने कितने वर्ष बीत गए। एक और शरत्काल आया। मेरी मिनी का विवाह-सम्बन्ध निश्चित हो गया। पूजा की छुट्टियों में उसका विवाह होगा, कैलाशवासिनी के साथ मेरे घर की आनन्दमयी भी पितृ-भवन में अँधेरा करके पतिगृह चली जायगी।

अत्यन्त सुहावना प्रभात था। वर्षा के बाद शरत् की नई धुली धूप ने जैसे सुहागे में गलाये हुए निर्मल सोने का-सा रंग धार लिया हो। यही नहीं, कलकत्ता की गलियों के भीतर के घुटनदार जर्जर ईंटों वाले सटे हुए मकानों पर भी इस धूप की आभा ने एक अपूर्व लावण्य बिखेर दिया था।

आज मेरे घर में रात बीतते-न-बीतते ही शहनाई बज उठी थी। वह बाँसुरी मानो मेरे हृदय के अस्थि-पिंजर में से क्रन्दन करती बज रही हो। करुण

भैरवी रागिनी में मेरी आसन्न वियोग-व्यथा को शरद् की 'धूप के साथ समस्त संसार-भर में व्याप्त कर रही थी। आज मेरी मिनी का विवाह था।

सवेरे से ही बड़ी भीड़-भाड़ थी, लोग आ-जा रहे थे। आँगन में बाँस बाँधकर मण्डप ताना जा रहा था, घर के कमरों और बरामदों में झाड़ टाँगने की ठक्-ठक् आवाज़ हो रही थी; शोर-गुल की हद नहीं थी।

मैं अपने लिखने के कमरे में बैठा हिसाब देख रहा था, तभी रहमत आकर सलाम करके खड़ा हो गया।

मैं पहले उसे पहचान नहीं सका। उसके पास न वह झोली थी, न उसके वे लम्बे बाल थे; और न उसकी देह में पहिले-जैसा तेज था। आखिर उसकी हँसी देखकर उसे पहचाना।

मैंने कहा, "क्यों रे रहमत, कब आया ?

उसने कहा, "कल शाम को जेल से छूटा हूँ।"

बात सुनकर कानों में जैसे खटका हुआ। कभी किसी खूनी को प्रत्यक्ष नहीं देखा, इसे देखकर सारा अन्तःकरण जैसे संकुचित हो गया। मन हुआ, आज के इस शुभ दिन पर यह आदमी यहाँ से चला जाता तो अच्छा होता।

मैंने उससे कहा, "आज हमारे घर में एक काम है, मैं कुछ व्यस्त हूँ, आज तुम जाओ !"

बात सुनते ही वह तत्क्षण चले जाने को उद्यत हुआ, अन्त में दरवाजे के पास पहुँचकर थोड़ा इधर-उधर करके बोला, "क्या एक बार मुन्नी को नहीं देख सकूँगा ?"

कदाचित् उसे विश्वास था, मिनी अब भी वैसी ही होगी। मानो उसने सोचा हो, मिनी अब भी पहले की भाँति 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' करती दौड़ी आयगी। उनके उस अत्यन्त उत्सुकतापूर्ण पुरानी हँसी-विनोद की बातों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होगा। यही नहीं पुरानी मित्रता का स्मरण करके शायद अपने किसी स्वदेशीय मित्र से माँग-जाँचकर वह एक डिब्बा अंगूर और कागज के ठोंगे में थोड़े-से किशमिश, बादाम जुटा लाया था। उसकी वह अपनी झोली अब नहीं थी।

मैंने कहा, "आज घर में काम है, आज और किसी के भी साथ भेंट नहीं हो सकेगी।"

वह मानो कुछ दुखी हुआ। चुपचाप खड़े-खड़े एक बार स्थिर दृष्टि से उसने मेरे मुख की ओर देखा, फिर 'सलाम बाबू' कहकर दरवाजे से बाहर चला गया। मुझे अपने मन में न जाने कैसी एक व्यथा का अनुभव हुआ।

सोच रहा था कि उसको वापस बुलवा लूं, तभी देखा कि वह स्वयं लौटा चला आ रहा है।

पास आकर बोला, "ये अंगूर और थोड़े-से किशमिश, बादाम मुन्नी के लिए लाया था, दे दीजिएगा।"

उन्हें लेकर दाम देने के लिए मेरे तैयार होते ही उसने तुरंत मेरा हाथ कसकर पकड़ लिया। बोला, "आपकी बड़ी कृपा है, मुझे सदा याद रहेगी—मुझे पैसा मत दीजिए। बाबू, जिस तरह तुम्हारे एक लड़की है उसी तरह देश में मेरे भी एक लड़की है। मैं उसीका चेहरा याद करके तुम्हारी मुन्नी के लिए हाथ में थोड़ी-बहुत मेवा लेकर आया हूं, सौदा करने नहीं।"

यह कहते हुए उसने अपने खूब ढीले कुरते में हाथ डालकर कहीं छाती के पास से मैले कागज का एक टुकड़ा निकाला और बड़े यत्न से उसकी तह खोलकर दोनों हाथों से मेरी टेबिल पर बिछा दिया।

देखा, कागज पर किसी नन्हे हाथ की छाप थी। फोटोग्राफ नहीं, तैलचित्र नहीं, हाथ में थोड़ी-सी कालिख लगाकर कागज के ऊपर उसकी छाप ले ली गई थी। कन्या के इस स्मरण-चिह्न को छाती से लगाए रहमत हर साल कलकत्ता की सड़कों पर मेवा बेचने आता—मानो उस सुकोमल नन्हे शिशुहस्त का स्पर्श-मात्र उसके विराट् विरही वक्ष में सुधा-संचार करता रहता हो।

देखकर मेरी आंखें छलछला आईं। वह एक काबुली मेवा वाला है और मैं एक संभ्रांतवंशीय बंगाली—उस समय मैं भूल गया—उस समय मैंने समझा कि जो वह है, वही मैं हूं। वह भी पिता है मैं भी पिता हूं। उसकी पर्वत-गृहवासिनी नन्हीं पार्वती की उस हस्तछाप ने मुझे भी अपनी मिनी का स्मरण दिला दिया। मैंने तत्क्षण उसे भीतर से बुलवाया। अन्तःपुर में इस बात पर बहुत-सी आपत्तियां की गईं। किन्तु मैंने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। लाल चेली[1] पहने, माथे पर चन्दन लगाए, वधूवेशिनी मिनी सलज्ज भाव से मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उसको देखकर पहले तो काबुलीवाला सकपका गया, अपना पुराना वार्तालाप नहीं जमा पाया। अन्त में हंसकर बोला, "मुन्नी तू ससुराल जायगी?"

मिनी अब ससुराल का अर्थ समझती थी, इस समय वह पहले के समान उत्तर नहीं दे सकी—रहमत का प्रश्न सुनकर लज्जा से लाल होकर मुंह फेर-

---

१. बंगालियों में पुराने समय में विवाह के अवसर पर वधू को लाल रेशमी वस्त्र पहनाया जाता है, जिसे चेली कहते हैं।

कर खड़ी हो गई। काबुलीवाले से मिनी की जिस दिन पहले भेंट हुई थी, मुझे उस दिन की बात याद हो आई। मन न जाने कैसा व्यथित हो उठा।

मिनी के चले जाने पर गहरी साँस लेकर रहमत जमीन पर बैठ गया। अचानक उसकी समझ में साफ आ गया, इस बीच उसकी पुत्री भी इसी तरह बड़ी हो गई होगी। उसके साथ भी अब नया परिचय करना होगा। वह उसे बिलकुल पहले-जैसी नहीं मिलेगी। इन आठ वर्षों में उस पर क्या बीती होगी, यह भी भला कौन जानता है। सवेरे के समय शरत्कालीन स्निग्ध सूर्य की किरणों में शहनाई बजने लगी, रहमत कलकत्ता की किसी गली में बैठकर अफगानिस्तान के किसी मरु-पर्वत का दृश्य देखने लगा।

मैंने एक नोट निकालकर उसे दिया। कहा, "रहमत, तुम अपनी लड़की के पास अपने देश लौट जाओ; तुम्हारा मिलन-सुख मेरी मिनी का कल्याण करे।"

इन रुपयों का दान करने के कारण हिसाब में से उत्सव-समारोह के दो-एक अंग छाँट देने पड़े। जैसा सोचा था, बिजली की वैसी रोशनी नहीं की जा सकी। फौजी बैंड भी नही आ सका। अन्तःपुर में स्त्रियाँ बड़ा असन्तोष प्रकट करने लगीं, किन्तु मंगल-आलोक से मेरा शुभ-उत्सव उज्ज्वल हो उठा।

सजा

: १ :

दुखीराम रूइ और छिदाम रूइ दोनों भाई सुबह जब हाथ में हँसिया लेकर मजदूरी करने बाहर निकले तब उन दोनों की पत्नियों में बक-बक चिल्ल-पों मची हुई थी। किन्तु, प्रकृति के अन्यान्य नानाविध नित्य कलरव के समान इस कलह-कोलाहल का भी मुहल्ले-भर के लोगों को अभ्यास हो गया था। तीव्र कंठ-स्वर सुनते ही लोग एक-दूसरे से कहते, "वह देखो छिड़ गई।" अर्थात्, जैसी आशा की जा रही थी ठीक वैसा ही हुआ, आज भी स्वाभाविक नियम में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं हुआ। प्रातःकाल पूर्व दिशा में सूर्य के निकलने पर जैसे कोई उसके निकलने का कारण नहीं पूछता वैसे ही इन कोरियों के घर में दोनों देवरानी-जेठानी में जब कोई हो-हल्ला होने लगता तब उसका कारण जानने के लिए किसी के भी मन में किसी प्रकार का कौतूहल उत्पन्न नहीं होता।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कलह-कोलाहल पड़ोसियों की अपेक्षा दोनों पतियों को ही अधिक स्पर्श करता, किन्तु वे इसमें किसी प्रकार की असुविधा नहीं मानते थे। वे दोनों भाई मानो इस दीर्घ संसार-पथ पर किसी इक्के में बैठे जा रहे हों। अपने दोनों ओर बिना स्प्रिंग के दो पहियों की निरन्तर घड़-घड़ खड़-खड़ को उन्होंने जीवन-रथ-यात्रा के विधि-विहित नियमों में ही मान लिया हो।

उलटे जिस दिन घर में कोई शोर न होता, और चारों ओर सन्नाटा छाया रहता, उस दिन उन्हें किसी आसन्न अनैसर्गिक उपद्रव की आशंका होने लगती, उस दिन कोई भी हिसाब करके यह नहीं बता सकता था कि कब क्या हो जायगा।

हमारी कहानी की घटना जिस दिन आरंभ हुई उस दिन सन्ध्या के कुछ पहले दोनों भाई जब मजदूरी करके थके हुए घर लौटे तो उन्होंने देखा कि स्तब्ध घर सांय-सांय कर रहा है।

बाहर भी बड़ी उमस थी। दोपहर के समय वर्षा की ज़ोरदार बौछार हो चुकी थी। अब भी चारों ओर मेघ छाए थे। हवा का नाम-निशान न था। वर्षा के दिनों में घर के चारों ओर के जंगल और झाड़-झंखाड़ बहुत बढ़ गए थे, वहाँ से और पार के जलमग्न खेतों से गीली वनस्पतियों की सघन गन्ध-वाष्प अटल प्राचीर के समान चारों ओर डटी हुई थी। गोशाला के पीछे वाले गड्ढे में मेंढक टर्रा रहे थे और झिल्ली-रव से सन्ध्या का निस्तब्ध आकाश एकदम परिपूर्ण था।

थोड़ी दूर पर बरसात की पद्मा नवीन मेघों की छाया में बड़ा अटल भयंकर रूप धारण किये बह रही थी। अनाज के खेतों का अधिकांश बहकर बस्ती के पास आ पहुँचा था। यही नहीं, टूटे किनारे के पास दो-चार आम और कटहल के पेड़ों के तने पानी के बाहर दिखाई दे रहे थे, मानो उनके निस्सहाय हाथों की फैली हुई अँगुलियाँ शून्य में किसी अन्तिम अवलम्बन को अपनी मुट्ठी में कसकर पकड़ने की चेष्टा कर रही हों।

दुखीराम और छिदाम उस दिन ज़मींदार की कचहरी में काम करने गये थे। उस नदी के पार किनारे की भूमि में जलिधान[1] पक गया था। वर्षा में नदी के किनारे डूब जाने के पहले ही धान काट लेने के लिए बस्ती-भर के ग़रीब लोग या तो अपने खेत में या फिर मजदूरी पर पाट काटने में लगे हुए थे, बस केवल इन दोनों भाइयों को कचहरी का सिपाही आकर जबर्दस्ती पकड़ ले गया था। कचहरी के छप्पर को भेदकर जगह-जगह से पानी चू रहा था—उसीकी मरम्मत में और कुछ झाँप तैयार करने में वे दिन-भर जुटे रहे। घर नहीं आ सके, कचहरी में ही कुछ जल-पान कर लिया था। बीच-बीच में वर्षा में भीगना भी पड़ा था—वाजिब मज़दूरी तो मिली ही नहीं, उसके बदले में जो बहुत-सी अनुचित कड़वी बातें सुननी पड़ीं, वे उनकी मज़दूरी से बहुत ज्यादा थीं।

रास्ते की कीचड़ और पानी को पार करके सन्ध्या समय घर लौटकर दोनों भाइयों ने देखा, देवरानी चन्दरा ज़मीन पर अंचल बिछाए चुपचाप पसरी हुई है। आज के मेघाच्छन्न दिन के समान वह भी मध्याह्न में प्रचुर अश्रु-वर्षा करने के कारण साँझ होते-होते थककर अत्यन्त घुटी-घुटी हो गई थी; और जेठानी राधा मुँह भारी किये ओसारे में बैठी थी, उसका डेढ़ वर्ष का छोटा बच्चा सो रहा था। दोनों भाइयों ने अन्दर पहुँचकर देखा, बच्चा आँगन में नंगा एक कोने में चित पड़ा सो रहा था।

१. एक प्रकार का धान, जो अधिक जल में होता है।

भूखे दुखीराम ने और विलम्ब न करके कहा, "भात दे !"

बारूद के बोरे में जैसे आग की चिनगारी गिर पड़ी हो, जेठानी क्षण-भर में तीव्र आकाश-भेदी स्वर में चीख उठी, "भात कहाँ है, जो भात दूं। तू क्या चावल दे गया था। मैं क्या स्वयं रोजगार करके लाती ?"

सारे दिन की थकावट और लाञ्छना के बाद अन्नहीन निरानन्द अँधेरा घर, प्रज्वलित क्षुधानल, गृहिणी के रूक्ष वचन, विशेषकर अन्तिम वाक्य में निहित कुत्सित श्लेष दुखीराम को एकाएक कैसा असह्य हो उठा ! उसने क्रुद्ध व्याघ्र के समान गम्भीर गर्जन करते हुए कहा, "क्या कहा ?" और दूसरे ही क्षण उसने हँसिया उठाकर आव देखा न ताव, चट से स्त्री के सिर पर दे मारा। राधा अपनी देवरानी की गोद के पास गिर पड़ी और प्राण निकलने में क्षण-भर की भी देर नहीं हुई।

रक्त से सने वस्त्रों में चन्दरा "अरे यह क्या हुआ रे" कहकर चीख उठी। छिदाम ने उसका मुँह दबा दिया। दुखीराम हँसिया पटककर हाथों से मुँह ढँके हतबुद्धि के समान धरती पर बैठ गया। बच्चा जाग पड़ा और डर से चीखकर रोने लगा।

बाहर उस समय पूर्ण रूप से शान्ति थी। ग्वाल-बाल गाएँ चराकर गाँव की ओर लौट रहे थे। उस पार के चर में नये पके धान काटने गए हुए लोग पाँच-पाँच, सात-सात के दल में एक-एक छोटी नौका करके पार लौटकर परिश्रम के पुरस्कार-रूप दो-चार मुट्ठा धान सिर पर लिये प्रायः सभी अपने-अपने घर आ पहुँचे थे।

चक्रवर्ती-परिवार के रामलोचन काका गाँव के डाकघर में चिट्ठी छोड़कर घर लौटकर निश्चिन्त भाव से चुपचाप हुक्का पी रहे थे। अचानक याद आया, उनके अपने कोरी आसामी दुखी पर लगान के बहुत-से रुपये बाकी हैं; आज उसने कुछ अंश चुकाने का वादा किया था। इस समय तक वे घर लौट आए होंगे, यह सोचकर वे कंधे पर चादर डाल छाता ले बाहर निकल पड़े।

कोरियों के घर में घुसते ही उनका शरीर सुन्न पड़ गया। देखा, घर में दिया नहीं जलाया गया था। अँधेरे ओसारे में दो-चार अँधेरी मूर्तियाँ अस्पष्ट दिख रही थीं। रह-रहकर ओसारे के एक कोने में से रोने की अस्फुट आवाज फूट रही थी—और बच्चा ज्यों ही 'माँ' 'माँ' पुकारता हुआ रोने की चेष्टा करता था, छिदाम उसका मुँह दबा देता था।

कुछ भयभीत होकर रामलोचन ने पूछा, "दुखी, घर में हो क्या ?"

अब तक दुखी पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल बैठा हुआ था। उसका

नाम लेकर पुकारते ही वह अबोध बालक के समान उच्छ्वसित होकर रोने लगा।

छिदाम तुरत ओसारे से आँगन में उतरकर चक्रवर्ती के पास आ गया। चक्रवर्ती ने पूछा,"औरतें शायद झगड़ा कर बैठी हैं ? आज तो दिन-भर चिल्ल-पों सुनी है।"

अभी तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ छिदाम कुछ भी नहीं सोच पाया था। अनेक प्रकार की असंभव कल्पनाएँ उसके मस्तिष्क में उठ रही थीं। आखिर उसने निश्चय किया, रात थोड़ी अधिक हो जाने पर मृत देह को कहीं गायब कर देगा। इस बीच चक्रवर्ती आ उपस्थित होंगे, यह उसके ध्यान में भी नहीं आया था। चटपट कोई उत्तर नहीं सूझा। कह बैठा, "हाँ, आज बड़ा कलह हो गया है।"

ओसारे की ओर बढ़ने की चेष्टा करते हुए चक्रवर्ती बोले, "किन्तु उसके लिए रोता क्यों है रे दुखी !"

छिदाम को लगा, अब खैर नहीं, हठात् कह बैठा, "झगड़े में छोटी बहू ने बड़ी बहू के सिर में हँसिया दे मारा है।"

उपस्थित विपत्ति को छोड़कर और कोई विपद् भी हो सकती है, यह बात सहज ही मन में नहीं आती। उस समय छिदाम सोच रहा था, 'कठोर सत्य के हाथ से किस प्रकार रक्षा होगी।'

मिथ्या उसकी भी अपेक्षा अधिक भीषण हो सकता है। इसका उसे ज्ञान नहीं था। रामलोचन का प्रश्न सुनते ही उसके दिमाग में तत्काल जो उत्तर सूझा वह उसने उसी क्षण कह डाला।

रामलोचन ने चौंककर कहा, "ऐं क्या कहा ! मरी तो नहीं ?"

छिदाम ने कहा, "मर गई है," और यह कहते हुए उसने चक्रवर्ती के पैर पकड़ लिए।

चक्रवर्ती को भागने का रास्ता नहीं मिला। सोचा, 'राम राम !' संध्या के समय इस कैसी विपद् में पड़ गया। अदालत में गवाही देते-देते ही प्राण निकल जायँगे।' पर छिदाम ने किसी भी तरह उनके पैर नहीं छोड़े, और बोला, "पण्डितजी महाराज, अब अपनी बहू को बचाने के लिए क्या उपाय करूँ ?"

मामलों-मुकद्दमों में परामर्श देने के लिए रामलोचन सारे गाँव के प्रधान मन्त्री थे। थोड़ा सोचकर बोले, "देख, इसका एक उपाय है। तू इसी समय दौड़कर थाने जा—और कह कि तेरे बड़े भाई दुखी ने संध्या समय घर लौट-

कर भात माँगा था, भात तैयार नहीं था इसलिए स्त्री के सिर पर हँसिया दे मारा है। मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, यह बात कहने से छोकरी बच जायगी।"

छिदाम का गला सूख गया। उठकर बोला, "पण्डितजी, बहू चली गई तो बहू तो मिल जायगी, किन्तु भाई को फाँसी होने पर भाई तो फिर नहीं मिलेगा।" किन्तु, जब उसने अपनी स्त्री के नाम दोषारोपण किया था तब ये सारी बातें नहीं सोची थीं। जल्दी में एक काम कर डाला, अब अलक्षित भाव से मन अपने पक्ष में युक्ति और सान्त्वना संचित कर रहा था।

चक्रवर्ती को भी यह बात युक्ति-संगत प्रतीत हुई। वे बोले, "तब जो घटित हुआ है, वही कहो; सब ओर से रक्षा करना असंभव है।"

यह कहकर रामलोचन अविलब चले गए और देखते-देखते गाँव में शोर मच गया कि कोरियों के घर में चन्दरा ने गुस्से में आकर अपनी जेठानी के सिर में हँसिया दे मारा है।

बाँध टूट जाने पर जैसे पानी का रेला आता है उसी प्रकार हुंकार करती हुई पुलिस गाँव में आ पहुँची; अपराधी और निरपराधी सभी बड़े उद्विग्न हो उठे।

: २ :

छिदाम ने सोचा, 'जो रास्ता बनाया है उसी पर चलना पड़ेगा।' उसने चक्रवर्ती के सामने अपने मुँह से एक बात कह दी है, वह बात सारे गाँव में फैल गई है; अब फिर कोई नई बात फैलने से क्या जाने क्या-से-क्या हो जाय—वह स्वयं कुछ भी नहीं सोच सका। सोचा, 'किसी तरह उस बात को रखते हुए उसके साथ और पाँच बातें जोड़कर स्त्री को बचाने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है।'

छिदाम ने अपनी स्त्री चन्दरा से अपराध अपने ऊपर ले लेने का अनुरोध किया। उस पर जैसे वज्रपात हुआ। छिदाम ने आश्वासन देते हुए उससे कहा, "जो कह रहा हूँ, वही कर, तुझे कोई भय नहीं है, हम तुझे बचा लेंगे।"

आश्वासन तो दे दिया, किन्तु गला सूख गया और मुँह का रंग फीका पड़ गया।

चन्दरा की अवस्था सत्रह-अठारह से अधिक नहीं थी। मुँह हृष्ट-पुष्ट, गोल था, मँझला कद, गठी हुई देह, स्वस्थ-सबल अंग-प्रत्यंगों में एक ऐसा सौष्ठव था कि चलने-फिरने में, हिलने-डुलने में देह को कहीं मानो कोई रुकावट

ही प्रतीत नहीं होती थी। किसी नई बनी नाव के समान, खूब छोटी एवं सुडौल वह अत्यन्त सहज भाव से चलती और कहीं कोई गाँठ ढीली नहीं हुई थी। दुनिया के सभी विषयों के प्रति उसको एक कौतुक और कौतूहल था; मुहल्ले में गप-शप करना उसे अच्छा लगता और कमर पर घड़ा रखकर घाट आते-जाते अपनी दो अंगुलियों से घूँघट को जरा-सा ढककर दो उज्ज्वल चञ्चल घनी काली आँखों से रास्ते में जो कुछ भी दर्शनीय होता सब देखती रहती।

बड़ी बहू ठीक इससे उल्टी थी; अत्यन्त अस्त-व्यस्त, ढीली-ढाली और अव्यवस्थित। सिर का पल्ला, गोद का बच्चा, घर-गृहस्थी का काम कुछ भी वह नहीं सँभाल पाती थी। हाथ में कोई विशेष काम भी नहीं था, तो भी उसे मानो कभी फुरसत नहीं मिल पाती थी। छोटी देवरानी उससे कुछ अधिक बात नहीं करती थी, मृदु स्वर में दो-एक चुभती बात कह देती और वह 'हाय-हाय' करती, गुस्से से लाल-पीली होकर बकती-झकती रहती और सारे मुहल्ले को अस्थिर कर देती।

पति-पत्नी के इन दो जोड़ों के स्वभाव में एक आश्चर्यजनक मेल था। दुखीराम कुछ बृहदाकार आदमी था—खूब चौड़े हाड़, छोटी नाक, दो आँखें जैसे इस दृश्यमान संसार को अच्छी तरह न समझती हों, न इससे किसी प्रकार का प्रश्न करना चाहती हों। ऐसा निरीह, किन्तु भीषण, सबल किन्तु निरुपाय मनुष्य अति दुर्लभ है।

और छिदाम को मानो किसी ने बड़े यत्न से किसी चमकीले काले पत्थर से तराशकर गढ़ा हो, उसके अंग सुघड़ थे, अनुपात में कहीं भी लेश-मात्र भी कमी नहीं थी। प्रत्येक अंग में बल और नैपुण्य-मिश्रित पूर्णता दिखती थी। नदी के ऊँचे कगार से कूद पड़े, लग्गी लेकर नौका ठेले, बाँस के पेड़ पर चढ़-कर छाँट-छाँटकर उसकी शाखाएँ काट लाए, सभी कामों में उसकी एक अनोखी निपुणता, एक सहज शोभा प्रकट होती थी। बड़े-बड़े काले बालों को तेल लगाकर सँवारे रहता था, जो कन्धे तक लटकते रहते थे—वेश-भूषा तथा सजावट में कुछ विलक्षण सावधानी दिखती थी।

अन्यान्य ग्राम-वधुओं के सौंदर्य के प्रति यद्यपि उसकी दृष्टि उदासीन नहीं थी, और उनकी आँखों को वह मनोरम लगे इसकी उसे काफी चाह थी, तो भी छिदाम अपनी युवती पत्नी को कुछ विशेष प्रेम करता था। दोनों में झगड़ा भी होता, प्रेम भी होता, कोई किसी को परास्त नहीं कर पाता था। एक अन्य कारण से भी दोनों में बन्धन कुछ सुदृढ़ था। छिदाम सोचता, 'चन्दरा जिस प्रकार की चटुल चंचल स्वभाव की स्त्री है, उसका पूरा विश्वास नहीं किया जा

सकता'; और चन्दरा सोचती, 'मेरे पति की निगाहें चारों ओर रहती हैं उनको जरा मजबूती से न बाँधने पर किसी भी दिन हाथ से छूट जाने में कोई बाधा नहीं है ।'

प्रस्तुत घटना घटने के कुछ समय पहले से पति-पत्नी में बड़ी भारी खींच-तान चल रही थी। चन्दरा ने देखा कि उसका पति बीच-बीच में काम का बहाना करके दूर चला जाता, यहाँ तक कि दो-एक दिन बिताकर आता और कुछ भी कमाकर नहीं लाता। बुरे लक्षण देखकर वह भी कुछ अति करने लगी। जब-तब घाट पर चली जाती, मुहल्ले मे घूम आती और लौटकर काशी मजूमदार के मँझले लड़के की खूब चर्चा करती।

छिदाम के दिन और रातों में किसी ने जैसे विष घोल दिया हो। काम-काज में कहीं भी पल-भर के लिए भी मन शान्त नहीं रह पाता था। एक दिन आकर उसने भाभी को खूब फटकारा। वह हाथ हिलाकर गर्जते हुए मृत पिता को सम्बोधित करते हुए बोली, "वह औरत तो तूफ़ान से भी तेज है, उसे भला मैं सँभालूंगी ! मैं जानती हूँ, वह एक-न-एक दिन सर्वनाश करके रहेगी।"

पास की कोठरी से आकर चन्दरा ने धीरे-धीरे कहा, "क्यों दीदी, तुम्हें किस बात का डर है ?" बस, देवरानी-जेठानी दोनों में विषम द्वन्द्व छिड़ गया।

छिदाम आँखें लाल करके बोला, "अब यदि कभी सुना कि तू अकेली घाट पर गई है तो तेरी हड्डी-पसली चूर कर दूंगा !"

चन्दरा बोली, "तब तो छाती में ठण्डक पड़ जायगी।" और यह कहकर उसी क्षण वह बाहर जाने को तैयार हुई।

छिदाम ने लपककर उसके बाल पकड़े और उसे खींचकर कोठरी में बन्द करके बाहर से दरवाज़ा बन्द कर दिया।

शाम को काम पर से लौटकर देखा, कोठरी खुली हुई है, घर में कोई नहीं है। चन्दरा तीन गाँव पार करके सीधी अपने मामा के घर जा धमकी थी।

छिदाम वहाँ से बहुत प्रयत्न करके अनेक मिन्नतों के बाद उसे घर लौटा लाया, किन्तु इस बार उसने हार मान ली। उसने समझ लिया, जिस तरह अंजली-भर पारे को मुट्ठी में ज़ोर से दबाये रखना कठिन है वैसे ही इस मुट्ठी-भर स्त्री को भी जोर से पकड़कर रखना असम्भव है—वह मानो दसों उँगलियों की फाँक में से बाहर निकल पड़ती है।

फिर कोई जबरदस्ती नहीं की, किन्तु उसके दिन बड़ी अशान्ति से

कटने लगे। इस चञ्चल युवती स्त्री के प्रति उसका चिर-शंकित प्रेम एक तीव्र वेदना के समान विषम दुखदायी हो गया। यहाँ तक कि कभी-कभी उसके मन में आता कि यदि वह मर जाती तो वह निश्चिन्त होकर कुछ शान्ति पा सकता।

मनुष्य के ऊपर मनुष्य की जितनी ईर्ष्या होती है उतनी यम के ऊपर नहीं।

तभी घर में यह विपद् घटी।

चँदरा से जब उसके पति ने खून स्वीकार कर लेने को कहा तो वह स्तम्भित होकर देखती रह गई। उसकी काली आँखें काली अग्नि के समान नीरव भाव से उसके पति को दग्ध करने लगीं। उसका समस्त तन-मन मानो धीरे-धीरे संकुचित होकर अपने पति-राक्षस के हाथों से छूटने की कोशिश करने लगा। उसकी सम्पूर्ण अन्तरात्मा नितान्त विमुख होकर खड़ी हो गई।

छिदाम ने आश्वासन दिया, "तुम्हारे लिए डर की कोई बात नहीं।" इतना कहकर वह पुलिस तथा मजिस्ट्रेट के सामने क्या कहना होगा यह बार-बार सिखाने लगा। चँदरा ने यह सारी लम्बी कहानी तनिक भी नहीं सुनी, काठ की मूर्ति बनकर बैठी रही।

सभी कामों में दुखीराम पूरी तौर से छिदाम के ऊपर निर्भर रहता था। छिदाम ने जब चँदरा के ऊपर दोषारोपण करने को कहा तो दुखी बोला, "तो फिर बहू का क्या होगा?"

छिदाम ने कहा, "उसको मैं बचा लूंगा।" बृहत्काय दुखीराम निश्चिन्त हो गया।

: २ :

छिदाम ने अपनी स्त्री को सिखा दिया था कि, "तू कहना, जेठानी मुझे हँसिया लेकर मारने आई थी, मैं उसको कटार लेकर रोकने गई, हठात् न जाने वह कैसे लग गई।" यह सब रामलोचन की सूझ थी। इसको ध्यान में रखकर जो-जो अलंकार और प्रमाण देने की आवश्यकता थी उसने वह भी विस्तारपूर्वक छिदाम को सिखा दिया था।

पुलिस आकर जाँच-पड़ताल करने लगी। चँदरा ने ही अपनी जेठानी का खून किया है, गाँव के सभी लोगों के मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई। सारे साक्षियों द्वारा भी यही प्रमाणित हुआ। पुलिस ने जब चँदरा से पूछा, तो उसने कहा, "हाँ, मैंने खून किया है।"

"खून क्यों किया?"

"वह मुझे सुहाती नहीं थी।"

"कोई झगड़ा हुआ था ?"

"नहीं।"

"वह तुम्हें पहले मारने आई थी ?"

"नहीं।"

"तुम्हारे ऊपर कोई अत्याचार किया था ?"

"नहीं।"

इस प्रकार के उत्तर सुनकर सभी अवाक् रह गए।

छिदाम तो बिलकुल बेचैन हो उठा। उसने कहा, "वे सही बात नहीं बता रही हैं। बड़ी बहू ने पहले···"

दारोगा ने उसे कड़ी फटकार लगाकर रोक दिया। अन्त में उससे बाकायदा जिरह करने पर बार-बार वही एक उत्तर मिला। बड़ी बहू की ओर से किसी भी प्रकार का आक्रमण चँदरा ने किसी भी भाँति स्वीकार नहीं किया।

ऐसी अदम्य औरत भी नहीं मिलती। एकदम प्राणपण से फाँसी के तख्ते पर चढ़ने के लिए तुली थी, किसी भी तरह उसको घेरकर रखना सम्भव नहीं था। यह कैसा भीषण हठ था। चँदरा मन-ही-मन पति से कह रही थी, 'मैं तुम्हें छोड़कर अपने इस नवयौवन को लेकर फाँसी के तख्ते को वरण कर रही हूँ—मेरे इस जीवन का अन्तिम बन्धन अब उसीके साथ है।'

बन्दिनी होकर वह निरीह सामान्य चञ्चल विनोद-प्रिय ग्राम-वधू, चँदरा अपने चिर-परिचित ग्राम-पथ से, रथतला से, बीच हाट से, घाट के किनारे से, मजूमदारों के घर के सामने से, पोस्टआफिस और पाठशाला के पास से, समस्त परिचित व्यक्तियों के नेत्रों के सामने से गुजरती कलंक की छाप लेकर सदा के लिए घर छोड़कर चली गई। लड़कों का एक दल पीछे-पीछे चला जा रहा था और गाँव की औरतें, उसकी सखी-सहेलियाँ कोई घूंघट में से, कोई दरवाजे की ओट से, कोई पेड़ की आड़ में खड़े होकर पुलिस द्वारा चालित चँदरा को देखकर लज्जा, घृणा और भय से रोमांचित हो उठीं।

डिप्टी मजिस्ट्रेट के सामने भी चँदरा ने दोष स्वीकार कर लिया। और बड़ी बहू ने खून के समय उसके प्रति किसी प्रकार का अत्याचार किया था, यह प्रकट नहीं हुआ।

किन्तु, उस दिन छिदाम साक्ष्य-स्थल पर आते ही एकाएक रो पड़ा और हाथ जोड़कर बोला, "दुहाई है हजूर की, मेरी स्त्री का कोई दोष नहीं है

हाकिम डाँट लगाकर उसके उच्छ्वास को ठण्डा करके उससे प्रश्न करने लगे। वह एक-एक करके सच्ची घटना बताने लगा।

हाकिम ने उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया; क्योंकि प्रधान विश्वस्त प्रतिष्ठित गवाह रामलोचन ने कहा, "खून के थोड़ी देर बाद ही मैं घटना-स्थल पर पहुँचा था। साक्षी छिदाम ने मेरे सामने सब-कुछ स्वीकार करके मेरे पैर पकड़कर कहा था, 'बहू का कैसे उद्धार करूँ, मुझे तरकीब बताइए।' मैंने भला-बुरा कुछ नहीं कहा। साक्षी ने मुझसे कहा था, 'मैं अगर कहूँ कि मेरे बड़े भाई को माँगने पर भात नहीं मिला इसलिए उसने गुस्से की झोंक में पत्नी को मार डाला, तो क्या वह बच जायगी।' मैंने कहा, 'खबरदार हरामजादे, अदालत में एक अक्षर भी झूठ मत बोलना—इससे बड़ा महापाप और कोई नहीं'। इत्यादि।"

रामलोचन ने पहले तो चँदरा को बचाने के लिए बहुत-सी बातों की कल्पना की थी, किन्तु जब उसने देखा कि चँदरा स्वयं अड़कर खड़ी हो गई है तो सोचा, 'अरे, बाप रे बाप, अन्त में क्या झूठी गवाही के झंझट में फँसना पड़ेगा। जितना जानता हूँ उतना ही कहना ठीक है।' यही सोचकर रामलोचन ने वही कहा, जो वह जानता था। बल्कि उससे भी कुछ अधिक कहने में उसने कसर नहीं छोड़ी।

डिप्टी मजिस्ट्रेट ने मामला सेशन के सुपुर्द कर दिया।

इस बीच में खेती-बाड़ी, हाट-बाजार, हास्य-रुदन—पृथ्वी के सभी काम चलते रहे। और गत वर्षों की भाँति धान के नवीन खेतों में श्रावण की अविरल वृष्टि-धारा बरसने लगी।

अपराधी और साक्षी को लेकर पुलिस अदालत में हाजिर हुई। सामने बैठे मुन्सिफ की कचहरी में बहुत-से आदमी अपने-अपने मुकद्दमे की प्रतीक्षा करते हुए बैठे थे। रसोईघर के पिछवाड़े के एक गड्ढे के एक विशेष भाग को लेकर कलकत्ता के एक वकील आए थे और उस प्रसंग में वादी के पक्ष की ओर से उनतालीस साक्षी आए हुए थे। सैकड़ों आदमी अपने-अपने पाई-पाई के हिसाब की बाल की खाल निकालने वाली विवेचना करने के लिए व्यग्र होकर आए थे। उनकी धारणा थी कि जगत् में अभी तक उससे बड़ी और कोई घटना कभी हुई ही नहीं। छिदाम खिड़की से प्रतिदिन के इस अत्यन्त व्यस्ततापूर्ण जगत् की ओर अपलक दृष्टि से देखता रहा है। उसे सारी बातें स्वप्न के समान लग रही हैं। अहाते के विशाल वट वृक्ष से एक कोयल कूक रही है, उसके लिए किसी प्रकार की कानून-अदालत नहीं।

चँदरा ने जज के सामने कहा, "अजी साहब, एक बात को बार-बार और कितनी बार कहूँ।"

जज साहब ने समझाते हुए कहा, "जो अपराध तुम स्वीकार कर रही हो, उसका दण्ड क्या है, तुम जानती हो ?"

चँदरा ने कहा, "नहीं।"

जज साहब ने कहा, "उसका दण्ड फाँसी है।"

चँदरा ने कहा, "अजी साहब, मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे वही दे दो न ! तुम लोगों की जो खुशी हो करो मैं तो अब और सहन नहीं कर सकती।"

जब छिदाम को अदालत में उपस्थित किया गया, चँदरा ने मुँह फेर लिया। जज ने कहा, "साक्षी की ओर देखकर बोलो, यह तुम्हारा कौन लगता है ?"

दोनों हाथों से मुँह ढाँककर चँदरा बोली, "वह मेरा पति लगता है।"

प्रश्न हुआ, "वह तुम्हे प्यार नही करता ?"

उत्तर—"उँह, बडा प्यार करता है ?"

प्रश्न—"तुम उसे प्यार नहीं करतीं।"

उत्तर—"खूब करती हूँ।"

जब छिदाम से पूछा तो छिदाम ने कहा, "खून मैंने किया है।"

प्रश्न—"क्यों ?"

छिदाम—"भात माँगा था, बड़ी बहू ने भात नही दिया।"

दुखीराम गवाही देने के लिए आते हुए मूर्छित होकर गिर पड़ा। मूर्छा टूटने पर उसने उत्तर दिया, "साहब, खून मैंने किया है।"

"क्यों ?"

"भात माँगा था, भात नही दिया।"

विस्तृत जिरह करके तथा अन्यान्य साक्ष्य सुनकर जज साहब को यह बात स्पष्ट समझ में आ गई कि घर की महिला को फाँसी के अपमान से बचाने के लिए ये दोनों भाई अपराध स्वीकार कर रहे हैं। किन्तु, चँदरा पुलिस से लेकर सेशन अदालत तक बराबर एक ही बात कहती चली आ रही है, उसकी बात में तिल-मात्र भी हेर-फेर नही हुआ है। दो वकीलों ने स्वेच्छापूर्वक आगे आकर उसको प्राण-दण्ड से बचाने के लिए बहुत कोशिश की, किन्तु अन्त में उससे हार माननी पड़ी।

जिस दिन नन्हीं-सी उम्र में एक काली-कलूटी छोटी-सी बालिका अपना

गोल-मटोल चेहरा लिये खेलने की गुड़िया पटककर अपने बाप के घर से ससुराल आई थी, उस दिन रात में शुभलग्न के समय आज की इस बात की कल्पना कौन कर सकता था। उसका पिता मरते समय यह कहकर निश्चिन्त हो गया था, "चलो, अपनी बेटी तो ठिकाने से लग गई।"

जेलखाने में फाँसी के पहले दयालु सिविल सर्जन ने चँदरा से पूछा, "किसी से मिलना चाहती हो ?"

चँदरा ने कहा, "एक बार अपनी माँ से मिलना चाहती हूँ।"

डॉक्टर ने कहा, "तुम्हारा पति तुम्हें देखना चाहता है, क्या उसे बुलवा लूँ ?"

चँदरा ने कहा, "मरे !"

समाप्ति

१

अपूर्वकृष्ण बी० ए० पास करके कलकत्ता से घर लौट रहे थे।

नदी छोटी थी। वर्षा के बाद प्रायः सूख जाती। इस समय श्रावण के अन्त में बाढ़ से उमड़कर एकाग्र गाँव की सीमा और बाँस-झाड़ों के तल-प्रदेश को चूमती हुई बह रही था।

कई दिन की घनघोर वर्षा के बाद आज मेघमुक्त आकाश में धूप निकली थी। अगर हम नौका में बैठे हुए अपूर्वकृष्ण के अन्तर की एक झाँकी देख पाते तो देखते कि वहाँ भी इस युवक की मानस-नदी नव-वर्षा के कारण लबालब भरकर प्रकाश से झिलमिला रही है और वायु से छलछला रही है।

नौका यथास्थान घाट पर आ लगी। नदी के किनारे से अपूर्व के घर की पक्की छत वृक्षों के बीच में से दिखाई दे रही थी। अपूर्व के आने का समाचार घर का कोई व्यक्ति नहीं जानता था, अतः घाट पर कोई आदमी नहीं आया था। माझी को बैग उठाने के लिए उद्यत होते देखकर अपूर्व उसे मना करता हुआ स्वयं ही बैग उठाकर प्रसन्न मन से झटपट उतर पड़ा।

किनारे पर कीचड़ थी, उतरते ही अपूर्व बैग समेत कीचड़ में गिर पड़ा। जैसे ही वह गिरा, वैसे ही कहीं से एक मधुर उच्च कण्ठ से तरल हास्य-लहरी उठी जिसने पास के वट पर बैठे पक्षियों को चौंका दिया।

अपूर्व ने अत्यन्त लज्जित होकर शीघ्र ही सँभलकर आँख उठाकर देखा। किनारे महाजन की नौका से उतारा हुआ नई ईंटों का ढेर रखा था, उसीके ऊपर बैठी एक लड़की ऐसी लग रही थी मानो अभी हास्यावेग से सौ धाराओं में फूट पड़ेगी।

अपूर्व ने पहचान लिया, यह उन्हींके नए पड़ोसी की लड़की मृण्मयी थी। दूर की बड़ी नदी के किनारे इनका घर था, वहाँ नदी के कटाव के कारण देश त्यागकर, दो-तीन वर्ष से इसी गाँव में आकर बस गए हैं।

इस लड़की की अख्याति की बहुत-सी बातें सुनाई पड़ती हैं। गाँव के

पुरुष स्नेह के कारण इसको 'पगली' कहते हैं, किन्तु गाँव की स्त्रियाँ इसके उच्छृङ्खल स्वभाव से सर्वदा भीत, चिन्तित, शंकित रहती हैं। गाँव के लड़कों के साथ ही इसका सारा खेल चलता है; समवयस्का लड़कियों के प्रति अनादर भाव की सीमा नहीं है। शिशु राज्य में यह लड़की बर्गियों[1] के छोटे-मोटे उपद्रव के समान थी।

पिता की लाड़ली लड़की थी न, इसीलिए उसका इतना दुर्दान्त प्रताप था। इस सम्बन्ध में मृण्मयी की माँ अपनी सहेलियों से पति के विरुद्ध शिकायत करने से कभी न चूकती; लेकिन पिता इसको प्यार करते थे, पिता के पास रहते मृण्मयी की आँखों के आँसू उनके हृदय को बड़े अखरते, यही सोचकर प्रवासी पति का स्मरण करती हुई मृण्मयी की माँ लड़की को किसी प्रकार रुला नहीं पाती थी।

देखने में मृण्मयी साँवली थी; छोटे घुँघराले बाल पीठ तक लटकते रहते थे। चेहरे का भाव बिलकुल बालकों के समान था। बड़ी काली आँखों में न लज्जा थी, न भय; और न हाव-भाव-लीला का लेश-मात्र। कद ऊँचा, हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ, सबल; किन्तु उसकी उम्र ज्यादा है या कम, यह प्रश्न किसी के भी मन में नहीं उठता था; यदि उठता, तो अब तक उसके अविवाहित रहने के कारण लोग उसके माता-पिता की बुराई करते। गाँव में अबंगाली जमींदार की नाव समयानुसार जिस दिन घाट पर आकर लगती उस दिन गाँव के लोगों में हलचल मच जाती, घाट की स्त्रियों के मुख की रंगभूमि पर अकस्मात् नाक के अग्रभाग तक यवनिका-पात हो जाता, किन्तु मृण्मयी कहीं से एक नंगे बच्चे को गोद में लेकर घुँघराले बालों को पीठ पर लहराते हुए दौड़कर घाट पर उपस्थित होती। जिस प्रदेश में व्याध नहीं है, विपत्ति नहीं है, उस प्रदेश के हरिण-शिशु के समान वह निर्भीक उत्सुकता से भरकर खड़ी ध्यान पूर्वक देखती रहती, और अन्त में अपने दल के संगी बालकों के पास जाकर नवागत लोगों के आचार-व्यवहार का विस्तार से वर्णन करती।

हमारे अपूर्व ने इसके पहले छुट्टियों में घर आते समय दो-चार बार इस बन्धनहीन बालिका को देखा है और फुरसत के वक्त, यहाँ तक कि, व्यस्त रहते हुए भी इसके सम्बन्ध में सोचा है। यों तो संसार में अनेक चेहरे नज़र आते हैं, पर कोई-कोई चेहरा चुपचाप अचानक हृदय में समा जाता है। ऐसा केवल सौन्दर्य के कारण होता हो, सो नहीं; इसका कारण एक और ही गुण है। लगता है, वह गुण है स्वच्छता। अधिकांश चेहरों में मानव-प्रकृति अपने-

१. मराठा अश्वारोही लुटेरों का सैन्यदल।

आपको स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं कर पाती; जिस चेहरे पर वह अन्तरगुहावासी रहस्यमय व्यक्ति निर्बाध रूप से निखर आता है वह चेहरा हज़ारों में दृष्टि आकर्षित कर लेता है और पलक मारते मन पर अंकित हो जाता है। इस बालिका के चेहरे पर, आँखों में एक दुरन्त, अबाध्य नारी-प्रकृति उन्मुक्त वेग-वान अरण्य-मृग के समान सदा दिखाई पड़ती, खेलती रहती; इसी कारण इस सप्राण चंचल मुख को एक बार देख लेने पर सहज ही नहीं भुलाया जा सकता।

पाठकों से कहना व्यर्थ है, मृण्मयी की कौतुक-हास्य-ध्वनि कितनी ही सुमधुर क्यों न हो, अभागे अपूर्व के लिए वह कुछ क्लेशदायक हो गई थी। वह चटपट माझी को बैग सौंपकर अपना लाल चेहरा लेकर तेजी से घर की ओर चल पड़ा।

आयोजन बहुत सुन्दर हुआ था। नदी का तीर, वृक्षों की छाया, पक्षियों का संगीत, प्रभातकालीन धूप, बीस वर्ष की अवस्था; ईंटों का ढेर वैसे तो उल्लेख-योग्य नहीं है, किन्तु जो व्यक्ति उसके ऊपर बैठा था उसने इस शुष्क, कठिन आसन पर भी एक मनोरम श्री बिखेर दी थी। हा! ऐसे दृश्य के बीच प्रथम पदक्षेप-मात्र में ही समस्त कवित्व प्रहसन में परिणत हो जाय, इससे बढ़-कर अदृष्ट की निष्ठुरता और क्या हो सकती है।

: २ :

ईंट के उस ढेर के ऊपर से बहती हुई हास्य-ध्वनि सुनते हुए चादर और बैग में कीचड़ लपेटे वृक्षों की छाया में होकर अपूर्व घर पहुँचा।

पुत्र के अकस्मात् आगमन से उसकी विधवा माता पुलकित हो उठी। तत्क्षण रबड़ी, दही, रोहू मछली की खोज में आदमी इधर-उधर दौड़ पड़े और पास-पड़ोस में भी हलचल मच गई।

भोजन के पश्चात् माँ ने अपूर्व के विवाह-प्रस्ताव की चर्चा की। अपूर्व इसके लिए तैयार था। क्योंकि प्रस्ताव तो बहुत पहले ही रखा गया था, किन्तु पुत्र नई रोशनी की नई टेक लिये जिद्द किये बैठा था कि 'बी० ए० पास किये बिना विवाह नहीं करूँगा।' इतने दिन माता ने इसीकी प्रतीक्षा की थी, अतः अब और कोई उज्र करना व्यर्थ था। अपूर्व ने कहा, "पहले पात्री देख ली जाय, उसके बाद तय होगा।" माँ ने कहा, "पात्री देख ली है, उसके लिए तुझे चिन्ता करने की जरूरत नहीं।" अपूर्व उस विषय में स्वयं ही चिन्ता करने को प्रस्तुत हो गया और बोला, "लड़की देखे बिना विवाह नहीं कर सकूँगा।" माँ ने सोचा, 'भला ऐसी अनहोनी बात भी कहीं सुनाई पड़ती है', लेकिन राजी हो गईं।

उस रात अपूर्व के दिया बुझाकर बिछौने पर लेटने के बाद वर्षा-निशीथ की समस्त ध्वनि एवं सम्पूर्ण निस्तब्धता के भीतर से निर्जन निद्राहीन शय्या पर एक उच्छ्वसित उच्च मधुर कण्ठ की हास्य-ध्वनि आकर निरंतर उसके कानों में गूंजने लगी। मन लगातार अपने-आपको यह कह-कहकर तंग करने लगा कि मानो सवेरे के पैर फिसलने की घटना का किसी-न-किसी प्रकार से संशोधन कर लेना उचित है। बालिका यह नहीं जान पाई कि, 'मैं अपूर्वकृष्ण हूँ। मैंने बहुत विद्या प्राप्त की है, कलकत्ता में बहुत दिन बिताकर आया हूँ, संयोग से पैर फिसलकर कीचड़ में गिर पड़ने पर भी मैं हँसने या उपेक्षा करने योग्य कोई साधारण ग्रामीण युवक नहीं हूँ।'

दूसरे दिन अपूर्व कन्या देखने जायगा। अधिक दूर नहीं, मुहल्ले में ही उसका घर है। थोड़े ध्यान से सज-धज की। धोती और चादर उतारकर सिल्क की अचकन, चूड़ीदार पायजामा, सिर पर गोल पगड़ी, और पैरों में वार्निश किये हुए जूते पहनकर हाथ में सिल्क का छाता लिये वह प्रातःकाल घर से निकला।

होने वाले ससुर के घर में पदार्पण करते ही महा समारोह-समादर की धूम मच गई। अन्त में यथासमय कम्पितहृदया लड़की को झाड़-पोंछकर, रंगकर, पन्नी से जूड़ा बाँधकर एक रंगीन पतली साड़ी में लपेटकर वर के सामने लाकर उपस्थित किया गया। वह एक कोने में चुपचाप घुटनों पर सिर टेककर बैठी रही और एक प्रौढ़ा दासी उसे साहस देने के लिए पीछे खड़ी रही। कन्या का एक छोटा भाई अपने परिवार में एक नये अनधिकार-प्रवेशोद्यत व्यक्ति की पगड़ी, घड़ी की चेन, और नवोद्गत मूँछों का एकाग्रचित्त से निरीक्षण करने लगा। कुछ देर तक मूँछों पर ताव देने के बाद गम्भीर भाव से अपूर्व ने पूछा, "तुम क्या पढ़ती हो?" वस्त्राभूषणों से ढके लज्जा-स्तूप से इसका कोई उत्तर नहीं मिला। दो-तीन बार प्रश्न दुहराने तथा प्रोत्साहन के लिए प्रौढ़ा दासी द्वारा कई बार पीठ ठोके जाने के बाद अत्यन्त धीमी आवाज में एक साँस में बड़ी शीघ्रता से बालिका कह गई, 'चारुपाठ द्वितीय भाग, व्याकरणसार प्रथम भाग, भूगोल विवरण, पाटीगणित, भारतवर्ष का इतिहास।' तभी बाहर से अधीर पैरों की धम-धम सुनाई दी और मुहूर्त्त-भर में दौड़ती, हाँफती हुई पीठ पर बाल फैलाए मृण्मयी कमरे में घुस आई। उसने अपूर्वकृष्ण की ओर दृष्टि डाले अचानक कन्या के भाई राखाल का हाथ पकड़कर खींचातानी शुरू कर दी। उस समय राखाल एकाग्र मन से अपनी पर्यवेक्षण शक्ति की विवेचना में निमग्न था, वह किसी प्रकार उठने को तैयार नहीं हुआ। नौकरानी अपनी

संयत कंठ-ध्वनि की कोमलता की रक्षा पर दृष्टि रखते हुए यथासंभव कड़े ढंग से मृण्मयी को फटकारने लगी। अपूर्वकृष्ण अपने संपूर्ण गाम्भीर्य एवं गौरव को समेटकर पगड़ी धारण किये सिर को अभ्रभेदी किये बैठा रहा और पेट के पास घड़ी की चेन हिलाने लगा। संगी को किसी प्रकार विचलित न कर पाने पर अन्त में उसकी पीठ पर जोर से थप्पड़ मारकर और चट से खींचकर कन्या के सिर से घूँघट खोलकर मृण्मयी आँधी की भाँति कमरे से निकल गई। दासी गुर्राती हुई गर्जने लगी और अकस्मात् बहून का घूँघट उठ जाने से राखाल खिलखिलाकर हँसने लगा। अपनी पीठ पर पड़े जोर के थप्पड़ को उसने अन्यायपूर्ण नहीं समझा, क्योंकि इस प्रकार का लेन-देन उनमें सदा चला करता था। यही नहीं, पहले मृण्मयी के बाल कंधों को पार करके पीठ के बीचों-बीच पहुँच जाते थे। राखाल ने ही एक दिन हठात् पीछे से आकर उसके झोंटे पर कैंची चला दी थी। मृण्मयी ने इस पर अत्यन्त गुस्सा होकर उसके हाथ से कैंची छीनकर पीछे बचे बालों को कच्-कच् करते निर्दयतापूर्वक काट डाला, उसके घुँघराले बालों के स्तबक शाखाच्युत काले अंगूरों के स्तूप के समान गुच्छे-गुच्छे होकर धरती पर गिर पड़े। दोनों में इस प्रकार की शासन-पद्धति प्रचलित थी।

इसके बाद यह नीरव परीक्षा-सभा और अधिक देर न चल सकी। पिण्डाकार कन्या किसी प्रकार फिर दीर्घाकार होकर दासी के सहारे अन्तःपुर में चली गई। अपूर्व बड़े गम्भीर भाव से विरल मूँछों की रेखा पर ताव देता हुआ उठकर कमरे से बाहर आने लगा। दरवाजे के पास पहुँचकर देखा, वार्निश किया हुआ नया जूता जहाँ था वहाँ नहीं है और कहाँ है यह बहुत प्रयत्न करने पर भी मालूम नहीं हो सका।

घर के सब लोग बहुत परेशान हुए और अपराधी को लक्ष्य करके गालियों और फटकार की अजस्र वर्षा होने लगी। बहुत खोज करने के पश्चात् अन्त में और कोई उपाय न देखकर घर के मालिक की पुरानी फटी ढीली चट्टी पहनकर, पतलून-अचकन-पगड़ी से सुसज्जित अपूर्व कृष्ण कीचड़ से भरे गाँव के रास्ते में बड़ी सावधानी से चलने लगा।

पुष्करिणी के किनारे निर्जन मार्ग में फिर अकस्मात् उसी उच्च कण्ठ की अजस्र हास्य-ध्वनि सुनाई पड़ी मानो तरु-पल्लवों में से कौतुकप्रिया वनदेवी अपूर्व की उन बेमेल चट्टियों की ओर देखकर हठात् अपनी हँसी न रोक सकी हों।

अपूर्व सहमकर ठहरकर इधर-उधर देख रहा था कि सघन वन से निकलकर एक निर्लज्ज अपराधिनी उसके सामने नए जूते रखकर भागने की

तैयारी करने लगी। अपूर्व ने शीघ्रता से उसके दोनों हाथ पकड़कर उसे बन्दी बना लिया।

मृण्मयी ने खींच-तान करके हाथ छुड़ाकर भागने की चेष्टा की, किन्तु सफल न हो सकी। घुंघराले बालों से ढके उसके स्वस्थ हँसमुख नटखट मुँह के ऊपर वृक्षों की शाखाओं में से छनकर आती हुई सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। धूप में झिलमिलाती निर्मल, चंचल निर्झरिणी पर झुककर कौतूहलप्रिय पथिक जिस प्रकार दृष्टि गड़ाकर उसके तल को देखता हो उसी प्रकार अपूर्व ने मृण्मयी के ऊपर को उठे हुए मुख पर गम्भीर दृष्टि डालकर, तड़ित-तरल नेत्रों की ओर ताककर और अत्यन्त धीरे-धीरे मुट्ठी ढीली करके कर्तव्य को मानो अधूरा ही रखकर बंदिनी को छोड़ दिया। क्रोधित होकर अपूर्व यदि मृण्मयी को पकड़कर मारता तो उसे तनिक भी आश्चर्य न होता, किन्तु निर्जन मार्ग में इस विचित्र नीरव दण्ड का वह कोई अर्थ नहीं समझ सकी।

नृत्यमयी प्रकृति की नूपुर-ध्वनि के समान चचल हास्य-ध्वनि सारे आकाश में भरकर गूँजने लगी और चिन्तामग्न अपूर्वकृष्ण अत्यंत धीरे-धीरे पैर रखता हुआ घर पहुँच गया।

: ३ :

दिन-भर तरह-तरह के बहाने बनाकर अपूर्व माँ से भेंट करने अन्तःपुर में नहीं गया। बाहर दावत थी, वहीं जीम आया। अपूर्व-जैसा एक कृतविद्य, गम्भीर भावुक व्यक्ति एक सामान्य अशिक्षिता बालिका के सामने अपने लुप्त गौरव का उद्धार करने, अपने आंतरिक माहात्म्य का सम्पूर्ण परिचय देने के लिए क्यों इतना अधिक उत्कण्ठित हो उठा, यह समझना कठिन है। देहात की एक चंचल लड़की उसे साधारण व्यक्ति समझे तो इससे क्या! वह यदि क्षण-भर के लिए उसे हास्यास्पद समझे और उसके बाद उसके अस्तित्व को भुला-कर राखाल नामक एक निर्बोध निरक्षर लड़के के साथ खेलने के लिए व्यग्रता प्रकट करने लगे, तो इसमें भला उसकी क्या हानि है। उसके सामने यह प्रमा-णित करने की क्या आवश्यकता थी कि वे 'विश्वदीप' नामक मासिक पत्र में ग्रन्थ-समीक्षा करते हैं, और उनके बक्स में एसेन्स, जूते, रूबीनी का कैम्फर, चिट्ठी लिखने का रंगीन कागज और 'हारमोनियम-शिक्षा' पुस्तक के साथ हस्त-लिखित पूरी पुस्तक निशीथ के गर्भ में छिपी भावी उषा के समान प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में पड़ी थी। किन्तु मन को समझाना कठिन था और उस देहाती चंचला लड़की के सामने श्रीयुत अपूर्वकृष्ण राय, बी० ए०, किसी प्रकार

रही हार मानने को तैयार न थी ।

सन्ध्या समय भाल्लापुर से लौटकर आने पर माँ ने उससे पूछा, "क्यों रे अपू, लड़की देखी, कैसी लगी ? पसन्द आई ?

अपूर्व ने कुछ अप्रतिभ भाव से कहा, "लड़की देख आया हूँ माँ, उनमें से एक मुझे पसन्द है ।"

माँ आश्चर्य से बोलीं, "तो तूनें कितनी लड़कियाँ देखी हैं ?"

काफी इधर-उधर करने पर अन्त में मालूम हुआ, पड़ोस मे रहने वाली शरत् की लड़की मृण्मयी को उसके लड़के ने पसद किया है । इतना पढ़-लिखकर लड़के की ऐसी पसद ।

पहले अपूर्व ने बहुत अधिक लज्जा का अनुभव किया, किन्तु जब माँ बहुत आपत्ति करने लगी तो उसकी लज्जा छूट गई । वह जिद में आकर कह बैठा, "मृण्मयी के अलावा मै और किसी से विवाह नही करूँगा ।" अन्य जड़ पुतली के समान दूसरी लड़की के विषय में वह जितनी ही कल्पना करता उतनी ही विवाह के सम्बन्ध मे उसके मन मे विषम वितृष्णा का उद्रेक होता ।

दो-तीन दिन उभय पक्ष मे मान-अभिमान, अनाहार-अनिद्रा चलने के बाद अपूर्व ही विजयी हुआ । माँ ने अपने मन को समझा लिया कि मृण्मयी बच्ची है और मृण्मयी की माँ उसे उपयुक्त शिक्षा देने मे असमर्थ है, विवाह के बाद उनके हाथों मे पड़ते ही उसके स्वभाव मे परिवर्तन हो जायगा । और धीरे-धीरे उन्हें इसका भी विश्वास हो गया कि मृण्मयी का चेहरा सुन्दर है । किन्तु, साथ ही उसकी बिखरी केश-राशि उनके कल्पना-पथ में उदित होकर हृदय को निराशा से भरने लगी, फिर उन्हें यह आशा थी कि बालों को कसकर बाँधने और खूब तेल लगाने से धीरे-धीरे यह दोष भी मिटाया जा सकेगा ।

मुहल्ले के सभी लोग अपूर्व की इस पसद को अपूर्व-पसंद कहकर पुकारने लगे । पगली मृण्मयी को बहुत-से लोग प्यार करते थे, किन्तु फिर भी अपने पुत्र के विवाह-योग्य उसे कोई नहीं समझता था ।

यथासमय मृण्मयी के पिता ईशान मजूमदार को समाचार दिया गया । वे किसी स्टीमर-कम्पनी के क्लर्क की हैसियत से दूर नदी-तीरवर्ती एक बहुत छोटे स्टेशन पर टीन की छत वाली एक साधारण कुटीर में माल लादने-उतारने तथा टिकट बेचने के काम पर नियुक्त थे ।

मृण्मयी के विवाह-प्रस्ताव की बात सुनकर उनकी आँखों से आँसू झरने लगे । उनमें से कितने दुःख के थे एवं कितने आनन्द के, इसका हिसाब लगाकर बताने का कोई उपाय नहीं है ।

कन्या के विवाह के उपलक्ष्य में ईशान ने छुट्टी की प्रार्थना करते हुए हैड-ग्राफिस के साहब के पास दरख्वास्त भेजी। साहब ने उपलक्ष्य को नितांत तुच्छ समझकर छुट्टी नामंजूर कर दी। तब पूजा के अवसर पर एक सप्ताह की छुट्टी पाने की सम्भावना बताकर विवाह को तब तक के लिए स्थगित रखने के लिए घर को चिट्ठी लिख दी। किन्तु अपूर्व की माँ ने कहा, "इस महीने में दिन अच्छा है, अब और देर नहीं कर सकूँगी।"

दोनों ओर से ही प्रार्थना अस्वीकृत होने पर व्यथित हृदय ईशान और कोई आपत्ति किये बिना पहले की भाँति सामान तोलने और टिकटों की बिक्री करने लगे।

इसके बाद मृण्मयी की माँ और मुहल्ले के सारे बुजुर्ग मिलकर मृण्मयी को भावी कर्तव्य के सम्बन्ध में रात-दिन उपदेश देने लगे। क्रीड़ा-सिक्त, द्रुत-गमन, उच्चहास्य, लड़कों से बातचीत और भूख के अनुसार भोजन के विषय में सब निषेध परामर्श देकर विवाह को विभीषिका सिद्ध करने में पूर्ण सफल हुए। उत्कण्ठित शंकित हृदय मृण्मयी ने सोचा कि उसको आजन्म कारावास और अन्त में फाँसी का हुक्म हुआ है।

वह दुष्ट पोनी घोड़े की भाँति गरदन टेढ़ी करके पीछे हटकर कह बैठी, "मैं विवाह नहीं करूँगी।"

: ४ :

किन्तु, तो भी विवाह करना पड़ा।

उसके बाद शिक्षा आरम्भ हुई। एक ही रात में मृण्मयी की सारी दुनिया अपूर्व की माँ के अन्तःपुर में आकर घिर गई।

सास संशोधन-कार्य में प्रवृत्त हुईं। मुखाकृति अत्यंत कठोर बनाकर उन्होंने कहा, "देखो बेटी, अब तुम अबोध लड़की नहीं हो, हमारे घर ऐसी बेहयाई नहीं चलेगी।"

सास ने जिस अभिप्राय से बात कही थी मृण्मयी ने उस अर्थ में उसे ग्रहण नहीं किया। उसने सोचा, 'यदि इस घर में न चले, तो अन्यत्र जाना होगा।' अपराह्न में वह वहाँ नहीं दिखी। कहाँ गई, इसकी खोज शुरू हुई। अन्त में विश्वासघाती राखाल ने उसके छिपने की जगह पर उसे पकड़वा दिया। वह वट के नीचे राधाकान्त ठाकुर के परित्यक्त टूटे रथ में जा बैठी थी।

सास, माँ और मुहल्ले की समस्त हितैषी महिलाओं ने मृण्मयी को जिस प्रकार फटकारा पाठक-पाठिकागण उसकी सहज ही कल्पना कर सकते हैं।

रात में घने बादल छा गए और छपाछप वर्षा होने लगी। अपूर्वकृष्ण ने बिछौने पर बहुत धीरे-धीरे मृण्मयी की ओर ज़रा बढ़कर उसके कान में कोमल स्वर में कहा, "मृण्मयी, तुम मुझे प्यार नहीं करतीं ?"

मृण्मयी ने आवेश में आकर कहा, "नहीं, मैं तुम्हें कभी प्यार नहीं करूँगी।" उसके मन में जितना क्रोध और जितना दण्ड-विधान था वह सब उसने पुञ्जीभूत वज्र के समान अपूर्व के सिर पर दे मारा।

अपूर्व ने खिन्न होकर पूछा, "क्यों, मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है?"

मृण्मयी ने कहा, "तुमने मेरे साथ विवाह क्यों किया ?"

इस अपराध की संतोषजनक कैफ़ियत देना कठिन था। किन्तु अपूर्व ने मन-ही-मन कहा, 'जैसे भी हो इस उच्छृङ्खल मन को वश में करना ही पड़ेगा।'

दूसरे दिन सास ने मृण्मयी में विद्रोही भावना के सारे लक्षण देखकर उसे किवाड़ लगाकर कमरे में बन्द कर दिया। वह पिंजरे में बन्द नये पक्षी के समान पहले तो बहुत देर तक कमरे में छटपटाती हुई इधर-उधर घूमती रही। अन्त में निकल भागने का कोई मार्ग न देखकर निष्फल क्रोध में बिछौने की चादर दाँतों से फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाली; और पेट के बल धरती पर पसरकर मन-ही-मन पिता को पुकारती हुई रोने लगी।

तभी धीरे-धीरे आकर कोई उसके पास बैठ गया और स्नेह से उसके धूल में बिखरे बालों को कपोलों से हटा देने की चेष्टा करने लगा। मृण्मयी ने ज़ोर से सिर हिलाकर उसका हाथ हटा दिया। कान के पास मुँह झुकाकर अपूर्व ने धीरे से कहा, "मैंने छिपाकर किवाड़ खोल दिए हैं। चलो हम लोग पीछे बगीचे में भाग चलें !" मृण्मयी ने ज़ोर से सिर हिलाकर क्रोधपूर्वक रोते हुए कहा, "नहीं।" अपूर्व ने उसकी ठोड़ी पकड़कर मुँह उठाने का प्रयत्न करते हुए कहा, "एक बार देखो तो, कौन आया है।" राखाल धराशायी मृण्मयी की ओर ताकता हतबुद्धि की भाँति दरवाजे के पास खड़ा था। मृण्मयी ने मुँह उठाए बिना अपूर्व का हाथ ठेल दिया। अपूर्व बोला, "राखाल तुम्हारे साथ खेलने आया है, खेलने जाओगी ?" उसने खीझ से भरे उच्छ्वसित स्वर में कहा, "नहीं।" राखाल ने भी कोई सुविधा न देखकर किसी प्रकार कमरे से भागकर मुक्ति की साँस ली। अपूर्व चुपचाप बैठा रहा। मृण्मयी जब रोते-रोते थककर सो गई, तब अपूर्व दबे पाँव बाहर आकर दरवाजे की साँकल लगाकर चला गया।

दूसरे दिन मृण्मयी को पिता का एक पत्र मिला। उन्होंने अपनी प्राण-प्रतिमा मृण्मयी के विवाह के अवसर पर उपस्थित न हो सकने के लिए दुःख प्रकट करते हुए नवदम्पति को हार्दिक आशीर्वाद भेजा था।

मृण्मयी ने सास से जाकर कहा, "मैं पिता के पास जाऊँगी।" अकस्मात् यह असंभव प्रार्थना सुनकर सास उसे फटकारती हुई बोली, "इसका बाप कहाँ रहता है, कोई ठिकाना नहीं; कहती है 'पिता के पास जाऊँगी'।" वाह री दुनिया! वह बिना कुछ कहे चली गई। अपने कमरे में आकर द्वार बन्द करके जिस प्रकार अत्यंत निराश व्यक्ति देवता से प्रार्थना करता है उसी प्रकार कहने लगी, "पिताजी, तुम मुझे ले जाओ! यहाँ मेरा कोई नहीं है। यहाँ रही तो मैं बचूँगी नहीं।"

घोर रात में अपने पति के सो जाने पर द्वार खोलकर धीरे-धीरे मृण्मयी बाहर निकली। यद्यपि कभी-कभी बादल आ जाते थे तथापि चाँदनी रात में रास्ता दिखने के लायक पर्याप्त प्रकाश था। पिता के यहाँ जाने के लिए कौन-सा रास्ता लेना चाहिए, मृण्मयी यह कुछ नहीं जानती थी। उसके मन में तो बस यह विश्वास था कि जिस रास्ते डाक ले जाने वाले 'रनर' लोग चलते हैं उसी रास्ते से पृथ्वी के सारे ठिकानों पर जाया जा सकता है। मृण्मयी डाक वाले का वही रास्ता पकड़कर चलने लगी। चलते-चलते देह थक गई। रात भी प्रायः समाप्त हो गई। जिस समय वन में दो-एक पक्षी बेचैनी से अनिश्चित स्वर में बोलने की तैयारी कर रहे थे अथवा ठीक समय का निर्णय न कर पाने के कारण हिचकिचा रहे थे, तभी मृण्मयी रास्ते के सिरे पर नदी के किनारे किसी बड़े बाज़ार-जैसे स्थान में आकर उपस्थित हुई। अब किस ओर जाना चाहिए, वह यही सोच रही थी कि तभी कोई परिचित 'झम्-झम्' शब्द सुनाई पड़ा। कन्धे पर चिट्ठियों का थैला लिये डाक का 'रनर' हाँफता हुआ पहुँचा। मृण्मयी ने झटपट उसके पास जाकर कातर श्रांत स्वर में कहा, "मैं पिता के पास कुशीगञ्ज जाऊँगी, तुम मुझे साथ लिए चलो न!" "कुशीगञ्ज कहाँ है मैं नहीं जानता।" यह कहकर उसने घाट पर बँधी डाक ले जाने वाली नाव के मल्लाह को जगाकर नाव खोल दी। उसके पास दया दिखाने या प्रश्न करने का समय नहीं था।

देखते-देखते हाट और बाज़ार सजग हो उठे। घाट पर पहुँचकर मृण्मयी ने एक मल्लाह को पुकारकर कहा, "माझी, मुझे कुशीगञ्ज ले चलोगे?" उसके उत्तर देने के पहले ही पास की नाव से एक आदमी बोल उठा, "अरे कौन है, ओह बेटी मिनू, तुम यहाँ कहाँ से?" मृण्मयी उच्छ्वसित अधीरता के साथ बोल उठी, "वनमाली! मैं कुशीगञ्ज जाऊँगी पिता के पास, मुझे अपनी नाव में ले चल!" वनमाली उसके गाँव का मल्लाह था; वह इस उच्छृंखल स्वभाव की बालिका को अच्छी तरह से जानता था; वह बोला, "पिता के पास

जाओगी ?" यह तो अच्छी बात है। चलो, मैं तुम्हें ले चलता हूँ।" मृण्मयी नाव पर चढ़ गई।

माझी ने नाव खोल दी। मेघ घिर आए और मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई। भादों के महीने की भरी नदी उफन-उफनकर नाव को झोंटे देने लगी; मृण्मयी का सारा शरीर निद्रा से आच्छन्न हो आया; अञ्चल बिछाकर वह नौका में लेट गई और यह दुर्दमनीय बालिका नदी के हिण्डोले में प्रकृति के स्नेहपालित शांत शिशु के समान निश्चिन्त भाव से सो गई।

जगकर उठी तो देखा वह ससुराल में खाट पर लेटी है। उसको जगा हुआ देखकर नौकरानी ने भल्लाना प्रारम्भ किया। नौकरानी की आवाज़ से सास आकर बड़ी कठोर बातें कहने लगीं। मृण्मयी आँखें फाड़े चुपचाप उनके मुँह की ओर ताकती रही। अन्त में जब उन्होंने उसकी शिक्षा की कमी के लिए उसके पिता पर कटाक्ष किया तो मृण्मयी ने तेज़ी से पास के कमरे में घुसकर भीतर से साँकल लगा ली।

लज्जा त्यागकर अपूर्व ने माँ से आकर कहा, "माँ, बहू को एक-दो दिन के लिए पिता के घर पहुँचा देने में हर्ज क्या है ?"

माँ अपूर्व की 'न भूतो न भविष्यति' भर्त्सना करने लगीं, और संसार में इतनी लड़कियों के रहते छाँट-छूँटकर इस अस्थिदाहकारी दस्यु-कन्या को घर में लाने के लिए उसकी काफ़ी लांछना की।

: ५ :

उस दिन, दिन-भर बाहर आँधी-पानी और घर में भी वैसी ही झिमी-षिका चलती रही।

दूसरे दिन अँधेरी रात में अपूर्व ने मृण्मयी को धीरे-से जगाकर कहा, "मृण्मयी, अपने पिता के पास जाओगी ?"

मृण्मयी ने झट से अपूर्व का हाथ पकड़कर विस्मय से कहा, "जाऊँगी।"

अपूर्व ने धीरे से कहा, "तो चलो, हम दोनों चुपचाप भाग चलें। मैंने घाट पर नाव ठीक कर रखी है।"

मृण्मयी ने अत्यंत कृतज्ञतापूर्ण हृदय से एक बार पति के मुँह की ओर ताका। उसके बाद झटपट उठकर कपड़े पहनकर बाहर जाने के लिए तैयार हो गई। अपूर्व ने अपनी माता की चिन्ता दूर करने के लिए एक चिट्ठी लिखकर रख दी; और दोनों बाहर निकल गए।

उस अँधेरी रात में जन-शून्य निस्तब्ध निर्जन ग्राम-पथ में मृण्मयी ने

पहली बार स्वेच्छा और आन्तरिक विश्वास से पति का हाथ पकड़ा; उसके हृदय का आनन्द-उद्वेग उस सुकोमल स्पर्श द्वारा उसके पति की शिराओं में संचारित होने लगा।

रात में ही नाव खोल दी। हर्षोच्छ्वास से अधीर होने पर भी थोड़ी ही देर में मृण्मयी सो गई। दूसरे दिन कैसी मुक्ति, कैसा आनन्द था। दोनों ओर अनगिनती गाँव, बाज़ार, अनाज के खेत और वन थे और अनेक नौकाएँ यातायात कर रही थीं। मृण्मयी छोटी-से-छोटी बात पर पति से हज़ारों प्रश्न पूछने लगी। इस नाव में क्या है? ये कहाँ से आ रही है? इस जगह का नाम क्या है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनका उत्तर न तो अपूर्व को कॉलिज की किसी पुस्तक में मिला था, और न कलकत्ता की उसकी जानकारी में समा पाया था। बन्धुगण सुनकर लज्जित होंगे, अपूर्व ने इन सब प्रश्नों में से प्रत्येक का उत्तर दिया था और अधिकांश उत्तरों में सत्य का मेल नहीं था। यथा, उसने तिल से भरी नाव को अलसी की बताया, पाँच बेड़े को रायनगर और मुन्सिफ की अदालत को ज़मींदारी कचहरी कहने में तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं किया। और इन सारे भ्रान्त उत्तरों से विश्वस्त हृदय प्रश्नकारिणी के सन्तोष को तिल-मात्र भी व्याघात नहीं पहुँचा।

दूसरे दिन सन्ध्या-समय नाव कुशीगञ्ज जा पहुँची। टीन की छत वाले कमरे में एक मैले चौकोर काँच वाली तेल की लालटेन जलाकर छोटे-से डेस्क पर एक चमड़े की जिल्द वाले बड़े खाते में नंगे बदन स्टूल पर बैठे ईशानचन्द्र हिसाब लगा रहे थे। इसी समय नवदम्पति ने कमरे में प्रवेश किया। मृण्मयी ने पुकारा, "पिताजी!" उस कमरे में ऐसी कण्ठ-ध्वनि इस प्रकार पहले कभी ध्वनित नहीं हुई थी।

ईशान की आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। वे क्या कहें, क्या करें, कुछ भी नहीं सोच सके। उनकी लड़की और दामाद मानो साम्राज्य के युवराज और युवराज महिषी हों; जूट के बोरों के बीच उनके उपयुक्त सिंहासन किस प्रकार निर्मित हो सकेगा, उनकी दिक्भ्रान्त बुद्धि मानो यही नहीं तय कर पा रही थी।

फिर भोजन का प्रबन्ध—वह भी एक चिन्ता थी। दरिद्र क्लर्क स्वयं अपने हाथ से दाल भाते[1] पकाकर खाता—आज ऐसे आनन्द के दिन वह क्या करे, क्या खिलाए? मृण्मयी बोली, "पिताजी, आज हम सब मिलकर पकायेंगे।"

---

१. कई तरह की तरकारी और मसूर की दाल (कपड़े में बाँधकर) चावल डालकर पका लेते हैं और फिर घी-नमक मिलाकर खाते हैं।

अपूर्व ने इस प्रस्ताव पर अत्यधिक उत्साह प्रकट किया।

घर में स्थानाभाव, लोकाभाव और अन्नाभाव था, किन्तु छोटे छिद्र में से जैसे फव्वारा चौगुने वेग से फूट पड़ता है उसी तरह दारिद्रय के संकीर्ण मुंह से आनन्द परिपूर्ण धारा मे उच्छ्वसित होने लगा।

इसी तरह तीन दिन कट गए। दोनों समय नियमित रूप से आकर स्टीमर लगता, कितनी भीड़! कितना कोलाहल! सन्ध्या-समय नदी का किनारा बिलकुल निर्जन हो जाता, तब कैसी अगाध स्वाधीनता रहती; और तीनों व्यक्ति मिलकर नाना प्रकार से सामग्री जुटाते, भूलें करते, और कुछ की जगह कुछ और रसोई बना बैठते। उसके बाद मृण्मयी के वलय-झंकृत स्नेहपूर्ण हाथों से परोसा हुआ ससुर-जामाता का एक साथ भोजन और गृहिणीत्व की सहस्रों त्रुटियों के प्रदर्शन द्वारा मृण्मयी का परिहास और उसको लेकर बालिका का आनन्द-कलह और मान-मनौवल चलता। अन्त में अपूर्व ने बताया कि अब और अधिक दिन ठहरना उचित नहीं होगा। मृण्मयी ने करुण स्वर में और भी कुछ दिनों की प्रार्थना की। ईशान ने कहा, "कोई जरूरत नहीं।"

विदाई के दिन कन्या को छाती से लगाकर उसके सिर पर हाथ रखकर अश्रु-गद्गद कण्ठ से ईशान ने कहा, "बेटी, तुम ससुराल में उजाला करके लक्ष्मी बनकर रहना! मेरी मिनू में कोई कहीं दोष न देख पाये।"

मृण्मयी रोते-रोते पति के साथ विदा हुई और ईशान उस द्विगुणित निरानन्द संकीर्ण कोठरी में लौटकर दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने नियमित रूप से माल तोलते रहे।

: ६ :

अपराधियों की इस जोड़ी के घर लौट आने पर माँ अत्यन्त गम्भीर मुद्रा बनाए रहीं, कोई बात ही नहीं की। किसी के भी व्यवहार के प्रति ऐसा कोई भी दोषारोपण नहीं किया जिसे वह धोने की चेष्टा कर सकता। यह नीरव अभियोग, निस्तब्ध मान लौह-भार की भाँति घर के सम्पूर्ण काम-काज को अटल भाव से दबाए रहा।

अन्त में असह्य हो उठने पर अपूर्व ने आकर कहा, "माँ, कॉलिज खुल गया है, अब मुझे कानून पढ़ने जाना पड़ेगा।"

माँ ने उदासीन भाव से कहा, "बहू का क्या करोगे?"

अपूर्व ने कहा, "बहू यहीं रहे।"

माँ बोली, "न बाबा, कोई जरूरत नहीं, तुम उसे अपने संग ले जाओ!"

माँ अपूर्व से हमेशा 'तू' कहकर बोलती थीं।

अपूर्व ने अभिमानपीड़ित स्वर में कहा, "अच्छा।"

कलकत्ता जाने की तैयारी होने लगी। जाने के पूर्व की रात को अपूर्व ने बिछौने पर पहुँचकर देखा, मृण्मयी रो रही थी।

सहसा उसके मन को आघात लगा। खिन्न स्वर में बोला, "मृण्मयी, क्या तुम्हारा मन मेरे साथ कलकत्ता जाने को नहीं होता?"

मृण्मयी बोली, "नहीं।"

अपूर्व ने प्रश्न किया, "तुम मुझे प्यार नहीं करतीं? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। बहुधा इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सहज होता है, पर फिर कभी-कभी इसमें मनस्तत्त्वघटित इतनी जटिलता का मिश्रण रहता है कि बालिका से इसके उत्तर की प्रत्याशा नहीं की जा सकती।

अपूर्व ने प्रश्न किया, "क्या राखाल को छोड़ आने के कारण तुम्हारा मन दुखी हो रहा है?"

मृण्मयी ने अनायास ही उत्तर दिया, "हाँ।"

बालक राखाल के प्रति इस बी० ए० परीक्षोत्तीर्ण कृतविद्य युवक में सुई के समान अति सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त सुतीक्ष्ण ईर्ष्या का उदय हुआ। बोला, "मैं अब काफ़ी दिन तक घर नहीं आ पाऊँगा।" इस सूचना के सम्बन्ध में मृण्मयी को कुछ कहना ही नहीं था।

"कदाचित् दो वर्ष या उससे भी अधिक लग सकता है।"

मृण्मयी ने आदेश दिया, "तुम लौटते समय राखाल के लिए एक तीन मुँह वाली रॉजर्स की छुरी लेते आना!"

अपूर्व ने थोड़ा उठकर कहा, "तो तुम यहीं रहोगी?"

मृण्मयी ने कहा, "हाँ, मैं माँ के यहाँ जाकर रहूँगी।"

अपूर्व ने निःश्वास छोड़ते हुए कहा, "अच्छा, तो फिर रहो! जब तक तुम मुझे आने के लिए चिट्ठी नहीं लिखोगी, मैं नहीं आऊँगा। अब तो खुश हुईं?"

इस प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ समझकर मृण्मयी सोने लगी। किन्तु अपूर्व को नींद नहीं आई, तकिया ऊँचा करके उसके सहारे बैठा रहा।

काफी रात बीतने पर अचानक चाँद निकला और चन्द्रमा का प्रकाश आकर बिछौने पर पड़ा। उस प्रकाश में अपूर्व मृण्मयी की ओर निहारने लगा। देखते-देखते उसे लगा मानो कोई राज-कन्या को चाँदी की छड़ी[1] छुआकर अचेत

१. लोक-प्रचलित एक राजकुमार की कहानी, जिसमें वह सोने की छड़ी छुआकर राजकुमारी

करके चला गया हो। बस एक बार सोने की छड़ी मिलते ही इस निद्रित आत्मा को जगाकर मालाबदल[1] कर लिया जा सकता है। चाँदी की छड़ी हास्य है और सोने की छड़ी अश्रु-जल।

भोर वेला में अपूर्व ने मृण्मयी को जगा दिया। बोला, "मृण्मयी, मेरे जाने का समय हो गया है। चलो तुम्हें तुम्हारी माँ के घर छोड़ आऊँ!"

मृण्मयी बिस्तर से उठकर खड़ी हो गई। अपूर्व ने उसके दोनों हाथ पकड़कर कहा, "अब मेरी एक प्रार्थना है। मैंने बहुत बार तुम्हारी बहुत सहायता की है, आज जाने के समय उसका एक पुरस्कार दोगी?"

मृण्मयी ने विस्मित होकर कहा, "क्या!"

अपूर्व ने कहा, "तुम अपनी इच्छा से प्रेमपूर्वक मुझे एक चुम्बन दो!"

अपूर्व की यह विचित्र प्रार्थना तथा गम्भीर मुख-मुद्रा देखकर मृण्मयी हँस पड़ी। हँसी रोककर मुँह बढ़ाकर चुम्बन करने के लिए उद्यत हुई—पास जाकर चूम न सकी, खिलखिलाकर हँस पड़ी। इसी प्रकार दो बार चेष्टा करके अन्त में निरस्त होकर मुँह पर अंचल ढाँपकर हँसने लगी। सजा के बहाने अपूर्व ने उसके कान मल दिए।

अपूर्व का प्रण बड़ा कठिन था। दस्यु के समान छीनकर, लूटकर पाने से वह आत्मावमानना का अनुभव करता। वह देवता के समान गौरवपूर्वक रहकर स्वेच्छा से दिया हुआ उपहार चाहता था, अपने हाथों उठाकर वह कुछ भी नहीं लेगा।

मृण्मयी फिर नहीं हँसी। भोर के प्रकाश में निर्जन पथ में होकर उसे उसकी माँ के यहाँ पहुँचाकर अपूर्व ने घर लौटकर माँ से कहा, "मैंने सोच-विचारकर देखा, बहू को अपने साथ कलकत्ता ले जाने से मेरी पढ़ाई-लिखाई में बाधा पड़ती, वहाँ उसकी कोई सहेली भी नहीं है। और तुम उसको इस घर में रखना नहीं चाहतीं, इसलिए मैं उसे उसकी माँ के घर पहुँचा आया हूँ।"

घोर मान के बीच माता-पुत्र का विच्छेद हुआ।

: ७ :

मायके आकर मृण्मयी ने देखा, अब उसका किसी भी तरह मन नहीं

को जगा लेता था और चाँदी की छड़ी छुआकर सुला देता था, सोने की छड़ी प्रेम के उदय की प्रतीक है।

१. बंगालियों में विवाह के अनन्तर एक रस्म होती है कि वर-वधू परस्पर माला बदली-बदली करते हैं।

लगता। वह घर मानो आद्योपान्त बदल गया हो। समय काटे नहीं कटता। 'क्या करे, कहाँ जाय, किससे मेल-जोल करे, कुछ भी समझ नहीं पाई।

हठात् मृण्मयी के मन में आया, मानो सारे घर में एवं सारे गाँव में कोई आदमी ही न हो। मानो मध्याह्न में सूर्य-ग्रहण लगा हो। वह किसी भी प्रकार नहीं समझ सकी कि आज कलकत्ता चले जाने के लिए इतनी उत्कट इच्छा क्यों हो रही है, कल रात यह इच्छा कहाँ चली गई थी; कल वह नहीं जानती थी कि जीवन के जिस अंश का परिहार करने के लिए उसका मन तड़प रहा था उसके पहले ही उसका सारा स्वाद बदल गया है। वृक्ष के परिपक्व पत्ते के समान आज उसने वृन्त-च्युत अतीत के जीवन को स्वेच्छा से अनायास ही दूर फेंक दिया है।

कहानियों में सुना जाता है कि निपुण अस्त्रकार ऐसी तेज तलवार का निर्माण कर सकता है कि उससे आदमी के दो टुकड़े करने पर भी उसे पता न चले, अन्त में हिलाने पर ही आधे-आधे भाग अलग हो जाते हैं। विधाता की तलवार भी ऐसी ही है, उन्होंने कब मृण्मयी की बाल्यावस्था और यौवनावस्था के बीच आघात किया वह नहीं जान सकी; आज न जाने कैसे आन्दोलित होने पर शैशव का अंश यौवन से विच्युत हो पड़ा और मृण्मयी विस्मय और व्यथा से ताकती रह गई।

मायके में अब वह अपना पुराना शयन-कक्ष भी उसे अपना नहीं लगा, वहाँ जो रहता था वह हठात् चला गया। अब उसके हृदय की सारी स्मृतियाँ किसी और घर में, किसी और कमरे में, किसी और शय्या के आस-पास गुन-गुन करती मँडराने लगीं।

मृण्मयी को फिर कोई बाहर नहीं देख पाया। फिर उसकी हास्य-ध्वनि सुनाई नहीं पड़ी। राखाल उसके सामने आते हुए डरता। खेलने की बात भी मन में नहीं आती।

मृण्मयी ने माँ से कहा, "माँ मुझे ससुराल छोड़ आओ!"

उधर पुत्र के विदा होते समय के उदास मुख का स्मरण करके अपूर्व की माँ का हृदय विदीर्ण हो रहा था। वह नाराज होकर बहू को समधिन के घर छोड़ आया था, यह बात उनके मन को बहुत चुभ रही थी।

इसी स्थिति में एक दिन सिर पर पल्ला किये म्लानमुख मृण्मयी ने सास के पैरों पड़कर प्रणाम किया। सास ने उसी क्षण अश्रुपूरित नेत्रों से उठाकर उसे वक्ष से लगा लिया। क्षण-भर में दोनों में मेल हो गया। सास बहू के मुँह की ओर देखती हुई आश्चर्य में पड़ गई। अब वह मृण्मयी नहीं थी। साधारणतः

ऐसा परिवर्तन हर एक के लिए संभव नहीं है। बड़े परिवर्तन के लिए बड़ी शक्ति आवश्यक होती है।

सास ने निश्चय किया था कि मृण्मयी के दोषों को एक-एक करके ठीक करेंगी, किन्तु एक अन्य अदृश्य संशोधनकर्ता ने एक अज्ञात संक्षिप्त उपाय का सहारा लेकर मृण्मयी को जैसे नया जन्म प्रदान कर दिया हो।

अब मृण्मयी भी सास को समझ गई और सास ने भी मृण्मयी को पहचान लिया। वृक्ष के साथ शाखा-प्रशाखाओं का जिस प्रकार संयोग रहता है सारा घर-बार उसी प्रकार परस्पर अभिन्न रूप से एक हो गया।

मृण्मयी के सम्पूर्ण तन-मन की एक-एक रेखा एक गंभीर स्निग्ध विशाल रमणी-प्रकृति से परिपूर्ण हो उठी और इससे उसे मानो वेदना होने लगी। आषाढ़ के पहले श्याम-सजल नवमेघों के समान उसके हृदय में एक अश्रुपूर्ण व्यापक अभिमान का संचार हो गया। उस अभिमान ने उसकी छायामय सुदीर्घ पलकों के ऊपर एक और अधिक गहरी छाप डाल दी। वह मन-ही-मन कहने लगी, 'मैं अपने-आपको नहीं समझ सकी, पर भला तुमने मुझे क्यों नहीं समझा। तुमने मुझे दण्ड क्यों नहीं दिया। मुझे अपनी इच्छानुसार क्यों नहीं चलाया, मैं दुष्टा जब तुम्हारे साथ कलकत्ता जाना नहीं चाहती थी तब तुम मुझे जबरन पकड़कर क्यों नहीं ले गए। तुमने मेरी बात क्यों सुनी, मेरा अनुरोध क्यों माना। मेरा हठ क्यों सहा ?'

इसके बाद, अपूर्व ने जिस दिन प्रातःकाल पुष्करिणी के किनारे वाले निर्जन पथ में उसको बन्दी बनाकर बिना कुछ कहे केवल उसके मुँह की ओर निहारा था, वह पुष्करिणी, वह पथ, वह तरुतल, वह प्रभातकालीन धूप और वह हृदय-भारावनत गहरी दृष्टि उसे याद हो आई और वह अचानक उसका सारा अर्थ समझ गई। बाद में विदाई के दिन जो चुम्बन अपूर्व के मुँह की ओर बढ़कर लौट आया था, वह अधूरा चुम्बन अब मृगमरीचिकाभिमुखी तृषार्त्त पक्षी के समान क्रमशः उस बीते हुए अवसर की ओर छूटने लगा। अब उसकी पिपासा किसी भी प्रकार शांत नहीं हो पाती। अब रह-रहकर उसके मन में केवल यही आता, 'हाय ! अमुक समय यदि ऐसा करती, अमुक प्रश्न का यदि यह उत्तर देती, उस समय यदि ऐसा होता।'

अपूर्व के मन में यह सोचकर क्षोभ हो रहा था कि 'मृण्मयी को मेरा पूरा परिचय नहीं मिला।' मृण्मयी भी आज बैठी-बैठी सोच रही थी, 'उन्होंने न जाने मेरे विषय में क्या सोचा-समझा होगा।' अपूर्व ने उसे दुर्दमनीय चपल अविवेचक निर्बोध बालिका समझा, परिपूर्ण हृदयामृतधारा में प्रेम-पिपासा मिटाने

की क्षमता से युवा रमणी के रूप में नहीं जाना, इसी को लेकर वह परिताप, लज्जा और धिक्कार से पीड़ित हो उठी। चुम्बन और सुहाग के उन ऋणों का वह अपूर्व के सिर के तकिए के ऊपर परिशोध करने लगी। इसी प्रकार कितने ही दिन बीत गए।

अपूर्व कह गया था, 'तुम्हारे चिट्ठी लिखे बिना मैं घर नहीं लौटूँगा।' इसीका स्मरण करके एक दिन वह कमरे का द्वार बन्द करके चिट्ठी लिखने बैठी। अपूर्व ने उसको सुनहली किनारी वाला जो रंगीन कागज दिया था उसीको निकालकर बैठी-बैठी सोचने लगी। स्याही में उँगलियाँ सानकर खूब सँभाल-सँभालकर टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियो में छोटे-बड़े अक्षरो से ऊपर बिना किसी संबोधन के ही झट-से लिखा कि "तुम मुझे चिट्ठी क्यों नहीं लिखते। तुम कैसे हो, और तुम घर आओ!' और क्या कहना था, वह कुछ नहीं सोच सकी। असल में जो बातें कहनी थी, वे तो खैर लिख दी गई, किन्तु मनुष्य-समाज में मन के भावो को, कुछ थोडा बढ़ाकर प्रकट करना आवश्यक होता है। मृण्मयी भी यह समझ गई थी; इसीलिए उसने भी बहुत देर तक सोचते रहने के बाद और कई नई बाते जोड़ दी—'इस बार तुम मुझे चिट्ठी लिखना, और कैसे हो, लिखो, और घर आओ, माँ अच्छी है, बिशु पूँटि अच्छे हैं, कल हमारी काली गाय के बछड़ा हुआ है।' और इस प्रकार चिट्ठी पूरी कर दी। लिफ़ाफे मे चिट्ठी बन्द करके अक्षर-अक्षर मे प्यार ढालकर लिखा, 'श्रीयुक्त बाबू अपूर्व-कृष्ण राय'। प्रेम कितना ही क्यो न ढाला हो; न तो पंक्ति सीधी हुई, न अक्षर सुन्दर बने, न भाषा शुद्ध हो सकी।

लिफ़ाफे पर नाम के अतिरिक्त और भी कुछ लिखना आवश्यक था, यह मृण्मयी नही जानती थी। कही सास या और किसी की दृष्टि न पड़ जाय, इस लज्जा से बचने के लिए उसने चिट्ठी एक विश्वस्त दासी के द्वारा डाक में छुड़वा दी।

कहना व्यर्थ है, इस पत्र का कोई परिणाम नहीं हुआ, अपूर्व घर नहीं आया।

: ८ :

माँ ने देखा, छुट्टी हो गई तो भी अपूर्व घर नहीं आया। उन्होंने सोचा, 'अब भी वह मुझसे नाराज है।'

मृण्मयी ने भी यही समझा कि अपूर्व उससे खीझा हुआ है, और तब वह अपनी चिट्ठी की बात याद करके लज्जा से गड़ने लग गई। वह चिट्ठी

कितनी तुच्छ थी, उसमें तो कोई बात ही नहीं लिखी जा सकी; उसके मन का कोई भाव ही प्रकट नहीं हुआ, उसको पढ़कर तो अपूर्व मृण्मयी को और भी अबोध लड़की समझने लगा होगा,' मन-ही-मन और भी तिरस्कार करने लगा होगा, यह सोचकर वह शरबिद्ध पक्षी की भाँति मन-ही-मन छटपटाने लगी। दासी से बार-बार पूछा, "वह चिट्ठी क्या तू डाक में छोड़ आई थी?" नौकरानी ने उसको सहस्र बार आश्वासन देते हुए कहा, "हाँ, जी, मैंने अपने हाथों से बक्स में डाली है, अब तक तो वह बाबू को कभी की मिल गई होगी।"

अन्त में एक दिन अपूर्व की माँ ने मृण्मयी को बुलाकर कहा, "बहू, अपू बहुत दिनों से घर नहीं आया, इसलिए सोच रही हूँ, कलकत्ता जाकर उसे देख आऊँ। तुम संग चलोगी?" मृण्मयी ने सम्मतिसूचक गर्दन हिला दी और कमरे में आकर किवाड़ बन्द करके बिछौने पर लेटकर तकिये को हृदय से चिपटा-कर हँसती हुई लोट-पोट होकर उसने अपने मन का आवेग उन्मुक्त कर दिया; उसके पश्चात् वह धीरे-धीरे गम्भीर होकर, खिन्नता तथा आशंका में भरकर बैठी-बैठी रोने लगी।

अपूर्व को कोई सूचना दिये बिना इन दोनों अनुतप्त रमणियों ने उसकी प्रसन्नता की भीख माँगने के लिए कलकत्ता की यात्रा की। अपूर्व की माँ वहाँ अपने जमाई के यहाँ ठहरी।

उस दिन सन्ध्या समय मृण्मयी से पत्र पाने में निराश होकर अपूर्व अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर स्वयं उसको पत्र लिखने बैठा था। कोई बात बन ही नहीं पाती थी। वह एक ऐसा संबोधन खोज रहा था, जिससे प्रेम भी प्रकट हो और साथ ही मान भी व्यक्त हो; शब्द न मिलने के कारण मातृभाषा के ऊपर उसकी अश्रद्धा दृढ़तर हो रही थी। इसी समय उसे बहनोई की चिट्ठी मिली, 'माँ आई हैं, जल्दी आओ और रात को भोजनादि यहीं करना। समाचार सब अच्छे हैं।' अन्तिम आश्वासन के रहते हुए भी अपूर्व अमंगल की आशंका से चिन्तित हो उठा। वह अविलम्ब बहन के यहाँ जा पहुँचा।

नजर पड़ते ही माँ से पूछा "माँ सब कुशल तो है?"

माँ ने कहा, "सब ठीक है। तू छुट्टी में घर नहीं आया, इसीलिए मैं तुझे लेने आई हूँ।"

अपूर्व ने कहा, "इसके लिए इतना कष्ट करके आने की क्या आवश्य-कता थी; कानून-परीक्षा की पढ़ाई-लिखाई—" इत्यादि।

भोजन के समय बहन ने पूछा, "दादा, इस बार तुम बहू को अपने साथ क्यों नहीं लाए?"

दादा गम्भीर भाव से कहने लगा, "कानून की पढ़ाई-लिखाई—" इत्यादि।

बहनोई हँसकर बोले, "यह सब झूठा बहाना है। हमारे डर के मारे आने की हिम्मत नहीं होती।"

बहन बोली, "सचमुच बड़े खतरनाक हो'। बच्ची अचानक देख ले तो चौंककर डर जाए।"

इसी प्रकार हँसी-मजाक चलने लगा, किन्तु अपूर्व अत्यन्त चिन्तित बना रहा। कोई भी बात उसे अच्छी नही लग रही थी। वह सोच रहा था, 'जब माँ कलकत्ता आईं तो मृण्मयी चाहती तो अनायास ही उनके साथ आ सकती थी। हो सकता है, माँ ने उसको साथ लाने का प्रयत्न भी किया हो; किन्तु कोई फल न निकला हो।' इस विषय में संकोच के कारण माँ से कोई प्रश्न भी नहीं पूछ सका—उसे समस्त मानव-जीवन और विश्व-सृष्टि सिरे से ही भ्रमपूर्ण प्रतीत होने लगी।

भोजन समाप्त होते ही बड़े जोर की हवा चली और जोरों से वर्षा शुरू हो गई।

बहन ने कहा, "दादा, आज हमारे यहाँ ही रह जाओ!"

दादा ने कहा, "नहीं, घर जाना होगा, काम है।"

बहनोई ने कहा, "रात को तुम्हें ऐसा क्या काम है। अगर एक रात यहाँ रह जाओगे तो तुम्हें किसी से जवाबदेही तो करनी नहीं पड़ेगी, तुम्हें क्या चिन्ता है।"

बहुत कहने-सुनने के बाद बड़ी अनिच्छा होते हुए भी अपूर्व उस रात ठहरने के लिए राजी हो गया।

बहन ने कहा, "दादा, तुम थके हुए हो, और अब देर मत करो, चलो, सोने चलो!"

अपूर्व की भी यही इच्छा थी। अँधेरे में बिछौने पर अकेला पड़ सके तो जान बचे। बात-बात पर सवाल-जवाब उसे अच्छे नहीं लग रहे थे।

सोने के कमरे के दरवाजे पर आकर देखा कि कमरे में अँधेरा था। बहन बोली, "लगता है कि हवा से बत्ती बुझ गई। दादा क्या बत्ती ला दूँ!"

अपूर्व ने कहा, "नहीं, कोई जरूरत नहीं, रात में मैं बत्ती जली नहीं रखता।"

बहन के चले जाने पर अपूर्व अँधेरे में सावधानी से खाट की ओर बढ़ा।

साह़ ार बैठने ही वाला था कि अचानक वलयनिक्वण ध्वनि से युक्त एक सुकोमल बाहु-पाश ने उसे कठिन बन्धन में बाँध लिया और पुष्पपुट तुल्य ओष्ठाधरों ने. दस्यु के समान कूदकर अविरल अश्रुजल-सिक्त आवेगपूर्ण चुम्बन के कारण उसे विस्मय प्रकट करने का अवसर नहीं दिया। अपूर्व पहले तो चौंक पड़ा, उसके बाद समझ गया कि बहुत दिनों का एक हास्य-बाधित अपूर्ण प्रयत्न आज अश्रु-जल-धारा में पूरा हुआ है।

धूप और छाया

: १ :

पिछले दिन वर्षा हो चुकी है। आज सबेरे वृष्टिशान्त में म्लान धूप और मेघखण्ड मिलकर प्रायः परिपक्व आउस धान के खेतों पर क्रमशः अपनी-अपनी लम्बी तूलिका फेरते जा रहे थे; सुविस्तृत श्याम चित्रपट एक बार आलोक के स्पर्श से उज्ज्वल पाण्डुवर्ण धारण कर लेता और दूसरे ही क्षण छायालेपन द्वारा गहरी स्निग्धता से अंकित हो जाता।

इस समय जब सम्पूर्ण आकाश-रंगभूमि में बादल और धूप बस ये दो अभिनेता अपने-अपने अंश का अभिनय कर रहे थे तब नीचे संसार-रंगभूमि में कितने स्थानों पर कितने अभिनय चल रहे थे उसकी कोई गिनती नहीं।

हमने जिस स्थान पर एक छोटे-से जीवन-नाटक का पर्दा उठाया है वहाँ गाँव की सड़क के किनारे एक घर दिखाई दे रहा है। बाहर का बस एक कमरा पक्का है और उस कमरे की दोनों बगल से जीर्णप्रायः ईंटों की दीवाल ने मिट्टी के कई-एक कमरों को घेर रखा है। रास्ते से जँगले के सीखचों में होकर दिखाई दे रहा है कि एक युवापुरुष नंगे बदन तख्त पर बैठे बाएँ हाथ में तालपत्र का पंखा लेकर क्षण-क्षण में गर्मी और मच्छर दूर करने की कोशिश कर रहे हैं और दाहिने हाथ में पुस्तक लिये पाठ में रत हैं।

बाहर गाँव की सड़क पर डोरिये की साड़ी पहने एक बालिका अपने आँचल में थोड़ी-सी काली जामुनें लेकर एक-एक कर समाप्त करती हुई उक्त सींखचे वाले जँगले के सामने से बार-बार आ-जा रही थी। चेहरे के भाव से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि भीतर जो व्यक्ति तख्त पर बैठा पुस्तक पढ़ रहा है उसके साथ बालिका का घनिष्ठ परिचय है—और किसी-न-किसी प्रकार वह उसका ध्यान आकर्षित कर मौन अवज्ञा के भाव से उसे जता देना चाहती है कि अभी मैं काली जामुनें खाने में अत्यन्त व्यस्त हूँ, तुम्हारी मैं परवाह तक नहीं करती।

दुर्भाग्यवश, कमरे के भीतर बैठे हुए अध्ययनशील व्यक्ति को कम दिखाई देता है, दूर से बालिका की मौन उपेक्षा उन्हें छू नहीं पाती। बालिका भी यह

जानती थी, फलतः बहुत देर तक निष्फल आने-जाने के बाद मौन उपेक्षा के बदले उसे काली जामुन की गुठली का प्रयोग करना पड़ा। अन्धे के सामने मान की विशुद्धता की रक्षा करना कितना दुरूह है।

जब क्षण-क्षण में दो-चार कड़ी गुठलियों ने मानो दैवयोग से लकड़ी के दरवाजे पर गिर-गिर कर ठक-ठक शब्द किया तब पाठ-रत व्यक्ति ने सिर उठाकर देखा। नटखट बालिका यह जानते ही दुगुने मनोयोग से आँचल में से खाने योग्य सुपक्व काली जामुनें चुनने में मग्न हो गई। वह व्यक्ति भौंहें सिकोड़े विशेष प्रयत्न से निरीक्षण करने पर बालिका को पहचान पाया और किताब रखकर जंगले के पास खड़े होकर हँसते हुए पुकारा, "गिरिबाला!"

अविचलित भाव से अपने अंचल की जामुनों के परीक्षण में पूरी तौर से ध्यान-मग्न गिरिबाला धीरे-धीरे मन की मौज में एक-एक पैर बढ़ाती हुई चलने लगी।

तब उस सूक्ष्मदर्शी युवक को यह समझते देर नहीं लगी कि यह अनजान में किये गए किसी अपराध का दण्ड-विधान हो रहा है। झट से बाहर आकर बोले, "क्यों, आज मुझे जामुनें नहीं दीं?" गिरिबाला ने इस बात पर कान न देकर बहुत खोज और परीक्षा के बाद एक जामुन चुनकर अत्यंत निश्चित भाव से खाना शुरू किया।

ये जामुनें गिरिबाला के बाग की थीं और उस युवक व्यक्ति को प्रतिदिन मिलती थीं। पता नहीं क्यों उस बात का आज गिरिबाला को किसी प्रकार स्मरण नहीं रहा, उसके व्यवहार से ऐसा प्रकट होता था कि ये जामुनें वह केवल अपने ही लिए लाई है। किन्तु अपने बाग से फल तोड़कर दूसरे के दरवाजे के सामने आकर धूमधाम से खाने का क्या अर्थ है—यह स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सका। तब उस पुरुष ने पास आकर उसका हाथ पकड़ लिया। पहले तो गिरिबाला ने इधर-उधर करके हाथ छुड़ाकर भागने का यत्न किया, उसके बाद सहसा आँसू बहाती हुई रोने लगी, और आँचल की जामुनों को धरती पर बिखेरकर भाग गई।

सवेरे की चंचल धूप तथा चंचल मेघों ने शाम को शान्त और श्रान्त भाव धारण कर लिया था, शुभ्र स्फीत मेघ आकाश-प्रान्त में स्तूपाकार दिख रहे थे और अपराह्न वेला का अस्तोन्मुख प्रकाश वृक्षों के पत्तों पर, पुष्करिणी के जल में एवं वर्षा-स्नात प्रकृति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में झिलमिला रहा था। फिर वह बालिका उस सींखचों वाले जंगले के सामने दिखाई पड़ी और कमरे के भीतर वही युवक बैठा था। इस समय अन्तर यह था कि बालिका के आँचल में जामुन

नहीं थीं और युवक के हाथ में भी पुस्तक नहीं थी। उससे भी अधिक कोई एक गुरुतर और गहरा भेद भी था।

इस समय भी क्या बालिका किसी विशेष आवश्यक कार्य से उस विशेष स्थान पर आकर इधर-उधर कर रही थी, यह कहना कठिन है। और जो भी आवश्यक क्यों न हो, कमरे के भीतर के व्यक्ति के साथ बातचीत करना आवश्यक है यह बात बालिका के व्यवहार से किसी भी प्रकार प्रकट नहीं होती थी। वरंच ऐसा लगता था, मानो वह यह देखने आई हो कि सवेरे जो जामुन फेंक गई थी शाम को उनमें से किसी में कोई अंकुर फूटा या नहीं।

किन्तु अंकुर फूटने के अन्यान्य कारणों में से एक गुरुतर कारण यह भी था कि वे फल इस समय युवक के सामने तख्त के ऊपर इकट्ठे थे, और बालिका जब बार-बार झुककर किसी एक अनिर्दिष्ट काल्पनिक पदार्थ के अनुसंधान में लगी थी तब युवक मन की हँसी छिपाकर अत्यन्त गम्भीर भाव से एक-एक जामुन चुनकर यत्न से खा रहा था। अन्त में जब दो-एक गुठली संयोग से बालिका के पैरों के पास, यहाँ तक कि पैर के ऊपर आकर पड़ी तब गिरिबाला ने समझा कि युवक बालिका के मान का प्रतिशोध ले रहा है। किन्तु क्या यह उचित था! जिस समय वह अपने छोटे-से हृदय का समस्त गर्व विसर्जित करके आत्म-समर्पण करने का अवसर खोज रही थी तब क्या उसके इस अत्यन्त दुरूह मार्ग में बाधा डालना निष्ठुरता नहीं थी? वह पकड़े जाने के लिए आई थी, यह बात प्रकट हो जाने पर जब बालिका लाल होकर भागने का रास्ता खोजने लगी थी तभी युवक ने बाहर आकर उसका हाथ पकड़ लिया।

सवेरे के समान इस समय भी बालिका ने इधर-उधर करके हाथ छुड़ाकर भागने की बहुत कोशिश की, किन्तु रोई नहीं। वरंच लाल होकर मुँह मोड़कर अत्याचारी की पीठ में मुँह छिपाकर खूब जोर से हंसने लगी और मानो केवल मात्र बाहरी आकर्षण के सामने झुककर पराभूत बंदी भाव से लोहे के सींखचों से घिरे कारागार में प्रवेश किया।

आकाश में बादल और धूप का खेल जिस प्रकार साधारण बात थी, पृथ्वी पर इन दो व्यक्तियों का खेल भी उसी प्रकार साधारण, उसी प्रकार क्षण-स्थायी था। और जिस प्रकार आकाश में बादल और धूप का खेल न तो कोई साधारण बात है और न खेल ही है, केवल खेल की भाँति दिखाई पड़ता है उसी तरह इन दो अप्रसिद्ध व्यक्तियों का वर्षा के किसी एक खाली दिन का क्षुद्र इतिहास संसार की सैकड़ों घटनाओं के बीच तुच्छ प्रतीत हो सकता है। किन्तु यह तुच्छ था नहीं, जो पुरातन विराट्, अदृष्ट, अविचलित गंभीर

मुख से अनन्त काल से युग के साथ युगान्तर को गूँथता चला जाता है वही पुरातन बालिका के इस सुबह-साँझ के तुच्छ हास्य-रुदन में जीवन-व्यापी सुख-दुःख के बीज अंकुरित कर रहा था। तो भी बालिका का यह अकारण मान-प्रदर्शन बड़ा ही अर्थहीन प्रतीत हुआ। केवल दर्शकों के लिए ही नहीं, इस छोटे नाटक के प्रधान पात्र उक्त युवक के लिए भी। क्यों यह बालिका किसी दिन नाराज हो जाती है, किसी दिन अपरिमित स्नेह प्रदर्शित करती है, किसी दिन दैनिक खुराक बढ़ा देती है, किसी दिन बिलकुल ही बंद कर देती है। इसका कारण खोज पाना आसान नहीं है। किसी-किसी दिन मानो उसकी सम्पूर्ण कल्पना, भावना और निपुणता एकत्र होकर युवक को सन्तुष्ट करने में प्रवृत्त हो जाती और कभी-कभी अपनी सम्पूर्ण अल्प शक्ति अपनी सम्पूर्ण कठोरता को एकत्र करके उसको चोट पहुँचाने का प्रयत्न करती। वेदना न पहुँचा सकने पर उसकी कठोरता दुगुनी हो जाती, सफल हो जाने पर वह कठोरता अनुताप के अश्रु-जल की सैकड़ों धाराओं में विगलित होकर अजस्र स्नेह-धारा के रूप में प्रवाहित होती रहती।

बादल और धूप के इस तुच्छ खेल का प्रथम तुच्छ इतिहास अगले परिच्छेद में संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है।

गाँव में और सब तो दलबन्दी, षड्यंत्र, ईख की खेती, झूठे मुकद्दमे, और पटसन के कार-बार को लेकर व्यस्त रहते, भाव-विमर्श और साहित्य-चर्चा करते केवल शशिभूषण और गिरिबाला।

इसमें किसी के लिए उत्सुकता या उत्कण्ठा की कोई बात नहीं थी। क्योंकि गिरिबाला की उम्र दस वर्ष थी, और शशिभूषण अभी हाल के एक एम० ए०, बी० एल० थे। दोनों पड़ौसी-भर थे।

गिरिबाला के पिता हरकुमार किसी समय गाँव के पट्टेदार थे। इस समय दुरवस्था में पड़कर उन्होंने अपना सब-कुछ बेचकर अपने विदेशी जमीदार की नायबी का पद स्वीकार कर लिया था। जिस परगने में उनका घर था उसी परगने की नायबी थी, अतएव उनको जन्म-स्थान से टलना नहीं पड़ा।

शशिभूषण एम० ए० पास करके कानून की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं। किन्तु किसी भी प्रकार किसी काम में नहीं जुट पाये। लोगों से मिलना या सभा में दो बातें कहना यह भी उनसे नहीं हो पाता। आँखों से कम दिखता है इसलिए परिचित व्यक्ति को भी नहीं पहचान पाते, और इसी कारण उन्हें भौंहें

सिकोड़कर देखना पड़ता है, इसे लोग औद्धत्य समझते हैं।

कलकत्ता के जन-समुद्र में अपने-आपमें रमे रहना शोभा देता है। किन्तु देहातों में खास तौर से उसको अहंकार माना जाता है। शशिभूषण के पिता ने जब बहुत प्रयत्न करके परास्त होकर अन्त में अपने अकर्मण्य पुत्र को गाँव में अपनी मामूली जायदाद की देख-भाल के काम में नियुक्त कर दिया तब शशिभूषण को ग्रामवासियों की ओर से बड़ी प्रतारणा, उपहास और लांछना सहनी पड़ी। लांछना का और भी एक कारण था, शान्तिप्रिय शशिभूषण विवाह करने के लिए तैयार नहीं थे—कन्याभारग्रस्त मातापितागण उनकी इस अनिच्छा को दुःसह अहंकार समझकर उनको किसी भी प्रकार क्षमा नहीं कर पाते थे।

शशिभूषण पर जितना ही अत्याचार होने लगा, वे उतना ही अपने बिल में समाने लग गए। कोने के एक कमरे में एक चौकी के ऊपर कुछ जिल्द बँधी अँग्रेजी किताबें लेकर बैठे रहते, जब जो इच्छा होती पढ़ते रहते, बस यही तो उनका काम था—जायदाद की रक्षा किस तरह होती थी, यह तो जायदाद ही जाने।

और इसका आभास तो पहले ही दिया जा चुका है कि मानव-जगत् में उनका सम्पर्क था केवल गिरिबाला से।

गिरिबाला के भाई स्कूल जाते और लौटकर मूढ़ बहन से किसी दिन प्रश्न करते, पृथ्वी का आकार कैसा है, या किसी दिन प्रश्न करते—सूर्य बड़ा है या पृथ्वी। जब वह गलत उत्तर देती तो उसके प्रति बड़ी अवज्ञा दिखाते हुए उसकी भूल सुधार देते। सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा बड़ा है। यदि यह मत प्रमाण के अभाव में गिरिबाला को निराधार लगता और यदि वह साहस करके यह सन्देह प्रकट कर देती तो उसके भाई दुगुनी उपेक्षा से कहते, "वाह, हमारी किताब में लिखा है और तू—"

छपी हुई किताब में ऐसी बात लिखी है, यह सुनकर गिरिबाला बिलकुल निरुत्तर हो जाती, किसी और प्रमाण की उसे आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

किन्तु मन-ही-मन उसे बड़ी इच्छा होती कि वह भी अपने बड़े भाइयों की भाँति किताब लेकर पढ़े। किसी-किसी दिन वह अपने कमरे में बैठकर कोई एक पुस्तक खोलकर बड़बड़ाती हुई पढ़ने का स्वाँग करती और यों ही पन्ने उलटती जाती। छापे के काले-काले छोटे-छोटे अपरिचित अक्षर मानो किसी महा रहस्य-शाला के सिंह-द्वार पर दल-के-दल पंक्तिबद्ध होकर कंधों पर इकार, ऐकार, रेफ उठाए पहरा देते, गिरिबाला के किसी भी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देते।

कथामाला अपने बाघ, गीदड़, अश्व, गर्दभ की एक भी कहानी कौतूहलकातर बालिका के हाथ न आने देती और आख्यानमंजरी अपने समस्त आख्यान लिये मौनव्रती की भाँति चुपचाप देखती रहती।

गिरिबाला ने अपने भाइयों से पढ़ाई सीखने का प्रस्ताव किया था, किन्तु उसके भाइयों ने उसकी बात पर कान ही नहीं दिया। एक-मात्र शशिभूषण उसका सहायक था।

गिरिबाला के लिए जिस प्रकार कथामाला और आख्यानमंजरी दुर्भेद्य रहस्यपूर्ण थीं, शशिभूषण भी शुरू-शुरू में बहुत-कुछ ऐसा ही था। लोहे के सींखचों वाले रास्ते के पास के छोटे-से बैठकखाने में तख्त पर अकेला युवक पुस्तकों से घिरा बैठा रहता। गिरिबाला सींखचा पकड़े बाहर खड़ी अवाक् होकर इस नतपृष्ठ पाठनिविष्ट विचित्र व्यक्ति को ध्यानपूर्वक देखती, पुस्तकों की संख्या की तुलना करके मन-ही-मन निश्चय करती कि शशिभूषण उसके भाइयों की अपेक्षा बहुत ज्यादा विद्वान् है। उसके लिए इससे अधिक विस्मयजनक बात और कोई नहीं थी। कथामाला इत्यादि पृथ्वी की प्रधान-प्रधान पठनीय पुस्तकें शशिभूषण ने आद्योपांत पढ़ डाली हैं, इस विषय में उसे तनिक भी संदेह नहीं था। इसीलिए, शशिभूषण जब पुस्तक के पृष्ठ उलटता तो वह स्थिर भाव से खड़ी-खड़ी उसके ज्ञान की सीमा का निर्णय नहीं कर पाती थी।

अंत में इस विस्मयमग्न बालिका ने क्षीणदृष्टि शशिभूषण का भी ध्यान आकर्षित कर लिया। शशिभूषण एक दिन चमचमाती जिल्द की एक पुस्तक खोलकर बोला, "गिरिबाला, तस्वीर देखेगी, आ।" गिरिबाला तुरन्त दौड़कर भाग गई।

किन्तु दूसरे दिन वह फिर डोरिये की साड़ी पहने उसी बँगले के बाहर खड़ी होकर उसी तरह गम्भीर मौन मनोयोग से शशिभूषण के अध्ययन-कार्य का निरीक्षण करती हुई देखने लगी। शशिभूषण ने उस दिन भी उसे बुलाया और उस दिन भी वह चोटी हिलाती एक साँस में दौड़कर भाग गई।

इस प्रकार उनके परिचय का सूत्रपात होकर धीरे-धीरे वह कब घनिष्ठतर हो गया और कब बालिका ने सीखचों के बाहर से शशिभूषण के कमरे में प्रवेश किया, उसके तख्त पर के सजिल्द पुस्तक-स्तूप के बीच स्थान ले लिया, उस तारीख का सही निर्णय करने के लिए ऐतिहासिक शोध की आवश्यकता होगी।

शशिभूषण से गिरिबाला के पढ़ने-लिखने की चर्चा आरम्भ हुई। सुनकर सब हँसेंगे, ये मास्टर अपनी तुच्छ छात्री को केवल अक्षर, शब्दरूप और व्याकरण ही नहीं सिखाते बहुत-से बड़े-बड़े काव्य तर्जुमा करके सुनाते और

उसकी राय भी लेते रहते। बालिका क्या समझती यह तो अंतर्यामी ही जानते हैं; किन्तु उसको अच्छा लगता इसमें संदेह नहीं। जो कुछ समझती—जो कुछ न समझती—सबको मिलाकर वह अपने बाल्य हृदय में नाना प्रकार के अपूर्व कल्पना-चित्र अंकित कर लेती। नीरव भाव से नेत्र विस्फारित करके मन लगाकर सुनती, बीच-बीच में कोई-कोई अत्यन्त असंगत प्रश्न पूछती और कभी-कभी अकस्मात् किसी असंबद्ध प्रसंगान्तर में जा पहुँचती। शशिभूषण उसमें कभी कोई बाधा न देता—बड़े-बड़े काव्यों के सम्बन्ध में इस अत्यन्त छोटे समालोचक की निन्दा-प्रशंसा, टीका, भाष्य सुनकर वह विशेष आनन्द का अनुभव करता। गाँव-भर में बस यह गिरिबाला ही उसकी एक-मात्र समझदार मित्र थी।

जब गिरिबाला के साथ शशिभूषण का प्रथम परिचय हुआ था, तब गिरि की उम्र आठ थी। इस समय उसकी अवस्था दस वर्ष की हो गई थी। इन दो सालों में उसने अंग्रेजी और बँगला वर्णमाला सीखकर दो-चार सरल पुस्तकें भी पढ़ डाली थीं। और शशिभूषण को भी गँवई गाँव के ये दो वर्ष नितान्त निस्संग नीरस न लगे।

: २ :

किन्तु गिरिबाला के पिता हरकुमार के साथ शशिभूषण का अच्छी तरह मेल भी नहीं हो सका। हरकुमार शुरू-शुरू में इस एम० ए०, बी० एल० के पास मामले-मुकद्दमे के विषय में परामर्श लेने आते। एम० ए०, बी० एल० उस पर कोई खास ध्यान न देता और कानून-विद्या के सम्बन्ध में नायब के सामने अपना अज्ञान स्वीकार करने में संकोच न करता। नायब इसको निरा कपट समझता। इस प्रकार दो वर्ष बीत गए।

इन्हीं दिनों एक उद्दण्ड आसामी को जब्त करना जरूरी हो गया। नायब महाशय ने उसके नाम भिन्न-भिन्न जिलों के भिन्न-भिन्न अपराधों और अभियोगों की नालिश जारी कर देने का मन्तव्य प्रकट करते हुए परामर्श के लिए शशिभूषण पर जरा विशेष जोर डाला। परामर्श देना तो दूर रहा; शशिभूषण ने शान्त किन्तु दृढ़ रूप में हरकुमार से दो-चार ऐसी बातें कहीं जो उनको तनिक भी मीठी नहीं लगीं।

दूसरी ओर आसामी के नाम चलाए एक भी मुकद्दमे में हरकुमार नहीं जीत पाए। उनके मन में यह धारणा दृढ़ हो गई कि शशिभूषण उस अभागे आसामी का सहायक था। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि ऐसे आदमी को गाँव से अविलम्ब भगाना होगा।

शशिभूषण ने देखा कि उनके खेत में गाएँ घुस आती हैं, उनके मटर के खेत में आग लग जाती है, उनकी जमीन की हद को लेकर झगड़ा खड़ा हो जाता है; उनके आसामी आसानी से लगान अदा नहीं करते और उल्टे उनके नाम झूठा मुकद्दमा चलाने का प्रयत्न करते हैं। यही नहीं संध्या-समय बाहर सड़क पर निकलने पर उनको पीटेंगे और रात में उनके घर-द्वार में आग लगा देंगे, इस प्रकार की चर्चा भी सुनी जाने लगी।

अंत में शान्तिप्रिय निरीह प्रकृति शशिभूषण ने गाँव छोड़कर कलकत्ता भाग जाने की तैयारी की।

यात्रा की तैयारी कर ही रहे थे कि इसी बीच गाँव में ज्वाइंट मजिस्ट्रेट साहब का तम्बू तन गया। बन्दूकधारी कॉन्स्टेबल, खानसामा, कुत्ता, घोड़ा, सईस, मेहतर से सारे गाँव में हलचल मच गई। लड़कों की टोली बाघ के अनुवर्ती शृगाल के झुण्ड के समान साहब के अड्डे के पास शङ्कित कौतूहल से चक्कर काटने लगी।

नायब महाशय यथारीति आतिथ्य खाते में खर्च लिखकर साहब के लिए मुर्गी, अण्डा, घृत, दूध की व्यवस्था करने लगे। ज्वाइंट साहब को जितनी खाद्य-सामग्री की आवश्यकता थी नायब महाशय ने मुक्तचित्त से उसकी अपेक्षा बहुत अधिक जुटा दी थी, किन्तु जब प्रातःकाल साहब का मेहतर आकर साहब के कुत्ते के लिए एकदम चार सेर घी का आदेश कर बैठा तब कुग्रहवश वे उसे सहन नहीं कर सके। उन्होंने मेहतर को उपदेश दिया कि यद्यपि साहब का कुत्ता देशी कुत्ते की अपेक्षा बहुत सारा घी बिना कष्ट के हज़म कर सकता है तथापि इतनी ज्यादा मात्रा में स्नेह पदार्थ उसके स्वास्थ्य के लिए कल्याणजनक नहीं होगा। उसे घी नहीं दिया।

मेहतर ने जाकर साहब को जताया कि वह नायब के पास इस बात का पता करने गया था कि कुत्ते के लिए मांस कहाँ से मिल सकता है, किन्तु जाति का मेहतर होने के कारण नायब ने उसे अवज्ञापूर्वक सब लोगों के देखते-देखते दूर भगा दिया। यही नहीं, उसे साहब के प्रति भी उपेक्षा प्रदर्शित करते संकोच नहीं हुआ।

एक तो ब्राह्मण का जात्यभिमान साहब लोगों को यों ही असह्य लगता है, तिस पर उनके मेहतर का अपमान करने का साहस कर डाला; इसलिए उन्हें अपने धैर्य की रक्षा करना असम्भव हो उठा। तुरन्त चपरासी को आदेश दिया, "बुलाओ नायब को।"

नायब कँपकँपाते दुर्गा का नाम जपते-जपते साहब के तम्बू के सामने

आ खड़े हुए। साहब ने चर-मर चर-मर करते हुए तम्बू से बाहर आकर नायब से उच्च स्वर में विलायती उच्चारण में प्रश्न किया, "टुमने किस कारण से अमारे मेठर को भगा डिया।"

हरकुमार ने घबराकर हाथ जोड़ते हुए बताया, साहब के मेहतर को भगा दें, ऐसा दुस्साहस उनके लिए कभी भी संभव नहीं। हाँ, कुत्ते के लिए एकदम चार सेर घी माँग बैठने पर पहले तो उन्होंने उक्त चतुष्पद के मंगल के लिए विनम्र भाव से आपत्ति प्रकट की, फिर बाद में घी जमा करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में लोग भेज दिए।

साहब ने पूछा, "किसको भेजा गया है और कहाँ भेजा गया है ?" हरकुमार ने फौरन जो नाम मुँह में आए, बता दिए। उन नामों के लोग उन-उन गाँवों में घी लेने के लिए गए हैं या नहीं, इसका पता लगाने के लिए तुरन्त आदमी भेजकर साहब ने नायब को तम्बू में बैठा लिया।

तीसरे पहर लौटकर दूतों ने साहब को बताया, घी जमा करने कोई कहीं नहीं गया। नायब की सारी बात झूठ है और मेहतर ने सच ही कहा है। इसमें हाकिम को अब और सन्देह नहीं रहा। तब ज्वाइंट साहब ने क्रोध से गर्जते हुए मेहतर को बुलाकर कहा, "इस साले के कान पकड़कर तम्बू के चारों ओर घुड़दौड़ कराओ!" मेहतर ने जरा भी देर न करके चारों ओर घिरे लोगों की भीड़ के बीच साहब के आदेश का पालन किया।

देखते-देखते बात घर-घर फैल गई। हरकुमार घर आकर भोजन त्यागकर अधमरे से होकर पड़ गए।

जमींदारी के काम के सिलसिले में नायब के ढेरों शत्रु थे, उनको इस घटना से अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ, किन्तु कलकत्ता जाने के लिए तैयार शशिभूषण ने जब यह संवाद सुना तो उनके सारे शरीर का रक्त खौल उठा। उन्हें रात-भर नींद नहीं आई।

दूसरे दिन प्रातः वे हरकुमार के घर जा पहुँचे। हरकुमार उनका हाथ पकड़कर व्याकुल भाव से रोने लगे। शशिभूषण ने कहा, "साहब के नाम मानहानि का मुकदमा चलाना होगा, मैं तुम्हारे वकील की हैसियत से लड़ूँगा।"

स्वयं मजिट्रेस्ट साहब के नाम मुकद्दमा चलाना होगा, यह सुनकर हरकुमार पहले तो भयभीत हुए, किन्तु शशिभूषण ने किसी तरह नहीं छोड़ा।

हरकुमार ने विचार करने का समय माँगा। किन्तु जब देखा, बात चारों ओर फैल गई है एवं शत्रु आनन्द प्रकट कर रहे हैं तब वे और न रह सके, शशिभूषण की शरण में गए, बोले, "भैया, सुना है तुम अकारण ही कलकत्ता

जाने की तैयारी कर रहे हो, यह तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। तुम-जैसे एक व्यक्ति के गांव में रहने से हमें कितना साहस रहता है। जैसे भी हो इस घोर अपमान से मेरा उद्धार करना होगा।"

: ४ :

जो शशिभूषण चिरकाल से लोगों की निगाह से दूर निभृत निर्जनता में अपनी रक्षा करने की चेष्टा करते आ रहे थे वे आज अदालत में आकर हाजिर हुए। मजिस्ट्रेट साहब ने उनकी नालिश सुनकर उन्हें अपने प्राइवेट कमरे में बुलाकर बड़ी खातिर करके कहा, "शशि बाबू, इस मुकद्दमे को चुपचाप मिल-जुलकर तय कर लेना अच्छा नहीं होगा क्या ?"

शशिबाबू ने मेज पर रखे कानून के एक ग्रन्थ की जिल्द पर अपनी सिकुड़ी भौंहें और क्षीण दृष्टि अत्यन्त गम्भीर भाव से गड़ाये हुए कहा, "अपने मुवक्किल को मैं ऐसा परामर्श नहीं दे सकता। वे खुले आम अपमानित हुए हैं, चुपचाप इसका फैसला कैसे हो सकता है !"

साहब ने दो-चार बातें करके समझ लिया, इस स्वल्पभाषी, स्वल्पदृष्टि व्यक्ति को आसानी से विचलित करना संभव नहीं है, कहा, "ऑलराइट, बाबू देखा जाय, कहाँ तक क्या होना है।"

यह कहकर मजिस्ट्रेट साहब मुकद्दमे पर अगली तारीख डालकर देहात में भ्रमण के लिए निकल पड़े।

इधर ज्वाइण्ट साहब ने जमींदार को पत्र लिखा, "तुम्हारे नायब ने हमारे नौकरों का अपमान करके हमारे प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की है, आशा करता हूँ तुम इसका समुचित प्रतिकार करोगे ?"

घबराकर जमींदार ने उसी वक्त हरकुमार को तलब किया। नायब ने आद्योपान्त सारी घटना खोलकर बताई। जमींदार ने अत्यन्त खीझकर कहा, "जब साहब के मेहतर ने चार सेर घी माँगा था तभी तुमने बिना कहे-सुने क्यों नहीं दे दिया। क्या तुम्हारे बाप की कमाई लगती ?"

हरकुमार अस्वीकार नहीं कर सके कि इसमें उनकी पैतृक सम्पत्ति की किसी प्रकार क्षति न होती। अपराध स्वीकार करते हुए कहा, "हमारे ग्रह खराब हैं इसीसे ऐसी दुर्बुद्धि हो गई।"

जमींदार ने कहा, "उसके बाद फिर साहब के नाम नालिश करने के लिए तुमसे किसने कहा ?"

हरकुमार ने कहा, "धर्मावतार, नालिश करने की मेरी इच्छा नहीं थी,

ये हमारे गाँव के शशि हैं उनको कहीं से कोई मुकद्दमा जुटता नहीं, उस छोकरे ने बिलकुल ज़ोर-जबरदस्ती लगभग मेरी सम्मति लिये बिना ही यह हंगामा खड़ा कर दिया है।"

सुनकर ज़मींदार शशिभूषण के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। वे समझ गए, यह तुच्छ व्यक्ति नया-नया वकील है। किसी बहाने बखेड़ा खड़ा करके साधारण लोगों के समक्ष परिचित होने की चेष्टा में है। नायब को हुकुम दिया, "तुरन्त मुकद्दमा वापिस लेकर छोटे-बड़े मजिस्ट्रेटों को ठण्डा किया जाय।"

साहब के लिए कुछ फल-मूल शीतलभोग[1] उपहार लेकर नायब ज्वॉइंट मजिस्ट्रेट के निवास-स्थान पर जाकर हाज़िर हुए। साहब को बताया, साहब के नाम मुकद्दमा चलाना उनके स्वभाव के बिलकुल विरुद्ध है; केवल शशिभूषण नामक गाँव के एक अल्पवयस्क नए वकील ने उनको एक प्रकार से बिना बताए ही इस प्रकार दुस्साहस का काम किया है। साहब शशिभूषण से बहुत रुष्ट और नायब से बहुत सन्तुष्ट हुए, क्रोध के आवेश में नायब बाबू को 'डण्ड विढान' करने के कारण वे 'ड:खिट्' हैं। साहब बँगला भाषा की परीक्षा में हाल ही में पुरस्कार प्राप्त करके साधारण लोगों के साथ परिमार्जित भाषा में वार्तालाप किया करते थे।

नायब ने कहा, "माँ-बाप कभी क्रोध करके दण्ड भी देते हैं तो कभी प्यार से गोद में भी उठा लेते हैं, इसमें सन्तान या माँ-बाप के लिए दुःख का कोई कारण नहीं है।"

इसके पश्चात् ज्वॉइंट साहब के समस्त भृत्यवर्ग को यथायोग्य पारितोषिक देकर हरकुमार देहात में मजिस्ट्रेट साहब के साथ भेंट करने गए। मजिस्ट्रेट ने उनके मुंह से शशिभूषण के दुस्साहस की बात सुनकर कहा, "मुझे भी आश्चर्य हो रहा था कि नायब बाबू को तो बराबर सज्जन के रूप में ही जानता आया हूँ, वे सबसे पहले मुझे बताकर चुपचाप फैसला कर लेने की बजाय अचानक मुकद्दमा चलायँगे, यह तो बड़ी अनहोनी बात है! अब सब समझ में आ रहा है।"

अंत में नायब से प्रश्न किया, "शशि ने कांग्रेस में भाग लिया है या नहीं?"

नायब ने अम्लानमुख से कहा, "हाँ।"

साहब अपनी साहबी बुद्धि से स्पष्ट समझ गए, यह सब कांग्रेस की ही चाल है। कोई षड्यन्त्र रचकर, 'अमृत बाजार' में लेख लिखकर गवर्नमेण्ट के साथ

---

१. बंगाल में ठाकुरजी की पूजा के लिए चढ़ाई जाने वाली मूँग-किसमिश आदि से बनी एक मिठाई। यह शाम के चार बजे होने वाली पूजा में चढ़ाई जाती है।

खटपट करने के लिए कांग्रेस के छोटे-मोटे चेले छिपे रूप में चारों ओर अवसर खोज रहे हैं। इन समस्त तुच्छ कंटकों को एकदम कुचल डालने के लिए सीधे मजिस्ट्रेट के हाथ में अधिकार नहीं दिया गया, इसलिए साहब ने भारतीय गवर्नमेण्ट को अत्यन्त दुर्बल गवर्नमेण्ट समझकर मन-ही-मन धिक्कारा। किन्तु कांग्रेसी शशिभूषण का नाम मजिस्ट्रेट के मन में बैठ गया।

: ५ :

संसार में जब बड़ी-बड़ी समस्याएँ अंकुरित होकर तेजी से बढ़ने लगती हैं तब छोटी-छोटी बातों की क्षुधित क्षुद्र जड़ें भी जगत् में अपना अधिकार जताए बिना नहीं रहतीं।

शशिभूषण जब इस मजिस्ट्रेट के झमेले को लेकर विशेष व्यस्त थे, जब विस्तृत पोथी-पत्रों से कानून उद्धृत कर रहे थे, मन-ही-मन वक्तृता पर शान चढ़ा रहे थे, कल्पना में साक्षी से जिरह करने बैठ जाते थे और प्रकट रूप से अदालत की भीड़ का दृश्य और युद्धपर्व के भावी अध्यायों की मन में कल्पना करके प्रतिक्षण कम्पित और स्वेदयुक्त हो उठते थे, तभी उनकी क्षुद्र छात्री अपने फटे चारुपाठ और स्याही-रंजित लिखने की कापी बगीचे से कभी फूल, कभी फल, माता के भाण्डार में से किसी दिन अचार, किसी दिन नारियल की गरी की मिठाई, किसी दिन पत्ते में लिपटा केतकी-केशर-सुगन्धियुक्त घर में तैयार कत्था लाकर नियमित समय पर उनके द्वार पर उपस्थित हो जाती।

उसने शुरू में कई दिन देखा, शशिभूषण एक चित्रहीन विपुल कठोर आकार का ग्रन्थ खोलकर अन्यमनस्क भाव से पृष्ठ उलट रहे हैं। उसको मनोयोग से पढ़ रहे हों, ऐसा नहीं लगा। और किसी समय तो शशिभूषण जो पुस्तक पढ़ते, उसमें से कोई-न-कोई अंश गिरिबाला को समझाने की चेष्टा करते, किन्तु इस स्थूलकाय काली जिल्द वाली पुस्तक में गिरिबाला को सुनाने योग्य क्या दो बातें भी न थीं। न सही, फिर भी क्या वह पुस्तक इतनी ही बड़ी और गिरिबाला क्या इतनी ही छोटी थी!

पहले तो गुरु का ध्यान आकर्षित करने के लिए गिरिबाला ने गा-गाकर, हिज्जे बोल-बोलकर, वेणी समेत देह के ऊपरी भाग को वेग से हिला-हिलाकर उच्च स्वर में स्वयं ही पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। देखा, इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। काली मोटी पुस्तक पर मन-ही-मन अत्यन्त कुपित हुई। उसको एक कुत्सित कठोर-निष्ठुर मनुष्य के रूप में देखने लगी। यह पुस्तक गिरिबाला को बालिका समझकर उसकी नितान्त अवज्ञा करती है, उसका प्रत्येक दुर्बोध पृष्ठ

मानो दुष्ट मनुष्य की-सी मुखाकृति धारण करके नीरव रूप से यह बात प्रकट करने लगा। यदि उस पुस्तक को कोई चोर चुराकर ले जाता तो वह उसे अपनी माता के भण्डार का केवड़े से सुवासित सारा कत्था चुराकर पुरस्कार में दे देती। उस पुस्तक के विनाश के लिए उसने मन-ही-मन देवता से जो सारी असंगत और असंभव प्रार्थना की थी वह देवताओं ने नहीं सुनी और पाठकों को भी सुनाने की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। इसके बाद व्यथित-हृदय बालिका ने चारुपाठ हाथ में लेकर गुरु के घर जाना दो-एक दिन बन्द रखा। और इन्हीं दो-एक दिनों के बाद इस विच्छेद के फल की परीक्षा करके देखने के लिए उसने दूसरे बहाने से शशिभूषण के घर के सामने वाले रास्ते पर आकर कटाक्षपात करके देखा, शशिभूषण उस काली पुस्तक को पटककर अकेले खड़े हुए हाथ हिला-हिलाकर लोहे के सींखचों को संबोधित करके विदेशी भाषा में भाषण कर रहे थे। विचारपति के मन को किस प्रकार पिघलायेंगे, इन लोहे के सींखचों पर शायद उसीकी परीक्षा हो रही थी। संसार से अनभिज्ञ ग्रन्थविहारी शशिभूषण की धारणा थी कि प्राचीन काल में डेमोस्थनीज़, सिसेरो, बर्क, शेरिडन आदि वक्तागण अपने वाक्बल से जो सारे असामान्य कार्य कर गए हैं—शब्दभेदी वारवर्षण से जिस प्रकार अन्याय को छिन्न-भिन्न, अत्याचार को लांछित और अहंकार को धूलिशायी कर गए हैं, आज के इस दुकानदारी के जमाने में भी वह असंभव नहीं है। प्रभुत्व-मदगर्वित उद्धत अंग्रेज़ को वे दुनिया के सामने किस प्रकार लज्जित और अनुतप्त करेंगे, तिलकुचि गाँव के उस जीर्ण छोटे घर में खड़े होकर शशिभूषण उसीकी चर्चा कर रहे थे। आकाश के देवता सुनकर हँसे थे या उनके देवचक्षु अश्रुसिक्त हो रहे थे, यह कोई नहीं कह सकता।

फलस्वरूप उस दिन गिरिबाला उनको नहीं-दिखी; उस दिन बालिका के आँचल में जामुनें नहीं थीं; पहले एक बार जब जामुन की गुठली के कारण वह पकड़ी गई थी तभी से वह इस फल के बारे में बहुत लज्जित थी। यही नहीं यदि शशिभूषण किसी दिन निरीह भाव से पूछते, "गिरि आज जामुनें नहीं हैं ?" तो भी वह उसे गंभीर उपहास समझकर क्षोभपूर्वक "जाओ" कहकर धमकाती हुई भागने की तैयारी करती। जामुन की गुठली के अभाव में आज उसको एक युक्ति का सहारा लेना पड़ा। सहसा दूर की ओर दृष्टिपात करती हुई बालिका उच्च-स्वर से चिल्ला उठी, "स्वर्ण बहन जाना मत, मैं अभी आती हूँ।"

पुरुष पाठक सोच सकते हैं कि बात स्वर्णलता नामक किसी दूरवर्तिनी संगिनी को लक्ष्य करके उच्चरित की गई थी, किन्तु पाठिकाएँ सहज ही समझ सकेंगी कि दूर पर कोई नहीं था; लक्ष्य अत्यन्त निकट ही था। किन्तु हाय !

अन्ध पुरुष को लक्ष्य करके साधा गया वह निशाना व्यर्थ चला गया। यह नहीं कि शशिभूषण सुन नहीं पाए, वे उसका मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा, बालिका वास्तव में खेलने के लिए उत्सुक है—और उसको खेल से अध्ययन की ओर आकर्षित करने का धैर्य उनमें उस दिन नहीं था; क्योंकि वे स्वयं भी उस दिन किसी-न-किसी हृदय को लक्ष्य करके तीक्ष्ण शर-सन्धान कर रहे थे। बालिका के क्षुद्र हाथों का सामान्य लक्ष्य जिस प्रकार व्यर्थ हो गया था उनके शिक्षित हाथों का महत् लक्ष्य भी उसी प्रकार व्यर्थ हो चुका था, पाठक इस समाचार से पहले ही अवगत हो चुके हैं।

जामुन की गुठली का एक गुण यह है कि एक-एक करके ढेरों फेंकी जा सकती हैं, चार के निष्फल जाने पर अन्ततः पाँचवीं जाकर ठीक स्थान पर लग सकती है। किन्तु स्वर्ण हजार काल्पनिक हो, उसको 'अभी आती हूँ' आश्वास देकर अधिक देर तक खड़ा नहीं रहा जा सकता। खड़े रहने पर स्वर्ण के अस्तित्व के सम्बन्ध में लोगों को स्वभावतः सन्देह हो सकता है। अतएव वह उपाय जब निष्फल हो गया तब गिरिबाला को अविलम्ब चला जाना पड़ा। तथापि हृदय में स्वर्ण नामक किसी दूरस्थित सहचरी का संग-लाभ करने की अभिलाषा होने पर जिस प्रकार सवेग सोत्साह पैर बढ़ाना स्वाभाविक होता, गिरिबाला की चाल में वह नहीं दिखाई पड़ा। वह मानो अपनी पीठ द्वारा यह अनुभव करने की चेष्टा कर रही थी कि पीछे कोई आ रहा है या नहीं; जब पक्की तौर से समझ गई कि कोई नहीं आ रहा है तब उसने आशा का अन्तिम क्षीणतम भग्नांश लिये हुए एक बार पीछे फिरकर देखा और किसी को भी न देखकर उस क्षुद्र आशा को और शिथिल पत्र चारुपाठ के टुकड़े-टुकड़े करके रास्ते में बिखेर दिया। शशिभूषण ने उसको जो अल्पविद्या दी थी, यदि वह उसे किसी प्रकार लौटा सकती तो कदाचित् परित्याज्य जामुन की गुठली की भाँति वह सारी-की-सारी शशिभूषण के दरवाजे के सामने जोर से पटककर चली आती। बालिका ने प्रतिज्ञा की, दूसरी बार शशिभूषण के साथ भेंट होने के पहले ही वह सारी पढ़ाई-लिखाई भूल जायगी, वे जो प्रश्न पूछेंगे उनका वह कोई भी उत्तर नहीं दे पायेगी। किसी का—किसी का—किसी का भी नहीं! तब! तब शशिभूषण को खूब मजा मिल जायगा।

गिरिबाला के नेत्र जल से भर आए। पढ़ाई भूल जाना शशिभूषण के लिए कैसे तीव्र अनुताप का कारण होगा यह सोचकर उसने अपने पीड़ित हृदय में थोड़ी सान्त्वना का अनुभव किया और केवल मात्र शशिभूषण के दोष के कारण भविष्य की उस विस्मृतशिक्षा हतभागिनी गिरिबाला की कल्पना करके

उसके हृदय में अपने प्रति करुण रस उमड़ पड़ा। आकाश में मेघ घिरने लगे; वर्षाकाल में ऐसे मेघ प्रतिदिन छाए रहते हैं। गिरिबाला रास्ते के किनारे एक पेड़ की आड़ में खड़ी होकर मान से फूट-फूटकर रोने लगी; ऐसा अकारण रोदन प्रतिदिन न जाने कितनी बालिकाएँ करती रहती हैं। उसमें ध्यान देने की कोई बात भी नहीं थी।

: ६ :

शशिभूषण की कानूनी गवेषणा एवं वक्तृता-चर्चा किस कारण व्यर्थ हो गई, यह पाठकों से छिपा नहीं है। मजिस्ट्रेट के नाम चलाया गया मुकद्दमा अकस्मात् रद्द हो गया। हरकुमार अपने ज़िले की बेंच पर ऑनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। एक मैली अचकन और तेल में सनी पगड़ी बाँधकर अब हरकुमार प्रायः ज़िला कचहरी जाकर साहबों को नियमित रूप से सलाम कर आते हैं।

शशिभूषण की उस काली मोटी पुस्तक के प्रति गिरिबाला का अभिशाप इतने दिनों बाद फलना आरम्भ हुआ, वह निर्वासित होकर एक अँधेरे कोने में अनादृत विस्मृतभाव से धूल से ढके संग्रह में जा पहुँची। किन्तु उसका अनादर देखकर जो बालिका आनंदित होती वह गिरिबाला अब है कहाँ?

शशिभूषण जिस दिन कानूनी ग्रन्थ बन्द करके बैठे उसी दिन अचानक ध्यान आया कि गिरिबाला नहीं आई। तब एक-एक करके कई दिन का इतिहास उन्हें कुछ-कुछ याद आने लगा। याद आई कि एक दिन उज्ज्वल प्रभात में गिरिबाला आँचल भरकर नववर्षा से आर्द्र मौलश्री के फूल लाई थी। उसे देखने को भी जब उन्होंने ग्रन्थ से दृष्टि नहीं उठाई, तब उसके उच्छ्वास को सहज धक्का लगा, वह अपने आँचल में बँधा सुई-धागा निकालकर सिर झुकाए एक-एक करके फूल उठाती माला गूँथने लगी, माला बहुत धीरे-धीरे गूँथी, बहुत देर में पूरी हुई, देर हो चली, गिरिबाला के घर लौटने का समय हो गया तो भी शशिभूषण का पढ़ना समाप्त नहीं हुआ। गिरिबाला माला को चौकी पर रखकर म्लान-भाव से चली गई। याद आई—उसका मान प्रतिदिन किस प्रकार घनीभूत होता गया। कब से वह उनके कमरे में प्रवेश न करके कभी-कभी सामने वाले रास्ते पर दिखाई पड़ती और चली जाती; और अन्त में कब से बालिका ने उस रास्ते पर आना भी बन्द कर दिया; इस बात को भी तो आज कई दिन हो गए। गिरिबाला का मान इतने दिनों तक तो स्थायी नहीं रहता था। शशिभूषण लम्बी साँस छोड़कर हतबुद्धि कर्महीन के समान दीवाल से पीठ लगाकर बैठे रहे। क्षुद्र छात्री के न आने से उनके पाठ्यग्रन्थादि नितान्त नीरस हो उठे। पुस्तकें निकाल-

निकालकर दो-चार पन्ने पढ़कर छोड़ देनी पड़तीं। लिखते-लिखते प्रतिक्षण चौंक-चौंककर घर के सामने वाले रास्ते की ओर प्रतीक्षापूर्ण दृष्टि चली जाती और लिखना रुक जाता।.

शशिभूषण को आशंका हुई, गिरिबाला अस्वस्थ न हो गई हो। चुपचाप पता लगाकर मालूम किया, वह आशंका निर्मूल थी। अब गिरिबाला घर से बाहर ही नहीं निकलती। उसके लिए वर तय हो गया है।

गिरि ने जिस दिन चारुपाठ के टुकड़ों को गाँव के धूल-भरे मार्ग में बिखेर दिया था उसके दूसरे दिन सवेरे अपने क्षुद्र आँचल में विचित्र उपहार इकट्ठे करके वह बड़े वेग से घर से बाहर आ रही थी। अत्यन्त गर्म हवा के कारण निद्राहीन रात बिताकर हरकुमार तड़के से ही नंगे बदन बाहर बैठे हुक्का पी रहे थे। गिरि से पूछा, "कहाँ जाती है ?" गिरि ने कहा, "शशि भैया के घर !" हरकुमार ने धमकाते हुए कहा, "शशि भैया के घर जाने का कोई काम नहीं, घर लौट जा !" यह कहकर जल्दी ही ससुराल जाने वाली वयस्का कन्या में लज्जा के अभाव को लेकर खूब डाँटने-फटकारने लगे। उस दिन से उसका बाहर निकलना बन्द हो गया। फिर उसके मान-भंग करने का और कोई अवसर नहीं मिला। अमावट, केवड़े से सुवासित कत्था, नींबू का अचार भण्डार में यथास्थान लौट गए। वर्षा होने लगी, मौलश्री के फूल झरने लगे, पके अमरूदों से पेड़ भर उठे एवं पक्षी-चञ्चु-क्षत सुपक्व काली जामुनें डाल से गिरकर प्रतिदिन पेड़ के नीचे इकट्ठी होने लगीं। हाय ! वह छिन्नप्राय चारुपाठ भी तो अब नहीं था।

गाँव में गिरिबाला के विवाह के दिन जब शहनाई बज रही थी उस दिन अनिमन्त्रित शशिभूषण नाव पर चढ़कर कलकत्ता की ओर चले जा रहे थे।

मुकद्दमा वापिस ले लेने के बाद से हरकुमार शशि को विषभरी नज़र से देखते थे। क्योंकि उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि शशि उनसे अवश्य घृणा करता है। शशि के हाव-भाव, व्यवहार में वे उसके हज़ारों काल्पनिक रूप देखने लगे। गाँव के सभी लोग उनके अपमान की बात धीरे-धीरे भूल रहे थे, केवल एक शशिभूषण उस दुःस्मृति को जीवित रखे हुए है, यह सोचकर वे उसको फूटी आँख भी नहीं देख पाते थे। उससे भेंट होते ही उनके अन्तःकरण में एक सलज्ज संकोच और साथ ही एक प्रबल विद्वेष की भावना का संचार होता। शशि को गाँव से हटाना होगा, हरकुमार यह प्रतिज्ञा कर बैठे थे।

शशिभूषण-जैसे व्यक्ति को गाँव से निकालने का काम कोई ऐसा कठिन नहीं

था। नायब महाशय का उद्देश्य बहुत शीघ्र ही सफल हो गया। एक दिन सवेरे पुस्तकों का बोझ और दो-चार टीन के बक्स संग लेकर शशि नौका पर सवार हुए। गाँव के साथ उनका जो एक सुख का बन्धन था वह भी आज धूमधाम से टूट रहा था। सुकोमल बन्धन ने कितनी दृढ़ता से उनके हृदय को वेष्टित करके पकड़ रखा था इसको वे पहले संपूर्ण रूप से नहीं जान सके थे। आज जब नौका रवाना हुई, ग्राम के वृक्षों की चोटियाँ अस्पष्ट हो चलीं और उत्सव की वाद्य-ध्वनि क्षीणतर, तब सहस्र आँसुओं के उच्छ्वास से उनका हृदय स्फीत हो उठा और गला रुंध गया, रक्त की गति के वेग से मस्तक की शिराएँ झनझना उठीं और सम्पूर्ण जगत् के सारे दृश्य छायानिर्मित माया-मरीचिका के समान अत्यन्त अस्पष्ट प्रतीत होने लगे।

प्रतिकूल पवन भारी वेग से चल रहा था, इस कारण धारा के अनुकूल होने पर भी नौका धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। इसी समय नदी में एक ऐसी घटना घटी जिससे शशिभूषण की यात्रा में बाधा पड़ गई।

स्टेशन घाट से सदर महकमे तक एक नई स्टीमर लाइन हाल में ही शुरू हुई थी। दूसरी ओर से वही स्टीमर पंख फैलाए शोर मचाता, लहरें उठाता आ रहा था। जहाज में नई लाइन के अल्पवयस्क मैनेजर साहब और कुछेक यात्री थे। यात्रियों में से कोई-कोई शशिभूषण के गाँव से बैठे थे।

एक महाजन की नौका कुछ दूर से स्टीमर से होड़ लेने का यत्न करती चली आ रही थी, कभी-कभी वह बराबर आती लगती थी, कभी-कभी पीछे रह जाती थी। धीरे-धीरे माझी पर ज़िद सवार हो गई। उसने पहले पाल के ऊपर दूसरा पाल और फिर दूसरे पाल के ऊपर छोटा तीसरा पाल तक लगा दिया। हवा के वेग से सुदीर्घ मस्तूल सामने झुक गया, एवं विदीर्ण तरंग-राशि मधुर अट्टहास से नौका के दोनों ओर उन्मत्त भाव से नृत्य करने लगी। उस समय नौका लगाम टूटे घोड़े की तरह भाग चली। एक स्थान पर स्टीमर का रास्ता कुछ टेढ़ा था। वहीं से छोटा मार्ग अवलम्बन कर के नौका स्टीमर से आगे निकल गई। मैनेजर साहब आग्रहपूर्ण भाव से रेलिंग के ऊपर झुके हुए नौका की इस प्रतियोगिता को देख रहे थे। जब नौका अपनी पूरी गति पर आ रही थी, और स्टीमर दो-एक हाथ पीछे छूट चुका था, तभी साहब ने हठात् एक बन्दूक उठाकर फूले हुए पाल का निशाना लेकर गोली चला दी। पलक मारते पाल फट गया, नौका डूब गई और स्टीमर नदी के मोड़ में अदृश्य हो गया।

मैनेजर ने ऐसा क्यों किया, यह कहना कठिन है। अंग्रेज़ों के मन का

भाव हम बंगाली भली-भाँति नहीं समझ सकते। कदाचित् देशी पाल की प्रतियोगिता वह सहन नहीं कर सका, अथवा एक स्फीत विस्तीर्ण वस्तु को बन्दूक की गोली द्वारा एक पलक मे विदीर्ण करने का हिंस्र प्रलोभन रहा हो या शायद उस गर्वीली नौका के पाल मे कई छेद करके क्षण-भर मे उसकी संतरण-लीला समाप्त कर देने में एक भयानक पैशाचिक मनोरंजन का भाव रहा हो, निश्चित नही जानता। किन्तु यह निश्चय है, अंग्रेज के मन के भीतर एक विश्वास था कि इस परिहास के लिए वह किसी प्रकार के दण्ड का भागी नही था—और उसकी धारणा थी कि जिनकी नौका गई और सम्भवतः जिनके प्राण भी संशय मे पड़ गए हों उनकी गणना मनुष्यों मे नही हो सकती।

साहब ने जिस समय बन्दूक उठाकर गोली चलाई और नौका डूबी उस समय शशिभूषण की छोटी नाव घटनास्थल के पास थी। उपर्युक्त सारी घटना शशिभूषण ने प्रत्यक्ष देखी थी।

चटपट अपनी नाव ले जाकर उन्होंने मछुआरों और मल्लाहों का उद्धार किया। केवल एक व्यक्ति जो भीतर बैठकर रसोई के लिए मसाला पीस रहा था, वह फिर नही दिखाई पड़ा। वर्षा की नदी द्रुत गति से बह चली।

शशिभूषण के हृदय का रक्त खौलने लगा। कानून अत्यन्त मन्द गति वाला है—वह एक विशाल जटिल लौहयंत्र के समान है, वह तोलकर प्रमाण ग्रहण करता है और निर्विकार भाव से दंड-विभाग कर देता है, उसमे मानव-हृदय की गर्मी नही है। किन्तु क्रोध से दण्ड को अलग कर देना शशिभूषण को उतना ही अस्वाभाविक लगा, जितना भूख से भोजन तथा इच्छा से उपभोग को अलग करना। अनेक अपराध है जिन्हे प्रत्यक्ष देखते ही तत्क्षण अपने हाथ से उनका दण्ड-विधान न करने से अंतर्यामी विधाता पुरुष मानो अन्तर में रहकर प्रत्यक्षदृष्टा को दग्ध करते रहते है। ऐसे समय कानून की बात याद करके सान्त्वना कर लेने से हृदय लज्जा का अनुभव करता है। किन्तु मशीन का कानून और मशीन का जहाज मैनेजर को शशिभूषण के पास से दूर ले गया। उससे संसार के और लोगों का क्या उपकार हुआ नही कह सकता, किन्तु उस यात्रा से निस्सन्देह शशिभूषण की भारतवर्षीय प्लीहा की रक्षा हो गई।

माझी-मल्लाह जो बच गए उनको लेकर शशि गाँव लौट आए। नौका में पाट लदा था, उस पाट के उद्धार के लिए लोग नियुक्त कर दिए और माझी से मैनेजर के विरुद्ध पुलिस मे दरख्वास्त देने का अनुरोध किया।

माझी किसी प्रकार भी सहमत नही हुआ। उसने कहा, नाव तो डूब गई, अब अपने को नहीं डुबा सकता। पहले तो पुलिस को भेंट देनी पड़ेगी, उसके बाद

काम-काज, आहार-निद्रा त्यागकर अदालत के चक्कर काटने पड़ेंगे; उसके बाद साहब के नाम नालिश करके किस विपत्ति में पड़ना होगा और क्या फल प्राप्त होगा, सो भगवान् ही जाने। अन्त में जब उसको मालूम हुआ कि शशिभूषण स्वयं वकील हैं और अदालत का खर्चा वे स्वयं वहन करेंगे एवं मुकद्दमे में आगे चलकर हर्जाना पाने की पूरी संभावना है तब वह राजी हो गया। किन्तु शशिभूषण के गाँव के जो लोग स्टीमर पर उपस्थित थे वे किसी भी प्रकार गवाही देना नहीं चाहते थे। उन्होंने शशिभूषण से कहा, "श्रीमान्‌जी, हमने कुछ भी नहीं देखा; हम जहाज के पिछले भाग में थे, मशीन की फट-फट और जल की कल-कल ध्वनि में वहाँ से बन्दूक की आवाज सुनने की भी कोई संभावना नहीं थी।"

देश के लोगों को हृदय से धिक्कारते हुए शशिभूषण ने मजिस्ट्रेट के यहाँ मुकद्दमा चलाया।

साक्षी की कोई जरूरत नहीं हुई। मैनेजर ने स्वीकार कर लिया कि उसने बन्दूक चलाई थी। कहा, "आकाश में एक बगुलों का झुण्ड उड़ रहा था उसीकी ओर निशाना लगाया था। स्टीमर उस समय पूरे वेग से चल रहा था और उसी समय नदी के मोड़ की आड़ में प्रविष्ट हुआ था। इसलिए वह जान भी नहीं पाए कि कौआ मरा, या बगुला मरा या नौका डूबी। आकाश और धरती पर शिकार खेलने की इतनी चीजें हैं कि कोई बुद्धिमान व्यक्ति इच्छापूर्वक 'डर्टी रैग' अर्थात् मैले चिथड़े पर कौड़ी के मोल का कण भी अपव्यय नहीं कर सकता।"

रिहाई पाकर बेकसूर मैनेजर साहब चुरट पीते हुए क्लब में ह्विस्ट खेलने चले गए; जो व्यक्ति नाव में मसाला पीस रहा था उसकी मृतदेह नौ मील दूर पर किनारे आकर लगी और शशिभूषण जी की जलन लिये अपने गाँव लौट आए।

जिस दिन लौटकर आए उस दिन नौका सजाकर गिरिबाला को ससुराल ले जाया जा रहा था। यद्यपि उनको किसी ने बुलाया न था तथापि शशिभूषण धीरे-धीरे नदी के किनारे आ उपस्थित हुए। घाट पर लोगों की भीड़ थी, वहाँ न जाकर कुछ दूर पर आगे बढ़कर खड़े हो गए। जब नौका घाट छोड़कर उनके सामने से निकल गई तब मानो चौंककर उन्होंने देखा—मुँह पर घूँघट डाले नववधू सिर झुकाए बैठी है। बहुत दिनों से गिरिबाला को आशा थी कि गाँव छोड़कर जाने से पहले किसी-न-किसी प्रकार एक बार शशिभूषण से भेंट होगी, किन्तु आज वह जान भी न सकी कि उसके गुरु पास ही किनारे पर खड़े हैं। उसने एक बार मुँह उठाकर भी नहीं देखा, केवल नीरव रुदन से उसके कपोलों पर से अश्रु-जल ढुलकने लगा।

नौका क्रमशः दूर जाकर अदृश्य हो गई। जल के ऊपर प्रभात की धूप

खिलखिलाने लगी, धान की आम की डाली पर एक पपीहा उच्छ्वसित कण्ठ से बार-बार गाना गाकर मन के आवेग को किसी भी प्रकार समाप्त नहीं कर सका। नावें लोगों को चढ़ाकर एक पार से दूसरे पार जाने-आने लगीं, घाट पर जल लेने आई हुई स्त्रियों ने उच्च मधुर स्वर से गिरि की ससुराल-यात्रा की चर्चा शुरू कर दी, शशिभूषण ने चश्मा उतारकर अपनी आँखें पोंछकर उसी रास्ते के किनारे सींखचे वाले उसी छोटे कमरे में जाकर प्रवेश किया। सहसा एक बार उन्हें लगा मानो गिरिबाला की आवाज सुनाई दी हो, "शशि भैया!"—कहाँ है? अरे कहाँ है? कहीं भी नहीं। न उस घर में, न उस सड़क पर, न उस गाँव में, वह तो उनके अश्रु-जल से अभिषिक्त अन्तर में है।

· ८ ·

शशिभूषण फिर सामान बाँधकर कलकत्ता की ओर रवाना हुए। कलकत्ता में कोई काम नहीं था, न वहाँ जाने का कोई विशेष उद्देश्य था, इसीलिए रेल से न जाकर उन्होंने बराबर नाव से ही जाने का निश्चय किया।

उस समय वर्षा की भरन से बंगाल में चारों ओर छोटी-बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी हजारों जल-धाराओं का जाल बिछा हुआ था। सरस श्यामल बङ्गभूमि की समस्त धमनियाँ मानो परिपूर्ण होकर तरु-लता, तृण-गुल्म, झाड़-झाड़ियों, धान-पाट-ईख से दसों दिशाओं में उन्मत्त यौवन के प्राचुर्य से बिलकुल उद्दाम उच्छृङ्खल हो उठी हों।

शशिभूषण की नाव उन्हीं समस्त संकीर्ण वक्र जल-स्रोतों में होकर चलने लगी। उस समय जल किनारे से एकसार हो गया था। काँस का वन सरकण्डे का वन और कहीं-कहीं अनाज के खेत जलमग्न हो गए थे। गाँव का बेड़ा, बाँस-झाड़ और आम का बाग मानो जल के किनारे आकर खड़े हो गए थे—देवकन्याओं ने मानो बंगाल के वृक्षों के थालों को जल-सिंचन से परिपूर्ण कर दिया हो।

यात्रा के शुरू में स्नात-स्निग्ध वनश्री धूप से अपनी उज्ज्वल मुस्कान बिखेर रही थी, थोड़ी देर बाद ही बादल घिर आए और वर्षा आरम्भ हो गई। उस समय जिधर भी दृष्टि जाती वहीं विषण्णता और मलिनता दिखाई देती। बाढ़ आने पर जिस प्रकार गाएँ जल से घिरे मलिन पंकिल संकीर्ण गोष्ठ प्रांगण में जमा होकर सहिष्णुभाव से खड़ी-खड़ी करुण नेत्रों से सावन की मूसलधार वर्षा में भीगती रहती हैं, उसी प्रकार बंगाल अपने कीचड़ की फिसलन वाले घनसिक्त बन्द जंगल में मूक म्लानमुख होकर पीड़ित भाव से लगातार भीगने लगा। बाँस की टोपियों से सिर ढाँके किसान बाहर निकल आए थे, स्त्रियाँ भीगती

हुई वर्षा की शीतल वायु में सिकुड़ती हुई एक झोंपड़ी से दूसरी झोंपड़ी में घर के काम से आ-जा रही थीं, और रपटीले घाट पर अत्यन्त सावधानी से पैर रखती हुई भीगे कपड़े पहने जल भर रही थीं, और गृहस्थ लोग बरामदे में बैठे हुक्का पी रहे थे, काम के मारे लाचार होने पर कमर से चादर लपेटकर हाथ में जूते लेकर सिर पर छाता ताने बाहर निकल रहे थे—अबला रमणी के सिर पर छाता इस ताप-दग्ध वर्षा-प्लावित बंगदेश की सनातन पवित्र प्रथा में सम्मिलित नहीं है।

वर्षा जब किसी भी प्रकार बन्द नहीं हुई तब बन्द नाव में बैठे-बैठे ऊबकर शशिभूषण ने दुबारा रेल से ही आना तय किया। एक जगह एक चौड़े मुहाने की-सी जगह पर पहुँचकर शशिभूषण नाव बाँधकर भोजन की व्यवस्था करने लगे। लंगड़े का पैर गड्ढे में ही पड़ता है। इसमें केवल गड्ढे की गलती नहीं है, लंगड़े के पैर को भी गिरने का एक विशेष सम्मान होता है। शशिभूषण ने उस दिन इसका प्रमाण दिया।

दो नदियों के मुहाने के सामने बाँस गाड़कर मछुआरों ने एक बड़ा जाल फैलाया था। केवल एक ओर नौकाओं के आने-जाने के लिए जगह छोड़ दी थी। बहुत समय से वे यह काम करते आ रहे थे और इसके लिए कर भी देते थे। दुर्भाग्य से इस वर्ष इस रास्ते अकस्मात् जिले के पुलिस सुपरिन्टेण्डेंट बहादुर का शुभागमन हुआ। उनकी नाव को आते देखकर मछुआरों ने पहले से ही पास के रास्ते का संकेत करते हुए ऊंची आवाज में उसे सावधान कर दिया। किन्तु साहब के मल्लाहों को मनुष्य-रचित किसी भी रुकावट के प्रति सम्मान प्रदर्शन करके चक्कर काटकर जाने का अभ्यास नहीं था। उन्होंने उस जाल के ऊपर से ही नाव चला दी। जाल ने झुककर नाव को तो रास्ता दे दिया। किन्तु उसकी पतवार उलझ गई। कुछ देर तक चेष्टा करके पतवार को छुड़ाना पड़ा।

पुलिस साहब ने बड़े गरम होकर लाल पड़ते हुए नाव रोक ली। उनकी मूर्ति देखते ही चारों मछुआरे हाँफते हुए भाग निकले। साहब ने अपने मल्लाहों को जाल काटकर फेंकने का आदेश दिया। उन्होंने सात-आठ सौ रुपये के उस बड़े जाल को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

जाल के ऊपर अपना क्रोध निकाल चुकने के बाद अन्त में मछुआरों को पकड़कर ले आने का आदेश हुआ। उन चार भगोड़े मछुआरों का पता न पाने पर कान्स्टेबल, जो चार जने हाथ लगे उन्हींको पकड़ लाये। वे अपने को निरपराध बताते हुए हाथ जोड़कर रोने-गिड़गिड़ाने लगे। पुलिस बहादुर जब उन बन्दियों को साथ ले चलने का हुक्म दे रहे थे, तभी चश्मा लगाये शशि-

भूषण जल्दी से एक कुरता पहन कर बिना बटन लगाये चट्टियाँ चटकारते हाँफते हुए पुलिस की नाव के सामने आ उपस्थित हुए। कम्पित स्वर में बोले "सर, आपको मछुआरों का जाल काटने और इन चार व्यक्तियों को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है।"

पुलिस के बड़े साहब द्वारा उनके प्रति हिन्दी में एक विशेष असम्मान-सूचक बात कहते ही वे पलक मारते-मारते उस ऊँची-सी कगार से नाव में कूद पड़े और एकाएक साहब के ऊपर टूट पड़े। वे बालक की भाँति, पागल की भाँति मारने लगे।

उसके पश्चात् क्या हुआ, इसका उन्हें कुछ पता नहीं। जब पुलिस-थाने मे वे जागे तो, कहते संकोच का अनुभव होता है, उन्हें जिस प्रकार का व्यवहार मिला उससे मानसिक सम्मान या शारीरिक आराम अनुभव नही हुआ।

: ६ :

शशिभूषण के पिता ने वकील-बैरिस्टर लगाकर पहले तो शशि को हवालात से जमानत पर छुड़ाया। उसके बाद मुकद्दमे की तैयारी होने लगी।

जिन मछुआरों का जाल नष्ट हुआ था, वे शशिभूषण के परगने के अंतर्गत एक जमींदार के अधीन थे। संकट के समय कभी-कभी वे शशिभूषण के पास कानून का परामर्श लेने भी आया करते थे। जिनको साहब पकड़कर नाव में ले गए थे वे भी शशिभूषण के लिए अपरिचित नहीं थे।

शशि ने उनको गवाही देने के लिए बुलवाया। वे भय से विचलित हो उठे। स्त्री-पुत्र-परिवार लेकर जिनको जीवन-यात्रा करनी पड़ती है पुलिस के साथ झगड़ा करके उन्हें कहां शरण मिल सकती है। किसकी गरदन पर दो सिर हैं। जो नुकसान होना था सो तो हो ही गया, तिस पर अब गवाही का सम्मन निकलवाना, यह कैसी मुसीबत है? सभी ने कहा, "पण्डितजी तुमने तो हम लोगों को बड़ी आफत में डाल दिया!"

बहुत कहने-सुनने के बाद उन्होंने सच्ची बात कहना स्वीकार किया।

इस बीच जिस दिन हरकुमार बेञ्च के काम के सिलसिले में ज़िले के साहब लोगों को सलाम करने गए, पुलिस के साहब हँसकर बोले, "नायब बाबू, सुना है तुम्हारे आसामी पुलिस के विरुद्ध झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो गए हैं।"

नायब ने चकित होकर कहा, "अच्छा! यह कैसे हो सकता है? पतित पशुजाति के बच्चों की हड्डियों में इतना दम!"

समाचार-पत्रों के पाठक जानते हैं, शशिभूषण के पक्ष में मुकद्दमा किसी भी प्रकार नहीं टिक सका।

मछुआरों ने आकर एक-एक करके कहा कि पुलिस के साहब ने उनका जाल नहीं काटा, नाव में बुलाकर उनका नाम-पता लिख रहे थे।

केवल यही नहीं, उनके गाँव के ही प्रायः चार परिचित लोगों ने गवाही दी कि वे उस समय घटनास्थल पर विवाह की बारात के उपलक्ष्य में उपस्थित थे। शशिभूषण ने अकारण ही आगे बढ़कर पुलिस के पहरे वालों से फ़िसाद किया, यह उन्होंने प्रत्यक्ष देखा है।

शशिभूषण ने स्वीकार किया कि गाली खाने पर उन्होंने नाव में पहुँचकर साहब को मारा था। किन्तु उसका मूल कारण था जाल का कटना और मल्लाहों के प्रति अन्याय।

ऐसी स्थिति में बेचारे शशिभूषण को सज़ा हो गई, इसे अन्याय नहीं कहा जा सकता। जो हो, दण्ड कुछ भारी हो गया। तीन-चार अभियोग-आघात, अनधिकार प्रवेश, पुलिस के कर्त्तव्य में बाधा इत्यादि, उनके विरुद्ध सभी कुछ प्रमाणित हो गए।

शशिभूषण अपने उसी छोटे घर में अपने प्रिय पाठ्य-ग्रन्थों को छोड़कर पाँच साल की जेल भुगतने चले गए। उनके पिता अपील करने के लिए तैयार हुए तो शशिभूषण ने बारंबार मना किया; बोले, "जेल अच्छी! लोहे की बेड़ियाँ झूठ नहीं बोलतीं, किन्तु जेल के बाहर जो स्वाधीनता है वह हम लोगों को प्रता-ड़ित करके विपद में डाल देती है। और यदि सत्सङ्ग की बात कहो तो जेल के भीतर मिथ्यावादी, कृतघ्न, कापुरुषों की संख्या कम है, क्योंकि स्थान सीमित है बाहर बहुत ज्यादा है।"

: १० :

शशिभूषण के जेल जाने के कुछ ही समय बाद उनके पिता की मृत्यु हो गई। उनके और कोई गुरुजन नहीं था। एक भाई थे, जो बहुत समय से सेण्ट्रल प्रॉविन्स में काम करते थे, गाँव आने का उनको अधिक मौका नहीं मिलता था। वे घर बनाकर वहीं स्थायी रूप से सपरिवार बस गए थे। गाँव में जो जायदाद-सम्पत्ति थी नायब हरकुमार ने उसका अधिकांश नाना कौशलों द्वारा हड़प लिया।

जेल में अधिकांश कैदियों को जितना दुःख भोगना पड़ता है, शशिभूषण को दैव-विपाक से उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा सहन करना पड़ा। तथापि लम्बे

पाँच वर्ष कट गए।

एक बार फिर वर्षा के दिन जीर्ण शरीर और शून्य हृदय लेकर शशिभूषण कारागार की प्राचीर के बाहर आ खड़े हुए। स्वाधीनता पाई, किन्तु उसे छोड़कर जेल के बाहर उनका और कोई अथवा और कुछ नहीं था। गृहहीन, आत्मीयहीन, समाजहीन उन अकेले के लिए इतना बड़ा विस्तृत जगत् अत्यन्त अनुपयुक्त लगने लगा।

जीवन-यात्रा के टूटे सूत्र को फिर कहाँ से शुरू करें वे जब सोच रहे थे तभी एक बड़ी बग्घी उनके सामने आकर खड़ी हो गई। एक भृत्य ने नीचे उतरकर पूछा, "आपका नाम है शशिभूषण बाबू ?"

उन्होंने कहा, "हाँ।"

तत्क्षण गाड़ी का दरवाजा खोलकर वह उनके प्रवेश की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया।

आश्चर्य मे पड़कर उन्होंने प्रश्न किया, "मुझे कहाँ चलना होगा ?"

उसने कहा, "मालिक ने आपको बुलाया है।"

राहगीरों के कौतूहलपूर्ण दृष्टिपात के असह्य हो जाने के कारण वे वहाँ और अधिक पूछ-ताछ न करके गाड़ी मे बैठ गए। उन्होंने सोचा, अवश्य ही इसमें कोई भ्रम हुआ है। किन्तु किसी-न-किसी ओर तो जाना ही होगा—और इसी प्रकार भ्रम से ही इस नवीन जीवन की भूमिका आरम्भ हो।

उस दिन भी बादल और धूप सम्पूर्ण आकाश में एक-दूसरे का शिकार करते फिर रहे थे; पथ के किनारे वर्षा के जल-प्लावित गहरे काले धान के खेत चंचल छायालोक से विचित्र हो उठते थे। हाट के पास एक बड़ा रथ पड़ा था। और उसके पास मोदी की दुकान पर वैष्णव भिक्षुओं का एक दल गपीयंत्र (गोपीयंत्र)[1] और खोल-करताल के साथ गीत गा रहा था—

आओ आओ लौट आओ—हे नाथ लौट आओ !
हमारा चित्त क्षुधित तृषित तापित है, हे बंधु ! लौट आओ !

गाड़ी अग्रसर हुई, गीत की पंक्तियाँ क्रमशः दूर से दूरतर होती हुई कानों में प्रवेश करने लगीं।

ओ निष्ठुर, लौट आओ ! हे मेरे करुण कोमल ! आओ !
ओ सजल जलद स्निग्ध कान्त सुन्दर, लौट आओ !

गीत के शब्द क्रमशः क्षीणतर, अस्पष्टतर होते गए, फिर समझाई नहीं आए। किन्तु गीत के छन्द ने शशिभूषण के हृदय में एक आन्दोलन मचा दिया

१. एक तारयुक्त वाद्ययंत्र—एकतारा।

वे मन-ही-मन गुनगुनाते हुए पद-पर-पद रचते हुए छन्द-योजना करने लगे, मानो किसी भी प्रकार अपने को रोक न पाते हों—

मेरे नित्य सुख, लौट आओ ! मेरे चिर दुख लौट आओ !
मेरे सब-सुख-दुख-मन्थन-धन, अन्तर में लौट आओ !
मेरे चिरवाञ्छित, आओ ! मेरे चिरसञ्चित, आओ !
हे चञ्चल, हे चिरंतन, भुज बन्धन में लौट आओ !
मेरे हृदय में लौट आओ, मेरे नयन में लौट आओ !
मेरे शयन, स्वप्न, वसन, भूषण निखिल भुवन में आओ !
मेरी मुस्कान में आओ !
मेरे नयनों के जल में आओ !
मेरे प्यार में, मेरी छलना में,
मेरे मान में लौट आओ !
मेरे सर्वस्मरण में आओ, मेरी सर्वभ्रान्ति में आओ—
मेरे धरम, करम, सुहाग, शरम, जनम, मरण में आओ !

गाड़ी जब एक प्राचीरवेष्टित उद्यान में प्रविष्ट होकर एक दुमंज़िली अट्टालिका के सामने ठहरी तब शशिभूषण का गीत रुका।

वे बिना कोई प्रश्न किये भृत्य के आदेशानुसार घर में प्रविष्ट हुए।

जिस कमरे में आकर वे बैठे उसके चारों ओर बड़ी-बड़ी काँच की अलमारियों में विविध रंगों की विविध जिल्दों की पुस्तकें पंक्तिबद्ध सजी हुई थीं। यह दृश्य देखते ही उनका पुराना जीवन फिर कारामुक्त होकर बाहर आ गया। सोने के पानी से अंकित नाना रंगों में रँगी ये पुस्तकें उन्हें आनन्द-लोक में प्रवेश करने के लिए सुपरिचित रत्नखचित सिंहद्वार के समान प्रतीत हुईं।

मेज़ पर भी न जाने क्या-क्या चीज़ें थीं। शशिभूषण ने अपनी क्षीण दृष्टि से झुककर देखा, एक टूटी स्लेट, उसके ऊपर कई पुरानी कापियाँ, पहाड़ों की एक फटी-सी पुस्तक, कथामाला और काशीरामदास के महाभारत की एक प्रति।

स्लेट के काठ के फ्रेम के ऊपर शशिभूषण के हाथ के अक्षरों में स्याही से खूब मोटे अक्षरों में लिखा था—गिरिबाला देवी। कापी और पुस्तकों के ऊपर भी उसी एक लिखावट में वही एक नाम लिखा था। कहाँ आए हैं, शशिभूषण समझ गए। उनके हृदय में रक्तस्रोत तरंगित हो उठा। खुली हुई खिड़की से बाहर दृष्टि डाली—वहाँ क्या दिखाई पड़ा, वही छोटा सींखचों वाला कमरा, वही ऊबड़-खाबड़ गाँव का रास्ता, वही डोरिये की साड़ी पहने छोटी-सी लड़की।

और वही अपनी शान्तिमय निश्चिन्त निभृत जीवन-यात्रा।

उस दिन उस सुखी जीवन में कुछ भी असामान्य या अत्यधिक नहीं था; एक के बाद एक दिन क्षुद्र कामों में क्षुद्र सुख में अनजाने ही कट जाते थे; और उनके अपने अध्ययन-कार्य में एक बालिका छात्रा का अध्यापन-कार्य तुच्छ घटना के रूप में ही गिनने लायक था; किन्तु ग्राम-प्रदेश का वह निर्जन दिन-यापन, वह क्षुद्र शान्ति, वह क्षुद्र सुख, उस क्षुद्र बालिका का वह क्षुद्र मुख सभी जैसे स्वर्ग के समान देश-काल से बाहर पहुँच से परे केवल आकांक्षा राज्य की कल्पना छाया में विराजने लगे। उन दिनों के उन सारे चित्रों और स्मृतियों ने आज के इस वर्षा-म्लान प्रभात के आलोक के साथ और मन में मृदुगुञ्जित उस कीर्तन के गीत के साथ घुल-मिलकर एक प्रकार का संगीतमय ज्योतिर्मय अपूर्व रूप धारण कर लिया। उस जंगल से घिरे कीचड़-भरे संकीर्ण ग्राम-पथ में उस अनादृत-दुखी बालिका के मान-मलिन मुख की अन्तिम स्मृति मानो विधाता-विरचित एक असाधारण, आश्चर्यपूर्ण, अतुलनीय, अत्यन्त गम्भीर वेदनापरिपूर्ण स्वर्गीय चित्र के समान उनके मानस-पटल पर प्रतिबिंबित हो उठी। उसके साथ ही कीर्तन की करुण रागिनी बजने लगी और लगा, मानो उस ग्राम-बालिका के मुख पर समस्त विश्व-हृदय के एक अनिर्वचनीय दुःख ने अपनी छाया डाल दी हो। शशिभूषण दोनों बाँहों में मुँह छिपाकर उसी टेबिल के ऊपर उस स्लेट, किताब, कापी के ऊपर मुंह रखकर बहुत समय बाद पुराने दिनों का स्वप्न देखने लगे।

बहुत देर बाद उन्होंने मृदु शब्द से चौंककर सिर उठाकर देखा। उनके सामने चाँदी के थाल में फल-मूल-मिष्टान्न लिये गिरिबाला पास ही खड़ी चुप-चाप प्रतीक्षा कर रही थी। उनके सिर उठाते ही निराभरणा शुभ्रवसना विधवा वेशधारिणी गिरिबाला ने घुटने टेककर भूमिष्ठ होकर उन्हें प्रणाम किया।

विधवा ने उठकर खड़े होकर जब कृशमुख, म्लानवर्ण, भग्नशरीर शशि-भूषण की ओर सकरुण स्निग्ध-नेत्रों से निहारा, तो उसकी आँखों से झरते हुए आँसू उसके कपोलों को सिक्त कर बहने लगे।

शशिभूषण ने उसका कुशल-वृत्त पूछने की चेष्टा की, किन्तु ढूंढ़ने पर भी वे शब्द न पा सके; अवरुद्ध उच्छ्वास ने उनकी वाणी को बलपूर्वक बाँध लिया; वाणी और आँसू दोनों ही निरुपाय होकर हृदय और कंठ के द्वार पर आबद्ध रह गए। वह कीर्तन-मंडली भिक्षा जुटाती अट्टालिका के सामने आकर खड़ी हो गई और आवृत्ति करती गाने लगी—**आओ आओ हे!**

आधी रात में

: १ :

"डॉक्टर ! डॉक्टर !"

परेशान कर डाला ! इतनी रात गए—

आँखें खोलकर देखा, अपने ज़मींदार दक्षिणाचरण बाबू थे। हड़बड़ाकर उठकर टूटी पीठ की चौकी घसीटकर उन्हें बैठने को दी और उद्विग्न भाव से मुँह की ओर देखा। घड़ी देखी, रात के ढाई बजे थे।

दक्षिणाचरण बाबू ने विवर्ण मुख विस्फारित नेत्रों से कहा, "आज रात को फिर वही उपद्रव मच गया है—तुम्हारी औषधि कुछ काम नहीं आई।"

मैंने कुछ संकोच के साथ कहा, "मालूम होता है आपने शराब की मात्रा फिर बढ़ा दी है।"

दक्षिणाचरण बाबू ने अत्यन्त खीझकर कहा, "यह तुम्हारा भारी भ्रम है। शराब की बात नहीं; आद्योपान्त विवरण सुने बिना तुम असली कारण का अनुमान नहीं कर पाओगे।"

आले में मिट्टी के तेल की छोटी-सी ढिबरी मंद-मंद जल रही थी, मैंने उसे उकसा दिया; प्रकाश थोड़ा जगमगा उठा और बहुत-सा धुआँ निकलने लगा। धोती का छोर देह के ऊपर खींचकर अखबार बिछे चीड़ के खोखे पर बैठ गया। दक्षिणाचरण बाबू कहने लगे—

"मेरी पहली स्त्री-जैसी गृहिणी मिलना बड़ा कठिन है। किन्तु तब मेरी अवस्था ज्यादा नहीं थी, सहज ही रसाधिक्य हो गया था, तिस पर काव्य-शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन किया था, इससे निरे गृहिणीपन से मन नहीं भर पाता था। कालिदास का वह श्लोक प्रायः मन में उभर आता—

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

किन्तु मेरी पत्नी पर ललित कलाविधि का कोई उपदेश नहीं चल पाता था और यदि सखीभाव से प्रणय-सम्भाषण करता तो वे हँसकर उड़ा देतीं।

गङ्गा के प्रवाह से जिस प्रकार इन्द्र का ऐरावत परास्त हो गया था वैसे ही उनकी हँसी के सामने बड़े-बड़े काव्यों के टुकड़े और प्यार के अच्छे-अच्छे सम्भाषण क्षण-भर में ही खिसककर बह जाते। हँसने की उनमें अपूर्व क्षमता थी।

उसके बाद, आज लगभग चार बरस हुए मुझे भयंकर रोग ने धर दबाया। ओष्ठ-व्रण हुआ, ज्वर-विकार हुआ, मरने की-सी हालत हो गई। बचने की कोई आशा नहीं थी। एक दिन ऐसा हुआ कि डॉक्टर भी जवाब दे गया। तभी मेरे एक आत्मीय ने कहीं से एक ब्रह्मचारी को ला उपस्थित किया; उसने गाय के घी के साथ एक जड़ी पीसकर मुझे खिला दी। चाहे औषधि के गुण से हो या भाग्य के फेर से हो, उस बार मैं बच गया।

बीमारी के समय मेरी स्त्री ने दिन-रात एक क्षण भी विश्राम नहीं किया। उन कई-एक दिनों एक अबला स्त्री ने, मनुष्य की सामान्य शक्ति के सहारे प्राण-पण से व्याकुलता के साथ द्वार पर आए हुए यमदूतों से अनवरत युद्ध किया। अपने सम्पूर्ण प्रेम, समस्त हृदय, सारी सेवा से उसने मेरे इस अयोग्य प्राण को स्वयं मानो दुधमुँहे शिशु के समान दोनों हाथों से छिपाकर ढक लिया था। आहार नहीं, नींद नहीं, संसार में और किसी का कोई ध्यान न रहा।

यम तो पराजित बाघ के समान मुझे अपने चंगुल से छोड़कर चले गए, किन्तु जाते-जाते मेरी स्त्री पर एक प्रबल पंजा मार गए।

मेरी स्त्री उस समय गर्भवती थीं, कुछ समय बाद उन्होंने एक मृत सन्तान प्रसव की। उसके बाद से ही उसके नाना प्रकार के जटिल रोगों का सूत्रपात हुआ। तब मैंने उनकी सेवा आरम्भ कर दी। उससे वे बहुत व्याकुल हो उठीं। कहने लगीं, "अरे! क्या करते हो! लोग क्या कहेंगे! इस प्रकार दिन-रात तुम मेरे कमरे में मत आया-जाया करो।"

स्वयं पंखे की हवा खाने के बहाने यदि रात को उनके ज्वर के समय मैं पंखा करने चला जाता तो भारी छीना-झपटी मच जाती। किसी दिन उनकी शुश्रूषा के कारण यदि मेरे नियमित भोजन के समय में दस मिनट की देर हो जाती, तो वह भी नाना प्रकार के अनुनय, अनुरोध, अनुयोग का कारण बन जाती। थोड़ी-सी भी सेवा करने पर लाभ के बदले हानि होने लगती। वे कहतीं, "पुरुषों का इतना अति करना अच्छा नहीं है।"

हमारे बरानगर के उस घर को, मेरा ख्याल है तुमने देखा है। घर के सामने ही बगीचा है और बगीचे के सामने ही गंगा बहती हैं। हमारे सोने के कमरे के नीचे ही दक्षिण की ओर मेंहदी की बाड़ लगाकर कुछ जमीन घेरकर मेरी पत्नी ने अपने मनपसन्द बगीचे का एक टुकड़ा तैयार किया था। सम्पूर्ण

बगीचे में वही भाग अत्यन्त सीधा-सादा और बिलकुल एकदम देशी था। अर्थात् उसमें गन्ध की अपेक्षा वर्ण की बहार, फूल की तुलना में पत्तों का वैचित्र्य नहीं था, और गमलों में लगाए छोटे पौधों के समीप कमची के सहारे कागज की बनी लैटिन में लिखे नाम की जय-ध्वजा नहीं उड़ती थी। बेला, जुही, गुलाब, गन्धराज, कनेर और रजनीगंधा का ही प्रादुर्भाव कुछ अधिक था। एक विशाल मौलश्री वृक्ष के नीचे सफेद संगमर्मर पत्थर का एक चबूतरा बना था। स्वस्थ रहने पर वे स्वयं खड़ी होकर दोनों समय उसको धोकर साफ़ करवाती थीं। ग्रीष्मकाल में काम से छुट्टी पाने पर सन्ध्या समय वही उनके बैठने का स्थान था। वहाँ से गंगा दिखती थीं, किन्तु गंगा से कोठी की छोटी नौका में बैठे बाबू लोग उनको नहीं देख पाते थे।

बहुत दिन तक चारपाई पर पड़े-पड़े एक दिन चैत्र में शुक्लपक्ष की सन्ध्या को उन्होंने कहा, "घर में बन्द रहने से मेरा प्राण न जाने कैसा हो रहा है, आज एक बार अपने उस बगीचे में जाकर बैठूंगी।"

मैंने उनको बहुत संभालकर पकड़े हुए धीरे-धीरे ले जाकर उसी मौलश्री वृक्ष के नीचे बनी पत्थर की वेदी पर लिटा दिया। यों तो मैं अपनी जाँघ पर ही उनका सिर रख सकता था, किन्तु मैं जानता था कि वे उसे विचित्र-सा आचरण समझेंगी, इसलिए एक तकिया लाकर उनके सिर के नीचे रख दिया।

मौलश्री के दो-एक खिले हुए फूल झर रहे थे और शाखाओं के बीच से छायाङ्कित ज्योत्स्ना उनके शीर्ण मुख के ऊपर आ पड़ी। चारों ओर शान्ति और निस्तब्धता थी; उस सघन गन्धपूर्ण छायान्धकार में एक ओर चुपचाप बैठकर उनके मुख की ओर देखकर मेरी आँखों में पानी भर आया।

मैंने धीरे-धीरे बहुत समीप पहुँचकर अपने हाथों में उनका एक उत्तप्त जीर्ण हाथ ले लिया। इस पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। कुछ देर तक इसी प्रकार चुप बैठे-बैठे मेरा हृदय न जाने कैसा उद्वेलित हो उठा। मैं बोल उठा, "तुम्हारे प्रेम को मैं कभी नहीं भूलूंगा।"

तभी समझा, इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मेरी पत्नी हंस पड़ी। उस हँसी में लज्जा थी, सुख था और थोड़ा-सा अविश्वास था; और उसमें काफ़ी मात्रा में परिहास की तीव्रता भी थी। प्रतिवादस्वरूप कोई बात न कहकर उन्होंने केवल अपनी उस हँसी से ही व्यक्त किया, "किसी दिन भूलोगे नहीं, यह कभी संभव नहीं और मैं इसकी प्रत्याशा भी नहीं करती।"

इस सुमिष्ट सुतीक्ष्ण हँसी के भय से ही मैंने कभी अपनी पत्नी के साथ अच्छी तरह प्रेमालाप करने का साहस नहीं किया। उनके सामने न रहने पर जो

अनेक बातें मन में आतीं उनके सामने जाते ही वे अत्यन्त व्यर्थ की लगने लगतीं। छपे अक्षरों में जो बातें पढ़ने पर नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगती है उनको मुँह से कहते हुए क्यों हँसी आती है, यह मैं आज तक नहीं समझ सका।

बातचीत में तो वाद-प्रतिवाद चल जाता है, किन्तु हँसी के ऊपर तर्क नहीं चलता, इसलिए चुप होकर रह जाना पड़ा। ज्योत्स्ना उज्ज्वलतर हो उठी, एक कोयल बार-बार कुहू-कुहू करती हुई चंचल हो गई। मैं बैठा-बैठा सोचने लगा; ऐसी ज्योत्स्ना-रात्रि में भी क्या पिकवधू बधिर हो गई है।

बहुत चिकित्सा करने पर भी मेरी पत्नी का रोग शान्त होने के कोई लक्षण नहीं दिखे। डॉक्टर ने कहा, "एक बार जलवायु परिवर्तन करके देखना अच्छा होगा।" मैं पत्नी को लेकर इलाहाबाद चला गया।

इतना कहकर दक्षिणा बाबू सहसा चौंककर चुप हो गए। संदेहपूर्ण भाव से मेरे मुख की ओर देखा, उसके बाद दोनों हाथों से सिर थामकर सोचने लगे। मैं भी चुप बैठा रहा। ताक में केरोसीन की डिबरी टिमटिमाकर जलने लगी और निस्तब्ध कमरे में मच्छरों की भिनभिनाहट स्पष्ट सुनाई दे रही थी। हठात् मौन तोड़कर दक्षिणा बाबू ने कहना शुरू किया—

वहाँ हारान डॉक्टर मेरी पत्नी की चिकित्सा करने लगे।

अन्त में बहुत दिन तक स्थिति में कोई अन्तर होते न देखकर डॉक्टर ने भी कह दिया, मैं भी समझ गया और मेरी पत्नी भी समझ गई कि उनका रोग अच्छा होने वाला नहीं है। उनको सदा रुग्ण रहकर ही जीवन काटना पड़ेगा।

तब एक दिन मेरी पत्नी ने मुझसे कहा, "जब न तो व्याधि ही दूर होती है और न मेरे जल्दी मरने की ही कोई आशा है तब और कितने दिन इस जीवन्मृत को लिये काटोगे! तुम दूसरा विवाह करो।"

यह मानो केवल एक युक्तिपूर्ण और समझदारी की बात थी—इसमें कोई भारी महत्त्व, वीरत्व या कुछ असामान्य था, ऐसा लेश-मात्र भी उनका भाव नहीं था।

अब मेरे हँसने की बारी थी। किन्तु, मुझमें क्या उस प्रकार हँसने की क्षमता है! मैं उपन्यास के प्रधान नायक के समान गम्भीर और सगर्व भाव से कहने लगा, "जितने दिन इस शरीर में प्राण है—"

वे टोककर बोलीं, "बस! बस और अधिक मत बोलो! तुम्हारी बात सुनकर तो मैं दंग रह जाती हूँ।"

पराजय स्वीकार न करते हुए मैं बोला, "इस जीवन में और किसी से प्रेम नहीं कर सकूँगा।"

सुनकर मेरी पत्नी जोर से हंस पड़ीं। तब मुझे परास्त होना पड़ा।

मैं नहीं जानता कि उस समय कभी अपने-आपसे भी स्पष्ट स्वीकार किया था या नहीं; किन्तु इस समय समझ रहा हूँ कि उस आरोग्य-आशाहीन सेवा-कार्य से मैं मन-ही-मन थक गया था। उस काम में चूक करूँगा ऐसी कल्पना भी मेरे मन में नहीं थी; अतएव, चिरजीवन इस चिररुग्ण को लेकर बिताना होगा यह कल्पना भी मुझे पीड़ाजनक प्रतीत हुई। हाय! यौवन की प्रथम वेला में जब सामने देखा था तब प्रेम की कुहक में, सुख के आश्वासन में, सौंदर्य की मरीचिका में मुझे अपना समस्त भावी जीवन खिलता हुआ दिखाई दिया था। अब आज से लेकर अन्त तक केवल आशाहीन सुदीर्घ प्यासी मरुभूमि।

मेरी सेवा में वह आन्तरिक थकान उन्होंने अवश्य ही देख ली थी। उस समय मैं नहीं जानता था, किन्तु अब ज़रा भी संदेह नहीं है कि वे मुझे संयुक्ताक्षरहीन 'शिशुशिक्षा' के प्रथम भाग के समान बहुत ही आसानी से समझ लेती थीं। इसीलिए जब उपन्यास का नायक बनकर मैं गम्भीर मुद्रा से उनके पास कवित्व प्रदर्शित करने जाता तो वे बड़े अकृत्रिम स्नेह, किन्तु अनिवार्य कौतुक के साथ हँस उठतीं। मेरे अपने अगोचर अन्तर की सब बातों को भी वे अन्तर्यामी के समान जानती थीं इस बात को सोचकर आज भी लज्जा से मर जाने की इच्छा होती है।

हारान डॉक्टर हमारे स्वजातीय थे। उनके घर प्रायः मेरा निमंत्रण रहता। कुछ दिनों के यातायात के बाद डॉक्टर ने अपनी कन्या के साथ मेरा परिचय करा दिया। कन्या अविवाहित थी, उसकी अवस्था पन्द्रह होगी। डॉक्टर ने कहा, कि उनको मन के अनुकूल पात्र नहीं मिला इसलिए उन्होंने उसका विवाह नहीं किया। किन्तु, बाहर के लोगों से अफवाह सुनता—कन्या के कुल में दोष था।

किन्तु, और कोई दोष नहीं था। जैसी सुन्दर थी वैसी ही सुशिक्षित। इस कारण कभी-कभी एकाध दिन उनके साथ नाना विषयों पर आलोचना करते-करते घर लौटते मुझे रात हो जाती, पत्नी को औषधि देने का समय निकल जाता। वे जानती थीं कि मैं हारान डॉक्टर के घर गया हूँ, किन्तु उन्होंने एक भी दिन विलम्ब के कारण के विषय में प्रश्न तक नहीं किया।

मरुभूमि में फिर एक बार मरीचिका दिखाई देने लगी। तृष्णा जब गले तक आ गई थी तभी आँखों के सामने लबालब स्वच्छ जल कल-कल छल-छल करने लगा। इस स्थिति में मन को प्राणपण से रोकने पर भी मोड़ नहीं सका।

रोगी का कमरा मुझे पहले से दुगुना निरानंद लगने लगा। तब सेवा

करने और औषधि खिलाने का नियम सब प्रायः भंग होने लगा।

हारान डॉक्टर बीच-बीच में मुझसे प्रायः कहते रहते, जिनका रोग अच्छा होने की कोई सम्भावना नहीं है, उनका मरना ही भला है; क्योंकि जीवित रहने से उनको स्वयं भी सुख नहीं मिलता, और दूसरों को भी दुःख होता है। साधारण रूप से ऐसी बात कहने में कोई दोष नहीं तथापि मेरी स्त्री को लक्ष्य करके इस प्रकार के प्रसंग का उठाना उनके लिए उचित नहीं था। किन्तु, मनुष्य के जीवन-मरण के विषय में डॉक्टरों के मन ऐसे अनुभूति-शून्य होते हैं कि वे ठीक प्रकार से हमारे मन की अवस्था नहीं समझ सकते।

सहसा एक दिन बगल के कमरे से सुना मेरी पत्नी हाराम बाबू से कह रही थीं, "डॉक्टर, फिजूल ही इतनी औषधियाँ खिला-खिलाकर औषधालय का कर्ज क्यों बढ़ा रहे हो। जब मेरे प्राण ही एक व्याधि हैं तब तो कोई ऐसी औषधि दो जिससे शीघ्र ही ये प्राण चले जायें।"

डॉक्टर ने कहा, "छिः, ऐसी बातें न करें।"

यह सुनकर मेरे हृदय को एकबारगी बड़ा आघात पहुँचा। डॉक्टर के चले जाने पर मैं अपनी स्त्री के कमरे में आकर उनकी चारपाई के सिरहाने बैठ गया, उनके माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगा। वे बोलीं, "यह कमरा बड़ा गर्म है, तुम बाहर जाओ। तुम्हारे टहलने जाने का समय हो गया है। थोड़ा टहले बिना रात को तुम्हें भूख नहीं लगेगी।"

टहलने जाने का अर्थ था डॉक्टर के घर जाना। मैंने ही उनको समझाया था कि भूख लगने के लिए थोड़ा टहल लेना विशेष आवश्यक है। आज मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ, वे प्रतिदिन ही मेरी इस छलना को समझती थीं। मैं ही निर्बोध था जो सोचता था कि वे निर्बोध हैं।

यह कहकर दक्षिणाचरण बाबू हथेली पर सिर टिकाए बहुत देर तक मौन बैठे रहे। अन्त में बोले, "मुझे एक गिलास पानी ला दो!" पानी पीकर कहने लगे—

एक दिन डॉक्टर बाबू की पुत्री मनोरमा ने मेरी पत्नी को देखने के लिए आने की इच्छा प्रकट की। पता नहीं क्यों, उनका वह प्रस्ताव मुझे अच्छा नहीं लगा। किन्तु प्रतिवाद करने का कोई कारण नहीं था। वे एक दिन संध्या को मेरे घर आ उपस्थित हुईं।

उस दिन मेरी पत्नी की पीड़ा अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ बढ़ गई थी। जिस दिन उनका कष्ट बढ़ता उस दिन वे अत्यन्त स्थिर और चुपचाप रहतीं; केवल बीच-बीच में मुट्ठियाँ बँध जातीं और मुँह नीला हो जाता, इसीसे उनको

पीड़ा का अनुमान होता। कमरे में कोई आहट नहीं थी, मैं बिस्तर के किनारे चुपचाप बैठा था। उस दिन टहलने जाने का मुझसे अनुरोध करें, इतनी सामर्थ्य उनमें नहीं थी या हो सकता है मन-ही-मन उनकी यह इच्छा रही हो कि अत्यधिक कष्ट के समय मैं उनके पास रहूँ। चौंध न लगे, इससे केरोसीन की बत्ती दरवाज़े के पास थी। कमरा अँधेरा और निस्तब्ध था। केवल कभी-कभी पीड़ा के कुछ शान्त होने पर मेरी पत्नी का गहरा दीर्घ निश्वास सुनाई पड़ता था।

इसी समय मनोरमा कमरे के दरवाज़े पर आ खड़ी हुई। उलटी ओर से बत्ती का प्रकाश आकर उनके मुख पर पड़ा। प्रकाश से चौंधिया जाने के मारे कमरे में कुछ भी न देख पाने के कारण वे कुछ क्षणों तक दरवाज़े के पास खड़ी इधर-उधर करने लगीं।

मेरी स्त्री ने चौंककर मेरा हाथ पकड़कर पूछा, "वह कौन है ?"—अपनी उस दुर्बल अवस्था में सहसा अपरिचित व्यक्ति को देखकर उन्होंने डरकर मुझसे दो-तीन बार अस्पष्ट स्वर में प्रश्न किया, "कौन है ! वह कौन है जी !"

न जाने मेरी कैसी दुर्बुद्धि हुई कि मैंने पहले ही कह दिया, "मैं नहीं जानता।" कहते ही मानो किसी ने मुझे चाबुक मारा। दूसरे क्षण मैं बोला, "ओह, अपने डॉक्टर बाबू की लड़की !"

पत्नी ने एक बार मेरे मुख की ओर देखा, मैं उनके मुख की ओर नहीं देख सका। दूसरे ही क्षण उन्होंने क्षीण स्वर में अभ्यागत से कहा, "आप आइए !" मुझसे बोलीं, "उजाला करो !"

मनोरमा कमरे में आकर बैठ गई। उनके साथ मरीज़ की थोड़ी-बहुत बातचीत चलने लगी। इसी समय डॉक्टर बाबू आ उपस्थित हुए।

वे अपने औषधालय से दो शीशी औषधि साथ लाए थे। उन शीशियों को बाहर निकालते हुए वे मेरी पत्नी से बोले, "यह नीली शीशी मालिश करने के लिए है और यह खाने के लिए है। देखिये, दोनों को मिलाइएगा नहीं, यह औषधि भयंकर विष है।"

मुझे भी एक बार सावधान करते हुए उन्होंने दोनों दवाइयों को चारपाई के पास की टेबिल पर रख दिया। विदा लेते समय डॉक्टर ने अपनी पुत्री को बुलाया।

मनोरमा ने कहा, "पिताजी, मैं रह क्यों न जाऊँ। साथ में कोई महिला नहीं है, इनकी सेवा कौन करेगा ?"

मेरी स्त्री व्याकुल हो उठीं। बोलीं, "नहीं नहीं, आप कष्ट न कीजिए ! पुरानी नौकरानी है, वह माँ की भाँति मेरी सेवा करती है।"

डॉक्टर हँसते हुए बोले, "ये लक्ष्मी-स्वरूपा हैं, चिरकाल से दूसरों की सेवा करती आ रही हैं, दूसरे की सेवा सहन नहीं कर सकतीं।"

पुत्री को लेकर डॉक्टर जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि उसी समय मेरी स्त्री बोली, "डॉक्टर बाबू, ये इस बन्द कमरे में बहुत समय से बैठे हैं, इनको थोड़ी देर बाहर घुमा ला सकते हैं ?"

डॉक्टर बाबू ने मुझसे कहा, "चलिए न, आपको नदी के किनारे थोड़ा घुमा लायें।"

मैं तनिक आपत्ति प्रकट करने के बाद शीघ्र ही राजी हो गया। डॉक्टर-बाबू ने चलते समय दवाइयों की दोनों शीशियों के सम्बन्ध में फिर मेरी पत्नी को सावधान कर दिया।

उस दिन मैंने डॉक्टर के घर ही भोजन किया। लौटने में रात हो गई। आकर देखा मेरी स्त्री छटपटा रही थीं। मैंने पश्चाताप से पीड़ित होकर पूछा, "क्या तुम्हारी तकलीफ बढ़ गई है ?"

वे उत्तर न दे सकीं। चुपचाप मेरे मुख की ओर देखने लगीं। उस समय उनका गला रुँध गया था।

मैं तुरन्त रात में ही डॉक्टर को बुला लाया।

डॉक्टर आकर पहले तो बहुत देर तक कुछ समझ ही न सके। अन्त में उन्होंने पूछा, "क्या तकलीफ़ बढ़ गई है ? एक बार दवा की मालिश करके क्यों न देखा जाय।"

यह कहते हुए उन्होंने टेबिल से शीशी उठाकर देखी, वह खाली थी।

मेरी पत्नी से पूछा, "क्या आपने भूल से यह औषधि खाई है ?"

मेरी पत्नी ने गरदन हिलाकर चुपचाप बताया, "हाँ।"

डॉक्टर तुरन्त अपने घर से पम्प लेने के लिए गाड़ी में बैठकर दौड़े। मैं अर्ध-मूर्छित-सा पत्नी के बिस्तर पर पड़ गया।

उस समय, जिस प्रकार माता पीड़ित शिशु को सान्त्वना देती है उसी प्रकार उन्होंने मेरे सिर को अपने वक्षःस्थल के पास खींचकर हाथों के स्पर्श द्वारा मुझे अपने मन की बात समझाने की चेष्टा की। केवल अपने उस करुण स्पर्श के द्वारा ही वे मुझसे बार बार कहने लगीं, "दुःखी मत होना, अच्छा ही हुआ है, तुम सुखी रहोगे, यही सोचकर मैं सुख से मर रही हूँ।"

जब डॉक्टर लौटे तो जीवन के साथ-साथ मेरी स्त्री की सारी यंत्रणाओं का भी अवसान हो गया था।

दक्षिणाचरण फिर एक बार पानी पीकर बोले, "ओह ! बड़ी गरमी

है !" यह कहते हुए तेजी से बाहर निकलकर बरामदे में दो-चार बार टहलने के बाद फिर आ बैठे। अच्छी तरह स्पष्ट हो गया; वे कहना नहीं चाहते थे किन्तु मानो मैंने जादू करके उनसे बात निकलवा ली हो। फिर प्रारम्भ किया—

मनोरमा से विवाह करके घर लौट आया।

मनोरमा ने अपने पिता की सम्मति के अनुसार मुझसे विवाह किया; किन्तु जब मैं उससे प्रेम की बात कहता, प्रेमालाप करके उसके हृदय पर अधिकार करने की चेष्टा करता, तो वह हँसती नहीं, गम्भीर बनी रहती। उसके मन में कहाँ किस जगह क्या खटका लग गया था, मैं कैसे समझता ?

इन्हीं दिनों मेरी शराब पीने की लत बहुत बढ़ गई।

एक दिन शरद् के आरम्भ में संध्या को मनोरमा के साथ अपने वरानगर के बाग में टहल रहा था। घोर अन्धकार हो आया था। घोंसलों में पक्षियों के पंख फड़फड़ाने तक की आहट नहीं थी, केवल घूमने के रास्ते के दोनों किनारे घनी छाया से ढँके झाऊ के पेड़ हवा में सर-सर करते काँप रहे थे।

थकान का अनुभव करती हुई मनोरमा उसी मौलश्री वृक्ष के नीचे शुभ्र पत्थर की वेदी पर आकर अपने हाथों के ऊपर सिर रखकर लेट गई। मैं भी पास आकर बैठ गया।

वहाँ और भी घना अंधकार था; आकाश का जो भाग दिखाई दे रहा था, वह पूरी तरह तारों से भरा था; वृक्षों के तले की झींगुरों की ध्वनि मानो अनन्त गगन के वक्ष से च्युत निःशब्दता के अधोभाग पर ध्वनि की एक पतली किनारी बुन रही हो।

उस दिन भी शाम को मैंने कुछ शराब पी थी, मन खूब तरलावस्था में था। अन्धकार जब आँखों को सहन हो गया तब वृक्षों की छाया के नीचे पाण्डु वर्ण वाली उस शिथिल-आँचल श्रान्त काय रमणी की अस्पष्ट मूर्ति ने मेरे मन में एक अनिवार्य आवेग का संचार कर दिया। मुझे लगा, वह मानो कोई छाया हो, मैं उसे मानो किसी भी प्रकार भुजाओं में बाँध नहीं सकूँगा।

इसी समय अँधेरे झाऊ वृक्षों की चोटियों पर जैसे आग जल उठी हो; उसके पश्चात् कृष्ण पक्ष के क्षीण हरिद्रावर्ण चाँद ने धीरे-धीरे वृक्षों के ऊपर आकाश में आरोहण किया। सफेद पत्थर पर सफेद साड़ी पहने उस थकी लेटी रमणी के मुख पर ज्योत्स्ना आकर पड़ी। मैं और न रह सका। पास आकर हाथों में उसका हाथ लेकर बोला, "मनोरमा, तुम मेरा विश्वास नहीं करतीं, पर मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। मैं तुमको कभी नहीं भूल सकूँगा।"

बात कहते ही मैं चौंक उठा। याद आया; ठीक यही बात मैंने कभी

किसी ओर से भी ऱ्ही थी ! और तभी मौलश्री की शाखाओं के ऊपर होती हुई, झाऊ वृक्ष की चोटी पर से होती हुई कृष्ण पक्ष के पीतवर्ण खण्डित चाँद के नीचे से, गंगा के पूर्वी किनारे से लेकर गंगा के सुदूर पश्चिमी किनारे तक हाहा-हाहा-हाहा—करती एक हंसी अत्यन्त तीव्र वेग से प्रवाहित हो उठी। वह मर्म-भेदी हंसी थी या अभ्रभेदी हाहाकार था, कह नहीं सकता। मैं उसी क्षण मूर्छित होकर पत्थर की वेदी से नीचे गिर पड़ा।

मूर्च्छा भंग होने पर देखा, अपने कमरे में बिस्तर पर लेटा हूँ। पत्नी ने पूछा, "तुम्हें अचानक यह क्यों हुआ ?"

मैंने काँपते हुए कहा, "तुमने सुना नहीं, समस्त आकाश को परिपूर्ण करती हुई एक हा-हा करती हंसी ध्वनित हुई थी ?"

पत्नी ने हँसकर कहा, "वह हँसी थोड़े ही थी। पंक्ति बाँधकर पक्षियों का एक बहुत बड़ा झुण्ड उड़ा था, उन्हीं के पंखों का शब्द सुनाई दिया था। तुम इतने से ही डर जाते हो ?"

दिन के समय मैं स्पष्ट समझ गया कि वह सचमुच पक्षियों के झुण्ड के उड़ने का ही शब्द था, इस ऋतु में उत्तरी दिशा से हंस-श्रेणी नदी के कछार में चुगने के लिए आती है, किन्तु सन्ध्या हो जाने पर यह विश्वास टिक नहीं पाता था। उस समय लगता, मानो चारों ओर समस्त अन्धकार को भरती हुई सघन हंसी जमा हो गई हो, किसी सामान्य बहाने से ही अचानक आकाश-व्यापी अन्धकार को विदीर्ण करके ध्वनित हो उठेगी। अन्त में ऐसा हुआ कि सन्ध्या के बाद मनोरमा से मुझे कोई भी बात कहने का साहस न होता।

तब मैं वरानगर के अपने घर को त्यागकर मनोरमा को साथ लेकर नौका पर बाहर निकल पड़ा। अगहन के महीने में नदी की हवा से सारा भय भाग गया। कुछ दिनों बड़े सुख में रहा। चारों ओर के सौन्दर्य से आकर्षित होकर—मनोरमा भी मानो बहुत दिन बाद मेरे लिए अपने हृदय का रुद्ध द्वार धीरे-धीरे खोलने लगी।

गंगा पार कर, खड़ पार कर अंत में हम पद्मा में आ पहुँचे। भयंकरी पद्मा उस समय हेमन्त ऋतु की विवरलीन भुजङ्गिनी के समान कृश निर्जीव-सी लम्बी शीतनिद्रा में मग्न थी। उत्तर की ओर जन-तृण-शून्य दिगन्त प्रसारित बालुकापूर्ण कछार धू-धू कर रहा था और दक्षिण के ऊँचे किनारे पर गाँवों के आमों के बगीचे इस राक्षसी नदी के मुख के अत्यन्त समीप हाथ जोड़े खड़े काँप रहे थे। बीच-बीच में पद्मा निद्रा के आवेश में करवट बदलती और विदीर्ण तट-भूमि छपाक से टूट-टूटकर गिर पड़ती। यहाँ घूमने की सुविधा देखकर नौका

बाँध दी।

एक दिन घूमते हुए हम दोनों बहुत दूर चले गए। सूर्यास्त की स्वर्णछाया विलीन होते ही शुक्ल पक्ष का निर्मल चन्द्रालोक देखते-देखते खिल उठा। उस अन्तहीन शुभ्र बालू के कछार पर जब अजस्र, मुक्त, उच्छ्वसित ज्योत्स्ना एकदम आकाश की सीमाओं तक प्रसारित हो गई तब लगा मानो जन-शून्य चन्द्रलोक के असीम स्वप्न-राज्य में केवल हम दो व्यक्ति ही भ्रमण कर रहे हों। एक लाल शाल मनोरमा के सिर से उतरता उसके मुख को वेष्ठित करते हुए उसके शरीर को ढँके हुए था। निस्तब्धता जब गहरी हो गई, केवल सीमाहीन, दिशाहीन शुभ्रता और शून्यता के अतिरिक्त जब और कुछ भी न रहा तब मनोरमा ने धीरे-धीरे हाथ बढ़ाकर ज़ोर से मेरा हाथ पकड़ लिया। अत्यन्त पास आकर वह मानो अपना सम्पूर्ण शरीर-मन-जीवन-यौवन मेरे ऊपर डालकर एकदम निर्भय होकर खड़ी हो गई। मैंने पुलकित-उद्वेलित हृदय से सोचा, कमरे के भीतर क्या भला यथेष्ट प्रेम किया जा सकता है। यदि ऐसा अनावृत मुक्त अनन्त आकाश न हो तो क्या कहीं दो व्यक्ति बंध सकते हैं। उस समय लगा; हमारे न घर है, न द्वार है, न कहीं लौटना है, बस हम इसी प्रकार हाथ में हाथ लिये अगम्य मार्ग में उद्देश्यहीन भ्रमण करते हुए चन्द्रालोकित शून्यता पर पैर धरते मुक्त भाव से चलते रहेंगे।

इसी प्रकार चलते-चलते एक जगह पहुँचकर देखा, थोड़ी दूर पर बालुका-राशि के बीच एक जलाशय-सा बन गया है, पद्मा के उतर जाने पर उसमें पानी जमा रह गया था।

उस मरुबालुकावेष्टित निस्तरंग, गाढ़ निद्रामग्न, निश्चल जल पर विस्तृत ज्योत्स्ना की रेखा मूर्छित भाव से पड़ी थी। उसी स्थान पर आकर हम दोनों व्यक्ति खड़े हो गए—मनोरमा ने न जाने क्या सोचकर मेरे मुख की ओर देखा, अचानक उसके सिर पर से शाल खिसक गया। मैंने ज्योत्स्ना से खिला हुआ उसका वह मुँह उठाकर चूम लिया।

उसी समय उस जनमानव-शून्य निःसंग मरुभूमि में गंभीर स्वर में न जाने कौन तीन बार बोल उठा, "कौन है ? कौन है ? कौन है ?"

मैं चौंक पड़ा, मेरी पत्नी भी काँप उठी। किन्तु दूसरे ही क्षण हम दोनों ही समझ गए कि यह शब्द मनुष्य का नहीं था, अमानवीय भी नहीं था। कछार में विहार करने वाले जलचर पक्षी की आवाज़ थी। इतनी रात को अचानक अपने निरापद निभृत निवास के समीप जनसमागम देखकर वह चौंक उठा था।

भय से कांककर हम दोनों झटपट नौका में लौट आए। रात को आकर बिस्तर पर लेट गए। थकी होने के कारण मनोरमा शीघ्र ही सो गई। उस समय अन्धकार में न जाने कौन मेरी मसहरी के पास खड़ा होकर सुषुप्त मनोरमा की ओर एक लम्बी जीर्ण अस्थि-पिंजर-मात्र अंगुली दिखाकर मानो मेरे कान में बिलकुल चुपचाप अस्फुट स्वर में बारम्बार पूछने लगा, "कौन है ? कौन है ? वह कौन है जी ?"

झटपट उठकर दियासलाई घिसकर बत्ती जलाई। उसी क्षण वह छाया-मूर्ति विलीन हो गई। मेरी मसहरी को कँपाकर, नौका को डगमगाकर मेरे स्वेद-सने शरीर के रक्त को बर्फ करके हा-हा-हा हा-हा हा-हा करती हुई एक हँसी अन्धकार-रात्रि में बहती चली गई। पद्मा को पार कर, पद्मा के कछार को पार कर, उसके तटवर्ती समस्त सुप्त देश, ग्राम नगर पार कर—मानो वह चिरकाल से देश-देशान्तर, लोक-लोकान्तर को पार करती क्रमशः क्षीण, क्षीणतर, क्षीणतम होकर असीम सुदूर की ओर चली जा रही थी, धीरे-धीरे वह मानो जन्म-मृत्यु के देश को पीछे छोड़ गई, क्रमशः वह मानो सुई के अग्रभाग के समान क्षीणतम हो आई। मैंने इतना क्षीण स्वर पहले कभी नहीं सुना, कल्पना भी नहीं की, मानो मेरे दिमाग में अनन्त आकाश हो और वह शब्द कितनी ही दूर क्यों न जा रहा हो, किसी भी प्रकार मेरे मस्तिष्क की सीमा छोड़ नहीं पा रहा हो, अन्त में जब नितान्त असह्य हो गया तब सोचा, बत्ती बुझाए बिना सो नहीं पाऊँगा। जैसे ही रोशनी बुझाकर लेटा, वैसे ही मेरी मसहरी के पास, मेरे कान के समीप, अँधेरे में वह अवरुद्ध स्वर फिर बोल उठा, "कौन है ? कौन है ? वह कौन है जी ?' मेरे हृदय का रक्त भी उसी पर ताल देता हुआ क्रमशः ध्वनित होने लगा, "कौन है, कौन है, वह कौन है जी।" "कौन है, कौन है, वह कौन है जी।" उसी गहरी रात में निस्तब्ध नौका में मेरी गोलाकार घड़ी भी सजीव होकर अपनी घण्टे की सुई को मनोरमा की ओर घुमाकर शेल्फ के ऊपर से ताल मिलाकर बोलने लगी, "कौन है ! कौन है, वह कौन है जी ! कौन है, कौन है, वह कौन है जी !"

कहते-कहते दक्षिणा बाबू का रंग फीका पड़ गया, उनका गला रुँध आया। मैंने उनको सहारा देते हुए कहा, "थोड़ा पानी पीजिए !" इसी समय सहसा किरोसीन की मेरी बत्ती लुप-लुप करती बुझ गई। अचानक देखा, बाहर प्रकाश हो गया है। कौआ बोल उठा। दहिंगल पक्षी सिसकारी भरने लगा। मेरे घर के सामने वाले रास्ते पर भैंसा-गाड़ी का चरमर-चरमर शब्द होने लगा। दक्षिणा बाबू के मुख की मुद्रा अब बिलकुल बदल गई। अब भय का कोई चिह्न न रहा। रात्रि

की कुहक में काल्पनिक शंका की मत्तता में मुझसे जो इतनी बातें कह डालीं उसके लिए वे अत्यन्त लज्जित और मेरे ऊपर मन-ही-मन क्रोधित हो उठे। शिष्टाचार-प्रदर्शक शब्द के बिना ही वे अकस्मात् उठकर द्रुतगति से चले गए।

उसी दिन आधी रात में फिर मेरे दरवाजे पर खटखटाहट हुई, "डाक्टर! डाक्टर!"

पितामह

: १ :

नयनजोड़ के जमींदार किसी समय बाबू के नाम से विशेष विख्यात थे उस जमाने में बाबूपने का आदर्श बहुत आसान नहीं था। इस समय जिस प्रकार राजा, रायबहादुर का खिताब प्राप्त करने के लिए बहुत-सा नाच, घुड़दौड़ एवं सलामी सिफारिश का श्राद्ध करना पड़ता है, उस समय भी साधारण जनता से बाबू की उपाधि प्राप्त करने के लिए बहुत दुःसाध्य तपस्या करनी पड़ती थी।

नयनजोड़ के अपने बाबू किनारी फाड़कर ढाका के कपड़े पहनते, क्योंकि किनारी की कर्कशता से उनका सुकोमल बाबूपन कष्ट पाता। वे लाख रुपये से बिल्ली के बच्चे का विवाह करते और कहा जाता है कि एक बार किसी उत्सव के उपलक्ष्य में उन्होंने रात को दिन करने की प्रतिज्ञा करके असंख्य दीपक जला-कर सूर्य की किरणों के अनुकरण में ऊपर से सच्ची चाँदी की ज़री बरसाई थी।

इससे सभी समझ सकते हैं कि उस समय बाबुओं का बाबूपन वंशानुक्रम से स्थायी नहीं हो पाता था। अनेक बाती वाले दीपक के समान वे अपना तेल आप ही थोड़े से समय की धूमधाम में चुका देते।

अपने कैलाशचन्द्र राय चौधुरी उसी ख्यातनामा नयनजोड़ के एक बुझे हुए (बिगड़े हुए) बाबू थे। इन्होंने जब जन्म ग्रहण किया था तब तेल दीपक की पेंदी में ही रह गया था; इनके पिता की मृत्यु होने पर नयनजोड़ का बाबूपना कुछ असाधारण श्राद्ध शांति कार्यों में अपनी अन्तिम ज्योति दिखाकर अचानक बुझ गया। सारी धन-सम्पत्ति कर्ज़े में बिक गई—जो थोड़ी-सी बच रही उससे पूर्वपुरुषों की ख्याति की रक्षा करना असंभव था।

इसीलिए कैलाश बाबू नयनजोड़ को त्यागकर पुत्र को साथ लेकर कलकत्ता आकर रहने लगे—पुत्र भी अपनी एक-मात्र कन्या को छोड़कर इस हतगौरव संसार का परित्याग करके परलोक सिधार गए।

हम कलकत्ता में उनके पड़ोसी थे। हमारा इतिहास उनके एकदम विप-रीत था। मेरे पिता ने अपने प्रयत्न से धन कमाया था; वे कभी भी घुटने से

नीचे तक की धोती नहीं पहनते थे, कौड़ी-कौड़ी का हिसाब रखते थे; और बाबू की उपाधि पाने की उन्हें कोई लालसा नहीं थी। इसके लिए मैं, उनका एक-मात्र पुत्र, उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। मैंने जो लिखना-पढ़ना सीखा है और बिना प्रयत्न के अपने शरीर और मान की रक्षा के लिए उपयोगी यथेष्ट धन पाया है, उसी-को मैं परम गौरव की बात समझता हूँ—शून्य भाण्डार में पैतृक बाबूपन के उज्ज्वल इतिहास की अपेक्षा लोहे के संदूक में कम्पनी के पैतृक काग़ज़ मुझे बहुत ज्यादा मूल्यवान प्रतीत होते हैं।

शायद इसी कारण जब कैलाश बाबू अपने पूर्वगौरव के बिगड़े हुए बैंक के नाम लम्बा-चौड़ा चैक काटते तो वह मुझे अत्यन्त असह्य लगता। मुझे लगता, मेरे पिता ने अपने हाथ से अर्थोपार्जन किया है इसलिए कैलाश बाबू शायद मन-ही-मन मेरे प्रति अवज्ञा का अनुभव करते हैं। मैं क्रोधित होता और सोचता कि अवज्ञा के योग्य कौन है? जो जीवन-भर कठोर त्याग स्वीकार करके नाना प्रलोभनों का अतिक्रमण करके, लोगों के मुख की तुच्छ ख्याति की अव-हेलना करके, अविश्रांत एवं सतर्क बुद्धि-चातुर्य द्वारा समस्त प्रतिकूलताओं और बाधाओं पर विजय प्राप्त करके, समस्त अनुकूल अवसरों पर अपना अधिकार कर चाँदी के एक-एक स्तर से सम्पत्ति के एक ऊँचे पिरामिड का अकेले अपने हाथों से निर्माण कर गए हैं, वे घुटनों के नीचे धोती नहीं पहनते थे इसी कारण वे छोटे आदमी थे, ऐसा नहीं है।

उस समय मेरी अवस्था कम थी इसीलिए मैं इस प्रकार का तर्क करता, नाराज़ हो जाता। अब अवस्था बढ़ गई है, अब सोचता हूँ, इसमें हानि भी क्या है। मेरे पास तो विपुल सम्पत्ति है, मुझे किस बात का अभाव है। जिसके पास कुछ नहीं है, वह यदि अहंकार करके सुखी हो ले, इसमें मेरा तो रत्ती-भर भी नुक्सान नहीं है, उल्टे उस बेचारे को सान्त्वना मिल जाती है।

यह भी पता चला कि मुझे छोड़कर और कोई कैलाश बाबू के ऊपर क्रोध नहीं करता था। क्योंकि दुनिया में इतना अधिक निरीह आदमी नहीं मिलता। काम-काज में, सुख-दुःख में पड़ोसियों के साथ उनका पूरा सहयोग रहता था। आबालवृद्ध किसी से भी भेंट होते ही वे हँसते हुए सबसे स्नेहपूर्वक बात करते—जहाँ भी जिसका जो कोई था उन सबका कुशल-संवाद पूछकर ही उनकी शिष्टता विश्राम पाती। इसलिए किसी से भी उनकी भेंट होते ही एक खूब लम्बी प्रश्नोत्तरमाला की सृष्टि हो जाती—अच्छे हो? शशी अच्छा है? हमारे बड़े बाबू अच्छे तो हैं? सुना था मधु के पुत्र को ज्वर आ गया था, वह अब अच्छा तो है! हरिचरण बाबू को बहुत समय से नहीं देखा, वे अस्वस्थ तो नहीं

हो गए ! तुम्हारे रांखाल का क्या समाचार है ? घर में से सब लोग अच्छे तो हैं ?" इत्यादि ।

वे बड़े ही .साफ़-सुथरे व्यक्ति थे । कपड़े-लत्ते अधिक नहीं थे, किन्तु मिरजई, चादर, कुरता, यहाँ तक कि बिस्तर पर बिछने वाली एक पुरानी दुतई, तकिये का खोल, एक छोटी दरी—इन सबको वे अपने हाथों धूप देकर, झाड़कर, रस्सी में लटकाकर, तहाकर, अरगनी पर टाँगकर बड़े कायदे से रखते थे। जब भी वे दिखाई पड़ते तभी लगता मानो वे सुसज्जित होकर तैयार बैठे हैं। थोड़े-बहुत सामान से ही उनका घर-द्वार जगमगाता रहता । ऐसा लगता, मानो उनके पास और भी बहुत कुछ है ।

नौकर के अभाव में वे बहुत बार कमरे का दरवाजा बंद करके अपने हाथ से बड़े ढंग से धोती चुनियाते और चादर और कुरते की आस्तीन बड़े यत्न और परिश्रम से चुन्नट करके रखते । उनकी लम्बी-चौड़ी ज़मींदारी और बहुमूल्य धन-सम्पति लुप्त हो चुकी थी, किन्तु एक बहुमूल्य गुलाबपाश, इत्रदान, सोने की एक रकाबी, चाँदी का एक हुक्का, एक बहुमूल्य शाल और पुरानी चाल के जामे की एक जोड़ और पगड़ी को उन्होंने बड़े यत्न से दरिद्रता के मुह में जाने से बचाया था । कोई भी अवसर आने पर यह सब सामान निकल आता और नयनजोड़ के जगद्विख्यात बाबुओं के गौरव की रक्षा हो जाती ।

इधर कैलाश बाबू मिट्टी के माधो होने पर भी अपनी बातों में जो अहंकार व्यक्त करने वह मानो पूर्व-पुरुषों के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव करके ही करते थे; सभी लोग उसको बढ़ावा देते और विशेष विनोद का अनुभव करते ।

मुहल्ले के लोग उनको दादाजी कहते और उनके यहाँ हमेशा बहुत-से लोगों का समागम रहता; किन्तु दैन्यावस्था के कारण कहीं उनका तम्बाकू का खर्च बहुत बढ़ न जाय इसलिए प्रायः मुहल्ले का कोई-न-कोई दो-एक सेर तम्बाकू खरीद लाता और उनसे कहता, "दादाजी, एक बार परीक्षा करके तो देखो जरा, गया का बढ़िया तम्बाकू हाथ लगा है ।"

दादाजी दो-एक कश खींचकर कहते, "खूब है भई, तम्बाकू खूब है !" और इसी बहाने साठ-पैंसठ रुपये तोले के तम्बाकू का किस्सा छेड़ देते; और पूछते कि किसी को उस तम्बाकू का स्वाद लेकर देखने की इच्छा तो नहीं है ।

सभी जानते थे कि यदि कोई इच्छा प्रकट कर दे तो अवश्य ही चाबी का पता न लगेगा या फिर बहुत ढूंढने के बाद पता चलेगा कि पुराना नौकर गणेश का बच्चा कहाँ क्या रखता है इसका कोई ठिकाना नहीं—गणेश भी बिना प्रतिवाद कये समस्त अपवाद स्वीकार कर लेता । इसलिए सभी एक स्वर में

उत्तर देते, "दादाजी, कोई ज़रूरत नहीं, वह तम्बाकू हमसे बर्दाश्त नहीं होगी, हमारे लिए यही अच्छी है।"

इतना सुनते ही दादाजी दुबारा कुछ न कहकर किंचित् मुस्कराते। सबके विदा होते समय वे सहसा बोल उठते, "खैर, इसे छोड़ो, तुम लोग मेरे यहाँ भोजन कब करोगे, बताओ तो भई!"

त्यों ही सब बोल पड़ते, "देखा जायगा, फिर किसी दिन तय कर लेंगे।" दादाजी, "यही अच्छा है, थोड़ा पानी बरस जाय, ठण्डक हो जाय, नहीं तो इस गरमी में भारी भोजन बेकार है।"

जब बरसात आती तब कोई भी दादाजी को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण न कराता, किन्तु बात चलने पर सभी कहते, "जब तक बूँदा-बाँदी बन्द न हो तब तक मज़ा नहीं आयगा। किराए के छोटे घर में रहना उनके लिए शोभन नहीं है और कष्ट भी होता है, इस बात को उनके बन्धु-बान्धव उनके सामने स्वीकार करते, लेकिन कलकत्ता में खरीदने योग्य घर खोज लेना कितना कठिन है, इस विषय में भी किसी को कोई सन्देह नहीं था—यही नहीं, आज छः-सात वर्ष से खोज करने पर भी कोई मुहल्ले वाला भाड़े पर लेने योग्य एक बड़ा मकान तक नहीं पा सका—आखिर दादाजी कहते, "जो हो, भाई तुम लोगों के पास हूँ, मेरे लिए यही सुख है, नयनजोड़ में बड़ा घर तो पड़ा ही है, किन्तु वहाँ क्या मन टिकता है?"

मेरा विश्वास है, दादाजी भी जानते थे कि उनकी अवस्था सभी जानते हैं और जब वे भूतपूर्व नयनजोड़ को वर्तमान का रूप देकर दिखावा करते और जब और लोग भी उसमें उनका साथ देते तब वे मन-ही-मन समझ लेते कि परस्पर की यह छलना केवल एक-दूसरे के प्रति सौहार्द के कारण हैं।

किन्तु मुझे बड़ी चिढ़ छूटती। छोटी अवस्था में दूसरों के निरीह गर्व का भी दमन करने की इच्छा होती है और हज़ारों गुरुतर अपराधों की तुलना में मूर्खता ही सबसे अधिक असह्य प्रतीत होती है। कैलाश बाबू सचमुच निर्बोध नहीं थे, काम-काज में उनकी सहायता और सलाह की सभी भी अपेक्षा करते। किन्तु नयनजोड़ का गौरव वर्णन करने में उनको सहज औचित्य का तनिक भी ध्यान नहीं रहता था। सबके स्नेह और मनोरंजन के पात्र होने के कारण कोई भी उनकी किसी भी असम्भव बात का प्रतिवाद नहीं करता था इससे वे अपनी बात की सीमा की रक्षा नहीं कर पाते थे। दूसरे व्यक्ति भी जब हँसी-मज़ाक में अथवा उनको सन्तुष्ट करने के लिए नयनजोड़ के कीर्ति-कलाप के सम्बन्ध में अस्वाभाविक मात्रा में अत्युक्ति का प्रयोग करते तो वे बिना किसी हिचकिचाहट

के सब-कुछ मान लेते और स्वप्न में भी सन्देह न करते कि कोई दूसरा इन सब बातों में लेश-मात्र भी अविश्वास प्रकट कर सकता है।

कभी-कभी मेरी इच्छा होती कि वृद्ध जिस मिथ्या गढ़ के सहारे रह रहे हैं और सोचते हैं कि वह चिरस्थायी है उस दुर्ग को ही सबके सामने दो तोपों से उड़ा दूं। किसी पक्षी को डाल पर आराम से बैठा देखकर शिकारी की इच्छा होती है उसे गोली से उड़ा दे, पहाड़ के ऊपर किसी पतनोन्मुख पत्थर को पड़े देखकर बालक के मन में आता है ठोकर मारकर उसे लुढ़का दे—जो वस्तु प्रतिक्षण अब गिरी तब गिरी की स्थिति में है और किसी एक चीज़ से अटकी हुई रहती है, उसको गिरा देने में ही मानो उनकी सम्पूर्णता निहित है और उससे दर्शक के मन को भी सन्तोष मिलता है। कैलाश बाबू की असत्य बातें जितनी ही सरल थीं उनकी भित्ति उतनी ही दुर्बल थी, वे सत्य की बन्दूक के निशाने के ठीक सामने इस प्रकार छाती फुलाकर नाचने लगतीं कि उनको तुरन्त नष्ट कर डालने के लिए मन में इच्छा उत्पन्न हो जाती—मैं केवल अत्यधिक आलस्य और सर्वजन-सम्मत प्रथा का अनुसरण करने के कारण ही इस कार्य में हस्तक्षेप न करता।

: २ :

अतीत के अपने मनोभावों का विश्लेषण करने पर जो कुछ याद आता है उससे लगता है कि कैलाशबाबू के प्रति मेरे आन्तरिक द्वेष का और एक गूढ़ कारण था। उसको कुछ विस्तार से कहना आवश्यक है।

बड़े आदमी का पुत्र होने पर भी मैंने उचित अवस्था में एम० ए० पास किया है, यौवनावस्था में भी किसी प्रकार की कुसंगति और कुत्सित आमोद में योग नहीं दिया, और अभिभावकों की मृत्यु के बाद स्वयं मालिक होने पर भी मेरे स्वभाव में किसी प्रकार की विकृति नहीं आई है। तिस पर शक्ल-सूरत ऐसी कि यदि मैं उसे अपने मुंह से सुन्दर कहूँ तो अहंकार हो सकता है, किन्तु झूठी प्रशंसा नहीं होगी।

इसलिए बंगाल में घटकों के बाजार में मेरी क़ीमत बहुत ज्यादा है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। इस बाज़ार में मैं अपनी पूरी क़ीमत वसूल करके रहूँगा, मैंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। धनी पिता की परम रूपवती विदुषी एक-मात्र कन्या आदर्श रूप से मेरी कल्पना में विराज रही थी।

दस हज़ार, बीस हज़ार रुपये दहेज का प्रस्ताव लेकर देश-विदेश से मेरे विवाह-सम्बन्ध आने लगे। मैं अविचलित चित्त से तराजू पर रखकर उनकी योग्यता को तोलकर देख लेता था, मुझे कोई भी अपने बराबर योग्य प्रतीत नहीं

हुई। अंत में भवभूति की उक्ति के समान मेरी धारणा बन गई कि—

हो सकता है, कभी कोई मेरे समान उत्पन्न हो
समय असीम है, वसुधा विपुल है ।

किन्तु वर्तमान काल में और क्षुद्र बंगदेश में वह असंभव दुर्लभ पदार्थ उत्पन्न हुआ है या नहीं, इसमें संदेह है।

कन्या-भार से ग्रस्त लोग प्रायः नाना प्रकार से मेरी स्तव-स्तुति करते हुए विविधोपचारों से मेरी पूजा करने लगे। कन्या चाहे पसन्द हो या न हो, यह पूजा मुझे बुरी नहीं लगती थी। बढ़िया लड़का मानकर कन्याओं के पिताओं द्वारा अपनी इस पूजा को मैं अपना उचित प्राप्य समझता था। शास्त्रों में लिखा है कि देवता चाहे वर दें, या न दें, यथाविधि पूजा न मिलने पर बड़े क्रुद्ध हो जाते हैं। नियमित रूप से पूजा पाते हुए मेरे मन में भी वैसा ही अत्युच्च देव-भाव पैदा हो गया था।

पहले ही कह चुका हूँ, दादाजी की एक पौत्री थी। उसको अनेक बार देखा था, किन्तु कभी भी रूपवती समझने का भ्रम नहीं हुआ। अतएव उससे विवाह की कल्पना भी मेरे मन में नहीं उठी। किन्तु यह अच्छी तरह सोच रखा था कि कैलाश बाबू किसी आदमी की मार्फ़त अथवा स्वयं पौत्री के अर्घ्य चढ़ाने की मंशा से मेरी पूजा-वंदना करने आयेंगे, क्योंकि मैं अच्छा लड़का था। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

मैंने सुना, मेरे किसी मित्र से उन्होंने कहा था कि नयनजोड़ के बाबू कभी किसी विषय में आगे बढ़कर किसी से प्रार्थना नहीं करते—कन्या चाहे चिरकुमारी रह जाय, तो भी वे उस कुल-प्रथा को भंग नहीं कर पायेंगे।

सुनकर मुझे बड़ा क्रोध आया। वह क्रोध बहुत दिनों तक मेरे मन में बना रहा—केवल भला लड़का होने के कारण चुप रह गया।

जिस प्रकार वज्र के साथ बिजली रहती है, उसी तरह मेरे स्वभाव में क्रोध के साथ कौतुकप्रियता जुड़ी हुई थी। वृद्ध को केवल पीड़ा पहुँचाना मुझसे संभव न होता—किन्तु एक दिन सहसा मन में एक ऐसी कौतुकपूर्ण योजना आई कि उसे कार्यान्वित करने का लोभ संवरण नहीं कर सका।

पहले ही कह चुका हूँ कि वृद्ध को संतुष्ट करने के लिए अनेक व्यक्ति तरह-तरह की मिथ्या बातों की सृष्टि करते थे। मुहल्ले के एक पेंशनभोगी डिप्टी मजिस्ट्रेट प्रायः कहते। "दादा, छोटे लाट के साथ जब भी भेंट होती है वे नयनजोड़ के बाबुओं का समाचार पूछे बिना नहीं रहते—साहब कहते हैं कि बंगाल में बर्दवान के राजा और नयनजोड़ के बाबू—यथार्थ में केवल यही दो

पुराने और सुप्रतिष्ठित वंश हैं।" दादा बहुत खुश होते और भूतपूर्व डिप्टी बाबू से भेंट होते ही अन्यान्य कुशल समाचारों के साथ पूछते, "छोटे लाटसाहब अच्छे हैं! उनकी मेम साहब अच्छी हैं? उनके लड़के-लड़कियाँ सब अच्छी तरह हैं? यह भी इच्छा प्रकट करते कि वे शीघ्र ही एक दिन साहब से मिलने जायेंगे। किन्तु भूतपूर्व डिप्टी को निश्चित पता था कि नयनजोड़ की विख्यात चार घोड़े वाली बग्घी के तैयार होकर दरवाजे पर पहुँचते-पहुँचते अनेक छोटे और बड़े लाट बदल जायेंगे।

एक दिन प्रातःकाल मैंने जाकर कैलाश बाबू को अलग बुलाकर धीरे से कहा, "दादा कल लेफ्टिनेंट गवर्नर के स्वागत-समारोह में गया था, उनके नयनजोड़ के बाबुओं की बात छेड़ने पर मैंने कहा कि नयनजोड़ के कैलाश बाबू तो कलकत्ता में ही हैं, यह सुनकर छोटे लाट इतने दिन तक मिलने न आ सकने के कारण बड़े दुखी हुए—कहा कि आज ही दोपहर को वे छिपकर तुमसे मिलने आयेंगे।"

और कोई होता तो बात की असंभवता समझ जाता एवं और किसी के सम्बन्ध में कही जाने पर कैलाश बाबू भी उस बात पर हँसते, किन्तु अपने से सम्बन्धित होने के कारण इस बात पर उनको लेश-मात्र भी अविश्वास नहीं हुआ। सुनकर जितने प्रसन्न हुए उतने ही अधीर हो उठे—कहाँ बैठाना होगा, क्या करना होगा, किस प्रकार अभ्यर्थना करनी होगी—किस प्रकार नयनजोड़ का गौरव बचेगा—वे कुछ भी नहीं समझ पा रहे थे। उसके अतिरिक्त वे अंग्रेजी नहीं जानते, बात कैसे करेंगे यह भी तो एक समस्या थी।

मैंने कहा, "इसके लिए चिन्ता न करें, उनके साथ एक दुभाषिया रहता है; किन्तु छोटे लाट साहब की यह खास इच्छा है कि और कोई उपस्थित न रहे।"

मध्याह्न में जब मुहल्ले के अधिकांश लोग आफिस चले गए एवं शेष लोग द्वार बन्द करके निद्रामग्न थे तभी एक बग्घी कैलाश बाबू के घर के सामने आकर रुकी।

बिल्ला लगाए चपरासी ने उनको खबर दी, "छोटा लाट साहब आया।" दादाजी पुराने जमाने में प्रचलित सफेद पाजामा और पगड़ी बाँधे हुए तैयार थे; अपने पुराने नौकर गणेश को भी उन्होंने अपनी धोती, चादर, कुरता पहनाकर ठीक-ठाक करके रखा था। छोटे लाट के आगमन का समाचार सुनते ही हाँफते-हाँफते काँपते हुए दौड़कर द्वार पर जा उपस्थित हुए—और कमर झुकाकर बारंबार सलाम करते हुए अँग्रेज वेशधारी मेरे एक प्रिय समवयस्क को अन्दर

ले गए ।

वहाँ चौकी पर उनका एक-मात्र बहुमूल्य शाल बिछा हुआ था, उसीके ऊपर कृत्रिम छोटे लाट को बैठाकर उन्होंने उर्दू भाषा में एक अति विनीत लम्बी वक्तृता का पाठ किया और नज़र के रूप में सोने की रकाबी में रखकर बड़े कष्ट से रक्षित अपनी कुल क्रमा-आगत अशर्फियों की एक माला रखी । पुराना सेवक गणेश गुलाब-जल का पात्र और इत्रदान लिये उपस्थित था ।

कैलाश बाबू बारंबार क्षोभ प्रकट करने लगे कि वे अपने नयनजोड़ वाले घर में हुजूर बहादुर की पद-धूलि पड़ने पर उनके आतिथि सत्कार का यथासाध्य यथोचित आयोजन कर सकते थे । कलकत्ता में वे प्रवासी हैं—यहाँ वे जलहीन मीन के समान हर काम में असमर्थ हैं इत्यादि ।

मेरे मित्र बड़ा-सा हैट पहने अत्यन्त गम्भीर भाव से अपना सिर हिलाने लगे । अंग्रेज़ी कायदे के अनुसार ऐसे स्थलों पर सिर पर टोपी न रखने की प्रथा है, किन्तु मेरे मित्र ने पकड़े जाने के भय से यथासम्भव छिपे रहने के प्रयत्न में टोपी नहीं उतारी । कैलाश बाबू एवं उनके गर्वान्ध प्राचीन भृत्य को छोड़कर और सभी क्षण-भर में बंगाली व्यक्ति के इस छद्मवेश को पहचान लेते ।

दस मिनट तक सिर हिलाकर मेरे मित्र उठ खड़े हुए और पूर्व निश्चय के अनुसार चपरासियों ने सोने की रकाबी समेत अशर्फ़ियों की माला, चौकी पर से वह शाल एवं भृत्य के हाथों से गुलाब जल छिड़कने का पात्र और इत्रदान लेकर उस छद्मवेशी की गाड़ी में रख दिया—कैलाश बाबू ने सोचा कि यही छोटे लाट की प्रथा होगी । मैं पास के एक कमरे में छिपा देख रहा था और हँसी के आवेग को रोकने के मारे मेरी छाती फटने की नौबत आई थी ।

अन्त में और किसी भी प्रकार रह न सकने पर मैं भागकर थोड़ी ही दूर पर जाकर एक कमरे में पहुँचा—और वहाँ हँसी का उच्छ्वास उन्मुक्त करते ही सहसा देखा कि एक बालिका चौकी पर उलटी पड़ी फूट-फूटकर रो रही है ।

मुझे अचानक कमरे में प्रवेश करके हंसते देखकर वह हड़बड़ाकर चौकी छोड़कर खड़ी हो गई, और अश्रु-रुद्ध कण्ठ में रोष की गर्जन भरकर मेरे मुख पर सजल विशाल कृष्णचक्षुओं से सुतीक्ष्ण विद्युत्-वर्षा करती हुई बोली, "मेरे दादा जी ने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा है—क्यों तुम लोग उनको ठगने आए हो—क्यों आए हो तुम लोग"—बस आगे और कोई बात नहीं निकली—उसका गला भर आया, साड़ी से मुँह ढककर रो उठी ।

मेरी हंसी का आवेग कहाँ चला गया ? मैंने जो काम किया था उसमें मज़ाक के अलावा और कुछ था, अभी तक मेरे दिमाग़ में भी नहीं आया था—

अचानक देखा, मैंने अत्यन्त कोमल स्थान पर अत्यंत कठोर आघात किया है; सहसा मेरे द्वारा किये काम की वीभत्स निष्ठुरता मेरे सामने देदीप्यमान हो उठी —लज्जा एवं अनुताप से लात खाए हुए कुत्ते के समान कमरे से चुपचाप बाहर निकल आया। वृद्ध ने मेरे प्रति क्या अपराध किया था। उनके निरीह अहंकार ने तो कभी किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाया। मेरे अहंकार ने क्यों इस तरह हिंसा की मूर्ति धारण कर ली।

इसके अतिरिक्त और एक सम्बन्ध में आज सहसा मेरी आँखें खुल गईं। इतने दिन तक मैं कुसुम को किसी अविवाहित पात्र की प्रसन्न दृष्टिपात की प्रतीक्षा में संरक्षित रखे हुए बिकने वाले पदार्थ के समान देखता था—सोचता था, मैंने इसे पसंद नहीं किया इसीलिए वह पड़ी हुई है। दैव योग से जिसको पसंद आयगी वह उसीकी होगी। आज देखा, इस घर के कोने में पड़ी उस बालिका-मूर्ति के अंतराल में एक मानव-हृदय है। अपने निजी सुख-दुःख, अनुराग-विराग को लिये उसका अपना अन्तःकरण एक ओर अज्ञेय अतीत और दूसरी ओर अकल्पनीय भविष्य नामक दो अनन्त रहस्य-राज्यों की ओर पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है। जिस व्यक्ति के पास हृदय है वह क्या केवल दहेज के रुपयों और आँख-नाक की लम्बाई-चौड़ाई नापकर पसंद कर लेने योग्य है।

सारी रात नींद नहीं आई। दूसरे दिन तड़के ही मैं वृद्ध के समस्त अपहृत बहुमूल्य द्रव्यों को लेकर चोर की भाँति चुपके से दादाजी के घर पहुँचा—इच्छा थी, किसी से कुछ भी न कहकर चुपके से सब-कुछ नौकर के हाथों दे आऊँगा।

नौकर को न देख पाने के कारण इधर-उधर कर रहा था कि इसी बीच पास के कमरे में वृद्ध के साथ बालिका की बातचीत सुनाई पड़ी। बालिका मीठे स्नेहपूर्ण स्वर में पूछ रही थी, "दादाजी, कल लाट साहब ने तुमसे क्या कहा।" पितामह अत्यंत हर्षित चित्त हो लाट साहब के शब्दों में प्राचीन नयनजोड़ के वंश का विस्तृत काल्पनिक गुणानुवाद बिठा रहे थे। बालिका उसे सुनकर बड़ा उत्साह प्रकट कर रही थी।

वृद्ध अभिभावक के प्रति मातृ-हृदय से पूर्ण इस छोटी बालिका की सकरुण छलना से मेरे दोनो नेत्रों में अश्रु छलछला आए। मैं बहुत देर तक चुप-चाप बैठा रहा—अंत में पितामह के अपनी कहानी समाप्त करके चले जाने पर मैं प्रतारणा द्वारा अपहृत उस माल को लेकर बालिका के पास उपस्थित हुआ और चुपचाप उसके सामने रखकर चला आया।

आजकल की प्रथा के अनुसार और रोज तो वृद्ध को देखने पर किसी

प्रकार का अभिवादन नहीं करता था—आज उनको प्रणाम किया। वृद्ध ने अवश्य ही अपने मन में सोचा होगा, कि पिछले दिन उनके यहाँ छोटे लाट के आगमन से ही सहज उनके प्रति मेरी भक्ति का उद्रेक हुआ है। वे अत्यंत पुलकित हो शतमुख से छोटे लाट की कहानी गढ़कर कहने लगे—मैंने भी बिना किसी प्रतिवाद के उसमें योग दिया। बाहर के जिन लोगों ने सुनी, उन्होंने आद्योपान्त उस बात को गप्प समझा, और हँसी-हँसी में वृद्ध की सारी गाथा का समर्थन कर गए।

सबके उठ जाने पर मैंने अत्यंत सलज्ज विनीत भाव से वृद्ध से एक प्रस्ताव किया। मैंने कहा, "यद्यपि नयनजोड़ के बाबुओं के साथ हमारी वंश-मर्यादा की कोई तुलना नहीं हो सकती, तथापि—"

प्रस्ताव समाप्त करते ही वृद्ध ने आलिङ्गन करते हुए मुझे छाती से लगा लिया, और आनन्दित होकर कहने लगे, "मैं ग़रीब हूँ—मेरा ऐसा सौभाग्य होगा यह मैं नहीं जानता था, भाई—मेरी कुसुम ने बड़ा पुण्य किया है जो आज तुम हाथ आए," कहते-कहते वृद्ध के नेत्रों से अश्रु झरने लगे।

वृद्ध ने आज पहली बार अपने महिमान्वित पूर्वपुरुषों के प्रति अपना कर्तव्य भुलाकर यह स्वीकार किया कि वे ग़रीब हैं, और यह भी स्वीकार किया कि मुझे प्राप्त करके नयनजोड़-वंश की गौरव-हानि नहीं हुई। मैं जिस समय वृद्ध को अपमानित करने के लिए षड्यंत्र कर रहा था उस समय वे मुझे परम सत्पात्र समझकर एकनिष्ठ भाव से मेरी कामना कर रहे थे।

क्षुधित पाषाण

: १ :

मैं और मेरे सम्बन्धी पूजा की छुट्टी में देश-भ्रमण समाप्त करके कलकत्ता लौट रहे थे, तभी रेलगाड़ी में उन बाबू से भेंट हुई। उनकी वेशभूषा देखकर शुरू में उन्हें पश्चिमी प्रान्त का मुसलमान समझने का भ्रम हुआ था। उनकी बातचीत सुनकर और भी चक्कर में पड़ गया। वे दुनिया-भर के विषयों पर इस प्रकार बातें करने लगे मानो विधाता उनके साथ परामर्श करने के बाद ही सारा काम-काज करते हैं। संसार में भीतर-ही-भीतर भाँति-भाँति की जो नाना अश्रुत-पूर्व गूढ़ घटनाएँ घटित हो रही थीं—रूसी कितने आगे बढ़ गए हैं, अँग्रेजों का क्या-क्या गुप्त अभिप्राय है, देशी राजाओं में कैसी खिचड़ी पक रही है, इन सबसे बेखबर हम पूर्णतः निश्चिन्त थे। हमारे नवपरिचित वक्ता ने कुछ हँसकर कहा; There happen more things in heaven and earth, Horatio, than are reported in your newspapers. 'होरेशियो, स्वर्ग और पृथ्वी पर तुम्हारे समाचार-पत्रों में छपने वाली बातों की अपेक्षा कहीं अधिक घटनाएं घटती हैं।' हम पहली ही बार घर से बाहर निकले थे अतएव इस व्यक्ति का रंग-ढंग देखकर अवाक् हो गए। वह ज़रा-ज़रा-सी बात पर कभी विज्ञान की चर्चा करता, वेद की व्याख्या करता और कभी अचानक फ़ारसी के बैंतों की आवृत्ति करता, विज्ञान, वेद और फ़ारसी भाषा पर हमारा कोई अधिकार न होने के कारण उनके प्रति हमारी भक्ति क्रमशः बढ़ने लगी। यही नहीं मेरे थियोसोफिस्ट सम्बन्धी के मन में इसका दृढ़ विश्वास हो गया कि अपने इस सहयात्री से किसी अलौकिक कार्य का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है; कोई अद्‌भुत मैगनेटिज्म या कोई दैव-शक्ति, अथवा सूक्ष्म शरीर, या ऐसी ही कोई एक चीज़। वे इस असामान्य व्यक्ति की साधारण-से-साधारण बात भी भक्ति-विह्वल होकर मुग्ध भाव से सुन रहे थे और चुपचाप नोट भी करते जा रहे थे; मुझे उनके भाव से लगा कि वे असामान्य व्यक्ति भी मन-ही-मन यह समझ गए थे और कुछ खुश भी हुए थे।

जब गाड़ी जंकशन पर पहुँचकर रुकी, तो हम दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा

में वेटिंग रूम में इकट्ठे हुए। उस समय रात के साढ़े दस बजे थे। सुनने में आया कि रास्ते में कुछ बाधा आ जाने के कारण गाड़ी बहुत देर से आयगी। इस बीच मैंने टेबिल के ऊपर बिछौना फैलाकर सोने का निश्चय किया, तभी उन असामान्य व्यक्ति ने निम्नलिखित कहानी छेड़ दी। उस रात मुझे फिर नींद नहीं आई।

राज्य-संचालन के सिलसिले में दो-एक-बातों में मतभेद होने के कारण मैं जूनागढ़ की नौकरी छोड़कर जब हैदराबाद के निजाम की सरकारी नौकरी में आया तब शुरू में मुझे उम्र में छोटा और मजबूत आदमी देखकर बरीच में रुई का महसूल वसूल करने पर नियुक्त किया गया।

बरीच बड़ी रमणीय जगह थी। निर्जन पहाड़ के नीचे बड़े-बड़े वनों के भीतर से होकर शुस्ता नदी (संस्कृत स्वच्छतोया का अपभ्रन्श) उपलमुखरित पथ में निपुणा नर्तकी के समान पग-पग पर लहराती बल खाती द्रुत गति से नाचती चली गई थी। ठीक उसी नदी के किनारे पत्थर के बने डेढ़ सौ सीढ़ियों के अत्युच्च घाट पर सफ़ेद पत्थर का एक एकाकी प्रासाद पर्वत की तराई में खड़ा था—आस-पास कहीं कोई बस्ती न थी। बरीच की रुई की हाट एवं ग्राम यहाँ से दूर थे।

प्रायः ढाई सौ वर्ष पूर्व द्वितीय शाह महमूद ने भोग-विलास के लिए इस निर्जन स्थान में प्रासाद का निर्माण कराया था। उस समय स्नानागार के फव्वारे के मुख से गुलाब-सुगंधित जल-धारा छूटती रहती और उस सीकर-शीतल निभृत कक्ष में संगमरमर-जटित स्निग्ध शिलासन पर बैठकर अपने कोमल नग्न पदपल्लवों को जलाशय की निर्मल जलराशि में फैलाए फारस देश की तरुण रमणियाँ स्नान के पूर्व केश बिखेरे सितार गोद में लिये द्राक्षावन की गजलें गाती रहतीं।

अब वह फव्वारा क्रीड़ा नहीं करता था, न वह गीत था। सफेद पत्थर पर शुभ्र चरणों का सुन्दर आघात नहीं पड़ता था—अब तो वह हम जैसे निर्जनता-पीड़ित संगिनीहीन महसूल-कलेक्टर का अति बृहत् एंव अति शून्य निवास-स्थान था। किन्तु दफ़्तर के वृद्ध क्लर्क करीमखाँ ने मुझे इस प्रासाद में रहने को बार-म्बार मना किया था। कहा था, इच्छा हो तो दिन में रहें, पर यहाँ रात्रि न बितायें। मैंने उसकी बात हँसी में उड़ा दी। नौकरों ने कहा कि वे संध्या-पर्यंत काम करेंगे, किन्तु रात में यहाँ न रहेंगे। मैंने कहा, तथास्तु। इस घर की ऐसी बदनामी थी कि रात के समय चोर भी यहाँ आने का साहस नहीं करते थे।

पहले-पहल आने पर इस परित्यक्त पाषाण-प्रसाद की जन-शून्यता मेरे हृदय को मानो किसी भयंकर भार के समान दबाए रहती। मैं यथाशक्ति बाहर रहकर निरन्तर काम-काज करने के बाद रात को क्लान्त देह से घर लौटकर सो जाता।

पर अभी एक सप्ताह भी नहीं बीता था कि इस मकान का एक अपूर्व नशा क्रमशः आक्रमण करके मुझे घेरने लगा। अपनी उस अवस्था का वर्णन करना भी कठिन है और लोगों को उसका विश्वास दिलाना भी मुश्किल है। सारा घर मानो एक सजीव पदार्थ की भाँति मुझे अपने जठरस्थ मोह रस से धीरे-धीरे जीर्ण करने लगा।

शायद इस घर में पदार्पण करते ही इस प्रक्रिया का आरम्भ हो गया था, किन्तु मैंने जिस दिन सचेत होकर पहली बार इसके सूत्रपात का अनुभव किया, उस दिन की बात मुझे अच्छी तरह याद है।

ग्रीष्म-काल के आरम्भ में उस समय बाज़ार नरम था; हाथ में कोई काम नहीं था। सूर्यास्त के कुछ पहले मैं नदी-किनारे घाट की सबसे नीची सीढ़ी पर एक आरामकुरसी लिये बैठा था। शुस्ता नदी क्षीण हो गई थी; दूसरे किनारे पर विस्तृत बालुका-तट अपराह्न की आभा से रंगीन हो उठा था; इस पार घाट की सीढ़ियों के नीचे उथले स्वच्छ जल मे बटियाँ झिलमिला रही थीं। उस दिन कहीं भी हवा नहीं थी। समीप के पर्वत पर बनतुलसी, पोदीना, और सौंफ के जंगल से उड़ती तीखी सुगन्ध ने शांत आकाश को आक्रान्त कर रखा था।

सूर्य जब गिरि-शिखर के अन्तराल में अवतीर्ण हो गए तभी दिन की नाट्यशाला पर एक दीर्घ छाया-यवनिका पड़ गई; पर्वत का व्यवधान होने के कारण यहाँ सूर्यास्त के समय प्रकाश और अन्धकार का सम्मिलन बहुत देर स्थायी नहीं रहता। घोड़े पर बैठकर ज़रा घूम-फिर आऊँ यह सोचकर अब उठूँ, तब उठूँ कर रहा था कि सीढी पर पैरों की आहट सुनाई पड़ी। पीछे फिरकर देखा, कोई नहीं था।

इन्द्रिय-भ्रम समझकर लौटकर दुबारा बैठते ही एकाएक बहुत-से पैरों का शब्द सुनाई पड़ा—जैसे बहुत-से लोग मिलकर भाग-दौड़ करते हुए उतरते आ रहे हों। किंचित् भय के साथ एक अपरूप रोमाञ्च से मेरा सर्वांग परिपूर्ण हो गया। यद्यपि मेरे सामने कोई मूर्ति नहीं थी तथापि प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट जान पड़ा कि ग्रीष्म की उस संध्या में प्रमोद-चंचल नारियों का एक दल शुस्ता के जल में स्नान करने उतरा है। यद्यपि उस संध्या-काल में निस्तब्ध गिरि-तट पर नदी के किनारे निर्जन प्रासाद में कहीं कोई शब्द नहीं था तथापि मैंने मानो स्पष्ट सुना कि निर्झर की शतधाराओं के समान क्रीड़ामग्न कलहास्य करती हुई मिलकर तेज़ी से दौड़ती हुई स्नानार्थिनियाँ मेरे पास से निकल गई हों। मुझे मानो उन्होंने देखा भी न हो। जिस प्रकार वे मेरे निकट अदृश्य थीं, मैं भी मानो उसी प्रकार उनके निकट अदृश्य था। नदी पहले की ही भाँति स्थिर थी,

किन्तु मुझे स्पष्ट बोध हुआ मानो स्वच्छतोया का उथला स्रोत अनेक वलयसिंचित बाहु-विक्षेपों से विक्षुब्ध हो उठा हो, हँस-हँसकर सखियाँ एक-दूसरे पर जल के छींटे मार रही हों एवं तैरती हुई रमणियों के पदाघात से जलबिन्दु-राशि मुट्ठी-भर मोतियों की भाँति आकाश में बिखरी पड़ रही हो।

मेरे वक्ष में एक प्रकार का कंपन होने लगा; वह उत्तेजना भय की, या आनन्द की, या कौतूहल की थी, ठीक नहीं कह सकता। बड़ी इच्छा होने लगी कि अच्छी तरह से देखूं, किन्तु देखने के लिए सामने कुछ नहीं था; लगता था, अच्छी तरह कान लगाने से उनकी सारी बातचीत स्पष्ट सुनाई पड़ेगी—किन्तु एकाग्र मन से कान लगाने पर केवल अरण्य के झींगुरों का शब्द सुनाई देता। मुझे लगा, मानो ढाई सौ वर्षों की कृष्ण वर्ण यवनिका ठीक मेरे सामने झूल रही हो, डरते-डरते एक सिरा उठाकर भीतर नज़र डालूं—वहाँ एक विराट सभा लगी है, किन्तु गाढ़ अंधकार में कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

अचानक उमस को चीरती हुई हू-हू करके हवा चलने लगी—देखते-देखते शुस्ता का स्थिर जलतल अप्सरा के केश-पाश की भाँति कुञ्चित हो उठा, एवं संध्याछायाच्छन्न समस्त वनभूमि क्षण-भर में एक साथ मर्मर ध्वनि करके मानो दुःस्वप्न से जाग उठी। चाहे स्वप्न कहो या सत्य कहो, ढाई सौ वर्ष के अतीत क्षेत्र से प्रतिफलित होकर मेरे सामने जो एक अदृश्य मरीचिका अवतीर्ण हुई थी वह पल-भर में अन्तर्धान हो गई। जो मायामयी मुझे फलांगती हुई देह-हीन द्रुत-पदों से शब्द-हीन उच्चकलहास्य से दौड़कर शुस्ता के जल में जाकर कूद पड़ी थीं, अपने सिक्त अंचलों से बूंदें टपकातीं-टपकातीं फिर मेरी बगल से होकर नहीं निकलीं। जिस प्रकार वायु गन्ध को उड़ाकर ले जाती है, उसी प्रकार वे वसन्त के एक निश्वास में उड़कर चली गईं।

उस समय मुझे बड़ी आशङ्का हुई कि हठात् निर्जन देखकर कहीं कविता देवी मेरे कंधे पर न आ बैठी हों; मैं बेचारा रुई का महसूल वसूल करके मेहनत करके खाता हूं, सर्वनाशिनी शायद इस बार मेरे प्राण ही लेने न आई हों। सोचा, अच्छी तरह भोजन करना होगा; खाली पेट होने पर ही सब तरह के दुःसाध्य रोग आकर घेर लेते हैं। अपने रसोइये को बुलाकर मैंने खूब घी में पकाकर मसाला सुगन्धि डालकर बाकायदा मुग़लाई खाना तैयार करने का हुक्म दिया।

दूसरे दिन सबेरे यह सारा मामला अत्यन्त हास्यजनक प्रतीत हुआ। प्रसन्न चित्त से साहबों की भाँति सोला हैट पहनकर अपने हाथों से गाड़ी हाँककर गड़गड़ाहट करता तहक़ीक़ात के अपने काम पर चला गया। उस दिन त्रैमासिक रिपोर्ट लिखने

का दिन होने के कारण देर से घर लौटने की बात थी। किन्तु संध्या होते-न-होते ही मैं घर की ओर खिंचने लगा। कौन खींचने लगा यह नहीं कह सकता; किन्तु लगा, अब और देरी करना उचित न होगा। मुझे लगा, सब बैठे हुए हैं। रिपोर्ट असमाप्त छोड़कर मैं सोला हैट लगाए संध्या-धूसर पेड़ों की सघन छाया वाले निर्जन पथ को रथचक्र-ध्वनि से चौंकाते हुए उस अंधकारपूर्ण शैलान्तवर्ती निस्तब्ध प्रकाण्ड प्रासाद में आकर उपस्थित हुआ।

सीढ़ियों के ऊपर वाला सामने का कमरा बहुत बड़ा था। बड़े-बड़े खम्भों की तीन पंक्तियों पर नक्काशीदार मेहराबों ने विस्तीर्ण छत को धारण कर रखा था। वह विशाल कमरा अपनी अपार शून्यता को लिये हुए अहर्निश ध्वनित होता रहता। उस दिन संध्या के कुछ पहले का समय था, अभी दीपक नहीं जलाए गए थे। दरवाजा ठेलकर मैंने ज्यों ही उस बड़े कमरे में प्रवेश किया त्यों ही मुझे लगा मानो कमरे में कोई भारी विप्लव मच गया हो—मानो सहसा सभा भंग करके चारों ओर के दरवाजों, खिड़कियों, कमरों, रास्तों, बरामदों से होकर न जाने कौन किस ओर भाग गया। कहीं भी कुछ न देख पाने के कारण मैं अवाक् होकर खड़ा रह गया। शरीर एक प्रकार से आवेश से रोमाञ्चित हो उठा। मानो बहुत दिन के लुप्तप्राय: केश-द्रव्य और इत्र की मृदुगन्ध मेरी नाक में प्रवेश करने लगी हो। उस दीपहीन जनहीन प्रकाण्ड कक्ष की प्राचीन प्रस्तरस्तम्भ-श्रेणी के बीच खड़े हुए मुझे सुनाई पड़ा—झर-झर करता हुआ फव्वारे का जल सफेद पत्थर पर आकर गिर रहा है, सितार में कौन-सा सुर बज रहा है समझ नहीं पड़ता। कहीं स्वर्णाभूषणों की झनकार सुनाई पड़ रही है, कहीं नूपुरों की रुनन, कभी तांबे के बृहत् घंटे पर पहर बजाने का शब्द, बहुत दूर पर बजती नौबत का आलाप, वायु से दोलायमान झाड़ की स्फटिक लटकनों की ठन-ठन ध्वनि, बरामदे से पिंजरे में बंद बुलबुल का गीत, बगीचे से पालतू सारस का बोल मेरे चारों ओर किसी प्रेत-लोक की रागिनी रचने लगे।

मुझे एक ऐसे मोह ने आ घेरा कि लगा मानो यह अस्पृश्य, अगम्य, अवास्तव व्यापार ही जगत् में एक-मात्र सत्य हो, बाकी सब मिथ्या मरीचिका हो। मैं जो मैं हूँ—अर्थात् मैं जो श्रीयुक्त अमुक हूँ, अमुक का ज्येष्ठ पुत्र हूँ, रुई का महसूल वसूल करके साढ़े चार सौ रुपये वेतन पाता हूँ, मैं जो सोला हैट और ऊँचा कुर्ता पहनकर टमटम हाँककर दफ्तर जाता हूँ ये सारी बातें मुझे ऐसी अद्भुत हास्यकर निर्मूल और मिथ्या-सी लगीं कि मैं उस विशाल निस्तब्ध अँधेरे कमरे के बीच खड़ा हा-हा करके हँस उठा।

उसी समय मेरे मुसलमान नौकर ने हाथ में केरोसीन का जलता हुआ

लैम्प लिये घर में प्रवेश किया। मालूम नहीं, उसने मुझे पागल समझा या नहीं, किन्तु उसी क्षण मुझे याद आई कि मैं स्वर्गीय अमुकचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र श्रीयुक्त अमुकनाथ ही हूँ; यह भी सोचा कि जगत् के भीतर अथवा बाहर कहीं कोई अमूर्त फव्वारा सर्वदा झरता है या नहीं और अदृश्य अँगुली के आघात से किसी माया-सितार से कोई अनन्त रागिनी ध्वनित होती है या नहीं यह हमारे महाकवि और कविवर ही बता सकते हैं, किन्तु यह बात अवश्य सत्य है कि मैं बरीच के बाजार में रूई का महसूल वसूल करके महीने में साढ़े चार सौ रुपया वेतन लेता हूँ। तभी मैं फिर अपने थोड़ी देर पहले के अद्भुत मोह की याद करके केरोसीन से प्रकाशित कैम्प-टेबिल के पास समाचार-पत्र लिये विनोद से हँसने लगा।

समाचार-पत्र पढ़कर और मुग़लाई खाना खाकर मैं कोने के एक छोटे-से कमरे में बत्ती बुझाकर बिस्तर पर जा लेटा। मेरे सामने वाले खुले जंगले में से अँधेरे वन-वेष्टित अरावली पर्वत के ऊर्ध्व देश का एक अत्युज्ज्वल नक्षत्र सहस्र कोटि योजन दूर आकाश से उस अति तुच्छ कैम्प—खाट के ऊपर श्रीयुक्त महसूल-कलेक्टर को एकटक देख रहा था—इस पर विस्मय और कौतुक अनुभव करते-करते मैं कब सो गया, कह नहीं सकता। कितनी देर सोया यह भी नहीं जानता। सहसा एक बार सिहरकर जग पड़ा, कमरे में कोई आहट हुई हो, सो नहीं; किसी आदमी ने प्रवेश किया हो यह भी नहीं देख सका। अंधकारपूर्ण पर्वत के ऊपर से निर्निमेष नक्षत्र अस्तमित हो गया था और कृष्णपक्ष के क्षीण चन्द्रा-लोक ने अनधिकार संकुचित स्वभाव से मेरी खिड़की की राह प्रवेश कर लिया था।

कोई भी व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ा। तो भी मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ, मानो कोई मुझे धीरे-धीरे ठेल रहा हो। मेरे जाग उठते ही उसने बिना कुछ कहे मानो केवल अपनी अँगूठी-खचित पाँच उँगलियों के इशारे से मुझे अत्यन्त साव-धानी से अपना अनुसरण करने का आदेश किया।

मैं बिलकुल चुपके से उठा। यद्यपि उस शतकक्ष प्रकोष्ठमय, अपार शून्यता-पूर्ण, निद्रित ध्वनि एवं सजग प्रतिध्वनिपूर्ण विशाल प्रासाद में मेरे अतिरिक्त और कोई भी प्राणी न था, तथापि पग-पग पर भय लगता कि कहीं कोई जाग न पड़े। प्रासाद के अधिकांश कक्ष बंद रहते थे और उन कमरों में मैं कभी नहीं गया था।

उस रात मैं बिना आहट किये पैर रखता हुआ साँस रोके उस अदृश्य आह्वानकारिणी का अनुसरण करता किधर से होकर कहाँ जा रहा था, आज यह नहीं बता सकता। मैंने कितना सँकरा अँधेरा रास्ता, कितना लम्बा बरामदा कितना गम्भीर निस्तब्ध विशाल सभागृह, कितनी रुद्धवायु सँकरी छिपी कोठरियाँ

पार कीं, इसका कोई ठिकाना नहीं।

अपनी अदृश्य दूती को यद्यपि मैं आँखों से देख नहीं पा रहा था तथापि उसकी मूर्ति मेरे मन से अगोचर नहीं थी। अरब रमणी जिसकी झूलती आस्तीनों से संगमरमर के-से कठिन, सुडौल हाथ दिख रहे थे, टोपी से लेकर मुँह तक एक झीने कपड़े का पर्दा पड़ा था, कमरबंद में एक टेढ़ी छुरी बँधी थी।

मुझे लगा, आज आरब्य उपन्यास की एकाधिक सहस्र रजनी में से एक रजनी उपन्यास-लोक से उड़कर आ गई है। मैंने मानो अंधकारपूर्ण अर्धरात्रि में निद्रामग्न बगदाद के आलोक-हीन सँकरे रास्ते में कोई संकट-संकुल अभिसार-यात्रा की हो।

अंत में मेरी दूती सहसा एक घने नीले परदे के सामने चौंककर खड़ी हो गई और मानो अँगुली से नीचे की ओर संकेत किया। नीचे कुछ भी नहीं था, किन्तु भय से मेरे हृदय का रक्त जम गया। मैंने अनुभव किया, उस परदे के सामने जमीन पर कीमखाब की पोशाक पहने एक भीषण हब्शी खोजा गोद में नंगी तलवार लिये दोनों पैर फैलाकर बैठा ऊँघ रहा था। दूती ने धीमी गति से उसके पैर लाँघकर परदे का एक कोना पकड़कर उठाया।

भीतर से कमरे का थोड़ा-सा भाग दिखाई पड़ा, जिस पर फारसी गलीचा बिछा हुआ था। तख्त के ऊपर कौन बैठा था यह नहीं दिखाई पड़ा—केवल जाफ़-रानी रंग के ढीले पाजामे के नीचे जरी की जूतियाँ पहने गुलाबी मखमल के आसन पर अलस भाव से रखे हुए दो सुन्दर चरण दिखाई दिये। मेज पर एक ओर एक नीलाभ स्फटिक पात्र में कुछ सेब, नाशपाती, नारंगी और बहुत-से अंगूरों के गुच्छे सजे हुए थे और उसकी बगल में दो छोटे प्याले और स्वर्णाभ मदिरा का एक काँच-पात्र अतिथि के लिए प्रतीक्षा कर रहा था। कमरे के भीतर से किसी अपूर्व धूप के मादक-से सुगन्धित धूम्र ने आकर मुझे विह्वल कर डाला।

मैं ज्यों ही काँपते हृदय से उस खोजे के फैले हुए पैरों को लाँघने चला त्यों ही वह चौंक उठा, उसकी गोद से तलवार पत्थर के फर्श पर आवाज करती हुई गिर पड़ी।

सहसा एक विकट चीत्कार सुनकर चौंक कर देखा, मैं अपनी उसी कैम्प-खाट पर पसीने में तर बैठा हुआ था—भोर के आलोक में कृष्णपक्ष का खण्डित चन्द्र जागरण से क्लान्त रोगी के समान पाण्डुवर्ण हो गया था—एवं अपना पागल मेहरअली अपने प्रतिदिन के नियमानुसार प्रातःकाल जनशून्य रास्ते में हट जाओ, हट जाओ, चिल्लाता जा रहा था।

इस प्रकार आरब्य उपन्यास की मेरी एक रात अकस्मात् समाप्त हो गई—

किन्तु अभी तो एक हज़ार रातें बाकी थीं।

मेरे दिन से रात का एक भारी विरोध ठन गया। दिन के समय मैं श्रान्त-क्लान्त-देह से काम करने जाता और शून्य स्वप्नमयी मायाविनी रात को कोसता रहता—और फिर सन्ध्या के बाद मुझे दिन के समय का अपना यह कर्मबद्ध अस्तित्व अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या एवं हास्यकर लगने लगता।

संध्या के पश्चात् मैं विह्वलभाव से एक नशे के जाल में जकड़ जाता। मैं सैकड़ों वर्ष पहले के किसी अलिखित इतिहास का कोई अन्य अपूर्व व्यक्ति हो जाता, फिर उस समय मुझे विलायती ऊँचा कुर्ता एवं चुस्त पतलून नहीं फबती। उस समय मैं सिर पर लाल मखमल की एक फैज लगाकर, ढीला पाजामा, फूलदार काबा और रेशम का लम्बा चोग़ा पहनकर रंगीन रूमाल में इत्र लगाकर बड़े यत्न से साज करता एवं सिगरेट छोड़कर गुलाबजल से भरा बहुकुण्डलायित विशाल हुक्का लेकर एक ऊँची विशेष गद्दी वाले बड़े दीवान पर बैठ जाता। मानो रात में होने वाले किसी अपूर्व प्रिय सम्मेलन के लिए बड़े आग्रह से तैयार हो जाता।

इसके बाद ज्यों-ज्यों अंधकार घनीभूत होता जाता त्यों-त्यों न जाने कैसी अद्भुत घटनाएँ घटती रहतीं कि मैं उनका वर्णन नहीं कर सकता। ठीक मानो किसी चमत्कारपूर्ण कहानी के कुछ फटे हुए अंश वसन्त की आरम्भिक वायु से इस विशाल प्रासाद के विचित्र कमरों में उड़ते रहते। थोड़ी दूर तक मिलते, फिर उसके बाद बाकी दिखाई नहीं देते थे। मैं भी उन मँडराते विच्छिन्न अंशों का अनुसरण करता हुआ रात-भर कमरे-कमरे में चक्कर काटता रहता।

स्वप्न-खण्ड के इस आवर्त्त में कभी हिना की सुगन्धि, कभी सितार के शब्द, कभी सुरभि-जल-सीकर-मिश्रित वायु के झोंकों के बीच क्षण-क्षण में विद्युत्-शिखा के समान एक नायिका अचानक दीख जाती। उसका ज़ाफ़रानी रंग का पाजामा एवं कोमल विमल लाल चरणों में पहनी घुण्डीदार उठी हुई ज़री की जूतियाँ वक्ष पर कसकर बँधी ज़री की फूलोंदार चोली सिर पर लाल टोपी और उससे झूलती सोने की झालर ने उसके शुभ्र ललाट एवं कपोलों को घेर लिया था।

उसने मुझे पागल बना दिया। मैं उसीके अभिसार में रोज़ रात को निद्रा के पाताल-लोक में जटिल पथ-संकुल स्वप्नों की मायापुरी की गली-गली, कमरे-कमरे में चक्कर काटता रहता था।

किसी-किसी दिन संध्या के समय बड़े आईने के दोनों ओर दो बत्ती जलाकर यत्नपूर्वक शहज़ादे के समान सजावट कर रहा होता कि तभी अचानक

देखता आईने में मेरे प्रतिबिंब के पास क्षण-भर के लिए उसी ईरानी तरुणी की छाया आ पड़ी है—और पलक मारते ही गर्दन झुकाकर अपने गहरे काले विशाल नेत्रों के तारकों से सुगंभीर तीव्र आवेगमय, वेदनापूर्ण आग्रहयुक्त कटाक्ष-पात करके, सरस सुन्दर बिंबाधरों पर एक अस्फुट भाषा का आभास मात्र देकर, लघु ललित नृत्य द्वारा अपनी यौवन-पुष्पित देह-लता को द्रुत गति से ऊपर की ओर लहराकर मुहूर्तभर में ही वेदना, वासना, विभ्रम, हास्य, कटाक्ष तथा भूषणों की चमक के स्फुलिंगों की वर्षा करके दर्पण में ही विलीन हो गई है। गिरि-कानन की समस्त सुगंधि को लूटकर उद्दाम वायु का एक उच्छ्वास आकर मेरी दोनों बत्तियों को बुझा देता। मैं साज-सज्जा छोड़कर प्रसाधन कक्ष के पास वाली शैया में पुलकित तन से नयन मूंदकर लेटा रहता—मेरे चारों ओर उस वायु में अरावली के उस पर्वत-कुञ्ज के समस्त मिश्रित सौरभ में मानो प्रचुर प्रेम, अनेक चुम्बन, अनेक कोमल कर-स्पर्श निभृत अंधकार को भरकर तैरते रहते, कानों के पास प्रचुर कलगुञ्जन सुनाई देता, मेरे माथे पर सुगन्धित निश्वास आकर टकराते। और कोई मृदु-सौरभ रमणीय सुकोमल ओढ़नी बारम्बार उड़-उड़कर मेरे कपोलों का स्पर्श करती रहती। धीरे-धीरे मानो कोई मोहिनी सर्पिणी अपने मादक वेष्टन में मेरा सर्वांग कस लेती। मैं गहरी साँस लेकर बे-सुध तन से गहरी नींद में अभिभूत हो जाता।

एक दिन अपराह्न में मैंने घोड़े पर चढ़कर बाहर जाने की ठानी, न जाने कौन मुझे निषेध करने लगा—किन्तु उस दिन मैंने निषेध नहीं माना। काठ की एक खूंटी पर मेरा साहबी हैट और ऊंचा कुर्ता लटक रहा था, उसको उतारकर मैं पहनने ही वाला था कि तभी शुस्ता नदी की बालू एवं अरावली पर्वत की सूखी पल्लव-राशि की ध्वजा फहराता एक प्रबल बवंडर अचानक मेरे उस कुरते और टोपी को उड़ाकर घुमाता-घुमाता ले चला एवं एक अत्यन्त सुमिष्ट कलहास्य उस हवा के साथ चक्कर काटता हुआ कौतूहल के एक-एक परदे पर आघात करता हुआ उच्च-से-उच्चतर सप्तक पर चढ़ता सूर्यास्त-लोक के पास पहुँचकर विलीन हो गया।

उस दिन फिर घोड़े की सवारी नहीं हुई और उसके दूसरे दिन से उस विचित्र ऊँचे कुरते और साहबी टोप का पहनना एकदम छोड़ दिया।

उसी दिन आधी रात को बिछौने पर उठकर बैठने पर सुनाई पड़ा, मानो कोई भीतर-ही-भीतर फूट-फूटकर रो रही हो—मानो मेरी खाट के नीचे, फर्श के नीचे इस बृहत् प्रासाद की पाषाणभित्ति के तले किसी आर्द्र अन्धकारपूर्ण कब्र में से रो-रोकर कह रही हो, 'तुम मेरा उद्धार करके ले चलो—कठिन

माया-पाश, गम्भीर निद्रा, निष्फल स्वप्न के सारे दरवाज़े चूर-चूरकर तुम मुझे घोड़े पर बिठाकर अपनी छाती से चिपकाकर, वन के बीच से, पहाड़ के ऊपर से, नदी पार करके अपने सूर्यालोकित कमरे में ले चलो ! मेरा उद्धार करो !'

मैं कौन हूँ ? मैं कैसे उद्धार करूँगा ? मैं इस घूर्ण्यमान परिवर्तनशील स्वप्न-प्रवाह में डूबी हुई किस कामना-सुन्दरी को किनारे खींच लाऊँगा। हे दिव्यरूपिणी ! तुम कब हुई थीं ? कहाँ थीं ? तुमने किस शीतल उत्स के किनारे खजूर-कुञ्ज की छाया में किस गृह-हीना मरुवासिनी की गोद में जन्म ग्रहण किया था। कौन बेदुई दस्यु, वनलता से पुष्पकोरक के समान तुम्हें मातृ-क्रोड़ से वियुक्त करके विद्युत्गामी अश्व पर बिठाकर दग्ध बालुका-राशि के पार किस राजपुरी की दासी-हाट में बेचने के लिए ले गया था ? वहाँ पर किस बादशाह के भृत्य ने तुम्हारी नवविकसित सलज्जकातर यौवन-शोभा का निरीक्षण करके स्वर्णमुद्राएँ गिनकर समुद्र पार करके तुम्हें सोने की शिविका में बिठाकर प्रभुगृह के अन्तःपुर को तुम्हारा उपहार दिया था। कैसा विचित्र इतिहास था वहाँ का। वही सारंगी का संगीत, नूपुरों की ध्वनि और शीराज की स्वर्णमदिरा के बीच छुरी की झलक, विष की ज्वाला, कटाक्ष का आघात ! कैसा असीम ऐश्वर्य, कैसा अनन्त कारागार ! दोनों ओर दो दासियाँ कंगनों के हीरों में बिजली चमकाती हुई चँवर डुलाती थीं। शाहंशाह बादशाह शुभ्र चरणों की मणिमुक्ता-जटित पादुकाओं पर लोटता था, बाहर दरवाज़े पर यमदूत के समान हब्शी देवदूत की भाँति सजकर हाथ में नंगी तलवार लिये खड़ा रहता। उसके पश्चात् उस रक्त-कलुषित ईर्ष्या-फेनिल षड्यन्त्र-संकुल भीषणोज्ज्वल ऐश्वर्य के प्रवाह में उतराती हुई तुम मरुभूमि की पुष्प-मञ्जरी किस निष्ठुर मृत्यु में समा गईं अथवा किस निष्ठुरतर महिमा-तट पर जा पड़ीं ?

इसी समय वह पागल मेहरअली अकस्मात् चिल्ला उठा, "हट जाओ, हट जाओ। सब झूठ है, सब झूठ है।" आँख खोलकर देखा, सवेरा हो गया था, चपरासी ने डाक की चिट्ठी-पत्री लाकर मेरे हाथ में दी और रसोइए ने आकर सलाम करके पूछा कि आज किस प्रकार का भोजन तैयार करना होगा।

मैंने कहा, "नहीं, अब इस घर में और नहीं रहा जा सकता।" उसी दिन अपना सामान उठाकर ऑफिस के मकान में जा ठहरा। ऑफिस का बूढ़ा क्लर्क करीमखाँ मुझे देखकर कुछ मुस्कराया। मैं उसकी हँसी से खीझकर कोई उत्तर दिये बिना काम करने लग गया।

ज्यों-ज्यों शाम होने लगी त्यों-ही-त्यों मैं अन्यमनस्क होने लगा—लगने लगा, बस अभी तुरन्त कहीं जाना है—रुई के हिसाब की जाँच का काम अत्यंत

अनावश्यक प्रतीत होने लगा, निज़ाम की निज़ामत भी मुझे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं हुई—जो कुछ वर्तमान था, जो कुछ मेरे चारों ओर चल रहा था, फिर रहा था, कार्य-रत था, खा रहा था, सब-कुछ मेरे लिए अत्यन्त दीन, अर्थहीन और तुच्छ प्रतीत होने लगे।

मैं कलम पटककर बड़ी बही बन्द करके उसी क्षण टमटम पर चढ़कर भागा। देखा, टमटम ठीक गोधूलि-वेला में अपने-आप उस पाषाण-प्रासाद के द्वार के पास पहुँचकर रुक गई। शीघ्रता से सीढ़ियाँ चढ़कर कमरे में प्रवेश किया।

आज सब-कुछ निस्तब्ध था। अँधेरे कमरों ने मानो नाराज़ होकर मुँह फुला लिया था। पश्चात्ताप से मेरा हृदय उद्वेलित हो उठा; किन्तु किसे बताऊँ, किससे क्षमा चाहूँ, खोज नहीं पाया। मैं उदास चित्त से अँधेरे में एक-एक कमरे में घूमने लगा। इच्छा होने लगी कि हाथ में कोई साज़ लेकर किसी को लक्ष्य करके गीत गाऊँ। कहूँ, 'हे वह्नि, जिस पतंग ने तुमको छोड़कर भागने की चेष्टा की थी, वह फिर मरने के लिए आया है। इस बार उसे क्षमा करो, उसके दोनों पंख जला दो, भस्मसात् कर डालो।' सहसा ऊपर से मेरे मस्तक पर आँसू की बूंदें आ पड़ीं। उस दिन अरावली पर्वत की चोटी पर घनघोर मेघ छाए हुए थे। अन्धकारपूर्ण अरण्य और शुस्ता का स्याह वर्ण जल किसी भीषण प्रतीक्षा में निश्चल हो गए थे। सहसा जल-स्थल-आकाश सिहर उठे; एवं अकस्मात् विद्युत्दन्त-विकसित आँधी शृङ्खला-छिन्न उन्माद के समान पथहीन सुदूर वन के भीतर से आर्त्त चीत्कार करती हुई झपट पड़ी। प्रासाद के बड़े-बड़े शून्य कमरों के सारे द्वार पछाड़ खाकर तीव्र वेदना से हू-हू करके रोने लगे।

आज सारे नौकर लोग ऑफिस के कमरे में थे, यहाँ बत्ती जलाने वाला कोई नहीं था। उस मेघाच्छन्न अमावस्या की रात में घर के भीतरी निकषकृष्ण अँधेरे में मैं स्पष्ट अनुभव करने लगा—कोई रमणी पलंग के नीचे गलीचे के ऊपर मुँह के बल पड़ी कसकर बँधी मुट्ठियों से अपने बिखरे केश-जाल को खींच-खींचकर नोंचे डाल रही है, उसके गौर वर्ण ललाट से रक्त फूटकर निकल रहा है, कभी वह शुष्क तीव्र अट्टहासयुक्त हा-हा करके हँस पड़ती है, कभी फफक-फफककर फूट-फूटकर रोती है, दोनों हाथों से चोली फाड़कर उघरी हुई छाती पीट रही है, खुली खिड़की से वायु गर्जन करती हुई आ रही है, एवं मूसलाधार वर्षा ने आकर उसके सारे अंगों को अभिषिक्त कर दिया है।

सारी रात न तूफ़ान थमा, न रोना बन्द हुआ। मैं निष्फल परिताप से एक-एक कमरे में अँधेरे में घूमता रहा। कहीं कोई नहीं था; किसको सान्त्वना देता, यह प्रचण्ड अभिमान किसका था, यह अशान्त आक्षेप कहाँ से उठ रहा था।

पागल चीख उठा, "हट जाओ, हट जाओ ! सब झूठ है, सब झूठ है ।"

देखा, भोर हो गया था और मेहरअली इस घोर दुर्योग के दिन भी यथा-नियम प्रासाद की प्रदक्षिणा करके अपने अभ्यास के अनुसार चीख रहा था। अचानक मुझे लगा, शायद वह मेहरअली भी मेरे समान कभी इस महल में निवास करता रहा हो, अब पागल होकर बाहर आने पर भी इस पाषाणराक्षस के मोह से आकर्षित होकर प्रतिदिन प्रातःकाल प्रदक्षिणा करने आता हो।

मैंने तत्क्षण उस वर्षा में ही दौड़ते हुए पागल के पास जाकर उससे पूछा, "मेहरअली, क्या झूठ है रे ?"

वह मेरी बात का कोई उत्तर दिये बिना मुझे धकेलकर अजगर के सामने चक्कर काटते हुए अजगर के ग्रास मोहाविष्ट पक्षी के समान चीखता हुआ प्रासाद के चारों ओर घूमने लगा। प्राणपण से केवल अपने को सतर्क करने के लिए बारंबार कह उठता, "हट जाओ, हट जाओ ! सब झूठ है, सब झूठ है ।"

उस वर्षा और आँधी में पागल की भाँति ऑफिस में जाकर करीमखाँ को बुलाकर मैंने कहा, "इसका क्या अर्थ है, मुझे खोलकर बताओ !"

वृद्ध ने जो कहा उसका मर्मार्थ यह है, 'किसी समय उस प्रासाद में अनेक अतृप्त वासनाएँ, अनेक उन्मत्त संभोगों की शिखाएँ आलोड़ित होती थीं—उस सब चित्त-दाह से, उन सब निष्फल कामनाओं के अभिशाप से इस प्रासाद का प्रत्येक प्रस्तर-खंड क्षुधार्त्त, तृषार्त्त हो उठा है, जीवित मनुष्य को पाने पर वह उसको लाला-यित पिशाचिनी के समान खा डालना चाहता है। जिन्होंने तीन रात उस प्रासाद में वास किया है उनमें से केवल मेहरअली पागल होकर बाहर निकला है, आज तक और कोई उसके ग्रास से नहीं बच सका है।'

मैंने पूछा, "क्या मेरे उद्धार का कोई मार्ग नहीं है।"

वृद्ध ने कहा, "केवल एक उपाय है, जो अत्यन्त दुरूह है। वह तुम्हें बताता हूँ—किन्तु इसके पहले उस गुलबाग़ की एक ईरानी क्रीतदासी का पुराना इतिहास बताना आवश्यक है। वैसी आश्चर्यजनक और वैसी हृदय-विदारक घटना संसार में और कभी नहीं घटी।"

तभी कुलियों ने आकर खबर दी, गाड़ी आ रही है। इतनी जल्दी ? जल्दी-जल्दी बिस्तर-सामान बाँधते-बाँधते गाड़ी आ गई। उस गाड़ी के फर्स्ट-क्लास में सोकर उठे एक अंग्रेज सज्जन खिड़की के बाहर मुख निकालकर स्टेशन का नाम पढ़ने की कोशिश कर रहे थे, हमारे सहयात्री मित्र को देखते ही—'है लो' कहते हुए चीख उठे और अपने डिब्बे में बैठा लिया। हम सैकिण्ड क्लास में चढ़े। बाबू कौन थे, पता नहीं लगा, कहानी भी पूरी नहीं सुनी जा सकी।

मैंने कहा, "वह आदमी हम लोगों को मूर्ख समझ मजाक-मजाक में बुद्धू बना गया; कहानी शुरू से आखिर तक कल्पित थी।"

इस तर्क के फलस्वरूप अपने थियोसोफिस्ट-सम्बन्धी के साथ मेरा सदा के लिए विच्छेद हो गया है।

अतिथि

: १ :

काँठालिया के जमींदार मतिलाल बाबू नौका से सपरिवार अपने घर जा रहे थे। रास्ते में दोपहर के समय नदी के किनारे की एक मण्डी के पास नौका बाँधकर भोजन बनाने का आयोजन कर ही रहे थे कि इसी बीच एक ब्राह्मण बालक ने आकर पूछा, "बाबू, तुम लोग कहाँ जा रहे हो?" प्रश्नकर्ता की आयु पन्द्रह-सोलह से अधिक न होगी।

मतिबाबू ने उत्तर दिया, "काँठालिया।"

ब्राह्मण बालक ने कहा, "मुझे रास्ते में नन्दीगाँव उतार देंगे क्या?"

बाबू ने स्वीकृति प्रकट करते हुए पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

ब्राह्मण बालक ने कहा, "मेरा नाम तारापद है।"

गौरवर्ण बालक देखने में बड़ा सुन्दर था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों और मुस्कराते हुए ओष्ठाधरों पर सुललित सौकुमार्य झलक रहा था। वस्त्र के नाम पर उसके पास एक मैली धोती थी। उभरी हुई देह में किसी प्रकार का बाहुल्य न था, मानो किसी शिल्पी ने बड़े यत्न से निर्दोष, सुडौल रूप में गढ़ा हो। मानो वह पूर्व-जन्म में तापस-बालक रहा हो और निर्मल तपस्या के प्रभाव से उसकी देह का बहुत-सा अतिरिक्त भाग क्षय होकर एक सम्मार्जित ब्राह्मण्य-श्री परिस्फुट हो उठी हो।

मतिलाल बाबू ने बड़े स्नेह से उससे कहा, "बेटा, स्नान कर आओ, भोजनादि यहीं होगा।"

तारापद बोला, "ठहरिए"! और वह तत्क्षण निस्संकोच भोजन के आयोजन में सहयोग देने लगा। मतिलाल बाबू का नौकर हिन्दुस्तानी (अबंगाली) था, मछली आदि काटने में वह इतना निपुण नहीं था; तारापद ने उसका काम स्वयं लेकर थोड़े ही समय में अच्छी तरह से सम्पन्न कर दिया और दो-एक तरकारी भी बड़ी कुशलता से तैयार कर दी। भोजन बनाने का कार्य समाप्त होने पर तारापद ने नदी में स्नान करके पोटली खोली और एक सफेद वस्त्र धारण किया; काठ की एक छोटी-सी कंघी लेकर सिर के बड़े-बड़े बाल माथे पर से

हटाकर गर्दन पर डाल लिये, और स्वच्छ जनेऊ का धागा छाती पर लटकाकर नौका में मतिबाबू के पास आ पहुँचा।

मतिबाबू उसे नौका के भीतर ले गए। वहाँ मतिबाबू की स्त्री और उनकी नववर्षीय कन्या बैठी था। मतिबाबू की स्त्री अन्नपूर्णा इस सुन्दर बालक को देखकर स्नेह से उच्छ्वसित हो उठीं, मन-ही-मन कह उठीं, 'अहा! किसका बच्चा है। कहाँ से आया है—इसकी माँ इसे छोड़कर किस प्रकार जीती होगी।'

यथासमय मतिबाबू और इस लड़के के लिए पास-पास दो आसन डाले गए। लड़का ऐसा भोजन-प्रेमी न था, अन्नपूर्णा ने उसका अल्प आहार देखकर मन में सोचा कि लजा रहा है; उससे यह-वह खाने का बहुत अनुरोध करने लगी, किन्तु जब वह भोजन से निवृत्त हो गया तो उसने कोई भी अनुरोध न माना। देखा गया, लड़का हर काम अपनी इच्छा के अनुसार करता, लेकिन ऐसे सहज भाव से करता कि उसमें किसी भी प्रकार की जिद या हठ का आभास न मिलता। उसके व्यवहार में लज्जा के लक्षण लेश-मात्र भी दिखाई नहीं पड़े।

सबके भोजनादि के बाद अन्नपूर्णा उसको पास बिठाकर प्रश्नों द्वारा उसका इतिहास जानने में प्रवृत्त हुईं। कुछ भी विस्तृत विवरण संग्रह नहीं हो सका। बस इतनी-सी बात जानी जा सकी कि लड़का सात-आठ बरस की उम्र में ही स्वेच्छा से घर छोड़कर भाग आया है।

अन्नपूर्णा ने प्रश्न किया, "तुम्हारी माँ नहीं हैं?"

तारापद ने कहा, "हैं।"

अन्नपूर्णा ने पूछा—"वे तुम्हें प्यार नहीं करतीं?"

इसे अत्यन्त विचित्र प्रश्न समझकर हँसते हुए तारापद ने कहा, "प्यार क्यों नहीं करेंगी?"

अन्नपूर्णा ने प्रश्न किया—"तो फिर तुम उन्हें छोड़ क्यों आए?"

तारापद बोला—"उनके और भी चार लड़के और तीन लड़कियाँ हैं।"

बालक के इस विचित्र उत्तर से व्यथित होकर अन्नपूर्णा ने कहा, "मैया री मैया, यह कैसी बात है। पाँच अँगुलियाँ हैं, तो क्या एक अँगुली त्यागी जा सकती है?"

तारापद की उम्र कम थी, उसका इतिहास भी उसी मात्रा में संक्षिप्त था; किन्तु लड़का बिलकुल असाधारण था। वह अपने माता-पिता का चौथा पुत्र था, शैशव में ही पितृहीन हो गया था। बहु सन्तान वाले घर में भी तारापद

सबको अत्यन्त प्यारा था। माँ, भाई-बहन और मुहल्ले के सभी लोगों से वह अथक स्नेह-लाभ करता। यहाँ तक कि गुरुजी भी उसे नहीं मारते थे—मारते तो भी बालक के अपने-पराए सभी उससे वेदना का अनुभव करते। ऐसी अवस्था में उसका घर छोड़ने का कोई कारण नहीं था। जो उपेक्षित रोगी लड़का हमेशा चोरी करके पेड़ों से फल और गृहस्थों से उसका चौगुना प्रतिफल पाता घूमता फिरता वह भी अपनी परिचित ग्राम-सीमा के भीतर अपनी कष्ट देने वाली माँ के ही पास पड़ा रहा, और समस्त ग्राम का दुलारा यह लड़का एक विदेशी यात्रा-दल में शामिल होकर निर्ममता से ग्राम छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

सब लोग उसका पता लगाकर उसे गाँव लौटा लाए। उसकी माँ ने उसे छाती से लगाकर आँसुओं से आर्द्र कर दिया, उसकी बहनें रोने लगीं, उसके बड़े भाई ने पुरुष-अभिभावक का कठिन कर्तव्य पालन करने के उद्देश्य से उस पर मृदुभाव से शासन करने का यत्न करके अन्त में अनुतप्त चित्त से खूब प्रश्रय और पुरस्कार दिया। मुहल्ले की लड़कियों ने उसको घर-घर बुलाकर खूब प्यार किया और नाना प्रलोभनों से उसे वश में करने की चेष्टा की। किन्तु बन्धन, यही नहीं स्नेह का बन्धन भी उसे सहन नहीं हुआ, उसके जन्म-नक्षत्र ने उसे गृहहीन कर रखा था। वह जब भी देखता कि नदी में कोई विदेशी नौका अपनी रस्सी घिसटाती जा रही है, गाँव के विशाल पीपल के वृक्ष के तले किसी दूर देश के किसी संन्यासी ने आश्रय लिया है। अथवा बनजारे नदी के किनारे ढालू मैदान में छोटी-छोटी चटाइयाँ बाँधकर खपच्चियाँ छीलकर टोकरियाँ बनाने में लगे हैं, तब अज्ञात बाह्य पृथ्वी की स्नेहहीन स्वाधीनता के लिए उसका मन बेचैन हो उठता। लगातार दो-तीन बार भागने के बाद उसके कुटुम्बियों और गाँव के लोगों ने उसकी आशा छोड़ दी।

पहले उसने एक यात्रा-दल का साथ पकड़ा। जब अधिकारी उसको पुत्र के समान स्नेह करने लगे और जब वह दल के छोटे-बड़े सभी का प्रिय पात्र हो गया, यही नहीं जिस घर में यात्रा होती उस घर के मालिक, विशेषकर घर का महिलावर्ग जब विशेष रूप से उसे बुलाकर उसका आदर-मान करने लगा, तब एक दिन किसी से बिना कुछ कहे वह भटककर कहाँ चला गया, इसका फिर कोई पता न चल सका।

तारापद हरिण-शिशु के समान बन्धनभीरु था, और हरिण के ही समान संगीत-प्रेमी भी। यात्रा के संगीत ने ही उसे पहले घर से विरक्त किया था। संगीत का स्वर उसकी समस्त धमनियों में कम्पन पैदा कर देता और संगीत की ताल पर उसके सर्वांग में आन्दोलन उपस्थित हो जाता। जब वह बिलकुल

बच्चा था तब भी वह संगीत-सभाओं में जिस प्रकार संयत गम्भीर प्रौढ़ भाव से आत्म-विस्मृत होकर बैठा-बैठा झूमने लगता उसे देखकर प्रवीण लोगों के लिए हँसी संवरण करना कठिन हो जाता। केवल संगीत ही क्यों, वृक्षों के घने पत्तों के ऊपर जब श्रावण की वृष्टि-धारा पड़ती, आकाश में मेघ गर्जते, पवन अरण्य में मातृहीन दैत्यशिशु की भाँति क्रंदन करता रहता तब उसका चित्त मानो उच्छृंखल हो उठता। निस्तब्ध दोपहरी में आकाश में बड़ी दूर से आती चील की पुकार, वर्षाऋतु की सन्ध्या में मेंढकों का कलरव, गहन रात में शृगालों की चीत्कार-ध्वनि सभी उसको अधीर कर देते। संगीत के इस मोह से आकृष्ट होकर वह शीघ्र ही एक पांचाली दल[1] में भर्ती हो गया। मंडली का अध्यक्ष उसे बड़े यत्न से गाना सिखाने और पांचाली कंठस्थ कराने में प्रवृत्त हुआ, और उसे अपने वक्ष-पिंजर के पक्षी की भाँति प्रिय समझकर स्नेह करने लगा। पक्षी ने थोड़ा-बहुत गाना सीखा और एक दिन तड़के उड़कर चला गया।

अन्तिम बार वह जिमनास्टिक करने वालों के दल में शामिल हुआ। जेठ के अंतिम दिनों से लेकर आषाढ़ के समाप्त होने तक इस अंचल में जगह-जगह क्रमानुसार समवेतरूप से अनुष्ठित मेले लगते। उनके उपलक्ष्य में यात्रा वालों के दो-तीन दल पांचालि गायक, कवि, नर्तकियाँ एवं अनेक प्रकार की दुकानें छोटी-छोटी नदियों, उपनदियों के रास्ते नौकाओं द्वारा एक मेले के समाप्त होने पर दूसरे मेले में घूमती रहतीं। पिछले वर्ष से कलकत्ता की एक छोटी जिमनास्टिक-मण्डली इस पर्यटनशील मेले के मनोरंजन में योग दे रही थी। तारापद ने पहले तो नौकारूढ़ दुकानदारों के साथ मिलकर मेले में पान की गिलौरियाँ बेचने का भार लिया। बाद में अपने स्वाभाविक कौतूहल के कारण इस जिमनास्टिक-दल के अद्भुत व्यायाम-नैपुण्य से आकृष्ट होकर उसमें प्रवेश किया। तारापद ने अपने-आप अभ्यास करके अच्छी तरह वंशी बजाना सीख लिया था—जिमनास्टिक के समय वह द्रुत ताल पर लखनऊ की ठुमरी के सुर में वंशी बजाता—यही उसका एक-मात्र काम था।

उसका आखिरी पलायन इसी दल से हुआ था। उसने सुना था कि नन्दीग्राम के जमींदार बाबू बड़ी धूमधाम से एक शौकिया यात्रा-दल बना रहे हैं—अतः वह अपनी छोटी-सी पोटली लेकर नन्दीग्राम की यात्रा की तैयारी कर रहा था, इसी समय उसकी भेंट मतिबाबू से हो गई।

एक के बाद एक नाना दलों में शामिल होकर भी तारापद ने अपनी स्वाभाविक कल्पना-प्रवण प्रकृति के कारण किसी भी दल की विशेषता प्राप्त नहीं

१. लोक-गीत-गायकों का दल।

की थी। वह अन्तःकरण से बिलकुल निर्लिप्त और मुक्त था। संसार में उसने सर्वदा अनेक कुत्सित बातें सुनीं और अनेक अशोभन दृश्य देखे, किन्तु उन्हें उसके मन में सञ्चित होने का रत्ती-भर अवकाश न मिला। उस लड़के का ध्यान किसी ओर था ही नहीं। अन्यान्य बंधनों की भाँति किसी प्रकार का अभ्यास-बन्धन भी उसके मन को बाध्य न कर सका। वह उस संसार में पंकिल जल के ऊपर शुभ्रपक्ष राज-हंस की भाँति तैरता-फिरता। कौतूहलवश वह जितनी भी बार डुबकी लगाता उसके पंख न तो भीग पाते थे, न मलिन हो पाते थे। इसी कारण इस गृह-त्यागी लड़के के मुख पर एक शुभ्र स्वाभाविक तारुण्य अम्लानभाव से झलकता रहता, उसकी यही मुखश्री देखकर प्रवीण दुनियादार मतिलाल बाबू ने बिना कुछ पूछे, बिना सन्देह किये बड़े प्यार से उसका आह्वान किया था।

: २ :

भोजन समाप्त होने पर नौका चल पड़ी। अन्नपूर्णा बड़े स्नेह से ब्राह्मण-बालक से उसके घर की बातें, उसके स्वजन-कुटुम्बियों का समाचार पूछने लगीं; तारापद ने अत्यन्त संक्षेप में उनका उत्तर देकर बाहर आकर परित्राण पाया। बाहर परिपूर्णता की अन्तिम सीमा तक भरकर वर्षा की नदी ने अपने आत्म-विस्मृत उद्दाम चांचल्य से प्रकृति-माता को मानो उद्विग्न कर दिया था। मेघ-मुक्त धूप में नदी-किनारे की अर्धनिमग्न काशतृणश्रेणी एवं उसके ऊपर के सरस सघन ईख के खेत और उससे भी परवर्ती प्रदेश में दूरदिगन्त चुम्बित नीलाञ्जन-वर्ण वनरेखा सभी कुछ मानो किसी काल्पनिक कथा की सोने की छड़ी[1] के स्पर्श से सद्य जागृत नवीन सौंदर्य की भाँति नीरव नीलाकाश की मुग्धदृष्टि के सम्मुख परिस्फुट हो उठा हो, सभी-कुछ मानो सजीव, स्पन्दित, प्रगल्भ, प्रकाश में उद्भासित, नवीनता से मसृण और प्राचुर्य से परिपूर्ण हो।

तारापद ने नौका की छत पर पाल की छाया में जाकर आश्रय लिया। ढालू हरा मैदान, पानी से भरे पाट के खेत, गहन श्याम लहराते हुए आमन[2] धान, घाट से गाँव की ओर जाने वाले सँकरे रास्ते, सघन बन-वेष्टित छायामय गाँव—एक के बाद एक उसकी आँखों के सामने से निकलने लगे। जल, स्थल, आकाश, चारों ओर की यह गतिशीलता, सजीवता, मुखरता, आकाश, पृथ्वी की यह

---

१. प्रसिद्ध लोक-कथा है कि एक राजकुमार ने सोने की छड़ी घुमाकर सोई हुई राजकुमारी को जगा दिया था, चाँदी की छड़ी घुमाने से वह सो जाती थी। सोने की छड़ी प्रेम, जागृत अवस्था की प्रतीक है।

२. हेमन्तकालीन धान।

व्यापकता और वैचित्र्य एवं निर्लिप्त सुदूरता, यह अत्यन्त विस्तृत चिरस्थायी निर्निमेष, नीरव वाक्य-विहीन विश्व तरुण बालक के परमात्मीय थे, पर फिर भी वह इस चंचल मानव को क्षण-भर के लिए भी स्नेह-बाहुओं में बाँध रखने की कोशिश नहीं करता था। नदी के किनारे बछड़े पूँछ उठाये दौड़ रहे थे, गाँव का टट्टू घोड़ा रस्सी से बँधे अपने अगले पैरों के बल कूदता हुआ घास चरता फिर रहा था, मछरंग पंक्षी मछुआरों के जाल बाँधने के बाँस के डंडे से बड़े वेग से पानी में झप से कूदकर मछली पकड़ रहा था, लड़के पानी में खेल रहे थे, लड़कियाँ उच्च स्वर से हँसती हुई बातें करती हुई छाती तक गहरे पानी में अपना वस्त्राञ्चल फैलाकर दोनों हाथों से उसे धो रही थीं, आँचल कमर में खोंसे मछुआरिनें डलिया लेकर मछुआरों से मछली खरीद रही थीं, इस सबको वह चिरनूतन अश्रान्त कौतूहल से बैठा देखता था, उसकी दृष्टि की पिपासा किसी भी तरह निवृत्त नहीं होती थी।

नौका की छत पर जाकर तारापद ने धीरे-धीरे खिवैया-माझियों से बातचीत छेड़ दी। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार वह मल्लाहों के हाथ से लग्गी लेकर खुद ही ठेलने लग जाता; माझियों को जब तमाखू पीने की जरूरत पड़ती तब वह स्वयं जाकर हाल सँभाल लेता, जब जिधर हाल मोड़ना आवश्यक होता वह दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर देता।

संध्या होने से कुछ पूर्व अन्नपूर्णा ने तारापद को बुलाकर पूछा, "रात में तुम क्या खाते हो ?"

तारापद बोला, "जो मिल जाता है वही खा लेता हूँ; रोज खाता भी नहीं।"

इस सुन्दर ब्राह्मण-बालक की आतिथ्य ग्रहण करने की उदासीनता अन्नपूर्णा को थोड़ी कष्टकर प्रतीत हुई। उनकी बड़ी इच्छा थी कि खिला-पिलाकर, पहना-ओढ़ाकर इस गृह-च्युत यात्री बालक को संतुष्ट करें। किन्तु किससे वह संतुष्ट होगा, यह वे नहीं जान सकीं। नौकरों को बुलाकर गाँव से दूध-मिठाई आदि खरीद मँगाने में अन्नपूर्णा ने धूमधाम मचा दी। तारापद ने पेट-भर भोजन तो किया, किन्तु दूध नहीं पिया। मौन स्वभाव मतिलाल बाबू तक ने उससे दूध पीने का अनुरोध किया; उसने संक्षेप में कहा, "मुझे अच्छा नहीं लगता।"

नदी पर दो-तीन दिन बीत गए। तारापद ने भोजन बनाने, सौदा खरीदने से लेकर नौका चलाने तक सब कामों में स्वेच्छा और तत्परता से योग दिया। जो भी दृश्य उसकी आँखों के सामने आता उसी ओर तारापद की कौतूहलपूर्ण दृष्टि दौड़ जाती, जो भी काम उसके हाथ लग जाता,

वह अपने-आप आकर्षित हो जाता। उसकी दृष्टि, उसके हाथ, उसका मन सर्वदा ही गतिशील बने रहते, इसी कारण वह इस नित्य चलायमान प्रकृति के समान सर्वदा निश्चिन्त, उदासीन रहता; किन्तु सर्वदा क्रियासक्त भी। यों तो हर मनुष्य की अपनी एक स्वतन्त्र अधिष्ठान भूमि होती है, किन्तु तारापद इस अनन्त नीलाम्बरवाही विश्व-प्रवाह की एक आनन्दोज्ज्वल तरंग था—भूत-भविष्यत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध न था, आगे बढ़ते जाना ही उसका एक-मात्र काम था।

इधर बहुत दिन तक नाना सम्प्रदायों के साथ योग देने के कारण अनेक प्रकार की मनोरंजनी विद्याओं पर उसका अधिकार हो गया था। किसी भी प्रकार चिंता से आच्छन्न न रहने के कारण उसके निर्मल स्मृति-पट पर सारी बातें अद्भुत सहज ढंग से अंकित हो जातीं। पांचाली कथकता[1], कीर्तन-गान, यात्राभिनय के लम्बे अवतरण उसे कंठस्थ थे। मतिलाल बाबू अपनी नित्य-प्रति की प्रथा के अनुसार एक दिन संध्या समय अपनी पत्नी और कन्या को रामायण पढ़कर सुना रहे थे, लुव-कुश की कथा की भूमिका चल रही थी, तभी तारापद अपना उत्साह संवरण न कर पाने के कारण नौका की छत से उतर आया और बोला, "किताब रहने दें। मैं लवकुश का गीत गाता हूँ, आप सुनते चलिए!"

यह कहकर उसने लवकुश की पाँचाली शुरू कर दी। बाँसुरी के समान सुमिष्ट उन्मुक्त स्वर से वह बड़ी तेज़ गति से दासुराय के अनुप्रासों की वर्षा करने लगा; डाँडी, मछुआरे, सभी दरवाजे पर आकर झुके पड़ रहे थे। उस नदी-नीर के संध्याकाश में हास्य, करुणा एवं संगीत का एक अपूर्व रस-स्रोत प्रवाहित होने लगा। दोनों निस्तब्ध किनारे कौतूहलपूर्ण हो उठे, पास से जो सारी नौकाएँ गुज़र रही थीं, उनमें बैठे लोग क्षण-भर के लिए उत्कण्ठित होकर उसी ओर कान लगाए रहे, जब गीत समाप्त हो गया तो सभी ने व्यथित चित्त से लम्बी साँस लेकर सोचा, इतनी जल्दी क्यों समाप्त हो गया।

सजलनयना अन्नपूर्णा की इच्छा हुई कि उस लड़के को गोद में बिठाकर छाती से लगाकर उसका माथा सूँघ लें। मतिलाल बाबू सोचने लगे, इस लड़के को यदि किसी प्रकार अपने पास रख सकूँ तो पुत्र का अभाव पूरा हो जाय। केवल छोटी बालिका चारुशशी का अन्तःकरण ईर्ष्या और विद्वेष से परिपूर्ण हो उठा।

: ३ :

चारुशशी अपने माता-पिता की इकलौती संतान और उनके स्नेह की

१. पुराणादि का पाठ और व्याख्या करना।

एकमात्र अधिकारिणी थी। उसकी धुन और हठ की कोई सीमा न थी। खाने, पहनने, बाल बनाने के सम्बन्ध में उसका अपना स्वतन्त्र मत था, किन्तु उस मत में तनिक भी स्थिरता नहीं थी। जिस दिन कहीं निमन्त्रण होता उस दिन उसकी माँ को भय रहता कि कहीं लड़की साज-सिंगार को लेकर कोई असम्भव जिद न कर बैठे। यदि दैवात् कभी केश-बन्धन उसके मन के अनुकूल न हुआ, तो फिर उस दिन चाहे जितनी बार बाल खोलकर चाहे जितने प्रकार से बाँधे जाते वह किसी तरह संतुष्ट न होती। और अन्त में रोना-धोना मच जाता। हर बात में यही दशा थी। पर कभी-कभी जब चित्त प्रसन्न रहता तो उसे किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति न होती। उस समय वह प्रचुर मात्रा में स्नेह प्रकट करके अपनी माँ से लिपटकर चूमकर हँसती हुई बात करते-करते उसे एकदम परेशान कर डालती। यह छोटी बालिका एक दुर्भेद्य पहेली थी।

यह बालिका अपने दुर्बोध्य हृदय के पूरे वेग का प्रयोग करके मन-ही-मन विषम ईर्ष्या से तारापद का निरादर करने लगी। माता-पिता को भी पूरी तरह से उद्विग्न कर डाला। भोजन के समय रोदनोन्मुखी होकर भोजन के पात्र को ठेलकर फेंक देती, खाना उसको रुचिकर नहीं लगता, नौकरानी को मारती, सभी बातों में अकारण शिकायत करती रहती। जैसे-जैसे तारापद की विद्याएँ उसका एवं अन्य सबका मनोरंजन करने लगीं, वैसे-ही-वैसे मानो उसका क्रोध बढ़ने लगा। तारापद में कोई गुण है, इसे उसका मन स्वीकार करने से विमुख रहता और उसका प्रमाण जब प्रबल होने लगा तो उसके असन्तोष की मात्रा भी बढ़ गई। तारापद ने जिस दिन लव-कुश का गीत सुनाया उस दिन अन्नपूर्णा ने सोचा, 'संगीत से वन के पशु तक वश में आ जाते हैं, आज शायद मेरी लड़की का मन पिघल गया है, उससे पूछा, "चारु, कैसा लगा ?" उसने कोई उत्तर दिये बिना बड़े ज़ोर से सिर हिला दिया। भाषा में इस मुद्रा का तर्जुमा करने पर यह रूप होता; ज़रा भी अच्छा नहीं लगा, और न कभी अच्छा लगेगा।

चारु के मन में ईर्ष्या का उदय हुआ है यह समझकर उसकी माँ ने चारु के सामने तारापद के प्रति स्नेह प्रकट करना कम कर दिया। सन्ध्या के बाद जब चारु जल्दी-जल्दी खाकर सो जाती तब अन्नपूर्णा नौका-कक्ष के दरवाज़े के पास आकर बैठतीं और मतिबाबू और तारापद बाहर बैठते और अन्नपूर्णा के अनुरोध से तारापद गाना शुरू करता, उसके गाने से जब नदी के किनारे की विश्राम-निरता ग्राम-श्री सन्ध्या के विपुल अन्धकार में मुग्ध निस्तब्ध हो जाती और अन्नपूर्णा का कोमल हृदय स्नेह और सौन्दर्य-रस से उछलने लग जाता तब सहसा चारु बिछौने से उठकर तेज़ी से आकर सरोष रोती हुई कहती, "माँ, तुमने यह

क्या शोर मचा रखा है। मुझे नींद नहीं आती।" माता-पिता उसको अकेला सुलाकर तारापद को घेरकर संगीत का आनन्द ले रहे हैं यह उसे एकदम असह्य हो उठता। इस दीप्तकृष्णनयना बालिका की स्वाभाविक उग्रता तारापद को बड़ी मनोरंजक प्रतीत होती। उसने इसे कहानी सुनाकर, गाना गाकर, बंशी बजाकर वश में करने की बहुत चेष्टा की, किन्तु किसी भी प्रकार सफल नहीं हुआ। केवल जब मध्याह्न में तारापद नदी में स्नान करने उतरता, परिपूर्ण जलराशि में अपनी गौरवर्ण सरल कमनीय देह को तैरने की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में संचालित करता तरुण जल-देवता के समान शोभा पाता, तब बालिका का कौतूहल आकर्षित हुए बिना न रहता। वह इसी समय की प्रतीक्षा करती रहती, किन्तु आन्तरिक इच्छा का किसी को भी पता न चलने देती, और यह अशिक्षा-पटु अभिनेत्री ध्यानपूर्वक ऊनी गुलूबन्द बुनने का अभ्यास करती हुई बीच-बीच में मानो अत्यन्त उपेक्षाभरी दृष्टि से तारापद की संतरणलीला देखा करती।

: ४ :

नन्दीग्राम कब छूट गया, तारापद को पता ही न चला। विशाल नौका अत्यन्त मृदुमंद गति से कभी पाल तानकर, कभी रस्सी खींचकर अनेक नदियों की शाखा-प्रशाखाओं में होकर चलने लगी; नौकारोहियों के दिन भी इन सब नदी-उपनदियों के समान, शांति-सौन्दर्यपूर्ण वैचित्र्य के बीच सहज सौम्य गति से मृदुमिष्ट कलस्वर में प्रवाहित होने लगे। किसी को किसी प्रकार की जल्दी नहीं थी; दोपहर को स्नानाहार में बहुत समय व्यतीत होता; और इधर सन्ध्या होते-न-होते बड़े दिखने वाले किसी गाँव के किनारे घाट के समीप, झिल्लीमन्द्रित खद्योतखचित वन के पास नौका बाँध दी जाती।

इस प्रकार दसेक दिन में नौका काँठालिया पहुँची। जमींदार के आगमन पर घर से पालकी और टट्टू घोड़ों का समागम हुआ, और हाथ में बाँस की लाठी धारण किये सिपाही-चौकीदारों के दल ने बार-बार बन्दूक की खाली आवाज से गाँव के उत्कण्ठित काक-समाज को 'यत्परोनास्ति' मुखर कर दिया।

इस सारे समारोह में समय लगा, इस बीच में तारापद ने तेजी ने नौका से उतरकर एक बार सारे गाँव का चक्कर लगा डाला। किसी को दादा, किसी को काका, किसी को दीदी, किसी को मौसी कहकर दो-तीन घंटे में सारे गाँव के साथ सौहार्द्य बन्धन स्थापित कर लिया। कहीं भी उसके लिए स्वभावतः कोई बन्धन नहीं था, इससे यह बालक गजब की शीघ्रता और आसानी से सबके साथ परिचय कर लेता था। तारापद ने देखते-देखते थोड़े दिनों में ही गाँव के समस्त

हृदयों पर अधिकार कर लिया।

इतनी आसानी से हृदय हरण करने का कारण यह था कि तारापद हरेक के साथ उसका अपना बनकर स्वाभाविक रूप से योग दे सकता था। वह किसी भी प्रकार के विशेष संस्कारों के द्वारा बंधा हुआ नहीं था, अतएव सभी अवस्थाओं में और सभी कामों में उसमें एक प्रकार की सहज प्रवीणता थी। बालकों के लिए वह बिलकुल स्वाभाविक बालक था और उनसे श्रेष्ठ और स्वतंत्र, बूढ़ों के लिए वह बालक तो न रहता किन्तु पुरखा भी नहीं; चरवाहों के साथ वह चरवाहा था फिर भी ब्राह्मण। हरेक के हर काम में वह चिरकाल के सहयोगी के समान अभ्यस्त भाव से हस्तक्षेप करता। हलवाई की दुकान पर बातें करते-करते हलवाई कह उठता, "भैयाजी, जरा बैठो तो भाई, मैं अभी आता हूँ"—तारापद अम्लानवदन से दूकान पर बैठकर साल के पत्ते से संदेश पर बैठी मक्खियाँ उड़ाने लग जाता। मिठाइयाँ बनाने में भी वह पक्का था, करघे का मर्म भी उसे थोड़ा-बहुत मालूम था, कुम्हार का चाक चलाना भी उसके लिए बिलकुल नया नहीं था।

तारापद ने सारे गाँव को वश में कर लिया, केवल ग्रामवासिनी एक बालिका की ईर्ष्या वह अभी तक नहीं जीत पाया था। यह बालिका उग्रभाव से उसके बहुत दूर निर्वासन की कामना करती थी, यही जानकर शायद तारापद इस गाँव में इतने दिन आबद्ध बना रहा।

किन्तु बालिकावस्था में भी नारी के अन्तर रहस्य का भेद जानना बहुत कठिन है, चारुशशी ने इसका प्रमाण दिया।

ब्राह्मण पुरोहिताइन की कन्या सोनामणि पाँच वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई थी; वह चारु की समवयस्का सहेली थी। अस्वस्थ होने के कारण वह घर लौटी सहेली से कुछ दिनों तक भेंट न कर सकी। स्वस्थ होकर जिस दिन भेंट करने आई उस दिन प्रायः अकारण ही दोनों सहेलियों में कुछ मनोमालिन्य की नौबत आ गई।

चारु ने अत्यन्त विस्तार से बात आरम्भ की थी। उसने सोचा था कि तारापद नामक अपने नवार्जित परम रत्न को जुटाने की बात का विस्तार पूर्वक वर्णन करके वह अपनी सहेली के कौतूहल एवं विस्मय को सप्तम पर चढ़ा देगी। किन्तु, जब उसने सुना कि तारापद सोनामणि के लिए तनिक भी अपरिचित नहीं था, पुरोहिताइन को वह मौसी कहता है और सोनामणि उसको भैया कहकर पुकारती है, जब उसने सुना कि तारापद ने केवल बाँसुरी पर कीर्तन का सुर बजाकर माता और पुत्री का मनोरञ्जन ही नहीं किया है, सोनामणि के अनुरोध से उसके लिए अपने हाथों से बाँस की एक बाँसुरी भी बना दी है

न जाने कितने दिनों से वह उसे ऊँची डाल से फल और कण्टक-शाखा से फूल तोड़कर देता रहा है तब चारु के अन्त:करण को मानो तप्तशूल बेधने लगा। चारु समझती थी कि तारापद विशेष रूप से उन्हींका तारापद था—अत्यन्त गुप्त रूप से संरक्षणीय; अन्य साधारण जन केवल उसका थोड़ा-बहुत आभास-मात्र पायेंगे फिर भी किसी भी तरह उसका सामीप्य न पा सकेंगे, दूर से ही उसके रूप-गुण पर मुग्ध होंगे और चारुशशी को धन्यवाद देते रहेंगे। यही अद्भुत दुर्लभ, दैव-लब्ध ब्राह्मण बालक सोनामणि के लिए सहजगम्य क्यों हुआ। हम यदि उसे इतना यत्न करके न लाते, इतने यत्न से न रखते तो सोनामणि आदि उसका दर्शन कहाँ से पातीं। सोनामणि का 'भैया'! शब्द सुनते ही उसके सारे शरीर में आग लग गई।

चारु जिस तारापद को मन-ही-मन विद्वेष-बाणों से जर्जर करने की चेष्टा करती रही है, उसीके एकाधिकार को लेकर इतना प्रबल उद्वेग क्यों?—किसकी सामर्थ्य है जो यह समझे!

उसी दिन किसी अन्य तुच्छ बात के सहारे सोनामणि के साथ चारु की गहरी कुट्टी हो गई। और वह तारापद के कमरे में जाकर उसकी प्रिय वंशी लेकर उस पर कूद-कूदकर उसे कुचलती हुई निर्दयता पूर्वक तोड़ने लगी।

चारु जब प्रचण्ड रोष में इस वंशी-ध्वंस-कार्य में व्यस्त थी तभी तारापद ने कमरे में प्रवेश किया। बालिका की यह प्रलय-मूर्ति देखकर उसे आश्चर्य हुआ। बोला, "चारु, मेरी वंशी क्यों तोड़ रही हो?" चारु रक्त नेत्रों और लाल मुख से "ठीक कर रही हूँ, अच्छा कर रही हूँ" कहकर टूटी हुई वंशी को और दो-चार अनावश्यक लातें मारकर उच्छ्वसित कंठ से रोती हुई कमरे से बाहर चली गई। तारापद ने वंशी उठाकर उलट-पलटकर देखी, उसमें अब कोई दम नहीं था। अकारण ही अपनी पुरानी वंशी की यह आकस्मिक दुर्गति देखकर वह अपनी हँसी न रोक सका। चारुशशी दिनोंदिन उसके परम कौतूहल का विषय बनती जा रही थी।

उसके कौतूहल का एक और क्षेत्र था, मतिलाल बाबू की लाइब्रेरी में अंग्रेजी की तस्वीरों वाली किताबें। बाहरी जगत् से उसका यथेष्ट परिचय हो गया था, किन्तु तस्वीरों के इस जगत् में वह किसी प्रकार भी अच्छी तरह प्रवेश नहीं कर पाता था। कल्पना द्वारा वह अपने मन में बहुत-कुछ जमा लेता किन्तु उससे उसका मन किसी प्रकार तृप्त न होता।

तस्वीरों की पुस्तकों के प्रति तारापद का यह आग्रह देखकर एक दिन मतिलाल बाबू बोले, "अंग्रेजी सीखोगे? तब तुम इन सारी तस्वीरों का अर्थ समझ

लोगे !" तारापद ने तुरन्त कहा, "सीखूंगा।"

मतिबाबू ने खूब खुश होकर गांव के एंट्रेंस-स्कूल के हैडमास्टर रामरतन बाबू को प्रतिदिन संध्या-समय इस लड़के को अंग्रेज़ी पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिया।

: ५ :

तारापद अपनी प्रखर स्मरण-शक्ति एवं अखण्ड मनोयोग के साथ अंग्रेज़ी शिक्षा में प्रवृत्त हुआ। मानो वह किसी नवीन दुर्गम राज्य में भ्रमण करने निकला हो, उसने पुराने जगत् के साथ कोई संपर्क न रखा; मुहल्ले के लोग अब उसे न देख पाते; जब वह संध्या के पहले निर्जन नदी-तट पर तेजी से टहलते-टहलते पाठ कंठस्थ करता, तब उसका उपासक बालक-सम्प्रदाय दूर से खिन्नचित्त होकर सम्भ्रमपूर्वक उसका निरीक्षण करता, उसके पाठ में बाधा डालने का साहस न कर पाता।

चारु भी आजकल उसे बहुत नहीं देख पाती थी। पहले तारापद अन्तःपुर में आकर अन्नपूर्णा की स्नेह दृष्टि के सामने बैठकर भोजन करता था—किन्तु इसके कारण कभी-कभी देर हो जाती थी। इसीलिए उसने मतिबाबू से अनुरोध करके अपने भोजन की व्यवस्था बाहर ही करा ली। अन्नपूर्णा ने व्यथित होकर इस पर आपत्ति प्रकट की, किन्तु अध्ययन के प्रति बालक का उत्साह देखकर अत्यंत संतुष्ट होकर मति बाबू ने इस नई व्यवस्था का अनुमोदन किया।

तभी सहसा चारु भी जिद कर बैठी, मैं भी अंग्रेज़ी सीखूंगी। उसके माता-पिता ने अपनी कन्या के इस प्रस्ताव को पहले तो परिहास का विषय समझकर स्नेहमिश्रित हँसी उड़ाई—किन्तु कन्या ने इस प्रस्ताव के परिहास्य अंश को प्रचुर अश्रु-जल-धारा से तुरन्त पूर्ण रूप से धो डाला। अंत में इन स्नेह-दुर्बल निरुपाय अभिभावकों ने बालिका के प्रस्ताव को गंभीरता से स्वीकार कर लिया। तारापद के साथ-साथ चारु भी मास्टर से पढ़ने लग गई।

किन्तु पढ़ना-लिखना इस अस्थिरचित्त बालिका के स्वभाव के विपरीत था। वह स्वयं तो कुछ न सीख पाई, बस तारापद की पढ़ाई में विघ्न डालने लगी। वह पिछड़ जाती, पाठ कंठस्थ न करती। किन्तु फिर भी वह किसी भी प्रकार तारापद से पीछे रहना न चाहती। तारापद के उससे आगे निकलकर नया पाठ लेने पर वह बहुत रुष्ट होती, यहाँ तक कि रोने-धोने से भी बाज न आती थी। तारापद के पुरानी पुस्तक समाप्त कर नई पुस्तक खरीदने पर उसके लिए भी नई पुस्तक खरीदनी पड़ती। तारापद छुट्टी के समय स्वयं कमरे में

बैठकर लिखता और पाठ कंठस्थ करता, यह उस ईर्ष्या-परायणा बालिका से सहन न होता। वह छिपकर उसके लिखने की कापी में स्याही उँडेल देती, कलम चुराकर रख देती, यहाँ तक कि किताब में जिसका अभ्यास करना होता उस अंश को फाड़ आती। तारापद बालिका की यह सारी धृष्टता आमोदपूर्वक सहता; असह्य होने पर मारता, किन्तु किसी प्रकार भी उसका नियन्त्रण नहीं कर सका।

दैवात् एक उपाय निकल आया। एक दिन बहुत खीझकर निरुपाय तारापद स्याही से रँगी अपनी लिखने की कापी फाड़ फेंककर गंभीर खिन्न मुद्रा में बैठा था; दरवाजे के पास आकर चारु ने सोचा कि आज मार पड़ेगी। किन्तु उसकी प्रत्याशा पूर्ण नहीं हुई। तारापद बिना कुछ कहे चुपचाप बैठा रहा। बालिका कमरे के भीतर-बाहर चक्कर काटने लगी। बारम्बार उसके इतने समीप से निकलती कि तारापद चाहता तो अनायास ही उसकी पीठ पर एक थप्पड़ जमा सकता था। किन्तु वह वैसा न करके गंभीर ही बना रहा। बालिका बड़ी मुश्किल में पड़ गई। किस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करनी होती है उस विद्या का उसने कभी अभ्यास न किया था, अतएव उसका अनुतप्त क्षुद्र हृदय अपने सहपाठी से क्षमा-याचना करने के लिए अत्यन्त कातर हो उठा। अंत में कोई उपाय न देखकर फटी हुई लेख-पुस्तिका का टुकड़ा लेकर तारापद के पास बैठकर खूब बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा, "मैं फिर कभी किताब पर स्याही नहीं फैलाऊँगी।" लिखना समाप्त करके वह उस लेख की ओर तारापद का ध्यान आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार की चंचलता प्रदर्शित करने लगी। यह देखकर तारापद हँसी न रोक सका—वह हँस पड़ा। इस पर बालिका लज्जा और क्रोध से अधीर होकर कमरे से भाग गई। जिस काग़ज़ के टुकड़े पर उसने अपने हाथ से दीनता प्रकट की थी उसको अनन्त काल के लिए और अनन्त जगत् से बिलकुल लोप कर पाती तो उसके हृदय का गहरा क्षोभ मिट सकता।

उधर संकुचित चित्त सोनामणि एक-दो दिन अध्ययनशाला के बाहर घूम-फिरकर झाँककर चली गई। सहेली चारुशशी के साथ सब बातों में उसका विशेष बंधुत्व था, किन्तु तारापद के सम्बन्ध में चारु को वह अत्यन्त भय और सन्देह से देखती। चारु जिस समय अन्तःपुर में होती, उसी समय का पता लगाकर सोनामणि संकोच करती हुई तारापद के द्वार के पास आ खड़ी होती। तारापद किताब से मुँह उठाकर सस्नेह कहता, "क्यों सोना! क्या समाचार है? मौसी कैसी है?"

सोनामणि कहती, "बहुत दिन से आए नहीं, माँ ने तुमको एक बार चलने के लिए कहा है। कमर में पीड़ा होने के कारण वे तुम्हें देखने नहीं आ सकतीं।"

इसी बीच सहसा चारु आ उपस्थित होती। सोनामणि घबरा जाती वह मानो छिपकर अपनी सहेली की सम्पत्ति चुराने आई हो। चारु आवाज को सप्तम पर चढ़ाकर भौंह चढ़ाकर मुंह बनाकर कहती, "ऐ सोना! तू पढ़ने के समय हल्ला मचाने आती है, मैं अभी जाकर पिताजी से कह दूंगी।" मानो वह स्वयं तारापद की एक प्रवीण अभिभाविका हो; उसके पढ़ने-लिखने में लेश-मात्र भी बाधा न पड़े मानो रात-दिन बस इसी पर उसकी दृष्टि रहती हो। किन्तु वह स्वयं किस अभिप्राय से इस असमय में तारापद के पढ़ने के कमरे में आकर उपस्थित हुई थी यह अन्तर्यामी से छिपा नहीं था और तारापद भी उसे अच्छी तरह जानता था। किन्तु बेचारी सोनामणि डरकर उसी क्षण हजारों झूठी कैफियतें देती; अंत में जब चारु घृणापूर्वक उसको मिथ्यावादिनी कहकर सम्बोधित करती तो वह लज्जित-शङ्कित-पराजित होकर व्यथित चित्त से लौट जाती। दयार्द्र तारापद उसको बुलाकर कहता, "सोना, आज संध्या समय मैं तेरे घर आऊँगा, अच्छा!" चारु सर्पिणी के समान फुफकारती हुई उठकर कहती, "हाँ, आओगे? तुम्हें पाठ तैयार नहीं करना है? मैं मास्टर साहब से कह न दूंगी?"

चारु की इस धमकी से न डरकर तारापद एक-दो दिन संध्या के बाद पुरोहितजी के घर गया था। तीसरी या चौथी बार चारु ने कोरी धमकी न देकर धीरे-धीरे एक बार बाहर से तारापद के कमरे के दरवाजे में साँकल चढ़ाकर माँ के मसाले के बक्स का ताला लाकर लगा दिया। सारी संध्या तारापद को इसी तरह बंदी अवस्था में रखकर भोजन के समय द्वार खोला। गुस्से के कारण तारापद कुछ बोला नहीं और बिना खाए चले जाने की तैयारी करने लगा। उस समय अनुतप्त व्याकुल बालिका हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बारम्बार कहने लगी, "तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, फिर मैं ऐसा नहीं करूँगी। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम खाकर जाना!" उससे भी जब तारापद वश में न आया तो वह अधीर होकर रोने लगी; संकट में पड़कर तारापद लौटकर भोजन करने बैठ गया।

चारु ने कितनी बार अकेले में प्रतिज्ञा की कि वह तारापद के साथ सद्-व्यवहार करेगी, फिर कभी उसे एक क्षण के लिए भी परेशान न करेगी, किन्तु सोनामणि आदि अन्य पाँच जनों के बीच में आ पड़ते ही न जाने कब कैसे उसका मिजाज बिगड़ जाता और वह किसी भी प्रकार आत्म-नियन्त्रण न कर पाती। कुछ दिन जब ऊपर-ऊपर से वह भलमनसाहत बरतती तभी किसी आगामी उत्कट-विप्लव के लिए तारापद सतर्कतापूर्वक प्रस्तुत हो जाता। आक्रमण हठात् किस कारण किस दिशा से होगा कहा नहीं जा सकता था। उसके बाद

प्रचण्ड तूफ़ान, तूफ़ान के बाद प्रचुर अश्रुवारि वर्षा, उसके बाद प्रसन्न स्निग्ध शान्ति।

: ६ :

इस तरह लगभग दो वर्ष बीत गए। इतने लम्बे समय तक तारापद कभी किसी के पास बँधकर नही रहा। शायद पढ़ने-लिखने में उसका मन एक अपूर्व आकर्षण में बँध गया था; लगता है, वयोवृद्धि के साथ उसकी प्रकृति मे भी परिवर्तन आरम्भ हो गया था और स्थिर बैठे रहकर संसार की सुख-स्वच्छंदता का भोग करने की ओर उसका मन लग रहा था; कदाचित् उसकी सहपाठिनी बालिका का स्वाभाविक दौरात्म्य, चञ्चल सौंदर्य अलक्षित भाव से उसके हृदय पर बन्धन फैला रहा था।

इधर चारु की अवस्था ग्यारह पार कर गई। मतिबाबू ने खोजकर अपनी पुत्री के विवाह के लिए दो-तीन अच्छे-अच्छे रिश्ते जुटाए। कन्या की अवस्था विवाह के योग्य हुई जानकर मतिबाबू ने उसका अंग्रेजी पढ़ना और बाहर निकलना बंद कर दिया। इस आकस्मिक अवरोध पर घर के भीतर चारु ने भारी आंदोलन उपस्थित कर दिया।

तब अन्नपूर्णा ने एक दिन मतिबाबू को बुलाकर कहा, "पात्र के लिए तुम इतनी खोज क्यों करते फिर रहे हो! तारापद लड़का तो अच्छा है। और तुम्हारी लड़की भी उसको पसंद है।"

सुनकर मतिबाबू ने बड़ा विस्मय प्रकट किया। कहा, "भला यह भी कभी हो सकता है? तारापद का कुल-शील कुछ भी ज्ञात नहीं है। मेरी इकलौती लड़की है, मैं उसे अच्छे घर में देना चाहता हूँ।"

एक दिन रायडाङ्गा के बाबुओं के घर से लोग लड़की देखने आए। वस्त्राभूषण पहनाकर चारु को बाहर लाने की चेष्टा की गई। वह सोने के कमरे का द्वार बंद करके बैठ गई—किसी प्रकार भी बाहर न निकली। मतिबाबू ने कमरे के बाहर से बहुत अनुनय की, बहुत फटकारा, किसी प्रकार भी कोई परिणाम न निकला। अन्त में बाहर आकर रायडांगा के दूतों से बनाकर कहना पड़ा कि एकाएक कन्या बहुत बीमार हो गई है आज दिखाई नहीं हो सकेगी। उन्होंने सोचा, लड़की में शायद कोई दोष है इसीसे इस चतुराई का सहारा लिया गया है।

तब मतिबाबू विचार करने लगे, तारापद लड़का देखने-सुनने में सब तरह से अच्छा है; उसको मैं घर ही में रख सकूँगा, ऐसा होने से अपनी एकमात्र लड़की को पराए घर नहीं भेजना पड़ेगा। यह भी सोचा कि उनकी अशान्त

अबाध्य लड़की का दुरन्तपना उनकी स्नेहपूर्ण आँखों को कितना ही भव्य प्रतीत हो ससुराल वाले सहन नहीं करेंगे।

फिर पति-पत्नी ने सोच-विचारकर तारापद के घर उसके सारे कुल का हाल-चाल जानने के लिए आदमी भेजा। समाचार आया कि वंश तो अच्छा है, किन्तु दरिद्र है। तब मतिबाबू ने लड़के की माँ एवं भाई के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। उन्होंने आनन्द से उच्छ्वसित होकर सम्मति देने मे मुहूर्त-भर की भी देर न की।

काँठालिया के मतिबाबू और अन्नपूर्णा विवाह के दिन-लग्न की आलोचना करने लगे, किन्तु स्वाभाविक गोपनताप्रिय सावधान मतिबाबू ने बात को गोपनीय रखा।

चारु को बंद न रखा जा सका। वह बीच-बीच में बर्गी[1] के हंगामे के समान तारापद के पढ़ने के कमरे में जा पहुँचती। कभी रोष, कभी प्रेम, कभी विराग के द्वारा उसके अध्ययन-क्रम की निभृत शान्ति को अकस्मात् तरंगित कर देती। उससे आजकल इस निर्लिप्त मुक्तस्वभाव ब्राह्मण बालक के मन में बीच-बीच में कुछ समय के लिए विद्युत्स्पंदन के समान एक अपूर्व चाञ्चल्य का संचार हो जाता। जिस व्यक्ति का हल्का चित्त सर्वदा अक्षुण्ण अव्याहत भाव से काल-स्रोत की तरङ्ग-शिखरों पर उतराकर सामने बह जाता वह आजकल प्रायः अन्य-मनस्क होकर विचित्र दिवा-स्वप्न के जाल मे उलझ जाता। वह प्रायः पढ़ना-लिखना छोड़कर मतिबाबू की लाइब्रेरी में प्रवेश करके तस्वीरों की पुस्तकों के पन्ने पलटता रहता; उन तस्वीरों के मिश्रण से जिस कल्पना-लोक की रचना होती वह पहले की अपेक्षा बहुत स्वतन्त्र और अधिक रंगीन था। चारु का विचित्र आचरण देखकर वह अब पहले के समान स्वाभाविक परिहास न कर पाता, ऊधम करने पर उसको मारने की बात मन में उदय भी न होती। अपने मे यह गूढ़ परिवर्तन, यह आबद्ध आसक्त भाव उसे अपने निकट एक नूतन स्वप्न के समान लगने लगा।

श्रावण में विवाह का शुभ दिन निश्चित करके मतिबाबू ने तारापद की माँ और भाइयों को बुलावा भेजा, तारापद को यह नहीं बताया। कलकत्ता के फौजी बैण्ड को बयाना देने के लिए मुख्तार को आदेश दिया और सामान की सूची भेज दी।

आकाश में वर्षा के नए बादल आ गए। गाँव की नदी इतने दिन तक सूखी पड़ी थी; बीच-बीच में केवल किसी-किसी गड्ढे में ही पानी भरा रहता

१. प्राचीन मराठा अश्वारोही लुटेरों का सैन्य दल।

था; छोटी-छोटी नौकाएँ उस पङ्किल जल में डूबी पड़ी थीं और नदी की सूखी धार में बैलगाड़ियों के आवागमन से गहरी लीकें खुद गई थीं—ऐसे समय एक दिन पिताके घर से लौटी पार्वती के समान न जाने कहाँ से द्रुतगामिनी जल-धारा कलहास्य करती हुई गाँव के शून्य वक्ष पर आ उपस्थित हुई—नंगे बालक बालिकाएँ किनारे आकर ऊँचे स्वर के साथ नृत्य करने लगे, मानो वे अतृप्त आनन्द से बारम्बार जल में कूद-कूदकर नदी को आलिंगन कर पकड़ने लगे हों, कुटी में निवास करने वाली अपनी परिचित प्रिय संगिनी को देखने के लिए बाहर निकल आईं—शुष्क निर्जीव ग्राम में न जाने कहाँ से आकर एक प्रबल विपुल प्राण-हिल्लोल ने प्रवेश किया। देश-विदेश से छोटी-बड़ी लदी हुई नौकाएँ आने लगीं—बाजार का घाट संध्या समय विदेशी मल्लाहों के संगीत से ध्वनित हो उठा। दोनों किनारे के गाँव पूरे वर्ष अपने निभृत कोने में अपनी साधारण गृहस्थी लिये एकाकी दिन बिताते हैं, वर्षा के समय बाहरी विशाल पृथ्वी विचित्र पण्योपहार लेकर गैरिक वर्ण जलरथ में बैठकर इन ग्राम-कन्याओं की खोज-खबर लेने आती है; इस समय जगत् के साथ आत्मीयता के गर्व से कुछ दिन के लिए उनकी लघुता नष्ट हो जाती है, सब सचल सजग और सजीव हो उठते हैं एवं मौन निस्तब्ध प्रदेश में सुदूर राज्य की कलालापध्वनि आकर चारों दिशाओं को आंदोलित कर देती है।

इसी समय कुडूलकाटा में नागबाबुओं के इलाके में विख्यात रथ-यात्रा का मेला लगेगा। ज्योत्स्ना-संध्या में तारापद ने घाट पर जाकर देखा, कोई नौका-चरखी लिये, कोई यात्रा करने वालों की मण्डली लिये, कोई बिक्री का सामान लिये प्रबल नवीन स्रोत की धारा में तेजी से मेले की ओर चली जा रही है; कलकत्ता की वाद्य-मण्डली जोर से द्रुतताल पर बाजे बजा रही है, यात्रा का दल बेले के साथ गीत गा रहा है और सम पर हा-हा-हा शब्द की ध्वनि हो उठती है; पश्चिमी प्रदेश की नौका के मल्लाह केवल मृदङ्ग और करताल लिये उन्मत्त-उत्साह से बिना संगीत के खचमच शब्द से आकाश को विदीर्ण कर रहे हैं—उद्दीपनों की सीमा नहीं थी। देखते-देखते पूर्व क्षितिज से सघन मेघराशि ने प्रकांड काला पाल तानकर आकाश के बीच में खड़ा कर दिया, चाँद ढक गया—पूर्व की वायु वेग से बहने लगी, मेघ के पीछे मेघ दौड़ चले, नदी में जल कल-कल हास्य से बढ़कर उमड़ने लगा—नदी-तीरवर्ती आन्दोलित वनश्रेणी में अंधकार पुञ्जीभूत हो उठा, मेंढकों ने टर्राना शुरू कर दिया, झिल्ली की ध्वनि जैसे करौंत लेकर अंधकार को चीरने लगी हो। सामने आज मानो समस्त जगत् की रथ-यात्रा हो, चक्र घूम रहा है, ध्वजा फहरा रहा है, पृथ्वी काँप रही है, मेघ उड़ रहे हैं, वायु

दौड़ रहा है, नदी बह रही है, नौका चल रही है, गीत उठ रहा है, देखते-देखते गुरु गम्भीर ध्वनि में मेघ गरजने लगा, विद्युत् आकाश को चीर-चीरकर चकाचौंध उत्पन्न करने लगी, सुदूर अंधकार में से एक मूसलाधार वर्षा की गंध आने लगी। केवल नदी के एक किनारे पर एक ओर कांठालिया ग्राम अपनी कुटी के द्वार बन्द करके दिया बुझाकर चुपचाप सोने लगा।

दूसरे दिन तारापद की माता और भाई आकर कांठालिया में उतरे; उसी दिन कलकत्ता से विविध सामग्री से भरी तीन बड़ी नौकाएँ कांठालिया के जमींदार की कचहरी के घाट पर आकर लगी एवं उसी दिन बहुत सवेरे सोनामणि कागज में थोड़ा अमावट एवं पत्ते के दोने में कुछ अचार लेकर डरती-डरती तारापद के पढ़ने के कमरे के द्वार पर चुपचाप आ खड़ी हुई—किन्तु उस दिन तारापद नहीं दिखाई दिया। स्नेह प्रेम-बन्धुत्व के षड्यन्त्र-बन्धन उसको चारों ओर से पूरी तरह से घेरें इसके पहले ही वह ब्राह्मण-बालक समस्त ग्राम का हृदय चुराकर एकाएक वर्षा की मेघान्धकारपूर्ण रात्रि में आसक्ति-विहीन उदासीन जननी विश्व-पृथिवी के पास चला गया।

दुराशा

: १ :

दार्जिलिंग जाकर देखा मेघ और वर्षा से दसों दिशाएँ ढकी हुई हैं। घर से बाहर निकलने की इच्छा नहीं होती, घर में रहने पर और भी अनिच्छा बढ़ती।

होटल में सबेरे का नाश्ता समाप्त करके पैरों में मोटे बूट एवं आपाद-मस्तक मैकिन्टोश पहनकर घूमने बाहर निकला। लगातार टिप्-टिप् करके वर्षा हो रही थी एवं सर्वत्र सघन मेघों की कुज्झटिका में लगता था जैसे विधाता ने हिमालय पर्वत सहित समस्त विश्व-चित्र को रबड़ से घिस-घिसकर मिटा डालने की तैयारी की हो।

जनशून्य कैलकटा रोड पर एकाकी टहलते हुए सोच रहा था—अवलम्बन-हीन मेघराज्य में अब अच्छा नहीं लगता, शब्दस्पर्शरूपमयी विचित्रा धरती-माता को फिर पाँचों इन्द्रियों द्वारा पाँचों रूपों में ग्रहण करने के लिए प्राण आकुल हो उठे।

तभी पास ही रमणी-कण्ठ की करुण रोदन-गुञ्जन-ध्वनि सुनाई पड़ी। रोगशोकसंकुल संसार में रोने की आवाज कोई विचित्र वस्तु नहीं है, अन्यत्र अन्य समय होता तो मुड़कर भी देखता या नहीं सन्देह है, किन्तु उस असीम मेघराज्य में उस रुदन ने सम्पूर्ण अदृश्य जगत् के एक-मात्र रुदन की भाँति मेरे कानों में आकर प्रवेश किया, वह तुच्छ प्रतीत नहीं हुआ।

शब्द के सहारे पास जाकर देखा गैरिक-वस्त्र पहने एक नारी, जिसके सिर पर स्वर्णकपिश जटाभार चूड़ा के आकार में बँधा हुआ था, मार्ग के किनारे शिला-खण्ड पर बैठी मृदुस्वर में क्रन्दन कर रही थी। वह सद्यशोक का विलाप नहीं था, बहुत दिनों की सञ्चित निःशब्द श्रान्ति और अवसाद आज मेघान्धकार निर्जनता के भार से फूटकर उच्छ्वसित हो पड़े थे।

मन-ही-मन सोचा, यह अच्छा रहा, आरम्भ मानो घर में गढ़ी हुई कहानी की ही भाँति हुआ हो, पर्वत-शिखर पर संन्यासिनी बैठी रो रही हो—यह कभी चर्मचक्षुओं से देखूंगा इसकी कभी आशा नहीं की थी।

लड़की किस जात की थी तय नहीं कर पाया। आर्द्र हिन्दी भाषा में पूछा, "तुम कौन हो ! तुम्हें क्या हुआ है ?"

पहले उत्तर नहीं दिया, बादलों के बीच सजल दीप्तनेत्रों से मुझे एक बार देख लिया।

मैंने फिर कहा, "मुझसे डरना मत। मैं भला आदमी हूं।"

सुनकर वह हँसती हुई ठेठ हिन्दुस्तानी में बोली, "बहुत दिन से डर-भय सब घोलकर पिये बैठी हूं, कोई लज्जा-शर्म नही है। बाबू जी, एक जमाना था कि मैं जिस जनानखाने में थी वहां मेरे सहोदर भाई को भी प्रवेश करने के लिए अनुमति लेनी पड़ती थी, आज दुनिया में किसी से मेरा कोई पर्दा नहीं।"

पहले तो थोड़ा क्रोध आया; मेरा चाल-चलन पूरा साहबी था, किन्तु यह हतभागिनी बिना किसी द्विविधा के मुझे बाबूजी कहकर क्यो संबोधित करती है ? सोचा, अपना उपन्यास यहीं समाप्त कर के सिगरेट का धुआं उड़ाता हुआ नाक उठाए साहबियत की रेलगाड़ी की भांति सशब्द सवेग सदर्प चल पड़ूं। पर अन्त में कौतूहल की विजय हुई। मैंने कुछ बड़प्पन का भाव दिखाते हुए टेढ़ी गर्दन करके पूछा, "तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूं ? तुम्हारी कोई प्रार्थना है ?"

उसने स्थिर भाव से मेरे मुख की ओर निहारा और क्षण-भर बाद संक्षेप में उत्तर दिया, "मैं बन्द्राओन के नवाब गुलामक़ादिर खां की बेटी हूं।"

बद्राओन किस देश में है और नवाब गुलामकादिर खां कौन हैं और उनकी पुत्री किस दुःख से संन्यासिनी के वेश मे दार्जिलिंग की कैलकाटा रोड के किनारे बैठी रो रही थी—मैं इसका कोई सिर-पैर न जानता था, न विश्वास ही करता था, किन्तु सोचा कि रस-भंग नहीं करूंगा, कहानी खूब जम रही है।

तत्क्षण अपना चेहरा अत्यन्त गंभीर बनाकर लम्बा सलाम करते हुए बोला, "बीबी साहबा, माफ फरमावें, मैं तुम्हें पहचान न सका।"

न पहचान सकने के अनेक युक्तिसंगत कारण थे, उनमें सर्वप्रधान कारण था, उनको पहले कभी देखा ही न था, तिस पर से कुहरा ऐसा था कि हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था।

बीबी साहिबा ने भी मेरे अपराध पर ध्यान न दिया और सन्तुष्ट स्वर में दाहिने हाथ के इशारे से एक अलग शिला-खण्ड का निर्देश करते हुए मुझे अनुमति दी, "बैठिए !"

देखा, रमणी में आदेश देने की क्षमता है। मैंने उससे उस भीगे शैवाल से ढके कठोर असमतल शिला-खण्ड के नीचे आसन ग्रहण करने की सम्मति पाकर

एक अप्रत्याशित सम्मान प्राप्त किया। बद्राओन के गुलामक़ादिर खाँ की पुत्री नूरुन्निसा या मेहरुन्निसा या नूर-उल्-मुल्क ने मुझे दार्जिलिंग के कैलकाटा रोड के किनारे अपने पास अनतिउच्च पङ्किल आसन पर बैठने का अधिकार दिया। होटल से मैकिनृटोश पहनकर बाहर निकलते समय ऐसी सुमहत् संभावना की मुझे स्वप्न में भी आशा न थी।

हिमालय के वक्ष पर शिला-तले एकांत में पथिक नर-नारी की रहस्यालाप-कहानी सुनने में सहसा सद्य प्रणीत कदुष्ण काव्य-कथा की भाँति लगती है, पाठकों के हृदय में दूरागत निर्जन गिरिकन्दरा की निर्झरप्रपातध्वनि एवं कालिदास-रचित मेघदूत, कुमारसंभव के विचित्र संगीत की मर्मर ध्वनि जाग्रत हो जाती है, तथापि यह बात सबको स्वीकार करनी पड़ेगी कि बूट और मैकिन्टोश पहने कैलकाटा रोड के किनारे कर्दमासन पर एक दीनवेशधारिणी हिन्दुस्तानी (अबंगाली) रमणी के साथ एक जगह बैठकर पूरे आत्म-गौरव का अक्षुण्ण भाव से अनुभव कर सकें, ऐसे आधुनिक बंगाली बहुत ही कम होंगे। किन्तु उस दिन दसों दिशाएँ सघन कुहरे से ढकी हुई थीं, अतः दुनिया की आँखों से शरमाने की कोई बात नहीं थी। अनन्त मेघराज्य में केवल बद्राओन के नवाब गुलामक़ादिर खाँ की पुत्री और मैं—एक नवविकसित बंगाली साहब—दोनों जने पत्थरों के ऊपर प्रलय के अन्त में बचे दो विश्व-खण्डों के समान थे; इस विसदृश सम्मेलन का गूढ़ परिहास केवल हमारे भाग्य को ज्ञात था और किसी को नहीं।

मैंने कहा, "बीबी साहिबा, तुम्हारा यह हाल किसने किया?"

बद्राओनकुमारी ने अपना सिर ठोक लिया। बोली, "यह सब कौन कराता है सो मैं क्या जानूं! इतने बड़े प्रस्तरमय कठिन हिमालय को साधारण भाप के मेघों में किसने छिपा दिया है!"

मैंने किसी प्रकार का दार्शनिक तर्क उठाए बिना ही सब स्वीकार कर लिया। बोला, "सो तो है, अदृष्ट के रहस्य को कौन जाने! हम तो कीटमात्र हैं।"

मैं तर्क करता, बीबी साहिबा को इतनी आसानी से छुट्टी न दे देता, किन्तु मेरी भाषा में सामर्थ्य न थी। दरबान और खानसामाओं के सम्पर्क से हिन्दी का जो अभ्यास हुआ था उससे कैलकाटा रोड के किनारे बैठकर बद्राओन अथवा अन्य किसी स्थान की किसी नवाबपुत्री के साथ अदृष्टवाद अथवा स्वाधीन इच्छावाद के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से आलोचना करना मेरे लिए असम्भव ही होता।

बीबी साहिबा ने कहा, "मेरे जीवन की अद्भुत कहानी आज ही समाप्त

हुई है, यदि फरमाइश करें तो सुनाऊँ !"

मैंने अधीर होकर कहा, "आश्चर्य है ! फरमाइश कैसी । यदि अनुग्रह करें तो सुनकर श्रवण सार्थक होंगे ।"

कोई यह न सोचे, मैंने ठीक ये ही बातें इसी प्रकार हिन्दुस्तानी भाषा में कही थीं, कहने की इच्छा तो थी, किन्तु सामर्थ्य नहीं थी । बीबी साहिबा जब बात कर रही थीं तब मुझे लग रहा था मानो शिशिर-स्नात स्वर्णशीर्ष स्निग्ध-श्यामल शस्य-क्षेत्र के ऊपर प्रभात की मन्दमधुर वायु लहरा रही हो, उनके शब्द-शब्द में कैसी सहज नम्रता, कैसा सौन्दर्य, वाक्यों का कैसा अविच्छिन्न प्रवाह था । और मैं अत्यन्त संक्षेप में टूटे-फूटे ढंग से बर्बर की भाँति सीधा-सादा उत्तर दे रहा था । भाषा की वैसी सुसम्पूर्ण अविच्छिन्न सहज शिष्टता मैंने कभी जानी ही न थी । बीबी साहिबा से बात करते समय ही मैंने पहली बार पग-पग पर अपने आचरण की दीनता अनुभव की ।

वे बोलीं, "मेरे पितृ-कुल में दिल्ली के सम्राट्-वंश का रक्त प्रवाहित था, उसी कुल-गौरव की रक्षा के विचार से मेरे लिए उपयुक्त पात्र मिलना दुःसाध्य हो गया था । लखनऊ के नवाब के साथ मेरे विवाह का प्रस्ताव आया था, पिता इधर-उधर कर रहे थे, तभी दांत से कारतूस काटने की बात पर सिपाहियों के साथ सरकार बहादुर की लड़ाई छिड़ गई, तोपों के धुएं से हिन्दुस्तान में अँधेरा छा गया ।"

स्त्री के कण्ठ से, विशेषकर सम्भ्रांत महिला के मुख से हिन्दुस्तानी कभी नहीं सुनी थी, सुनकर स्पष्ट समझ गया कि यह भाषा अमीरों की भाषा है—यह जिन दिनों की भाषा थी वे दिन आज नहीं रहे, आज रेलवे—टेलिग्राफ कामों की भीड़ और आभिजात्य के लोप के कारण सभी मानो तुच्छ, विकलांग और श्रीहीन हो गया है । नवाबजादी की बोली सुनते ही उस अंग्रेज-रचित आधुनिक शैलनगरी दार्जिलिंग के सघन कुज्झटिका-जाल में मेरे मन के नेत्रों के सामने मुग़ल-सम्राटों की मानसपुरी मानो जादू के बल से साकार हो उठी—सफेद पत्थरों के बने बड़े-बड़े अभ्रभेदी प्रासादों की श्रेणी, मार्ग में लम्बी पूंछ वाले घोड़ों की पीठ पर सजी मसनदें, हाथियों की पीठ पर सोने की झालर से सजे हौदे, पुरवासियों के सिरों पर नाना वर्णों के उष्णीष, ऊन के, रेशम के, मलमल के ढीले-ढाले कुरते-पायजामे, कमरबंदों में बाँकी तलवारें, जरीदार जूतों की मुड़ी हुई नोकें, पर्याप्त अवकाश, लम्बी पोशाक और अत्यधिक शिष्टाचार ।

नवाबजादी ने कहा, "हमारा क़िला यमुना के किनारे था । हमारी फौज का सेनापति एक हिन्दू ब्राह्मण था । उसका नाम था केशरलाल ।"

रमणी ने इस केशरलाल शब्द पर अपने नारी-कण्ठ का समस्त संगीत मानो एक ही क्षण में पूरा-का-पूरा उँडेल दिया हो। मैं धरती पर छड़ी टेककर हिल-डुलकर उकड़ूँ होकर बैठ गया।

"केशरलाल कट्टर हिन्दू था। मैं प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अन्तःपुर के गवाक्ष से देखती, केशरलाल यमुना-जल में आवक्ष निमग्न होकर प्रदक्षिणा करते हुए हाथ जोड़कर ऊर्ध्वमुख हो नवोदित सूर्य को अंजलि प्रदान करता। फिर गीले कपड़े पहने घाट पर बैठकर एकाग्रचित्त से जप समाप्त कर स्पष्ट कण्ठ से भैरव-राग में भजन गाता हुआ घर लौटता।

मैं मुसलमान बालिका थी, किन्तु कभी भी स्वधर्म की चर्चा नहीं सुनी थी और स्वधर्मानुसार उपासना-विधि भी नहीं जानती थी; उन दिनों विलास, मद्य-पान और स्वेच्छाचार के कारण हमारे पुरुषों का धर्म-बन्धन शिथिल हो गया था एवं अन्तःपुर के प्रमोद-भवनों में भी धर्म सजीव नहीं था।

कदाचित् विधाता ने मुझे स्वाभाविक रूप से धर्म-पिपासा प्रदान की थी। अथवा कोई और गूढ़ कारण था या नहीं, मैं नहीं कह सकती, किन्तु प्रतिदिन प्रशान्त प्रभात में नवोन्मेषित अरुणालोक में निस्तरंग नील यमुना के निर्जन श्वेत सोपान-तट पर केशरलाल की पूजार्चना के दृश्य से मेरा सद्यसुप्तोत्थित अन्तःकरण एक अव्यक्त भक्ति-माधुर्य से परिप्लावित हो जाता।

नियत संयत शुद्धाचार वाले ब्राह्मण केशरलाल का गौरवर्ण, जीवंत, सुन्दर देह धूम-रहित ज्योति-शिखा के समान प्रतीत होती; ब्राह्मण का पुण्य-माहात्म्य इस मुसलमान बालिका के मूढ़ हृदय को अपूर्व श्रद्धाभाव से विनम्र कर देता।

मेरी एक हिन्दू बाँदी थी, वह प्रतिदिन प्रणाम करके केशरलाल की पद-धूलि ले आती, देखकर मुझे आनंद भी होता, ईर्ष्या भी होती। क्रिया-कर्म और पर्वों के अवसर पर यह वन्दिनी बीच-बीच में ब्राह्मण-भोजन कराकर दक्षिणा दिया करती। मैं अपनी ओर से उसे आर्थिक सहायता देकर कहती, "तू केशरलाल को नहीं न्योतेगी ?" वह जीभ काटकर कहती, "केशरलालजी किसी का अन्न या दान ग्रहण नहीं करते।"

इस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में केशरलाल को भक्ति-भाव न दिखा सकने के कारण मेरा चित्त जैसे क्षुब्ध क्षुधातुर बना रहता।

हमारे पूर्वपुरुषों में किसी ने बलपूर्वक एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया था, मैं अन्तःपुर के कोने में बैठकर अपनी धमनियों में उसीके पुण्यरक्त के प्रवाह का अनुभव करती और उसी रक्त-सूत्र द्वारा केशरलाल के साथ एक ऐक्य सम्बन्ध

की कल्पना करके थोड़ी-बहुत तृप्ति अनुभव करती।

अपनी हिन्दू दासी से मैं हिन्दू-धर्म के समस्त आचार-व्यवहार, देवी-देवताओं की सारी आश्चर्यजनक कथाएँ, रामायण-महाभारत का सारा अपूर्व इतिहास विस्तार से सुनती; सुनकर उस अन्तःपुर के एक भाग में बैठे-बैठे हिन्दू-जगत् का एक अतुलनीय दृश्य मेरे मन में उद्घाटित हो जाता। मूर्ति-प्रतिमाएँ, शङ्ख घंटा-ध्वनि, स्वर्ण-शिखर-मंडित देवालय, धूप का धुआँ, अगर-चन्दन-मिश्रित पुष्पराशि की सुगन्ध, योगी संन्यासियों की अलौकिक क्षमता, ब्राह्मणों का अलौकिक माहात्म्य, मनुष्य के छद्म-वेश में देवताओं की विचित्र लीला, सब मिलकर मेरे लिए एक अत्यन्त प्राचीन, अति विस्तृत, अति सुदूर अप्राकृत मायालोक का सृजन कर देते, मेरा चित्त मानो कोटर-वंचित क्षुद्र पक्षी की भाँति सन्ध्या के समय किसी विशाल प्राचीन प्रासाद के कक्ष-कक्ष में उड़ता-डोलता। हिन्दू-जगत् मेरे बालिका-हृदय के लिए एक परमरमणीय परीदेश का राज्य था।

तभी कम्पनी बहादुर के साथ सिपाहियों की लड़ाई छिड़ गई। हमारे बद्राओन के छोटे-से किले में भी विप्लव की तरंग जाग उठी।

केशरलाल बोला, "अब गो-भक्षक गोरे लोगों को आर्यावर्त से दूर भगाकर एक बार फिर हिन्दुस्तान में राजपद के लिए हिन्दू-मुसलमानों में जुए की बाज़ी जमानी पड़ेगी।"

मेरे पिता गुलामक़ादिर खाँ बड़े सयाने थे। उन्होंने अँग्रेज जाति को किसी एक विशेष सम्बन्ध-सूचक सम्बोधन से अभिहित करके कहा, "वे असम्भव को सम्भव कर सकते हैं, हिन्दुस्तान के लोग उनसे पार नहीं पा सकेंगे! मैं अनिश्चित प्रत्याशा में अपना यह छोटा-सा किला खोना नहीं चाहता, मैं कम्पनी बहादुर से नहीं लड़ूंगा।"

जिस समय हिन्दुस्तान के समस्त हिन्दू-मुसलमानों का खून खौल उठा था, उस समय मेरे पिता की वणिक् की-सी इस सतर्कता के प्रति हम सभी के मन में धिक्कार का भाव आ गया। मेरी बेगम माताएँ तक हिल गईं।

तभी फौज लिये सशस्त्र केशरलाल आकर मेरे पिता से बोले, "नवाब साहब, यदि आप हमारे पक्ष में योग नहीं देंगे तो जब तक लड़ाई चलेगी तब तक आपको बन्दी बनाकर आपके किले का आधिपत्य-भार मैं ग्रहण करूँगा।" पिता बोले, "इस सब हंगामे की कोई जरूरत नहीं, मैं तुम्हारे पक्ष में रहूँगा।" केशरलाल बोले, "ख़ज़ाने में से कुछ धन निकालना है।"

पिता ने विशेष कुछ नहीं दिया; कहा, "जब जितना चाहिए मैं दे दूंगा।"

चोटी से लेकर पैरों की अँगुलियों तक मेरे अंग-प्रत्यंग में जितने आभूषण थे मैंने सब कपड़े में बाँधकर अपनी हिन्दू दासी द्वारा छिपाकर केशरलाल के पास भेज दिए। उन्होंने स्वीकार कर लिया। आनन्द से आभूषण-विहीन मेरा अंग-प्रत्यंग पुलकित रोमाञ्चित हो उठा।

केशरलाल जंगखाई बन्दूकों की नलियों और पुरानी तलवारों को माँज-घिसकर साफ़ करने लगे, तभी अचानक एक दिन तीसरे पहर ज़िले के कमिश्नर साहब ने लालकुर्ती गोरों के साथ आकाश में धूल उड़ाते हमारे किले में आकर प्रवेश किया।

मेरे पिता गुलामक़ादिरखाँ ने चुपचाप उनको विद्रोह का समाचार दे दिया था।

बद्राओन की फौज के ऊपर केशरलाल का ऐसा अलौकिक आधिपत्य था कि उसकी आज्ञा से वे टूटी बन्दूकें और मोथरी तलवारें लेकर मरने के लिए प्रस्तुत हो गए।

विश्वास-घाती पिता का घर मुझे नरक के समान प्रतीत हुआ। क्षोभ, लज्जा, दुःख, घृणा से छाती फटने लगी, तो भी आँखों से एक बूंद जल नहीं निकला। मैं अपने भीरु भाई की पोशाक पहनकर छद्मवेश में अन्तःपुर से बाहर निकल गई, किसी को देखने की फ़ुरसत नहीं थी।

उस समय धूल और बारूद का धुंआ, सैनिकों का आर्त्तनाद एवं बन्दूकों का शब्द थम चुका था और मृत्यु की भीषण शान्ति ने जल-स्थल और आकाश को आच्छन्न कर लिया था। यमुना के जल को लाल रक्त से रँगकर सूर्य अस्त हो गया था, संध्याकाश में शुक्लपक्ष का पूर्णप्राय: चन्द्रमा दिख रहा था।

मृत्यु के विकट दृश्य से रण-क्षेत्र पटा पड़ा था। और कोई समय होता तो करुणा से मेरा वक्षःस्थल व्यथित हो उठता, किन्तु उस दिन स्वप्नाभिभूत की भाँति मैं केशरलाल को खोजती चक्कर काटती फिर रही थी, बस उस लक्ष्य के अतिरिक्त और सब मुझे अवास्तव प्रतीत हो रहा था।

ढूंढते-ढूंढते आधी रात को उज्ज्वल चन्द्रालोक में देखा, रण-क्षेत्र से थोड़ी दूर पर यमुना के किनारे आम्र-वन की छाया में केशरलाल और उनके भक्त भृत्य देवकीनन्दन की मृत देह पड़ी है। मैं समझ गई कि भयानक आहत अवस्था में या तो स्वामी ने सेवक को या सेवक ने स्वामी को रण-क्षेत्र से इस निरापद स्थान में ले आकर शान्तिपूर्वक मृत्यु के हाथों आत्म-समर्पण किया होगा।

पहले तो मैंने अपनी बहुत दिनों की भूखी भक्ति-भावना को चरितार्थ किया। केशरलाल के पैरों पर लेटकर अपना आजानुदीर्घ केश-जाल खोलकर

बारंबार उनके पैरों की धूल पोंछी, अपने उत्तप्त ललाट से उसके हिमशीतल चरणकमल लगाए, उनके चरणों का चुम्बन करते ही मेरी बहुत दिनों की रुकी हुई अश्रु-राशि फूट पड़ी।

तभी केशरलाल की देह हिली, और अचानक उनके मुख से वेदना का अस्फुट आर्त्त-स्वर सुनकर मैं उनके चरणतल छोड़कर चौंक उठी, मैंने सुना, आँखें बंद किये हुए शुष्क कंठ से एक बार उन्होंने कहा, "पानी।"

मैं तत्क्षण दौड़ी-दौड़ी गई और अपने तन के कपड़े को यमुना के जल में भिगो लाई। कपड़े को निचोड़कर केशरलाल के खुले ओष्ठाधरों में पानी डालने लगी, और बाई आँख को फोड़ता हुआ उनके माथ में जहाँ भयंकर आघात लगा था उस पर अपने कपड़े का गीला छोर फाड़कर बाँध दिया।

इसी तरह कई बार यमुना का जल लाकर उनके मुख, नेत्रों को सींचने के बाद धीरे-धीरे उनमें चेतना का संचार हुआ। मैंने पूछा, "और पानी डालूं?" केशरलाल ने कहा, "तुम कौन हो?" मैं अब और न रह सकी, बोली. "आपकी अधीना भक्त सेविका। मैं नवाब गुलामक़ादिर खाँ की बेटी हूँ।" मैंने सोचा था, आसन्न मृत्यु के समय केशरलाल अपने भक्त का आखिरी परिचय साथ लेते जाएं, इस सुख से मुझे कोई वंचित नहीं कर सकता।

मेरा परिचय पाते ही केशरलाल सिंह के समान गरजकर बोले, "बेईमान की बेटी, विधर्मी! मृत्यु की घड़ी में यवन के हाथ का जल देकर तूने मेरा धर्म नष्ट कर डाला!" इतना कहकर उन्होंने बड़े जोर से मेरे गाल पर दाहिने हाथ से तमाचा मारा; मैं मूर्छित-सी हो गई, मेरे नेत्रों के सामने अंधकार छा गया।

उस समय मैं षोडशी थी. उस दिन पहली बार अन्तःपुर से बाहर निकली थी, अभी बाहर के आकाश की लुब्ध, तप्त सूर्य-किरणों ने मेरे सुकुमार कपोलों की रक्तवर्ण लावण्यविभा का अपहरण नहीं किया था, उस बहिर्जगत् में पैर रखते ही जगत् से, अपने जगत् के देवता से यह प्रथम संबोधन प्राप्त हुआ।"

मैं सिगरेट बुझाए मोह-मुग्ध चित्र-लिखित के समान बैठा हुआ था। कहानी सुन रहा था, या शब्द सुन रहा था, या संगीत सुन रहा था, पता नहीं, मेरे मुँह से कोई बात न निकली। अब मैं और न रह सका, सहसा बोल उठा, "जानवर!"

नवाबज़ादी ने कहा, "जानवर कौन? जानवर क्या मृत्यु की यन्त्रणा के समय ओठों तक आए जल-बिन्दु का परित्याग करता है?"

मैंने अप्रतिभ होकर कहा, "सही है। वह देवता था।"

नवाबज़ादी ने कहा, "कैसा देवता? क्या देवता एकाग्रचित्त भक्त की

सेवा का प्रत्याख्यान कर सकता है ?"

मैं बोला, "यह भी सही है।" कहकर चुप हो गया।

नवाबज़ादी कहने लगी, "पहले तो मुझे बड़ा बुरा लगा। लगा कि सारा विश्व अचानक चूर-चूर होकर मेरे सिर पर टूट पड़ा हो। क्षण-भर बाद सँभलकर उस कठोर, कठिन, निष्ठुर, निर्विकार, पवित्र ब्राह्मण के चरणों में दूर से प्रणाम किया—मन-ही-मन कहा, हे ब्राह्मण ! तुम दीनों की सेवा, दूसरों का अन्न, धनी का दान, युवती का यौवन, रमणी का प्रेम कुछ भी ग्रहण नहीं करते, तुम स्वतन्त्र, एकाकी, निर्लिप्त, सुदूर हो, तुम्हारे प्रति आत्म-समर्पण करने का भी मुझे अधिकार नहीं है !

नवाब-दुहिता को धरती पर मस्तक टेककर प्रणाम करते देखकर केशर-लाल ने क्या सोचा, नहीं कह सकती, किन्तु उसके चेहरे से विस्मय अथवा किसी अन्य भाव-परिवर्तन का परिचय नहीं मिला। शान्त भाव से एक बार मेरे मुँह की ओर देखा, उसके बाद धीरे-धीरे उठा। मैंने चौंककर सहारा देने के लिए अपना हाथ बढ़ाया, उसने बिना बोले उसका प्रत्याख्यान किया, और बड़े कष्ट से यमुना के घाट पर जा पहुँचा। वहाँ पार आने-जाने वाली एक नौका बँधी हुई थी। पार उतरने के लिए भी कोई नहीं था, पार उतारने वाला भी कोई नहीं था। उस नौका पर चढ़कर केशरलाल ने बंधन खोल दिया, देखते-देखते नौका बीच धार में जाकर धीरे-धीरे अदृश्य हो गई—मेरी इच्छा हुई कि समस्त हृदय-भार, समस्त यौवन-भार, समस्त अनादृत भक्ति-भार लेकर उस अदृश्य नौका की ओर हाथ जोड़कर उस निस्तब्ध आधी रात में, उस चन्द्रालोक-पुलकित निस्तरंग यमुना में अकालवृन्तच्युत पुष्प-मंजरी के समान इस व्यर्थ जीवन को विसर्जित कर दूँ।

किन्तु कर नहीं सकी। आकाश में चन्द्र, यमुना-पार की घनकृष्ण वन-रेखा, कालिन्दी की गाढ़ी नीली निष्कम्प जलराशि, दूर आम्रवन के ऊपर चम-कता हमारे ज्योत्स्नाचिक्कन किले का शिखर भाग, सबने निःशब्दगम्भीर एकतान से मृत्यु का गीत गाया, उस अर्ध-रात्रि में ग्रहचन्द्रताराखचित निस्तब्ध तीनों भुवनों ने मुझसे एक स्वर में मरने के लिए कहा। केवल वीचिभंगविहीन प्रशान्त यमुना के वक्ष पर उतराती हुई एक अदृश्य जीर्ण नौका मुझे उस ज्योत्स्ना रजनी के सौम्य-सुन्दर शान्त-शीतल अनन्त भुवनमोहन मृत्यु के फैले आलिंगन-बन्धन से छुड़ाकर जीवन के पथ पर खींच ले चली। मैं मोहस्वप्नाभिभूत के समान यमुना के किनारे-किनारे कभी काँस-वन में, कभी मरु-बालुका पर, कभी असमतल विदीर्ण तट पर, कभी सघन गुल्म के दुर्गम बन-खण्ड में भटकती हुई चलने लगी।"

यहाँ वक्ता चुप हो गया। मैंने भी कोई बात नहीं कही।

कुछ देर बाद नवाब-दुहिता ने कहा, "इसके बाद की घटनावली बहुत जटिल है। मैं नहीं जानती कैसे उसका विश्लेषण करके स्पष्ट रूप से कहूँ। एक गहन अरण्य में होकर यात्रा की, ठीक किस रास्ते होकर कब गई इसे क्या फिर ढूँढ निकाल सकती हूँ? कहाँ आरम्भ करूँ, कहाँ समाप्त करूँ, क्या छोड़ूँ, क्या रखूँ, सम्पूर्ण कहानी को किस प्रकार ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्षवत् बनाऊँ जिसमें कुछ भी असाध्य, असम्भव और अस्वाभाविक न प्रतीत हो।

किन्तु जीवन के इन थोड़े से दिनों मे यह समझ गई हूँ कि असाध्य असम्भव कुछ भी नहीं है। नवाब के अन्तःपुर की बालिका के लिए बाहर का संसार नितान्त दुर्गम कहा जा सकता है, किन्तु यह कल्पना-मात्र है, एक बार बाहर निकल पड़ने पर चलने के लिए रास्ता मिल ही जाता है। वह रास्ता नवाबी रास्ता भले ही न हो, किन्तु रास्ता है, उस पथ पर मनुष्य चिरकाल से चलता आ रहा है—वह असमतल विचित्र सीमाहीन है, वह शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त है, सुख-दुःख बाधा-विघ्नों के कारण वह जटिल है, किन्तु वह पथ जरूर है।

इस सामान्य जन-जीवन के पथ पर एकाकिनी नवाब-दुहिता का लम्बा भ्रमण-वृत्तान्त सुख-श्राव्य नहीं होगा, हो तो भी वह पूरा वृत्तान्त सुनाने का मुझमें उत्साह नहीं है। एक शब्द में, दुःख-कष्ट, विपद्, अवमानना बहुत भुगतनी पड़ी तो भी जीवन असह्य नहीं हुआ। आतिशबाजी के समान जितनी जली उतनी ही उद्दाम गति प्राप्त की। जितने समय वेग से चली उतने समय जल रही थी ऐसा बोध नहीं हुआ, आज सहसा उस परम दुःख उस चरम सुख की ज्योति-शिखा बुझने पर इस पथ की धूल के ऊपर जड़ पदार्थ की भाँति गिर पड़ी हूँ—आज मेरी यात्रा समाप्त हो गई है, यहीं मेरी कहानी भी समाप्त होती है।"

यह कहकर नवाबपुत्री रुक गई। मैंने मन-ही-मन गर्दन हिलाई, यहाँ तो किसी भी तरह समाप्त नहीं हो सकती। कुछ देर चुप रहकर टूटी-फूटी हिन्दी में बोला, "बे-अदबी माफ कीजिएगा, अन्त की बात को थोड़ा और खुलासा कहें तो सेवक के मन की व्याकुलता बहुत-कुछ कम हो जायगी।"

नवाबज़ादी हँसी। मैं समझा मेरी टूटी-फूटी हिन्दी का असर हुआ है। यदि मैं ठेठ हिन्दी में बात कर पाता तो मेरे प्रति उनका संकोच न मिटता, किंतु मैं उनकी मातृभाषा बहुत ही कम जानता था वही हम दोनों के बीच बड़ा व्यवधान था, वही एक पर्दा था।

उन्होंने फिर आरम्भ किया, "केशरलाल का समाचार मैं प्रायः पाती, किंतु किसी भी प्रकार उनसे मिलना नहीं हो सका। तांतिया टोपे के दल में मिलकर

उस विप्लवाच्छन्न आकाश में वे कभी पूर्व मे, कभी पश्चिम में, कभी ईशान में, कभी नैऋति में वज्रपात के समान क्षण में टूटते, क्षण में अदृश्य हो जाते थे।

उन दिनों मैं योगिनी बनकर काशी के शिवानन्द स्वामी को पिता के समान मानकर उनके पास संस्कृत-शास्त्र का अध्ययन कर रही थी। भारतवर्ष का सारा समाचार उनके चरणों मे आता रहता, मैं भक्तिपूर्वक शास्त्राभ्यास करती और हार्दिक व्याकुलता के साथ युद्ध के समाचारों का संग्रह करती।

धीरे-धीरे ब्रिटिशराज ने हिन्दुस्तान की विद्रोह-वह्नि को पैरों से कुचलकर बुझा दिया। तभी अचानक केशरलाल का समाचार मिलना बन्द हो गया। प्रचण्ड प्रलयालोक की रक्त-रश्मियों में भारतवर्ष के सुदूर प्रान्तों की जो समस्त वीरमूर्तियाँ क्षण-क्षण में दिखाई दे रही थीं, वे सहसा अन्धकार में विलीन हो गईं।

मैं अब और नहीं रह सकी। गुरु का आश्रय छोड़कर भैरवी-वेश धारण करके फिर बाहर निकल पड़ी। नाना मार्गों, तीर्थों, मठ-मन्दिरों की यात्रा की, केशरलाल का कहीं कोई पता न मिला। दो-एक व्यक्तियों ने, जो उनका नाम जानते थे, कहा, "वह कदाचित् युद्ध या राजदण्ड द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं।" पर मेरी अन्तरात्मा ने कहा, "कभी नहीं, केशरलाल की मृत्यु नहीं हो सकती। वह ब्राह्मण वह दुःसह अग्नि-ज्योति कदापि नहीं बुझ सकती, मेरी आत्माहुति ग्रहण करने के लिए वह अभी तक किसी दुर्गम निर्जन यज्ञ-वेदी पर ऊर्ध्वशिखा के रूप में जल रही होगी।"

हिन्दू-शास्त्रों में लिखा है कि ज्ञान के द्वारा, तपस्या के द्वारा शूद्र ब्राह्मण हो गए हैं, मुसलमान ब्राह्मण हो सकता है या नहीं इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसका एक-मात्र कारण है, उस समय मुसलमान थे ही नहीं। मैं जानती थी कि केशरलाल के साथ मेरे मिलन मे बहुत विलम्ब है, क्योंकि पहले मुझे ब्राह्मण होना पड़ेगा। एक-एक करके तीस वर्ष बीत गए। मैं हृदय से, बाहर से, आचार से, व्यवहार से, तन-मन-वचन से ब्राह्मण हो गई थी, मेरी उस ब्राह्मण पितामही का रक्त निष्कलुष तेज से मेरे सर्वाङ्ग मे प्रवाहित होने लग गया था, मैंने मन-ही-मन अपने उस यौवनारम्भ के प्रथम ब्राह्मण, अपनी यौवन-समाप्ति के अन्तिम ब्राह्मण, त्रिभुवन के अपने एक-मात्र ब्राह्मण के चरणों में निस्संकोच भाव से अपने को सम्पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित करके एक अपूर्व दीप्ति प्राप्त कर ली थी।

युद्ध-विप्लव के प्रसंग में केशरलाल के वीरत्व की अनेक बातें मैंने सुनीं, किन्तु वे मेरे हृदय पर अंकित नहीं हुई। बस एक वही चित्र जो मैंने देखा था, जिसमें निःशब्द ज्योत्स्नापूर्ण अर्धरात्रि में निस्तब्ध यमुना की बीच धार में एक

छोटी नौका पर आरूढ़ हो एकाकी केशरलाल बहा जा रहा था, बस, वह मेरे मन में अंकित रह गया। मैं बस अहरह देखा करती, ब्राह्मण निर्जन स्रोत में पड़कर रात-दिन किसी अनिर्दिष्ट रहस्य की ओर दौड़ रहा है, उसका कोई संगी नहीं, कोई सेवक नहीं, उसे किसी की आवश्यकता नहीं, वह निर्मल आत्म-निमग्न पुरुष अपने-आपमें सम्पूर्ण है, आकाश के ग्रह-चन्द-तारे उसका चुपचाप निरीक्षण करते हैं।

इसी बीच समाचार मिला कि केशरलाल ने राजदण्ड से भागकर नेपाल में आश्रय लिया है। मैं नेपाल गई। वहाँ बहुत समय तक रहने के बाद समाचार मिला कि बहुत समय हुआ केशरलाल नेपाल छोड़कर न जाने कहाँ चला गया।

उसके बाद से मैं पहाड़ों-पहाड़ भ्रमण कर रही हूँ। यह हिन्दुओं का देश नहीं है—यहाँ भोटिया, लेप्चा, म्लेच्छ है, इनके आहार-व्यवहार में; आचार-विचार नहीं हैं, इनके देवता, इनकी पूजार्चना-विधि सभी अलग हैं, बहुत दिनों की साधना के फलस्वरूप मैंने जो विशुद्ध शुचिता अर्जित की थी, मुझे भय हुआ कि कहीं उसमें कलंक न लग जाय। मैं बड़े यत्न से हर प्रकार के मलिन संस्पर्श से अपनी रक्षा करती चलने लगी। मैं जानती थी कि मेरी नौका किनारे आ लगी थी, अपने जीवन के चरमतीर्थ के पास।

उसके बाद और क्या कहूँ। बाकी बात तो बहुत थोड़ी है। दिया जब बुझता है तब एक लपक में ही बुझ जाता है, उस बात को और बढ़ाकर क्या व्याख्या करूँ।

अड़तीस वर्ष के बाद दार्जिलिंग में आकर आज प्रातःकाल केशरलाल को देखा।"

यहाँ वक्ता को चुप होते देख मैंने उत्सुकतापूर्वक प्रश्न किया, "क्या देखा ?"

नवाबजादी ने कहा, "देखा वृद्ध केशरलाल भोटिया मुहल्ले में भोटिया स्त्री एवं उसे उत्पन्न पौत्र-पौत्री लेकर मैले कपड़े पहने, मैले आँगन में भुट्टों से अनाज निकाल रहा है।"

कहानी समाप्त हो गई; मैंने सोचा सान्त्वना के कुछ शब्द कहना आवश्यक था। कहा, "अड़तीस वर्ष तक लगातार जिसको प्राणों के भय से रात-दिन विजातियों के संपर्क में रहना पड़ा हो वह अपने आचार की रक्षा कैसे कर सकता है ?"

नवाबजादी ने कहा, "मैं क्या यह नहीं समझती। किन्तु इतने दिन मैं न जाने कैसा-सा मोह लिये डोल रही थी ! जिस ब्राह्मणत्व ने मेरे किशोर हृदय को हर

लिया था, मैं क्या जानती थी कि वह केवल अभ्यास या संस्कार था। मैं समझती थी वह धर्म, अनादि अनन्त था। यदि ऐसा न होता तो सोलह वर्ष की अवस्था में पहली बार पितृ-गृह से निकलकर उस ज्योत्स्नापूर्ण अर्धरात्रि में अपने विकसित, पुष्पित भक्तिवेगकम्पित देह-मन-प्राणों के समर्पण के बदले में ब्राह्मण के दाहिने हाथ से जो दु:सह अपमान प्राप्त हुआ उसे गुरु के हाथों मिली दीक्षा के समान चुप-चाप माथा झुकाकर द्विगुणित भक्ति-भाव से शिरोधार्य क्यों करती। हाय ब्राह्मण ! तुमने तो अपने अभ्यास के बदले में एक और अभ्यास ग्रहण कर लिया है, मैं अपने उस यौवन, उस जीवन के बदले में दूसरा जीवन, यौवन अब कहाँ पाऊँगी ?"

यह कहकर रमणी उठ खड़ी हुई. बोली, "नमस्कार बाबूजी !"

क्षण-भर बाद मानो संशोधन करके कहा, "सलाम बाबू साहब !" इस मुसलमान अभिवादन के द्वारा उसने मानो जर्जर धराशायी भग्न ब्राह्मण से अन्तिम विदाई ली। मेरे कुछ कहने के पहले ही वह उस हिमाद्रि-शिखर की धूसर कुज्झटिका-राशि में मेघ की भाँति विलीन हो गई।

मैं क्षण-भर के लिए आँखें मूँदकर समस्त घटनावली को अपने मानस-पट पर चित्रित देखने लगा। यमुना-तीर के गवाक्ष के पास मसनद लगे आसन पर सुखासीना षोड़शी नवाब-बालिका को देखा, तीर्थ-मन्दिरों में संध्या-आरती के समय तपस्विनी की भक्ति-गद्गद् एकाग्र मूर्ति देखी, उसके बाद इस दार्जिलिंग की कैलकाटा रोड के किनारे कुहेलिकाच्छन्न भग्न-हृदया भारकातर नैराश्य-मूर्ति भी देखी, एक सुकुमार रमणी-देह में ब्राह्मण-मुसलमान रक्तों की तरंगों के विपरीत संघर्ष से उत्पन्न विचित्र व्याकुल संगीत की ध्वनि सुन्दर सम्पूर्ण उर्दू भाषा में विगलित होकर मेरे मस्तिष्क में स्पन्दित होने लगी।

आँखें खोलकर देखा, बादल अचानक फट गए थे और स्निग्ध धूप से निर्मल आकाश झलमला रहा था। ठेलागाड़ी में अंग्रेज रमणियाँ और घोड़े की पीठ पर अंग्रेज पुरुषगण वायु-सेवन के लिए निकल पड़े थे, बीच-बीच में दो-एक बँगालियों के गुलुबन्द से लिपटे मुखमण्डल से मेरी ओर विनोदपूर्ण कटाक्ष भी आ रहे थे। मैं तेजी से उठ खड़ा हुआ, इस सूर्यालोकित खुले जगत् के दृश्य में वह मेघाच्छन्न कहानी अब सत्य नहीं लग रही थी। मेरा विश्वास है कि मैंने पर्वत के कुहरे में अपनी सिगरेट का धुआँ, बड़ी मात्रा में मिश्रित करके कल्पना-खण्ड की रचना की थी—वह मुसलमान ब्राह्मणी, वह विप्रवीर, वह यमुना किनारे का किला शायद कुछ भी सत्य नहीं था।

दृष्टिदान

: १ :

सुना है, आजकल बहुत-सी बंगाली लड़कियों को स्वयं प्रयत्न करके पति ढूंढना पड़ता है। मैंने भी यही किया है, किन्तु देवता की सहायता से। मैंने बचपन से ही बहुत-से व्रत और काफी शिव-पूजा की थी।

आठ वर्ष की आयु पूरी होने के पहले ही मेरा विवाह हो गया था। किन्तु पूर्वजन्म के पापों के कारण मैं पति को पाकर भी पूरी तरह से न पा सकी। माँ दुर्गा ने मेरी आँखें ले लीं। जीवन के अन्तिम क्षण तक पति को देखने का सुख प्रदान नहीं किया।

बाल्यावस्था से ही मेरी अग्नि-परीक्षा आरम्भ हो गई थी। चौदह वर्ष पूरे होने के पूर्व ही मैंने एक मृत शिशु को जन्म दिया, स्वयं भी मृत्यु के समीप पहुँच गई थी, किन्तु जिसके भाग्य में दुःख बदा होता है वह मर कैसे सकता है। जो दीप जलने के लिए होता है उसमें तेल की कमी नहीं पड़ती, वह रात-भर जलकर ही बुझता है।

बच तो गई, किन्तु शरीर की दुर्बलता, मन के दुःख अथवा जिस कारण से भी हो, मुझे नेत्र-रोग हो गया।

मेरे पति उस समय डॉक्टरी पढ़ रहे थे। नई विद्या सीखने के उत्साह में चिकित्सा करने का सुयोग पाते ही वे खुश हो उठते। उन्होंने स्वयं मेरी चिकित्सा आरम्भ की।

उस वर्ष भैया बी०-एल० देने के विचार से कॉलिज में पढ़ रहे थे। उन्होंने एक दिन आकर मेरे पति से कहा, "कर क्या रहे हो! कुमु की आँखें नष्ट करने चले हो। किसी अच्छे डॉक्टर को दिखाओ!"

मेरे पति ने कहा, "अच्छा डॉक्टर आकर और क्या नई चिकित्सा करेगा? औषधियाँ तो सब जानी हुई हैं।"

भैया ने कुछ क्रोधित होकर कहा, "तो फिर क्या तुममें और कॉलिज के बड़े साहब में कोई अन्तर नहीं?"

पति ने कहा, "कानून पढ़ते हो, डॉक्टरी तुम क्या समझो। तुम जब विवाह करोगे, तब अपनी स्त्री की सम्पत्ति को लेकर यदि कभी मुकद्दमा छिड़ जाय तो क्या तुम मेरे परामर्श के अनुसार चलोगे ?"

मैं मन-ही-मन सोच रही थी, राजा-राजाओं में युद्ध हो, मारे जायँ ग़रीब बेचारे। पति के साथ विवाद छिड़ा भैया का, किन्तु दोनों पक्षों का आघात मुझे ही सहना पड़ा। फिर सोचा, भाइयों ने जब मेरा दान ही कर दिया है, तब मेरे प्रति कर्तव्य को लेकर यह खींच-तान क्यों ? मेरा सुख-दुःख, मेरा रोग और स्वास्थ्य, अब तो सभी-कुछ मेरे पति का है।

उस दिन मेरे नेत्रों की चिकित्सा-जैसी साधारण बात को लेकर भैया के साथ मेरे पति का मानो कुछ मन-मुटाव हो गया। मेरी आँखों से पानी गिरता था, पानी गिरना और भी बढ़ गया, उसका असली कारण उस समय मेरे पति या भैया कोई भी नहीं समझ सके।

मेरे पति के कॉलिज चले जाने पर अपराह्न में भैया अचानक एक डॉक्टर को लेकर उपस्थित हुए। डॉक्टर ने परीक्षा करके कहा, 'सावधानी न बरती गई तो रोग के गुरुतर हो जाने की संभावना है।' यह कहकर उन्होंने न जाने क्या-क्या दवाइयाँ लिख दीं, भैया ने तुरन्त मँगा भेजीं।

डॉक्टर के चले जाने पर मैंने भैया से कहा, "भैया आपके पैरों पड़ती हूँ, मेरी जो चिकित्सा चल रही है उसमें किसी प्रकार की बाधा न डालें।"

मैं बाल्यावस्था से ही भैया से बहुत डरती थी, उनके सामने मुँह खोल-कर इस तरह की बात करना मेरे लिए एक आश्चर्यजनक घटना थी, किन्तु मैं अच्छी तरह समझ गई थी कि मेरे पति से छिपाकर भैया मेरी जिस चिकित्सा की व्यवस्था कर रहे हैं, उसमें मेरा अशुभ छोड़ कर शुभ नहीं है।

भैया को भी मेरी इस धृष्टता पर शायद कुछ आश्चर्य हुआ। कुछ देर चुप रहकर सोचते-सोचते अंत में बोले, "अच्छा, अब फिर डॉक्टर नहीं लाऊंगा, किन्तु जो दवाइयाँ आयेंगी उनका विधिपूर्वक सेवन करके देखना !" दवाइयाँ आने पर मुझे उनकी सेवन-विधि समझाकर भैया चले गए। पति के कॉलिज से लौटने के पहले ही मैंने वह डिब्बा, शीशी, दवा लगाने की सलाई और सारी सेवन-विधि उठाकर यत्नपूर्वक अपने आँगन के कुएं में फेंक दी। भैया से कुछ अप्रसन्न होकर ही मानो मेरे पति और भी दुगुने उत्साह से मेरी आँखों की चिकित्सा में लग गए। दोनों समय दवाई बदली जाने लगी। आँखों में पट्टी बाँधी, चश्मा लगाया, आँख में बूंद-बूंद करके दवाई डाली, चूर्ण लगाया, दुर्गंधयुक्त मछली का तेल खाने से अन्दर की आँतें तक बाहर निकलने लगतीं, उसे भी रोके

रखा। पति पूछते, 'कैसा लग रहा है।' मैं कहती, 'काफ़ी अच्छा।' मैं यह सोचने की भी कोशिश करती कि अच्छी ही हो रही हूँ। जब बहुत ज्यादा पानी निकलता रहता तो सोचती, 'पानी निकलना ही अच्छा लक्षण है।' जब पानी गिरना बन्द हो जाता तो सोचती, 'बस अब अच्छे होने की राह पर हूँ।'

किन्तु कुछ समय बाद यन्त्रणा असह्य हो गई। आँखों से धुँधला दिखाई पड़ने लगा और सिर-दर्द ने मुझे बेचैन कर दिया। मैंने देखा मानो मेरे पति भी कुछ अप्रतिभ हो गए हैं। इतने दिन बाद क्या बहाना करके डॉक्टर को बुलावें, समझ नहीं पा रहे थे।

मैंने उनसे कहा, "भैया का मन रखने के लिए एक बार किसी डॉक्टर को बुलाने में हानि क्या है? इसी बात पर वे बेकार गुस्सा हो रहे हैं, इससे मेरे मन को कष्ट होता है। चिकित्सा तो तुम्हीं करोगे, किसी एक डॉक्टर का साथ रहना अच्छा है।

पति बोले, "ठीक कहती हो!" यह कहकर उसी दिन एक अंग्रेज डॉक्टर को लाकर हाजिर किया। क्या बात हुई नहीं जानती; किन्तु लगा, जैसे साहब ने मेरे पति को कुछ फटकारा हो, वे सिर झुकाए निरुत्तर खड़े रहे।

डॉक्टर के चले जाने पर मैं अपने पति का हाथ पकड़कर बोली, "कहाँ से इस गँवार गोरे गर्दभ को पकड़ लाए, कोई देशी डॉक्टर ही काफ़ी था। मेरी आँख की बीमारी को क्या वह तुमसे अधिक अच्छा समझ सकेगा।"

पति कुछ कुण्ठित होकर बोले, "आँख का ऑपरेशन कराना आवश्यक है।"

मैंने कुछ ऊपरी क्रोध दिखाकर कहा, "ऑपरेशन कराना होगा, यह तो तुम जानते थे, किन्तु शुरू से ही यह बात मुझसे छिपाते रहे हो। तुम क्या यह सोचते हो कि मैं डरती हूँ।"

पति की लज्जा दूर हो गई। वे बोले, "आँख के ऑपरेशन की बात सुनकर न डरें, आदमियों में ऐसे कितने वीर हैं।"

मैंने मज़ाक करते हुए कहा, "पुरुष की वीरता केवल स्त्री के सामने प्रकट होती है।"

तत्क्षण पति ने उदास और गम्भीर होकर कहा, "यह बात ठीक है। पुरुषों का तो अहंकार ही सब-कुछ है।"

उनके गांभीर्य को उड़ाकर मैंने कहा, "अहंकार में भी क्या तुम लोग स्त्रियों से पार पाओगे? उसमें भी हमारी ही जीत है।"

इसी बीच भैया के आ जाने पर मैंने उनको अकेले में बुलाकर कहा,

"भैया, आपके उस डॉक्टर की व्यवस्था के अनुसार चलने से मेरी आँखें इस बीच में खूब अच्छी हो रही थीं, एक दिन भ्रम से खाने की दवा का आँखों पर लेप कर लिया तब से आँखें जैसे फूटी जा रही हैं। मेरे पति कह रहे हैं, आँखों का ऑपरेशन कराना होगा।"

भैया ने कहा, "मैं सोच रहा था, तुम्हारे पति की ही चिकित्सा चल रही है, इसीसे और भी नाराज़ होकर मैं इतने दिन नहीं आया।"

मैंने कहा, "नहीं, मैं बिना किसी से कहे उसी डॉक्टर की विधि के अनुसार चल रही थी, पति को बताया ही नहीं कि कहीं वे नाराज़ न हों।"

स्त्री का जन्म लेने पर इतना झूठ भी बोलना पड़ता है! भैया के मन को भी नहीं दुखाना चाहती, पति के यश को भी कम करते नहीं बनता। माँ होकर गोद के शिशु को बहलाना पड़ता है, स्त्री होकर शिशु के पिता को बहलाना पड़ता है—औरतों के लिए इतनी छलना आवश्यक है।

छलना का फल यह हुआ कि अन्धी होने के पहले अपने भैया और पति का मिलन देख सकी। भैया ने सोचा, 'गोपनीय चिकित्सा करने से ही यह दुर्घटना घटी;' पति ने सोचा, 'शुरू में ही मेरे भैया का परामर्श मान लेता तो अच्छा होता।' यह सोचकर दो अनुतप्त हृदय भीतर-ही-भीतर क्षमाप्रार्थी होकर एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आ गए। पति भैया का परामर्श लेने लगे, भैया भी विनीत भाव से सब बातों में मेरे पति के मत का ही समर्थन करने लगे।

अन्त में दोनों के परामर्श के अनुसार एक अंग्रेज़ डॉक्टर ने मेरी बाईं आँख पर अस्त्राघात किया। दुर्बल नेत्र यह आघात नहीं सह सका, उसकी क्षीण दीप्ति हठात् बुझ गई। उसके बाद बची हुई आँख भी धीरे-धीरे अन्धकार से आवृत हो गई। बाल्यावस्था में शुभदृष्टि[१] के दिन जो चन्दनचर्चित तरुणमूर्ति मेरे सामने पहले प्रकाशित हुई थी उसके ऊपर सदा के लिए जैसे पर्दा पड़ गया।

एक दिन मेरी चारपाई के पास आकर पति बोले, "तुम्हारे सामने अब झूठी बड़ाई और नहीं करूँगा, तुम्हारी दोनों आँखें मैंने ही नष्ट की हैं।"

मुझे लगा, उनकी आवाज़ अश्रु-जल से भर आई है। अपने हाथों में उनका दाहिना हाथ लेकर मैंने कहा, "अच्छा किया, अपनी वस्तु तुमने ले ली। सोचकर तो देखो, यदि किसी डॉक्टर की चिकित्सा से मेरी आँख नष्ट हुई होती तो उससे मुझे क्या सान्त्वना मिलती। भवितव्यता यदि मिटती नहीं तो फिर मेरी आँख को तो कोई बचा ही नहीं सकता था, वह आँख तुम्हारे हाथों गई है

१. बंगाल में विवाह के समय वर-कन्या में परस्पर दृष्टि-विनिमय करने का एक अनुष्ठान-विशेष।

यही मेरे अंधे होने का एक-मात्र सुख है। जब पूजा के फूल कम पड़ गए थे तब रामचन्द्र अपने दोनों नेत्र निकालकर देवता पर चढ़ाने गए थे। अपने देवता को मैंने अपनी दृष्टि दे दी। अपनी पूर्णिमा की ज्योत्स्ना, अपने प्रभात का प्रकाश अपने आकाश की नीलिमा, अपनी पृथ्वी की हरीतिमा, सब तुमको दे दी; तुम्हारी आँखों को जब जो अच्छा लगे मुझे मुँह से बताना, उसे मैं तुम्हारे नेत्रों से देखने का प्रसाद मानकर ग्रहण करूँगी।"

मैं उतनी बातें कह नहीं सकी, ऐसी बातें मुँह से कही भी नहीं जा सकतीं; ये सब बातें तो मैं बहुत दिनों से सोच रही थी। बीच-बीच में जब अवसाद का अनुभव करती, निष्ठा का तेज म्लान हो आता, अपने को वंचित दुःखित दुर्भाग्य-दग्ध अनुभव करती, तब मैं अपने मन से यह सब कहलवा लेती; इस शान्ति, इस भक्ति का अवलंबन करके अपने दुःख से भी अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा करती। उस दिन कुछ कहकर कुछ मौन रहकर कदाचित् अपने मन का भाव किसी तरह उन्हें समझा सकी थी। वे बोले, "कुमु, मूढ़ता से तुम्हारा जो नष्ट किया है उसे अब लौटा तो नहीं सकूंगा, किन्तु जहां तक मुझसे हो सकेगा तुम्हारे नेत्रों का अभाव पूरा करने के लिए तुम्हारे साथ-साथ रहूँगा।"

मैंने कहा, "यह बेकार की बात है। तुम अपनी गृहस्थी को एक अन्धे का अस्पताल बनाकर रखोगे, यह मैं किसी प्रकार भी नहीं होने दूंगी। तुमको दूसरा विवाह करना ही होगा।"

किसलिए दूसरा विवाह करना नितान्त आवश्यक है यह विस्तार पूर्वक बताने के पहले ही मेरा गला जैसे कुछ भर आया। कुछ खांसकर, कुछ सँभल-कर बोलने ही वाली थी कि इसी बीच मेरे पति उच्छ्वसित आवेग से बोल उठे, "मैं मूढ़ हूँ, अहंकारी हूँ, किन्तु ऐसा होते हुए भी मैं पाखण्डी नहीं हूँ। अपने हाथों से तुम्हें अंधा कर दिया है, अन्त में उसी कमी के कारण तुम्हें छोड़कर यदि अन्य स्त्री ग्रहण करूँ तो अपने इष्टदेव गोपीनाथ की शपथ खाकर कहता हूँ, मैं ब्रह्म-हत्या, पितृ-हत्या के समान पाप का भागी होऊँ।"

इतनी बड़ी शपथ नहीं लेने देती, बाधा डालती, किन्तु उस समय हृदय फोड़कर कण्ठ दबाकर दोनों नेत्रों से आंसू उमड़ पड़ने की कोशिश में थे, उन्हें रोककर बात नहीं कह सकती थी। उन्होंने जो कहा उसे सुनकर अपार आनन्द के उद्वेग से तकिए में मुँह गाड़कर रो पड़ी। मैं अंधी हूँ, तो भी वे मुझे नहीं छोड़ेंगे। दुखी के दुःख के समान मुझे हृदय से लगाकर रखेंगे। इतना सौभाग्य मैं नहीं चाहती थी, किन्तु मन तो स्वार्थी होता है।

आखिर में आँसुओं की पहली बौछार चुक जाने के बाद उनके मुख को

अपने हृदय के पास खींचकर कहा, "ऐसी भीषण शपथ क्यों ली। मैंने क्या तुमसे अपने सुख के लिए विवाह करने के लिए कहा था। सौत से मैं अपना स्वार्थ साधती। आँखों के अभाव में तुम्हारा जो काम मैं स्वयं नहीं कर पाती वह उससे करवाती।"

पति बोले, "काम तो दासी से भी चल सकता है। काम की सुविधा के लिए दासी से विवाह करके उसे क्या मैं अपनी इस देवी के साथ एक आसन पर बैठा सकता हूँ।" यह कहकर मेरा मुँह उठाकर उन्होंने मेरे माथे का एक निर्मल चुम्बन लिया, उस चुम्बन द्वारा मानो मेरा तृतीय नेत्र खुल गया हो। उसी क्षण देवीत्व पद पर मेरा अभिषेक हो गया। मैंने मन-ही-मन कहा, 'यही अच्छा है। जब मैं अंधी हो गई हूँ तो मैं इस बहिर्संसार की गृहिणी नहीं हो सकती, अब मैं संसार से ऊपर उठकर देवी होकर पति का मंगल करूंगी।' अब मिथ्या नहीं, छलना नहीं, गृहिणी रमणी की जो कुछ क्षुद्रता और कपटता होती है सब दूर कर दी।

उस दिन दिन-भर अपने साथ एक विरोध चलता रहा। गुरुतर शपथ में बाध्य होकर पति किसी भी प्रकार दूसरा विवाह नहीं कर सकेंगे, यह आनन्द जैसे मन को एकदम जकड़े रहा, किसी प्रकार भी उसे छुड़ा नहीं सकी। आज मेरे भीतर जिन नई देवी का आविर्भाव हुआ था, उन्होंने कहा, 'शायद ऐसा दिन आ सकता है जब इस शपथ का पालन करने की अपेक्षा विवाह करने से तुम्हारे पति का मंगल होगा,' किन्तु मेरे भीतर जो पुरातन नारी थी, उसने कहा, 'वह भले हो, किन्तु उन्होंने जब शपथ ली है तब दूसरा विवाह तो नहीं कर सकेंगे।' देवी ने कहा, 'वह हो, किन्तु इसमें तुम्हारे प्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है।' मानवी ने कहा, 'सब समझती हूँ, किन्तु जब उन्होंने शपथ ली है तब,' इत्यादि। बार-बार वही एक बात। देवी ने तब निरुत्तर होकर केवल भौंहें तानीं और एक भयंकर आशंका के अन्धकार से मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण आच्छन्न हो गया।

मेरे अनुतप्त पति नौकर-चाकर दासियों को मना करके स्वयं मेरा सब काम करने को तैयार हुए। पति के ऊपर तुच्छ बातों के लिए भी इस प्रकार पूर्ण रूप से निर्भर रहना पहले तो अच्छा ही लगता। क्योंकि इस प्रकार सब समय उनको उसके पास पाती। आँखों से उनको नहीं देख पाती थी इसलिए उनके सदा पास बने रहने की आकांक्षा अत्यन्त उग्र हो उठी। पति के सुख का जो अंश मेरे नेत्रों के हिस्से में पड़ा था उसको अब अन्य इन्द्रियों ने बाँटकर अपना-अपना हिस्सा बढ़ा लेने की चेष्टा की। अब अपने पति के अधिक समय काम पर बाहर रहने से लगता, जैसे मैं शून्य में होऊँ, जैसे मैं कहीं भी कुछ पकड़ न पा रही होऊँ,

जैसे मेरा सब-कुछ खो गया हो। पहले पति जब कॉलिज जाते तब विलम्ब होने से जंगले को थोड़ा-सा खुला रखकर रास्ता देखती रहती। जिस जगत् में वे घूमते उस जगत् को नेत्रों द्वारा मैंने अपने साथ बाँध रखा था। आज दृष्टि-हीन मेरा सारा शरीर उनको ढूंढने की चेष्टा करता है। उनकी और मेरी दुनिया के बीच जो प्रधान सेतु था वह आज टूट गया था। अब उनके और मेरे बीच में एक दुस्तर अंधता थी, अब मुझे निरुपाय होकर व्यग्र भाव से बैठे रहना पड़ता था, कब वे अपने तट से मेरे तट पर स्वयं आकर उपस्थित होंगे। इसी कारण अब जब क्षण-भर के लिए भी वे मुझे छोड़कर चले जाते तब मेरी सारी अन्धी देह लपककर उन्हें पकड़ने दौड़ती है, हाहाकार करके उन्हें पुकारती है।

किन्तु इतनी आकांक्षा, इतना निर्भर रहना तो अच्छा नहीं। पहले तो पति के ऊपर स्त्री का भार ही पर्याप्त है, उसके ऊपर अंधेपन का भारी भार और नहीं लाद सकती। अपने इस विश्व-व्यापी अंधकार को मैं स्वयं ही वहन करूँगी। एकाग्र मन से मैंने प्रतिज्ञा की—अपनी इस अनन्त अंधता के द्वारा मैं पति को अपने संग बाँधे नहीं रखूंगी।'

थोड़े ही समय में केवल शब्द-गंध-स्पर्श के द्वारा मैंने अपना सारा नित्य कार्य करना सीख लिया। यहाँ तक कि मैं अपना बहुत-सा घर का काम-काज पहले की अपेक्षा अधिक निपुणतापूर्वक निर्वाह करने लगी। अब लगने लगा कि आँखें हमारे काम में जितनी सहायता करती हैं उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विक्षिप्त कर देती हैं। जितना देखने से काम अच्छा होता है आँखें उससे कहीं ज्यादा देखती हैं। और आँखें जब पहरेदारी करती हैं तो कान आलसी बन जाते हैं, उनको जितना सुनना चाहिए वे उससे कम सुनते हैं। अब चंचल नेत्रों की अनुपस्थिति में मेरी अन्य समस्त इन्द्रियाँ अपना कर्त्तव्य शान्त और सम्पूर्ण भाव से करने लगीं।

अब मैं अपने पति को अपना कोई काम न करने देती, और उनका सारा काम फिर पहले की भाँति मैं ही करने लगी।

पति ने मुझसे कहा, "मेरे प्रायश्चित्त से मुझे वंचित कर रही हो।"

मैंने कहा, "तुम्हारा प्रायश्चित्त, मैं नहीं जानती, किन्तु अपने पाप का भार मैं क्यों बढ़ाऊंगी।"

जो भी कहें, मैंने जब उन्हें छुट्टी दी तो उन्होंने मुक्ति की साँस ली। अन्धी स्त्री की सेवा का आजीवन व्रत लेना पुरुषों का काम नहीं है।

डॉक्टरी पास करके मेरे पति मुझे लेकर मुफस्सिल क्षेत्र में चले गए। गाँव में आकर ऐसा लगा, जैसे माता की गोद में आ गई होऊँ। आठ वर्ष की अवस्था

में मैं गाँव छोड़कर शहर आई थी। इन दस वर्षों में जन्मभूमि मेरे मन में छाया के समान धुँधली हो चली थी। जब तक आँखें थीं कलकत्ता शहर, मेरे चारों ओर अन्य सारी स्मृतियों को ओट में किये खड़ा था। आँखों के जाते ही समझ में आया कि कलकत्ता केवल आँखें लुभाने वाला शहर है, उससे मन नहीं भरता। दृष्टि खोते ही मेरी अपनी बाल्यावस्था का वह गाँव दिवसावसान के नक्षत्र-लोक की भाँति मेरे मन में उज्ज्वल हो उठा।

अगहन के अंतिम दिनों में हम हाशिमपुर गए। नया स्थान था, चारों ओर का दृश्य कैसा था, यह तो मैं न जान सकी, किन्तु बाल्य-काल की उस सुगंध और सुख की अनुभूति ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। ओस से भीगे नए जुते खेतों से प्रभातकाल की वायु, सुनहरे अरहर और सरसों के खेतों की आकाश-व्यापी कोमल सुमिष्ट सुगंध, चरवाहों के गीत, यही नहीं कच्ची डगर में होकर चलने वाली बैल-गाड़ी की आवाज़ तक ने मुझे पुलकित कर दिया। अपने उस जीवनारम्भ की अतीत स्मृति ने अपनी अनिर्वचनीय ध्वनि और सुगंध से मुझे प्रत्यक्ष वर्तमान की भाँति घेर लिया, अन्धे नेत्र उसका कोई प्रतिवाद नहीं कर सके। मैं अपने उसी बाल्य-काल में पहुँच गई, बस माँ नहीं मिलीं। मन-ही-मन देखने लगी कि नानी अपने विरल केश-गुच्छों को बिखेरकर धूप की ओर पीठ किये आँगन में बड़ियाँ तोड़ रही थीं, किन्तु उनके कोमल कम्पित पुराने क्षीण स्वर में अपने गाँव के साधु भजनदास के देह-तत्त्वपूर्ण गीतों का गुञ्जन-स्वर नहीं सुनाई पड़ा; नवान्न का वह उत्सव शीतकाल की ओस से भीगे हुए आकाश के नीचे जागकर सजीव हो उठा; किन्तु ढेंकीघर में नया धान कूटने वाले लोगों के बीच अपनी छोटी-छोटी ग्रामीण-संगिनियों का मिलन कहाँ गया! संध्या समय कहीं समीप से ही गायों के रँभाने की ध्वनि सुनाई देती, तब याद आता कि माँ हाथ में संध्या-दीप लेकर गोशाला में दिया दिखाने जा रही हैं; उसीके साथ भीगी घास के चारे और पुआल जलाने के धुएं की गंध मानो हृदय में प्रवेश करती और मैं सुन पाती मानो तालाब के किनारे विद्यालंकारजी के मंदिर से कांसे के घंटे की ध्वनि आ रही हो। न जाने किसने मेरे बचपन के आठ वर्षों में से उनका सम्पूर्ण स्थूल भाग छानकर केवल उनका रस, गन्ध-मात्र मेरे चारों ओर जमा कर दिया था।

इसके साथ ही मुझे अपने उस बाल्य-काल के व्रत और भोरवेला में फूल चुनने और शिव-पूजा करने की बात याद आई। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कलकत्ता की बातचीत, आलोचना, चलने-फिरने के शोर-गुल के कारण बुद्धि में कुछ विकार आ ही जाता है। धर्म-कर्म भक्ति-श्रद्धा में निर्मल सरलता नहीं रहती। उस दिन की बात मुझे याद आ रही है जब अन्धी होने के बाद

कलकत्ता में मेरे गाँव की एक सखी ने आकर मुझसे कहा था, "कुमु, तुझे क्रोध नहीं आता ?" मैं होती तो ऐसे पति का मुँह न देखती।" मैंने कहा, "बहन, मुँह देखना तो बंद ही है, उसके लिए तो इन बेचारी अभागी आँखों पर क्रोध आता है, किन्तु पति पर क्यों क्रोध करूँ।" उचित समय पर डॉक्टर को न बुलाने के कारण लावण्य मेरे पति पर बहुत क्रोधित हुई थी और मुझे भी क्रोधित करने की चेष्टा की थी। मैंने उसे समझाया, 'गृहस्थी में रहते इच्छा से अनिच्छा से, ज्ञान-अज्ञान से भूल-भ्रान्ति से, अनेक प्रकार के दुःख-सुख घटित होते रहते हैं; किन्तु मन में यदि भक्ति स्थिर रह सके तो दुःख में भी एक शान्ति मिलती है, नहीं तो केवल क्रोध-रोष, ईर्ष्या-द्वेष, बक-झक में ही जीवन कटता है। अन्धी हो गई हूँ, यही काफ़ी दुःख है, तिस पर अब पति से विद्वेष करके दुःख का बोझ क्यों बढ़ाऊँ।' मेरी-जैसी बालिका के मुँह से पुराने जमाने की-सी बातें सुनकर लावण्य गुस्सा होकर अवज्ञा पूर्वक सिर हिलाकर चली गई। किन्तु जो भी हो, बात में विष रहता है, बातें एकदम व्यर्थ नहीं होतीं। लावण्य के मुँह की रोष की बातें मेरे मन में दो-एक स्फुलिंग छोड़ गई थीं, मैंने उनको पैरों से कुचल-कर बुझा दिया था; किन्तु फिर भी दो-एक चिनगारी रह गई थीं। इसीसे कह रही थी, कलकत्ता में अनेक विवाद, अनेक बातें हैं; वहाँ देखते-देखते बुद्धि जल्दी ही पककर कठोर हो जाती है।

गाँव में आकर अपनी उसी शिव-पूजा के शीतल शेफालिका-फूल की सुगंध से हृदय की सारी आशा और विश्वास मेरी उस शैशवावस्था की भाँति ही नवीन और उज्ज्वल हो उठे। भक्ति से मेरा हृदय और मेरी गृहस्थी परिपूर्ण हो गई। मैं सिर झुकाकर भूमि पर लेट गई। बोली, "हे देव! मेरी आँखें गईं, अच्छा हुआ, तुम तो मेरे हो।"

हाय! मैंने ग़लत कहा था। तुम मेरे हो, यह कहना भी गुस्ताखी है। मैं तुम्हारी हूँ, केवल इतना ही कहने का अधिकार है। ओह! एक दिन गला भींचकर मेरा देवता मुझसे यही बात कहला लेगा। भले ही कुछ भी न रहे, किन्तु मुझे रहना ही होगा। किसी के ऊपर कोई ज़ोर नहीं है; केवल अपने ही ऊपर है।

कुछ दिन खूब सुख में कटे। डॉक्टरी से मेरे पति की भी आय बढ़ने लगी। हाथ में कुछ रुपया भी आ गया।

किन्तु रुपया चीज़ अच्छी नहीं है। उससे मन दब जाता है। जब मन शासन करता है तब वह अपना सुख स्वयं तैयार कर सकता है, किन्तु धन जब सुख-संचय का भार लेता है तब मन का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। तब

पहले जहाँ मन का सुख था उस जगह को माल-असबाब का बटाटोप घेर लेता है। फिर सुख के बदले केवल सामग्री हाथ लगती है।

किसी विशेष बात या विशेष घटना का उल्लेख तो नहीं कर सकती, किन्तु अन्धे में अनुभव करने की शक्ति अधिक होती है इसलिए न जाने किस कारण से समृद्धिपूर्ण स्थिति के साथ-साथ अपने पति के परिवर्तन को भी मैं अच्छी तरह समझ रही थी। यौवनारम्भ में मेरे पति में न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में जो एक विवेक था वह मानो प्रतिदिन जड़ होता जा रहा था। मुझे स्मरण है, एक दिन वे कहते थे, "केवल जीविका के लिए डॉक्टरी सीख रहा होऊँ, ऐसा नहीं है, इसके द्वारा अनेक ग़रीबों का उपकार कर सकूँगा।" जो डॉक्टर दरिद्र मुमूर्षु के दरवाज़े पर जाकर पहले शुल्क लिये बिना नाड़ी नहीं देखना चाहते, उनकी बात करते समय घृणा से उनकी आवाज़ रुंध जाती थी। मैं समझ रही थी, कि अब वे दिन नहीं रहे। एक-मात्र पुत्र की प्राण-रक्षा के लिए एक दरिद्र औरत ने उनके पैर पकड़े, उन्होंने उसकी उपेक्षा की; अन्त में मैंने सिर की सौगन्ध दिलाकर उनको चिकित्सा करने के लिए भेजा, किन्तु उन्होंने मनोयोग से काम नहीं किया। जब हमारे पास रुपया कम था तब अन्याय द्वारा कमाने को मेरे पति किन आँखों से देखते थे, यह मैं जानती हूँ। किन्तु अब बैंक में ढेरों रुपया जमा हो गया, इधर एक धनी व्यक्ति का कारिन्दा आकर उनसे अकेले में दो दिन से बहुत-सी बातें कह गया। क्या बात की, मैं कुछ भी नहीं जानती; किन्तु उसके बाद जब वे मेरे पास आए, अत्यंत प्रफुल्लित होकर नाना विषयों पर नाना बातें कहीं, तब अपने अंतःकरण की स्पर्श-शक्ति के द्वारा मैं समझ गई कि वे आज कलंकित होकर आए हैं।

अन्धी होने के पहले मैंने अन्तिम बार जिनको देखा था मेरे वे पति कहाँ थे? जिन्होंने मेरे दृष्टिहीन नेत्रों को चूमकर मुझे एक दिन देवी के पद पर अभिषिक्त किया था, मैं उनके किस काम आ सकी। कभी किसी शत्रु की आँधी से जिनका अकस्मात् पतन होता है वे किसी दूसरे हृदयावेग से फिर ऊपर उठ सकते हैं, किन्तु इस प्रकार प्रतिदिन प्रतिपल हड्डियों के भीतर तक कठिन होते जाना, बाहर से बढ़ते हुए हृदय को तिल-तिल करके दबा डालना, इसका प्रतिकार सोचने बैठती तो कोई रास्ता न मिलता।

पति को साक्षात् देखने में जो विच्छेद हो गया था वह तो कुछ न था, किन्तु जब ख्याल आता कि मैं जहाँ हूँ वहाँ वे नहीं हैं तो मेरी छाती फटने लगती, मैं अन्धी थी, संसार के आलोक से शून्य अपने अन्तर-प्रदेश में मैं अपनी यौवनावस्था का नवीन प्रेम, अक्षुण्ण भक्ति, अखण्ड विश्वास लिये बैठी थी—जीवन के

आरम्भ में मैंने अपने इष्ट-मंदिर में अपने शिशु हाथों की अंजलि से जिन शेफालिका-पुष्पों का अर्घ्यदान किया था उनके ओस-बिन्दु अभी तक सूखे नहीं थे। और, मेरे पति इस छाया-शीतल चिरनवीन देश को छोड़कर रुपया कमाने के पीछे संसार की मरुभूमि में न जाने कहाँ अदृश्य होते चले जा रहे थे ! मैं जिसमें विश्वास करती हूँ, जिसको धर्म कहती हूँ, जिसको सब सुख-संपत्ति से अधिक समझती हूँ, उस पर वे हँसकर बड़ी दूर से कटाक्ष करते हैं। किन्तु एक दिन था जब यह विच्छेद नहीं था। यौवन के आरम्भ में हमने एक ही पथ पर यात्रा शुरू की थी; उसके बाद कब पथ भिन्न होने लग गए यह न तो वे जान सके, न मैं जान सकी; अन्त में आज मैं उन्हें पुकारने पर उत्तर भी नहीं पाती।

कभी-कभी सोचती हूँ, शायद अंधी होने के कारण साधारण बात को मैं बढ़ा-चढ़ा करके देखती हूँ। आँखें रहतीं तो शायद मुझे संसार बिलकुल संसार-जैसा ही लगता।

मेरे पति ने भी मुझे एक दिन यही समझाकर कहा। उस दिन प्रातःकाल एक वृद्ध मुसलमान अपनी पौत्री के हैज़े की चिकित्सा के लिए उनको बुलाने आया था। मैंने सुना,—उसने कहा, "बेटा, मैं ग़रीब हूँ, किन्तु अल्लाह तुम्हारा भला करेंगे।" मेरे पति ने कहा, "अल्लाह जो करेंगे केवल उसीसे तो मेरा काम नहीं चलेगा, तुम क्या करोगे पहले वह सुनूं !" सुनते ही सोचा, 'ईश्वर ने मुझे अन्धा किया, किन्तु बधिर क्यों नहीं किया।' वृद्ध से गहरे दीर्घ निःश्वास के साथ 'हे अल्लाह, कहकर चला गया। तत्क्षण मैंने नौकरानी द्वारा उसे अन्तःपुर की खिड़की के दरवाज़े पर बुलवाया; और कहा, "बाबा तुम्हारी नातिन के लिए डॉक्टर का कुछ खर्च दे रही हूँ, तुम मेरे पति के लिए मंगल-कामना करके मुहल्ले से हरीश डॉक्टर को लिवा ले जाओ !"

किन्तु दिन-भर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगा। अपराह्न में नींद से जगकर पति ने कहा, "तुम दुखी क्यों दिख रही हो।" पहले का अभ्यस्त उत्तर मुँह में आ रहा था—'नहीं, कुछ नहीं हुआ;' किन्तु कपट करने का समय बीत गया, मैंने स्पष्ट रूप से कहा, "कितने दिन से तुमसे कहने को सोच रही थी, किन्तु कहने को तैयार होने पर समझ नहीं पाती, कि क्या कहना है। मैं नहीं जानती अपने हृदय की बात समझाकर कह सकूँगी या नहीं, किन्तु तुम मन-ही-मन अवश्य समझ सकते हो कि हम दोनों ने जिस प्रकार एक होकर जीवन आरम्भ किया था आज वह पृथक् हो गया है।" पति हँसकर बोले, "परिवर्तन ही तो संसार का धर्म है।" मैंने कहा, "रुपया-पैसा रूप-यौवन सभी में परिवर्तन होता है, किन्तु क्या नित्य वस्तु कुछ भी नहीं है।" तब उन्होंने कुछ

गम्भीर होकर कहा, "देखो, अन्य स्त्रियाँ वास्तविक अभाव को लेकर दुखी होती हैं—किसी का पति कमाता नहीं है, किसी का पति प्रेम नहीं करता है, तुम काल्पनिक दुःख की सृष्टि कर रही हो।" मैं तभी समझ गई, 'अन्धेपन ने मेरे नेत्रों में एक अंजन लगाकर मुझे इस परिवर्तनशील संसार के बाहर कर दिया है; मैं दूसरी स्त्रियों के समान नही हूँ, मुझे मेरे पति नहीं समझेंगे।'

इसी बीच मेरी एक फुफेरी सास गाँव से अपने भतीजे का समाचार जानने आई। हम दोनों के उनको प्रणाम करके उठते ही उन्होंने पहले वाक्य में ही कहा, "सुनो, बहूरानी, तुम तो दुर्भाग्य से आँखें खो बैठी हो, अब अपना अविनाश अन्धी स्त्री के सहारे घर-गृहस्थी कैसे चलायगा। इसका दूसरा विवाह करा दो!" पति यदि मजाक करके कहते, "ठीक तो है बुआ, तुम देख-सुनकर एक सम्बन्ध ठीक कर दो न"—तब सब साफ़ हो जाता। किन्तु उन्होंने बुझे स्वर में कहा, "वाह, बुआ, यह क्या कह रही हो।" बुआ ने उत्तर दिया, "क्यों क्या कुछ अनुचित कह रही हूँ। अच्छा, बहूरानी, तुम्हीं बताओ तो बेटा!" मैंने हंसकर कहा, "वाह बुआ, तुम भी किससे परामर्श माँग रही हो। भला जिसकी गाँठ काटनी होती है क्या उससे कोई सम्मति लेता है।" बुआ ने उत्तर दिया, 'हाँ, बात तो ठीक है, तो फिर तेरे साथ मै अकेले में परामर्श करूंगी, क्या राय है, अविनाश। यह भी बता दूं, बहूरानी, कुलीन घर की लड़की की जितनी अधिक सौतें होती है, उसके पति का गौरव उतना ही बढ़ता है। मेरा लड़का डॉक्टरी न करके यदि विवाह करता, तो इसको रोजगार की क्या चिन्ता थी? रोगी तो डॉक्टर के हाथों पड़ते ही मर जाता है, मर जाने पर तो फिर और विजिट-फी नहीं देता, किन्तु विधाता के शाप से कुलीन की स्त्री कभी नहीं मरती और वह जब तक जीती है तब तक पति को लाभ-ही-लाभ है।"

दो दिन बाद मेरे पति ने मेरे ही सामने बुआ से पूछा, "बुआ, आत्मीय के समान बहू की सहायता कर सके ऐसी किसी भले घर की लड़की ढूंढ दे सकती हो? ये तो आँखों से देख नहीं पातीं, अगर एक कोई ऐसी होती जो सदा इनके साथ रह सकती तो मै निश्चित हो जाता।" जब मैं अंधी ही हुई थी, अगर तब यह बात कहते तो खप जाती, किन्तु अब आँखों के अभाव में मुझे या घर-गृहस्थी में क्या विशेष असुविधा होती है, नहीं जानती; किन्तु प्रतिवाद न करके मै चुप रह गई। बुआ ने कहा, "कमी क्या है। मेरे जेठ की ही एक लड़की है, जैसी सुन्दर है वैसी ही लक्ष्मी है। लड़की की उम्र भी हो गई है, बस उपयुक्त वर की आशा में प्रतीक्षा कर रहे हैं; तुम्हारे-जैसा कुलीन मिले तो अभी विवाह कर दें।" पति ने चकित होकर कहा, "विवाह की बात कौन कह रहा है।"

बुआ बोलीं, "भैया री, विवाह किये बिना भले घर की लड़की क्या तुम्हारे घर यों ही पड़ी रहेगी।" बात संगत अवश्य थी और पति उसका कोई उपयुक्त उत्तर नहीं दे सके।

अपनी बन्द आँखों के अनन्त अंधकार में मैं अकेली खड़ी होकर ऊपर को मुँह करके पुकारने लगी, 'भगवान्, मेरे पति की रक्षा करो!'

उसके कुछ दिन बाद एक दिन सबेरे मेरे नियमित पूजा करके बाहर निकलते ही बुआ ने कहा, "बहू रानी, अपने जेठ की जिस लड़की की बात मैंने कही थी वह मेरी हेमाङ्गिनी आज घर से आ गई है। हिमू ये तुम्हारी दीदी हैं, इनको प्रणाम करो!"

इसी समय सहसा मेरे पति आकर मानो अपरिचित स्त्री को देखकर लौट पड़ने को उद्यत हुए। बुआ ने कहा, "कहाँ चले अविनाश!" पति ने प्रश्न किया, "ये कौन हैं?" बुआ ने कहा, "यह मेरे जेठ की वही लड़की हेमाङ्गिनी है।" इसको कब बुलाया? कौन लाया? क्या समाचार है? आदि को लेकर मेरे पति बारम्बार काफी अनावश्यक विस्मय प्रकट करने लगे।

मैंने मन-ही-मन कहा, 'जो हो रहा है वह सब समझ रही हूँ, किन्तु इसके ऊपर फिर छलना आरम्भ हो गई। चोरा-चोरी, आँख-मिचौनी, मिथ्या बातें! अधर्म करना हो तो करो, बस अपनी अशान्त प्रवृत्ति के लिए, किन्तु मेरे लिए क्यों नीचता की जाय। मुझे बहकाने के लिए मिथ्याचरण क्यों हो।'

हेमाङ्गिनी का हाथ पकड़कर मैं उसको अपने शयन-कक्ष में ले गई। उसकी देह-मुँह पर हाथ फेरकर लगा, मुख सुन्दर होगा, अवस्था भी चौदह-पन्द्रह से कम न होगी।

बालिका अकस्मात् मधुर उच्च स्वर से हँस पड़ी। कहा, "यह क्या कर रही हो। मेरा भूत उतार रही हो क्या?"

उस उन्मुक्त सरल हास्य-ध्वनि से मेरे हृदय के काले बादल जैसे क्षण-भर में हट गए। मैंने अपना दाहिना हाथ उसके गले में डालकर कहा, "मैं तुमको देख रही हूँ बहन," यह कहते हुए उसके कोमल मुँह पर फिर एक बार हाथ फेरा।

"देख रही हो?"—कहते हुए वह फिर हंसने लगी। बोली, "मैं क्या तुम्हारे बगीचे की सेम या बैंगन हूँ जो हाथ फेरकर देख रही हो कि कितनी बड़ी हो गई हूँ?"

उस समय मुझे सहसा लगा, मैं अन्धी हूँ यह हेमाङ्गिनी नहीं जानती। मैंने कहा, "बहन, मै अन्धी जो हूँ।" सुनकर वह कुछ देर तक आश्चर्य में पड़ी

गंभीर बनी रही। मैं अच्छी तरह समझ रही थी कि अपने उत्सुक तरुण विशाल नेत्रों से उसने मेरे दृष्टिहीन चक्षु और मुंह के भाव को ध्यान से देखा; उसके बाद कहा, "ओह ! इसीसे काकी को यहाँ बुलवाया है ?"

मैंने कहा, "नहीं, मैंने नहीं बुलवाया। तुम्हारी काकी अपने-आप आई हैं।"

बालिका फिर हँस पड़ी, बोली, "मेहरबानी करके ? तब तो दयामयी शीघ्र हिलने वाली नहीं ! किन्तु, पिता ने मुझे यहाँ क्यों भेजा ?"

इसी बीच बुआ ने कमरे में प्रवेश किया। इतनी देर तक मेरे पति के साथ उनकी बातचीत चल रही थी। कमरे में आते ही हेमाङ्गिनी ने कहा, "काकी बताओ, हम घर कब लौटेंगे ?"

बुआ ने कहा, "मैया री ! आते ही जाऊं-जाऊँ करने लगी। ऐसी चञ्चल लड़की कभी नहीं देखी।"

हेमाङ्गिनी ने कहा, "काकी यहाँ से शीघ्र हिलने का तो कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। खैर, तुम्हारा तो अपना यह अपना घर ठहरा, तुम जितने दिन चाहो रहो, किन्तु मैं चली जाऊँगी, यह तुमसे कहे देती हूँ," यह कहकर मेरा हाथ पकड़कर बोली, "क्या कहती हो बहन, तुम तो मेरी बिलकुल सगी नहीं हो। उसके इस सरल प्रश्न का कोई उत्तर न देकर उसे अपनी छाती से लगा लिया। देखा, बुआ कितनी भी प्रबल हों इस कन्या को सम्हालना उनके वश की बात नहीं थी। बुआ ने प्रकट रूप से क्रोध न दिखाकर हेमाङ्गिनी को तनिक दुलार करने की चेष्टा की, पर उसने मानो उसे शरीर से झाड़कर फेंक दिया। बुआ ने समस्त प्रसंग को लाड़ली लड़की के परिहास के समान उड़ा दिया और हँसकर चले जाने को उद्यत हुईं। फिर न जाने क्या सोचकर लौटकर हेमाङ्गिनी से कहा, "हिमू, चल, तेरे स्नान का समय हो गया।" उसने मेरे पास आकर कहा, "हम दोनों घाट पर चलें, क्या कहती हो, बहन !" अनिच्छा होते हुए भी बुआ ने छूट दे दी; वे जानती थीं, खींच-तान करने पर हेमाङ्गिनी की ही जीत होगी और उनके बीच का विरोध अशोभन ढंग से मेरे सामने प्रकट होगा।

पिछवाड़े के घाट पर जाते हुए हेमाङ्गिनी ने मुझसे पूछा, "तुम्हारे बाल-बच्चे क्यों नहीं हैं ?" मैंने कुछ हंसकर कहा, "क्यों; क्या जानूं, ईश्वर ने दिये ही नहीं।" हेमाङ्गिनी ने कहा, "अवश्य, तुम्हारे भीतर कुछ पाप था।" मैंने कहा, "सो भी अन्तर्यामी जानें।" प्रमाणस्वरूप बालिका ने कहा, "देखो न, काकी में इतनी कुटिलता है कि उनके गर्भ से सन्तान का जन्म नहीं हो सकता।" मैं पाप-पुण्य, सुख-दुःख, दण्ड-पुरस्कार का रहस्य स्वयं भी नहीं समझती,

बालिका को भी नहीं समझाया; केवल एक दीर्घ साँस लेकर मन-ही-मन उनसे कहा, 'तुम्हीं जानो !' हेमाङ्गिनी ने तत्क्षण मुझसे लिपटकर हँसते हुए कहा, "मैया री, मेरी बात पर भी तुम ठण्डी साँस भरती हो ! भला मेरी बात मानता ही कौन है ?"

देखा, पति की डॉक्टरी में बाधा पड़ने लगी। दूर का बुलावा आने पर तो जाते ही न थे, कहीं पास जाने पर भी झट-पट पूरा करके चले आते। पहले जब काम के समय घर पर रहते थे तो बस दोपहर के भोजन और सोने के समय भीतर आते। अब बुआ भी जब-तब बुलवा लेतीं, वे भी अनावश्यक रूप से बुआ की खबर लेने आते। बुआ जब मौका देखतीं, कहतीं, "हिमू, मेरा पानदान तो लाओ," मैं समझ जाती कि बुआ के कमरे में मेरे पति आए हैं। पहले-पहल दो-तीन दिन तो हेमाङ्गिनी पानदान, तेल की कटोरी, सिंदूर का डब्बा आदि आदेशानुसार ले गई। किन्तु, उसके बाद पुकारे जाने पर वह किसी भी तरह न हिलती। मँगाई गई चीजें नौकरानी के हाथों भिजवा देती। बुआ बुलातीं, "हेमाङ्गिनी, हिमू, हिमि,---" बालिका जैसे मेरे प्रति एक करुणा के आवेग के कारण मुझसे लिपटी रहती; एक आशंका एवं विषाद उसको ढँके रहते। इसके बाद से वह भूलकर भी मुझसे मेरे पति की बात न छेड़ती।

इसी बीच मेरे भैया मुझे देखने आए। मैं जानती थी कि भैया की दृष्टि तीक्ष्ण है। मामला कैसा चल रहा है यह उनसे छिपाना असम्भव ही होगा। मेरे भैया बड़े कठोर विचारक थे। वे लेश-मात्र अन्याय को भी क्षमा करना नहीं जानते थे। मेरे पति उन्हीं की आँखों के सामने अपराधी बनकर खड़े हों, इसीका मुझे सबसे अधिक भय था। मैंने अस्वाभाविक प्रसन्नता दिखाकर सारी स्थिति छिपा ली। मैंने अधिक बातें कहकर, अत्यन्त व्यस्तता दिखाकर, बड़ी धूम-धाम से मानो चारों ओर धूल उड़ाने की चेष्टा की। किन्तु, वह मेरे लिए इतना अस्वाभाविक था कि वहीं और भी अधिक पकड़े जाने का कारण सिद्ध हुआ। किन्तु, भैया बहुत दिन तक नहीं रह सके, मेरे पति ऐसी अस्थिरता दिखाने लगे कि उसने प्रत्यक्ष रूखेपन का रूप धारण कर लिया। भैया चले गए। विदा लेने के पहले पूर्ण स्नेह के साथ मेरे सिर के ऊपर बहुत देर तक काँपता हुआ हाथ रखे रहे, मन-ही-मन एकाग्रचित्त से क्या आशीर्वाद दिया उसे मैं समझ गई; उनके आँसू मेरे आँसुओं से भीगे कपोलों पर आ पड़े।

मुझे स्मरण है, उस दिन चैत के महीने में संध्या-समय हाट के दिन लोग घर लौट रहे थे। दूर से वर्षा लिये एक आँधी आ रही थी, उसी की भीगी मिट्टी की सुगंध और वायु की आर्द्रता आकाश में व्याप्त हो गई थी, बिछुड़े हुए

साथी अंधकारपूर्ण मैदान में व्याकुल होकर ऊँची आवाज में एक-दूसरे को पुकार रहे थे। जब तक मैं अकेली रहती तब तक मुझ अंधी के शयन-गृह में दीपक नहीं जलाया जाता था कि कहीं लौ से कपड़ों में आग न लग जाय या कोई दुर्घटना न हो जाय। मैं उसी निर्जन अँधेरे कमरे में जमीन पर बैठी हाथ जोड़े अपने अनन्त अन्धकारपूर्ण जगत् के जगदीश्वर को टेर रही थी; कह रही थी, 'प्रभो, जब मैं तुम्हारी दया का अनुभव नहीं कर पाती, तुम्हारा अभिप्राय जब मैं नहीं समझ पाती, तब इस अनाथ भग्न हृदय की नौका के हाल को मैं प्राणपन से हाथों से पकड़कर छाती से चिपटाए रखती हूँ; हृदय से खून निकलने लग जाता है पर फिर भी तूफान सँभाल नहीं पाती; अब मेरी और कितनी परीक्षा लोगे; मेरी शक्ति है ही कितनी!' यह कहते-कहते आँसू उमड़ पड़े, खाट पर सिर रखकर रोने लगी। दिन-भर घर का काम करना पड़ता है। हेमाङ्गिनी छाया के समान साथ-साथ रहती, हृदय में जो आँसू उमड़ते उन्हें बहाने का अवसर नहीं मिलता; बहुत दिन बाद आज आँखों से पानी निकला था, तभी देखा, खाट कुछ हिली, किसी के चलने की आहट हुई और क्षण-भर में हेमाङ्गिनी आकर मेरे गले से लिपटकर अपने अंचल से चुपचाप मेरी आँखें पोंछने लगी। वह न जाने क्या सोचकर कब संध्या होते ही खाट पर आकर सो गई थी, न तो उसने कोई प्रश्न किया, न मैंने ही उससे कोई बात की। वह धीरे-धीरे अपना शीतल हाथ मेरे माथे पर फेरने लगी। इसी बीच में कब मेघगर्जन और मूसलाधार वर्षा के साथ-साथ आँधी आ गई मैं जान भी न पाई; बहुत दिनों के बाद एक सुस्निग्ध शान्ति ने आकर मेरा ज्वर-दाह-दग्ध हृदय ठंडा कर दिया।

दूसरे दिन हेमाङ्गिनी ने कहा, "काकी, यदि तुम घर नहीं चलतीं तो मैं अपने कैवर्त दादा के साथ चली जाऊंगी, यह कहे देती हूँ।" बुआ ने कहा, "इसकी क्या जरूरत है, कल मैं भी चलूंगी; एक ही साथ चलेंगे। यह देख, हिमू, मेरे अविनाश ने तेरे लिए कैसी मोती-जड़ी अँगूठी खरीदी है।" यह कहकर गर्वपूर्वक बुआ ने हेमाङ्गिनी के हाथ में अँगूठी दे दी। हेमाङ्गिनी बोली, "यह देखो काकी, मैं कैसा अच्छा निशाना लगा सकती हूँ।" और यह कहते हुए उसने जंगले में से निशाना लगाकर अँगूठी पिछवाड़े की पोखरी में फेंक दी। बुआ क्रोध, दुःख, विस्मय से रोमांचित हो उठीं। मेरा हाथ पकड़कर बार-बार मुझसे कहा, "बहूरानी, खबरदार, यह लड़कपन अविनाश को मत बताना, मेरे लड़के को इससे मन में दुःख होगा। तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध है, बहू!" मैंने कहा, "बुआजी, ज़्यादा कहने की जरूरत नहीं, मैं कोई भी बात नहीं कहूँगी।"

दूसरे दिन चलने के पहले हेमाङ्गिनी ने मुझसे लिपटकर कहा, "दीदी,

मुझे याद रखना !'" मैंने दोनों हाथ बार-बार उसके मुँह पर फेरते हुए कहा, "अन्धा कुछ भी नहीं भूलता, बहिन; मेरे लिए तो दुनिया है ही नहीं, मैं तो बस मन के सहारे ही रहती हूँ।" यह कहकर मैंने उसका सिर थामकर एक बार सूँघकर चुम्बन किया। टप-टप करके उसकी केश-राशि में मेरे अश्रु टपक पड़े।

हेमाङ्गिनी के विदा होने पर मेरा संसार नीरस हो गया—उसने मेरे प्राणों में जो सुगन्ध, सौन्दर्य, संगीत, जो उज्ज्वल प्रकाश और जो कोमल तरुणता ला दी थी, उनके चले जाने पर एक बार अपने सारे संसार को अपने चारों ओर दोनों हाथ फैलाकर देखा, मेरा कहाँ क्या है! मेरे पति ने आकर विशेष प्रसन्नता दिखाते हुए कहा, "ये लोग चली गईं; अब छुट्टी मिली, कुछ काम-काज करने का अवसर मिलेगा।" मुझे धिक्कार है। मेरे लिए इतनी चतुराई क्यों। मैं क्या सत्य से डरती हूँ। मैं क्या आघात से कभी भयभीत हुई हूँ। मेरे पति क्या नहीं जानते कि जब मैंने दोनों नेत्र दिये थे तब मैंने शान्त मन से अपने लिए चिरान्धकार स्वीकार किया था!

इतने दिन मेरे और मेरे पति के बीच केवल अन्धेपन का व्यवधान था, आज से एक व्यवधान और पैदा हो गया। मेरे पति भूलकर भी कभी मेरे सामने हेमाङ्गिनी का नाम न लेते, जैसे उनसे सम्बन्धित संसार से हेमाङ्गिनी बिलकुल लुप्त हो गई हो, जैसे वहाँ उसने कभी कोई लेशमात्र भी न छोड़ा हो। किन्तु पत्र द्वारा वे हमेशा उसकी खबर पाते थे, यह मैं अनायास ही अनुभव करती थी, जिस प्रकार तालाब में बाढ़ का जल जिस दिन थोड़ा-सा भी आता है उसी दिन कमल के डंठल में तनाव आ जाता है, उसी तरह उनके भीतर जिस दिन जरा भी प्रफुल्लता का संचार होता उस दिन मैं अपने हृदय के मूल से स्वयं अनुभव कर लेती थी। कब वे समाचार पाते और कब न पाते यह मेरे लिए कुछ भी अगोचर न था। किन्तु, मैं भी उनसे उसका हाल नहीं पूछ सकती थी। मेरे अन्धकारपूर्ण हृदय में वह जो उन्मत्त, उद्दाम, उज्ज्वल, सुन्दर तारा क्षण-भर के लिए उदय हुआ था उसकी कोई खबर पाने और उसकी बातचीत करने के लिए मेरे प्राण तृषित रहते थे, किन्तु पति के सामने मुझे एक क्षण को भी उसका नाम लेने का अधिकार न था। हम दोनों के बीच वाणी और वेदना से पूर्ण यह एक नीरवता अटल भाव से विराजी रहती।

वैशाख मास के बीचों-बीच एक दिन नौकरानी ने आकर मुझसे प्रश्न किया, "माँजी घाट पर बड़े समारोह से नौकाएँ तैयार हो रही हैं, बाबूजी कहाँ जा रहे हैं!" मैं जानती थी कि कुछ उद्योग हो रहा है, मेरे भाग्याकाश में पहले कुछ दिन तक तो आँधी के पूर्व की-सी निस्तब्धता और उसके पश्चात् प्रलय के

बिखरे मेघ आकर इकट्ठे हो रहे थे, संहारकारी शंकर नीरव अँगुली के इंगित से अपनी समस्त प्रलय शक्ति मेरे सिर पर एकत्रित कर रहे थे, यह मैं समझ रही थी। नौकरानी से कहा, "कहाँ, मुझे तो अभी तक कोई समाचार नहीं मिला।" नौकरानी और कोई प्रश्न पूछने का साहस न करके गहरी साँस लेकर चली गई।

बहुत रात गए मेरे पति ने आकर कहा, "दूर एक जगह से मेरा बुलावा आया है, कल भोर में ही मुझे रवाना होना है। शायद लौटने में दो-तीन दिन की देर हो सकती है।"

चारपाई से उठकर खड़ी होकर मैंने कहा, "क्यों मुझसे झूठ बोल रहे हो ?"

मेरे पति ने कम्पित अस्पष्ट स्वर में कहा, "क्या झूठ बोला ?"

मैंने कहा, "तुम विवाह करने जा रहे हो।"

वे चुप रह गए। मैं भी स्थिर खड़ी रही। बहुत देर तक कमरे में सन्नाटा छाया रहा। अन्त में मैंने कहा, "कुछ तो उत्तर दो ! कहो, हाँ, मैं विवाह करने जा रहा हूँ।"

प्रतिध्वनि के समान उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, मैं विवाह करने जा रहा हूँ।"

मैंने कहा, "नहीं, तुम नहीं जा सकते। इस महाविपद्, महापाप से मैं तुमको बचाऊँगी। यदि मैं यह नहीं कर सकती तब तुम्हारी कैसी पत्नी, किसलिए मैंने शिव की पूजा की थी।"

फिर बहुत देर तक कमरा निःशब्द बना रहा। मैंने जमीन पर लेटकर पति के पैर पकड़कर कहा, "मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है, मुझसे कौनसी भूल हुई है, दूसरी स्त्री की तुम्हें क्या जरूरत है, तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध है, सच-सच बताओ !"

तब मेरे पति ने धीरे-धीरे कहा, "सच ही कहता हूँ, मैं तुमसे डरता हूँ। तुम्हारे अन्धेपन ने तुमको एक अनन्त आवरण में आवृत्त कर रखा है, वहाँ प्रवेश करने की मुझमें शक्ति नहीं है। तुम मेरी देवता हो, तुम मेरे लिए देवता के समान भयानक हो, तुमको लेकर प्रतिदिन के गृह-कार्य नहीं कर सकता। जिसके साथ बक-झक कर सकूँ, क्रोध कर सकूँ, मान कर सकूँ, जिसे गहने बनवा दूँ, ऐसी एक सामान्य रमणी चाहता हूँ।"

"मेरे हृदय को चीरकर देखो ! मैं सामान्य रमणी हूँ, मैं मन में उस नव-विवाहिता बालिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ; मैं विश्वास करना चाहती हूँ, निर्भर रहना चाहती हूँ, पूजा करना चाहती हूँ, तुम स्वयं अपमानित हो मुझे

दुःसह दुःख देकर अपने को बड़ा मत समझो—मुझे सब बातों में अपने पैरों में स्थान दो!"

मैंने क्या-क्या बातें कही थीं सो क्या मुझे याद है। क्षुब्ध समुद्र क्या अपना गर्जन स्वयं सुन पाता है? केवल याद है, कहा था, "यदि मैं सती होऊँ तो भगवान् साक्षी हैं, तुम किसी भी प्रकार अपनी धर्म-शपथ का उल्लंघन नहीं कर पाओगे। उस महापाप के पहले या तो मैं विधवा हो जाऊँगी, या फिर हेमांगिनी जीवित रहेगी।" यह कहती हुई मैं मूर्छित होकर गिर पड़ी।

जब मेरी मूर्छा भङ्ग हुई तब तक रात के अन्तिम प्रहर में बोलने वाले पक्षियों ने बोलना शुरू नहीं किया था और मेरे पति चले गए थे।

मैं पूजा के कमरे का दरवाजा बन्द करके पूजा करने बैठ गई। दिन-भर मैं घर से बाहर न निकली। सन्ध्या-समय कालबैशाखी[1] आँधी से दालान काँपने लगा। मैंने यह नहीं कहा कि हे प्रभु, मेरे पति इस समय नदी में हैं उनकी रक्षा करो! मैं एकाग्रमन से केवल यह कहने लगी, "प्रभु, मेरे भाग्य में जो लिखा है, वह हो, किन्तु मेरे पति को महापाप से बचाओ!" सारी रात बीत गई। उसके दूसरे दिन भी आसन नहीं छोड़ा। इस अनिद्रित निराहार अवस्था में नहीं जानती किसने मुझे बल दिया था कि मैं पाषाण-मूर्ति के सामने पाषाण-मूर्ति के समान ही बैठी रही।

संध्या-समय बाहर से दरवाजे पर धक्के पड़ने लगे। दरवाजा तोड़कर जब घर में किसी ने प्रवेश किया तब मैं मूर्छित हुई पड़ी थी।

मूर्छा भङ्ग होने पर सुना, "दीदी!" देखा, हेमाङ्गिनी की गोद में लेटी हुई हूँ। सिर हिलाते ही उसकी नई चेली[2] की सरसराहट हुई। हे प्रभु, मेरी प्रार्थना नहीं सुनी। मेरे पति का पतन हो गया।

हेमाङ्गिनी ने सिर झुकाकर धीरे-धीरे कहा, "दीदी, तुम्हारा आशीर्वाद लेने आई हूँ।"

पहले एक क्षण काठ के समान होकर दूसरे ही क्षण उठ बैठी, बोली, "आशीर्वाद क्यों नहीं दूँगी, बहन! तुम्हारा क्या अपराध है?"

हेमाङ्गिनी अपने सुमधुर उच्च स्वर में हँस पड़ी। कहा, "अपराध! तुम्हारे विवाह करने पर तो अपराध नहीं हुआ और मेरे करने पर ही अपराध!"

हेमाङ्गिनी का आलिंगन करके मैं भी हँसी। मन-ही-मन कहा, 'संसार में क्या मेरी प्रार्थना ही सबसे बढ़कर थी। उनकी इच्छा ही क्या अन्तिम नहीं थी।

१ चैत-वैशाख के महीने में अपराह्नकालीन प्रचण्ड आँधी-पानी।
२ विवाह के अवसर पर नववधू को पहनाया जाने वाला लाल रेशमी वस्त्र-विशेष।

जो आघात पड़ा है वह मेरे सिर के ऊपर पड़े, किन्तु हृदय पर, जहाँ मेरा धर्म है, मेरा विश्वास है, वहाँ नहीं पड़ने दूँगी। मैं जैसी थी, वैसी ही रहूँगी।' हेमाङ्गिनी ने मेरे पैरों में पड़कर मेरे पैरों की धूल ली। मैंने कहा, "तुम चिर-सौभाग्यवती, चिरसुखी हो!"

हेमाङ्गिनी ने कहा, "केवल आशीर्वाद नहीं, तुम सती के हाथों मुझे और अपने बहनोई को वरण कर लेना होगा। तुम उनसे शर्माओ, यह नहीं होगा। यदि अनुमति दो तो उन्हें अन्दर ले आऊँ!"

मैंने कहा, "ले आओ!"

कुछ देर बाद मेरे कमरे में नई पग-ध्वनि ने प्रवेश किया। सस्नेह पूछा गया प्रश्न सुना, "अच्छी है, कुमु?"

चौंककर बिछौना छोड़कर उठते हुए मैंने कहा, "भैया!"

हेमाङ्गिनी ने कहा, "भैया कैसे। कान मल दो, वह तुम्हारा छोटा बहनोई है।"

तब मैं सब-कुछ समझ गई। मैं जानती थी कि भैया की प्रतिज्ञा थी कि विवाह नहीं करेंगे; माँ नहीं थीं, उनसे अनुरोध करके विवाह कराने वाला कोई नहीं था। अब मैंने ही उनका विवाह कराया। आँखों से जल उमड़कर बहने लगा, किसी प्रकार भी नहीं रोक सकी। भैया धीरे-धीरे मेरे सिर पर हाथ फेरने लगे; हेमाङ्गिनी मुझसे लिपटकर केवल हँसने लगी।

रात में नींद नहीं आई; मैं उत्कण्ठित चित्त से पति के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। लज्जा और नैराश्य का वे किस प्रकार निर्वाह करेंगे, यह मैं सोच नहीं पा रही थी।

काफी रात बीतने पर बहुत धीरे-धीरे दरवाजा खुला। मैं चौंककर बिछौने पर बैठ गई। मेरे पति के पैरों की आहट थी। हृदय जोर से धड़कने लगा।

बिछौने पर आकर मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने कहा, "तुम्हारे भैया ने मुझे बचा लिया। क्षणिक मोह में पड़कर मैं मरने जा रहा था। उस दिन जब मैं नौका पर चढ़ा, मेरे हृदय पर जैसे कोई भारी पत्थर रखा हुआ था, इसे अन्तर्यामी ही जानते हैं; जब नदी में आँधी में पड़ गया था तब प्राणों का भय भी था; उस समय सोच रहा था, यदि डूब जाऊँ तभी मेरा उद्धार हो सकता है। मथुरागंज पहुँचकर सुना कि उसके पहले दिन ही तुम्हारे भैया के साथ हेमाङ्गिनी का विवाह हो चुका। कैसी लज्जा और किस आनन्द से नौका में लौटा, यह नहीं कह सकता। इन कई दिनों में मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ, तुम्हें छोड़कर मेरे लिए कोई सुख नहीं है। तुम्हीं मेरी देवी हो!"

मैंने हँसकर कहा, "नहीं, देवी बनने की मुझे आवश्यकता नहीं है, मैं तुम्हारे घर की गृहिणी हूँ, मैं साधारण नारी-मात्र हूँ।"

पति ने कहा, "मेरा भी एक अनुरोध तुमको मानना पड़ेगा। मुझे देवता कहकर कभी लज्जित मत करना!"

दूसरे दिन हुलू-ध्वनि[1] और शंख-ध्वनि से मुहल्ला गूंज उठा। हेमाङ्गिनी मेरे पति से भोजन करते, उठते-बैठते, प्रातः, रात्रि को, नाना प्रकार का हंसी-मजाक करने लगी; छेड़ने की कोई सीमा नहीं थी, किन्तु वे कहाँ गए थे, क्या घटित हुआ था, किसी ने उसका लेश-मात्र भी उल्लेख नहीं किया।

---

१. विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा की जाने वाली एक प्रकार की मंगलध्वनि।

नष्टनीड़

: १ :

भूपति को काम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके पास पर्याप्त रुपया था और बाज़ार भी गर्म था। किन्तु ग्रहों के प्रभाव से उन्होंने कामकाजी आदमी के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इसीलिए उनको एक अंग्रेज़ी समाचार-पत्र निकालना पड़ा। इसके बाद समय की दीर्घता के लिए उन्हें फिर कभी विलाप नहीं करना पड़ा।

बचपन से ही उनको अंग्रेज़ी में लिखने तथा वक्तृता देने का शौक था। किसी प्रकार का प्रयोजन न रहने पर भी अंग्रेज़ी अखबार में वे सम्पादक के नाम पत्र लिखते, और वक्तव्य न रहने पर भी सभाओं में दो-एक बात बोले बिना न रहते।

उनके समान धनी व्यक्ति को दल में पाने के लिए राजनीतिक दलपतियों के निरन्तर वाह्-वाह करते रहने के कारण अपनी अंग्रेज़ी लेखन-शक्ति के संबंध में उनकी धारणा यथेष्ट परिपुष्ट हो गई थी।

अंत में उनके साले वकील उमापति ने वकालत के व्यवसाय से हतोत्साहित होकर बहनोई से कहा, "भूपति, तुम एक अंग्रेज़ी अखबार निकालो ! तुम्हारा जिस प्रकार असाधारण" इत्यादि।

भूपति उत्साहित हो उठे। दूसरे के अखबार में पत्र प्रकाशित करवाने में कोई गौरव नहीं है, अपने अखबार में स्वाधीन लेखनी को पूरे वेग से दौड़ा सकेंगे। साले को सहकारी बनाकर अत्यन्त छोटी अवस्था में ही भूपति ने संपादक की गद्दी पर आसन जमाया।

छोटी अवस्था में सम्पादकी तथा राजनीति का नशा बहुत ज़ोरों से चढ़ता है। भूपति को नचाने वाले लोग भी अनेक थे।

इस प्रकार वह जिन दिनों अखबार को लेकर व्यस्त थे उन्हीं दिनों उनकी बालिका वधू चारुलता ने धीरे-धीरे यौवनावस्था में पदार्पण किया। समाचार-

पत्र के सम्पादक को इस बड़ी खबर का ठीक से पता न चला। भारत-सरकार की सीमान्त-नीति क्रमशः स्फीत होकर मर्यादा का उल्लंघन करने जा रही है, यही उसका प्रधान लक्ष्य था।

धनी परिवार में चारुलता को कोई काम न था। फलपरिणामरहित फूल के समान परिपूर्ण अनावश्यकता के बीच प्रस्फुटित हो उठना ही उसके चेष्टाशून्य लम्बे रात-दिनों का एक-मात्र काम था। उसे कोई अभाव न था।

ऐसी स्थिति का सुयोग पाने पर वधू पति के साथ अत्यन्त प्रीति करती है, दाम्पत्य-लीला की सीमान्त-नीति संसार की समस्त सीमाओं का उल्लंघन करके समय से असमय में और विहित से अविहित में आ पहुँचती है। चारुलता को वह सुयोग प्राप्त नहीं था। समाचार-पत्र का आवरण भेदकर पति पर अधिकार करना उसके लिए दुरूह हो गया।

युवती स्त्री के प्रति ध्यान आकर्षित करते हुए किसी आत्मीया के उन्हें डाटने पर भूपति ने एक बार सचेत होकर कहा, "हाँ, सच तो है। चारु के पास किसी संगिनी का रहना आवश्यक है, उस बेचारी के पास कोई काम नहीं है।"

साले उमापति से कहा, "अपनी पत्नी को हमारे यहाँ लाकर रख दो न, कोई समवयस्का स्त्री पास नहीं है, चारु को अवश्य ही बड़ा सूना सूना लगता होगा।"

स्त्री-संग का अभाव ही चारु के लिए अत्यन्त चिन्त्य है, सम्पादक ने ऐसा समझा और साले की पत्नी मन्दाकिनी को घर में लाकर वह निश्चिन्त हो गए।

प्रेमोन्मेष के प्रथम अरुणालोक में जिस समय पति और पत्नी एक-दूसरे को अपूर्व महिमायुक्त चिरनवीन प्रतीत होते हैं, दाम्पत्य का वह स्वर्गप्रभामंडित प्रत्यूष-काल अचेतन अवस्था में कब व्यतीत हो गया, किसी को पता न चला। नवीनता का स्वाद प्राप्त किये बिना ही दोनों एक-दूसरे के लिए पुरातन परि-चित अभ्यस्त हो गए।

लिखने-पढ़ने में चारुलता की स्वाभाविक रुचि थी इसलिए दिन उसे ज्यादा भारी नहीं लगते थे। उसने अपने परिश्रम और नाना कौशलों से पढ़ने का बन्दोबस्त कर लिया था। भूपति का फुफेरा भाई अमल थर्ड ईयर में पढ़ता था, चारुलता उससे पढ़ लेती थी। यह काम करा लेने के लिए उसे अमल की बहुत-सी अनुचित माँगें पूरी करनी पड़ती थीं। प्रायः उसको होटल में खाने की खुराकी और अँग्रेज़ी-साहित्य के ग्रंथ खरीदने का खर्च जुटाना पड़ता। बीच-बीच में अमल मित्रों को आमंत्रित करके खिलाता था। उस यज्ञ को पूरा करने का

भार गुरुदक्षिणास्वरूप चारुलता स्वयं वहन करती। भूपति चारुलता पर कोई अधिकार प्रदर्शन न करते थे, किन्तु ज़रा-सा पढ़ा देने-भर से फुफेरे भाई अमल के अधिकारों का अन्त न था। इसे लेकर चारुलता प्रायः बीच-बीच में कृत्रिम रोष और विद्रोह प्रदर्शित करती रहती, किन्तु किसी-न-किसी व्यक्ति के किसी काम आना और स्नेह-जनित उपद्रव झेलना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया था।

अमल ने कहा, "भाभी, हमारे कॉलिज में राजघराने के जमाई खास रनिवास के हाथों से बने कार्पेट के जूते पहनकर आते हैं, मुझसे तो सहन नहीं होता—एक जोड़ी कार्पेट के जूते चाहिए, नहीं तो किसी भी प्रकार पद-मर्यादा की रक्षा नहीं कर पा रहा हूँ।"

चारु—"हाँ हाँ, सो तो है ही। मैं बैठी-बैठी तुम्हारे जूतों की सिलाई करके मरूँ। दाम देती हूँ, जाकर बाज़ार से खरीद लाओ।"

अमल ने कहा, "यह नहीं होगा।"

चारु जूता सीना नहीं जानती और अमल के सामने वह यह बात स्वीकार करना भी नहीं चाहती। किन्तु उससे और कोई कुछ नहीं चाहता, अमल चाहता है—संसार में इस एक-मात्र प्रार्थी की प्रार्थना-रक्षा किये बिना वह रह नहीं सकती। अमल जिस समय कॉलिज जाता उसी समय वह छिपकर बड़े यत्न से कार्पेट की सिलाई सीखने लगी। और अमल जब स्वयं अपने जूते के दरबार को बिलकुल भूल बैठा था तभी एक दिन संध्या-समय चारु ने उसे निमन्त्रण दिया।

ग्रीष्म-काल था। छत पर आसन बिछाकर अमल के भोजन का स्थान बनाया गया था। उड़कर बालू गिरने के भय से पीतल के ढकने से थाल ढका था। कॉलिज की वेश-भूषा बदलकर मुँह-हाथ धोकर तैयार होकर अमल आ उपस्थित हुआ।

आसन पर बैठकर अमल ने ढकना उठाया। देखा, थाल में नई बँधी ऊन के जूतों की एक जोड़ी सजी रखी है। चारुलता उच्च स्वर से हँस उठी।

जूते पाकर अमल की आशा और भी बढ़ गई। इस बार गुलूबन्द चाहिए। रेशम के रूमाल में फूल काढ़कर किनारी की सिलाई कर देनी होगी; बाहर के कमरे में उसके बैठने की बड़ी कुर्सी को तेल के दाग से बचाने के लिए कशीदे का एक गिलाफ चाहिए।

प्रत्येक बार चारुलता आपत्ति करती हुई झगड़ा करती और हर बार बड़े यत्न, स्नेह से शौकीन अमल का शौक पूरा कर देती। अमल बीच-बीच में

पूछता, "भाभी, कहाँ तक हुआ ?"

चारुलता झूठ-मूठ कहती, "कुछ भी नहीं हुआ," कभी कहती, "उसकी तो मुझे याद ही नहीं थी।"

किन्तु अमल छोड़ने वाला व्यक्ति नहीं था। प्रतिदिन स्मरण करा देता और हठ करता। हठी अमल के इन सब उपद्रवों का उद्रेक कराने के लिए ही उदासीनता का प्रदर्शन करके वह विरोध की सृष्टि करती और सहसा एक दिन उसकी माँग पूरी करके तमाशा देखती।

धनी के घर मे चारु को और किसी के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता था, केवल अमल उसे बिना काम कराए नहीं छोड़ता था। शौक से किए गए इस सब छोटे-मोटे परिश्रमो में ही उसकी हृदय-वृत्ति की तुष्टि और चरितार्थता थी।

भूपति के अन्तःपुर में ज़मीन का जो एक टुकड़ा पड़ा था उसको बगीचा कहने में बहुत-कुछ अत्युक्ति होगी। उस बगीचे की प्रधान वनस्पति थी—एक विलायती आँवले का पेड़।

इस भूखण्ड की उन्नति करने के लिए चारु और अमल की एक कमेटी बैठी। दोनों मिलकर कई दिनों तक चित्र खींचकर, प्लैन बनाकर, बड़े उत्साह से उस ज़मीन के ऊपर एक बगीचे की कल्पना को साकार करने में लगे रहे।

अमल ने कहा, "भाभी, अपने इस बगीचे में प्राचीन काल की राज-कन्या के समान तुमको अपने हाथों पेड़ों में जल देना होगा।"

चारु ने कहा, "और इस पश्चिम के कोने में एक झोंपड़ी तैयार करनी होगी, हरिण का बच्चा रहेगा।"

अमल ने कहा, "और एक छोटी-सी झील बनानी होगी, उसमें हंस चुगेगा।"

इस प्रस्ताव से उत्साहित होकर चारु बोली, "और उसमें नील कमल लगाऊँगी, बहुत दिनों से नीलकमल देखने की मेरी इच्छा है।"

अमल बोला, "उस झील पर एक पुल बनाया जायेगा, और घाट पर छोटी-सी एक सुन्दर डोंगी रहेगी।"

चारु ने कहा, "घाट तो अवश्य ही सफ़ेद संगमर्मर का बनेगा।"

अमल ने पेन्सिल-काग़ज लेकर, रूल, कम्पास जुटाकर बड़े आडम्बर से बगीचे का एक नक्शा खींचा।

दोनों के मिलकर प्रतिदिन कल्पना मे संशोधन, परिवर्तन करते-करते बीस, पच्चीस नए नक्शे तैयार हो गए।

नक्शा तैयार हो जाने पर कितना खर्च बैठेगा इसका एक एस्टिमेट तैयार

होने लगा। पहले सोचा था—चारु अपने निर्धारित हाथ-खर्च में से धीरे-धीरे उद्यान तैयार करवा लेगी, घर में कहाँ क्या हो रहा है भूपति तो उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता; बगीचा तैयार हो जाने पर उसको वहाँ आमंत्रित करके आश्चर्य में डाल देगी; वह सोचेगा, अलादीन के चिराग़ की सहायता से जापान देश से एक सम्पूर्ण बाग उखाड़कर लाया गया है।

किन्तु एस्टिमेट काफ़ी कम करने पर भी वह चारु की सामर्थ्य से बाहर था। अमल फिर रूपरेखा में परिवर्तन करने बैठा। बोला, "तो भाभी, उस झील को छोड़ दिया जाय।"

चारु बोली, "नहीं, नहीं, झील तो किसी तरह नहीं छोड़ी जा सकती, उसमें मेरे नीलपद्म रहेंगे!"

अमल ने कहा, "अपने हरिण के घर पर खपरैल की छत मत डालो। उस पर यों ही मामूली-सा पुआल छवा देने से काम चलेगा।"

चारु ने अत्यंत अप्रसन्न होकर कहा, "तो हमें उस घर की जरूरत नहीं, रहने दो!"

मारीशस से लवंग, कर्णाट से चन्दन, और सिंहल से दालचीनी के पौधे मँगवाने का प्रस्ताव था, अमल के उनके बदले में मानिकतला से मामूली देशी और विलायती वृक्षों के नाम प्रस्तावित करते ही चारु मुँह फुलाकर बैठ गई और बोली, "तो फिर रहने दो, मुझे बगीचा नहीं चाहिए!"

एस्टिमेट कम करने का यह ढंग नहीं है। एस्टिमेट के साथ-साथ कल्पना को नष्ट करना चारु के लिए असाध्य था और अमल मुँह से चाहे कुछ कहे, मन-ही-मन उसे भी यह रुचिकर नहीं लगा था।

अमल ने कहा, "तो भाभी, तुम भैया से बगीचे की बात छेड़ो, वे अवश्य ही रुपया देंगे।"

चारु ने कहा, "नहीं, उनसे कहने में मजा क्या रहा। हमीं दोनों बगीचा तैयार कर लेंगे। वे तो साहब के घर में फर्माइश करके इडेन गार्डेन बनवा सकते हैं,—तब हमारे प्लैन का क्या होगा।"

आँमड़े के वृक्ष की छाया में बैठकर चारु और अमल असाध्य संकल्प के कल्पना-सुख की रचना कर रहे थे। चारु की भावज मन्दा ने दोतल्ले से पुकार-कर कहा, "इतनी देर हो गई तुम लोग बगीचे में क्या कर रहे हो?"

चारु ने कहा, "पके आँमड़े ढूंढ रहे हैं।"

ललचाकर मन्दा ने कहा, "मिलें तो मेरे लिए भी लाना!"

चारु हँसी, अमल भी हँसा। उनके समस्त संकल्पों का प्रधान सुख आर

गौरव यही था कि वे उन दोनों तक ही सीमित थे। मन्दा में और चाहे जो गुण हों, कल्पना नहीं थी, वह इन समस्त प्रस्तावों का रस कैसे ग्रहण कर सकती थी। इन दो सदस्यों की हर कमेटी से वह बिलकुल बहिष्कृत थी।

न तो उस असाध्य बगीचे का एस्टिमेट कम हुआ और न कल्पना ने ही किसी प्रकार हार माननी चाही। अतएव आँमड़े के वृक्ष के नीचे की कमेटी कुछ दिन इसी प्रकार चलती रही। बगीचे में जिस स्थान पर झील बनेगी, जहाँ पर हरिण का घर तैयार होगा, जहाँ पत्थर की वेदी बनेगी, अमल ने उन स्थानों पर चिह्न लगा दिये।

उनके इस कल्पित बगीचे में आँमड़े के वृक्ष के नीचे चारों ओर किस प्रकार का चबूतरा होगा अमल एक छोटी कुदाल लेकर उसका निशान बना रहा था—तभी वृक्ष की छाया में बैठी चारु ने कहा, "अमल, यदि तुम लिख सकते तो अच्छा होता!"

अमल ने प्रश्न किया, "क्यों अच्छा होता?"

चारु—"अपने इस बगीचे का वर्णन करके तुमसे एक कहानी लिखवाती। यह झील, यह हरिण का घर, आँमड़े की छाया, उसमें ये सभी रहते—हम दोनों को छोड़कर और कोई न समझ पाता, बड़ा मजा आता। अमल, तुम एक बार लिखने का प्रयत्न कर देखो न, तुम अवश्य लिख सकोगे।"

अमल ने कहा, "अच्छा यदि लिख सका तो मुझे क्या दोगी।"

चारु ने कहा, "तुम क्या चाहते हो?"

अमल बोला, "अपनी मसहरी की छत पर मैं स्वयं लता चित्रित कर दूंगा, तुम्हें वह पूरा-का-पूरा रेशम से काढ़ देना होगा।"

चारु ने कहा, "तुम सभी बातों में अति करते हो। भला मसहरी की छत पर कढ़ाई।"

मसहरी-जैसी वस्तु को श्री-हीन कारागार के समान बना रखने के विरुद्ध अमल ने बहुत-सी बातें कहीं। उसने कहा, "संसार के पन्द्रह आना लोगों में सौंदर्य-बोध नहीं है और कुरूपता उन्हें तनिक भी नहीं अखरती यह उसीका प्रमाण है।"

चारु ने यह बात मन-ही-मन तुरन्त स्वीकार कर ली और अपनी दो जनों की जो गुप्त कमेटी है वह उन पन्द्रह आना लोगों में नहीं है ऐसा सोचकर वह प्रसन्न हुई।

उसने कहा, "अच्छा ठीक है, मैं मसहरी की छत तैयार कर दूंगी, तुम लिखो!"

अमल ने गूढ़ भाव से कहा, "तुम सोचती हो कि मैं लिख नहीं सकता।"

चारु ने अत्यन्त उत्तेजित होकर कहा, "तब तो तुमने जरूर कुछ लिखा है, मुझे—दिखलाओ !"

अमल—"आज रहने दो, भाभी !"

चारु—"नहीं, आज ही दिखाना होगा—तुम्हें मेरे सिर की सौगन्ध, अपना लेख ले आओ !"

चारु को अपना लेख सुनाने की अत्यंत उत्सुकता ही अमल को इतने दिन बाधा दे रही थी । कहीं चारु समझ न पाए । कहीं उसको अच्छा न लगे, इस संकोच को वह दूर नहीं कर पा रहा था ।

आज कापी लाकर थोड़ा लाल होकर थोड़ा खाँसकर उसने पढ़ना आरम्भ किया । चारु पेड़ के तने से पीठ टेककर घास के ऊपर पैर फैलाकर सुनने लगी ।

लेख का विषय था, 'मेरी कॉपी' । अमल ने लिखा था, "हे मेरी कोरी कॉपी, मेरी कल्पना ने अभी तक तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है । सूतिका-गृह में भाग्य-पुरुष के प्रवेश करने के पूर्व शिशु के ललाटपट्ट के समान तुम निर्मल हो, रहस्यमय हो । जिस दिन तुम्हारे अंतिम पृष्ठ की अंतिम पंक्ति में उपसंहार लिख सकूंगा वह दिन आज कहाँ है । तुम्हारे ये कोरे शिशुपत्रादि आज उस चिरन्तन मसि-चिह्नित समाप्ति की बात की स्वप्न में भी कल्पना नहीं करते"—इत्यादि अनेक बातें लिखी थी ।

चारु वृक्ष की छाया में बैठकर स्तब्ध होकर सुनने लगी । पढ़ना समाप्त होने पर क्षण-भर चुप रहकर बोली, "तुम फिर नहीं लिख सकते ?"

उस दिन उस वृक्ष के नीचे अमल ने साहित्य के मादक-रस का प्रथम पान किया; साकी नया था, रसना भी नवीन, और अपराह्न का आलोक लम्बी छाया में रहस्यपूर्ण-सा लग रहा था ।

चारु बोली, "अमल, कुछ आँमड़े तोड़कर ले चलने होंगे, नहीं तो मन्दा को क्या हिसाब देंगे ?"

मूढ मन्दा को अपनी पढ़ाई-लिखाई और चर्चा—की बातें बताने की इच्छा नहीं होती, इसलिए आँमड़े तोड़कर ले जाने पड़े ।

: २ :

बाग लगाने का संकल्प उनके अन्य अनेक संकल्पों की भाँति सीमाहीन कल्पना-क्षेत्र में कब खो गया, अमल और चारु को इसका पता भी न चला ।

अब अमल के लेख ही उनकी चर्चा और परामर्श के प्रधान विषय बन

गए। अमल आकर कहता, "भाभी, एक बहुत सुन्दर भाव दिमाग़ में आया है।"

चारु उत्साहित हो उठती। कहती, "चलो, हमारे दक्षिण की ओर के बरामदे में—यहाँ अभी मन्दा पान लगाने आयेगी।"

चारु काश्मीरी बरामदे में एक जीर्ण बेंत की कुर्सी पर आकर बैठती और अमल रेलिङ्ग के नीचे की ऊँची जगह पर बैठकर पैर फैला देता।

अमल के लिखने के विषय प्रायः सुनिर्दिष्ट नहीं होते थे; उनको स्पष्ट रूप से बता सकना कठिन था। अव्यवस्थित ढंग से वह जो कहता उसको स्पष्ट रूप से समझना किसी के लिए भी संभव नहीं था। अमल स्वयं ही बार-बार कहता, "भाभी, तुमको अच्छी तरह समझा नहीं पा रहा हूँ।"

चारु कहती, "नहीं, मैं बहुत-कुछ समझ गई: तुम इसीको लिख डालो; देरी मत करो!"

वह कुछ समझती, कुछ न समझती, बहुत-कुछ कल्पना करके, बहुत-कुछ अमल के व्यक्त करने के आवेग द्वारा उत्तेजित होकर मन के भीतर जाने क्या गढ़ लेती—उसीसे वह सुख का अनुभव करती और व्यग्रता से अधीर हो उठती।

चारु उसी दिन अपराह्न में पूछती, "कितना लिखा?"

अमल कहता, "इतनी जल्दी क्या लिखा जा सकता है।"

चारु दूसरे दिन प्रातः कुछ झगड़े के स्वर में प्रश्न करती, "क्यों, तुमने वह लिखा नहीं?"

अमल कहता, "ठहरो, और थोड़ा सोच लूं!"

चारु गुस्सा होकर कहती, "चलो, हटो!"

सन्ध्या को क्रोध घनीभूत होने पर चारु जब बातचीत बन्द करने का उपक्रम करती तब अमल लिखे काग़ज़ का एक अंश रूमाल निकालने के बहाने जेब से थोड़ा बाहर निकालता।

क्षण-भर में ही चारु का मौन भंग हो जाता। वह बोल उठती, "अच्छा, तो तुमने लिख लिया है, मुझे बहका रहे थे! दिखाओ!"

अमल कहता, "अभी पूरा नहीं हुआ; थोड़ा और लिखकर सुनाऊँगा।"

चारु—"नहीं, अभी सुनाना होगा।"

अमल तुरन्त सुनाने के लिए व्याकुल रहता; किन्तु कुछ देर चारु के छीना-झपटी किये बिना वह नहीं सुनाता था। उसके बाद अमल काग़ज़ हाथ में लिये बैठा-बैठा पहले तो कुछ पन्ने ठीक करता, पेन्सिल लेकर दो-एक जगह दो-एक संशोधन करता रहता, इस बीच चारु का चित्त प्रसन्न कौतूहल भाव से जलभारनत मेघ के समान काग़ज़ के उन कुछ पन्नों पर झुका रहता।

अमल जब-जो छोटे-मोटे दो-चार अनुच्छेद लिखता वे ही चारु को तभी सुनाने पड़ते। बाकी अलिखित भाग आलोचना और कल्पना द्वारा दोनों के बीच मथित होता रहता।

इतने दिन तक दोनों आकाश-कुसुम के संकलन में लगे हुए थे, अब काव्य-कुसुम की कृषि आरम्भ करते ही वे और सब-कुछ भूल गए।

एक दिन अपराह्न में कॉलेज से लौटने पर अमल की जेब कुछ ज्यादा भरी हुई प्रतीत हुई। अमल ने जब घर में प्रवेश किया, तभी चारु ने अन्तःपुर के गवाक्ष से उसकी जेब की पूर्णता की ओर ध्यान दिया था।

और दिन कॉलेज से लौटकर घर के भीतर आने में अमल देरी नहीं करता था, आज उसने अपनी भरी हुई जेब के साथ बाहर के कक्ष में प्रवेश किया; जल्दी आने का नाम ही न लिया।

अन्तःपुर की सीमा के पास आकर चारु ने बहुत बार तालियाँ बजाई, किसी ने नहीं सुना। कुछ क्रोध से अपने बरामदे में मन्मथ दत्त की एक पुस्तक लेकर चारु पढ़ने की चेष्टा करने लगी।

मन्मथ दत्त नए लेखक थे। उनके लिखने की शैली बहुत-कुछ अमल के समान ही थी; इसी कारण अमल कभी भी उनकी प्रशंसा नहीं करता था; बीच-बीच में उनके लेखों को चारु के सामने विकृत उच्चारण से पढ़कर हँसी उड़ाता—चारु अमल से वह पुस्तक छीनकर अवज्ञा-भाव से दूर फेंक देती।

आज जैसे ही अमल का पद-शब्द सुना तो उन्हीं मन्मथ दत्त की 'कलकण्ठ' नामक कृति मुँह के पास लाकर चारु ने अत्यन्त एकाग्रभाव से पढ़ना आरम्भ किया।

अमल ने बरामदे में प्रवेश किया, चारु ने ध्यान भी न दिया। अमल ने कहा, "क्यों भाभी, क्या पढ़ाई हो रही है।"

चारु को निरुत्तर देखकर अमल ने चौकी के पीछे आकर पुस्तक देखी। कहा, "मन्मथदत्त की गड़बड़।"

चारु ने कहा, "उफ़! परेशान मत करो, मुझे पढ़ने दो!" पीठ के समीप खड़े होकर अमल व्यङ्ग्यपूर्ण स्वर में पढ़ने लगा, "मैं तृण हूँ, क्षुद्र तृण; भाई रक्ताम्बर राजवेशधारी अशोक, मैं तृण-मात्र हूँ! मेरे फूल नहीं, मेरी छाया नहीं, मैं आकाश में अपना सिर नहीं उठा सकता, वसन्त की कोकिल मेरा आश्रय लेकर कुहू स्वर से जगत् को उन्मत्त नहीं करती—तो भी भाई अशोक, अपनी उस उच्च पुष्पित शाखा से तुम मेरी उपेक्षा मत करना; तुम्हारे पैरों में पड़ा हुआ मैं तृण हूँ, सो भी मुझे तुच्छ मत समझना!"

अमल पुस्तक से इतना-सा पढ़ने के बाद बना-बनाकर कहने लगा, "मैं केले की गहर हूँ, कच्चे केले की गहर, भाई कूष्माण्ड भाई, गृहछप्पर-विहारी कूष्माण्ड, मैं तो नितान्त कच्चे केले की गहर हूँ।"

चारु कौतूहल के मारे रोष बनाए न रह सकी; हंसकर उठती हुई पुस्तक पटककर बोली, "तुम बड़े ही ईर्ष्यालु हो, अपनी रचना के अलावा कुछ भी पसन्द नहीं आता।"

अमल ने कहा, "तुम्हारी उदारता का क्या कहना है, तिनका भी मिल जाय तो निगल लो!"

चारु—"अच्छा जनाब, मजाक रहने दो, पॉकेट में क्या है, निकालडालो।"

अमल—"क्या है, अन्दाज लगाओ!"

बहुत देर तक चारु को परेशान करके अमल ने जेब से 'सरोरुह' नामक विख्यात मासिक पत्र बाहर निकाला।

चारु ने देखा, पत्रिका में अमल का वही 'खाता' (कॉपी) नामक लेख प्रकाशित हुआ है।

चारु देखकर चुप रह गई। अमल ने सोचा था, उसकी भाभी खूब खुश होगी। किन्तु प्रसन्नता का कोई विशेष लक्षण न देखकर बोला, "सरोरुह पत्र में ऐसा-वैसा लेख प्रकाशित नहीं होता।"

अमल ने यह कुछ बढ़ाकर कहा था। चाहे-जैसा कामचलाऊ लेख हो, मिल जाता तो संपादक छोड़ते न थे। किन्तु अमल ने चारु को समझा दिया, संपादक बहुत कड़ा आदमी होता है, सौ लेखों में से एक छांटता है।

सुनकर चारु प्रसन्न होने की चेष्टा करने लगी, किन्तु वह प्रसन्न नहीं हो सकी। क्यों उसके मन को आघात पहुँचा, उसे समझने की चेष्टा की, किन्तु कोई संगत कारण न खोज सकी।

अमल का लेख अमल और चारु दोनों की सम्पत्ति थी। अमल लेखक था और चारु पाठक। उसकी गोपनता ही उसका प्रधान रस था। उस लेख को सब कोई पढ़ेगा और बहुत-से लोग उसकी प्रशंसा करेंगे, यह चारु को क्यों इतना कष्ट दे रहा था, इसको वह ठीक से न समझ सकी।

किन्तु लेखक की आकांक्षा केवल एक पाठक-भर से ज्यादा दिन तक तृप्त नहीं होती। अमल ने अपने लेख छपाने आरम्भ किये। प्रशंसा भी प्राप्त की।

बीच-बीच में भक्तों के पत्र भी आने लगे। अमल उन्हें अपनी भाभी को दिखलाता। चारु इससे खुश भी होती और कष्ट भी पाती। अब अमल को लेख लिखने में प्रवृत्त कराने के लिए एक-मात्र उसके उत्साह और प्रेरणा की आव-

श्यकता नही रह गई थी। अमल को बीच-बीच मे कदाचित् नाम-हस्ताक्षर-विहीन रमणियों के पत्र भी मिलने लगे। इसे लेकर चारु उससे मजाक तो करती, किन्तु उसे सुख न मिलता। सहसा उनकी कमेटी का बंद द्वार खोलकर बंगाल की पाठक-मंडली उन दोनों के बीच में आकर खड़ी हो गई।

भूपति ने एक दिन छुट्टी के समय कहा, "अरे चारु, अपना अमल इतना अच्छा लिख सकता है यह तो मै जानता ही न था।"

भूपति की प्रशंसा से चारु खुश हुई। अमल भूपति का आश्रित था; किन्तु अन्य आश्रितों की अपेक्षा उसमें बहुत भेद था—इस बात को उसके पति के समझने पर चारु ने जैसे गर्व का अनुभव किया। उसका अभिप्राय यह था कि, "अमल को क्यो मैं इतना प्यार-दुलार करती हूँ यह बात तुम लोग इतने दिनों बाद समझे। मैं बहुत दिनों पहले ही—अमल की मर्यादा समझ गई थी; अमल किसी की भी अवज्ञा का पात्र नही है।"

चारु ने प्रश्न किया, "तुमने उसका लेख पढा है।"

भूपति ने कहा, "हाँ, नही, ठीक से नही पढ़ा। समय नही मिला। किन्तु अपना निशिकान्त पढ़कर खूब प्रशंसा कर रहा था। वह बंगला-रचना अच्छी तरह समझता है।"

भूपति के मन मे अमल के प्रति सम्मान का भाव जग उठे, चारु की यह एकान्त इच्छा थी।

: ३ :

उमापद भूपति को अपने अखबार के साथ अन्य कई प्रकार के उपहार देने की बात समझा रहा था। उपहार से किस प्रकार नुकसान की बजाय लाभ हो सकता है, यह भूपति किसी प्रकार भी नही समझ पा रहा था।

चारु एक बार कमरे में झाँककर उमापद को देखकर चली गई। कुछ देर बाद फिर घूम-फिरकर उसने कमरे में आकर देखा, दोनों व्यक्ति हिसाब को लेकर बहस कर रहे थे।

चारु की अधीरता देखकर उमापद कोई बहाना करके बाहर चले गए। भूपति हिसाब से माथा-पच्ची करने लगा।

कमरे में प्रवेश कर चारु ने कहा, "क्या अभी तक तुम्हारा काम समाप्त नहीं हुआ। मैं तो यही सोचती रहती हूँ कि इस एक अखबार के पीछे तुम रात-दिन कैसे काट देते हो।"

हिसाब को एक ओर सरकाते हुए भूपति थोड़ा मुसकराए। मन-ही-मन

सोचा, 'वास्तव में चारु की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिलता, यह बड़ा अन्याय है। उस बेचारी के पास समय काटने के लिए कुछ भी नहीं है।'

स्नेहपूर्ण स्वर में भूपति ने कहा, "आज तुम्हारी पढ़ाई नहीं होगी ? मास्टर क्या भाग गए हैं ? तुम्हारी पाठशाला का नियम सब उलटा है—छात्रा तो पोथीपत्रा लिए तैयार है, मास्टर गायब ! शायद आजकल अमल तुमको पहले के समान नियमित रूप से नहीं पढ़ाता।"

चारु ने कहा, "मुझे पढ़ाकर अमल का समय नष्ट करना क्या उचित है। अमल को तुमने क्या एक मामूली प्राइवेट ट्यूटर समझ लिया है ?"

चारु की कमर पकड़कर पास खींचकर भूपति ने कहा, "यह क्या मामूली प्राइवेट-ट्यूटरी हुई। तुम्हारी-जैसी भाभी यदि मुझे पढ़ाने के लिए मिलती तो—"

चारु—"बस-बस रहने भी दो ! पति बने हो यही क्या कम आफ़त है जो अब और···

कुछ व्यथित-से होकर भूपति ने कहा, "अच्छा, कल से मैं अवश्य तुमको पढ़ाऊँगा। अपनी पुस्तकें तो लाओ, एक बार देखूँ तो तुम क्या पढ़ती हो ?"

चारु—"बस, बस, हो गया, तुम्हें पढ़ाने की जरूरत नहीं। पल-भर के लिए तो जरा अपना यह अखबार का हिसाब छोड़ नहीं सकते, अभी किसी और बात पर ध्यान दे सकते हो या नहीं, बताओ !"

भूपति ने कहा, "जरूर दे सकता हूँ। इस समय तुम मेरे मन को जिधर घुमाना चाहो उधर ही घूम जायगा।"

चारु—"बहुत खूब, तो फिर अमल के इस लेख को एक बार पढ़कर देखो कैसा सुन्दर बन पड़ा है। सम्पादक ने अमल को लिखा है, इस लेख को पढ़कर नवगोपाल बाबू ने उसे "बंगला का रस्किन" नाम दिया है।"

सुनकर कुछ सकुचाते हुए भूपति ने पत्रिका हाथ में ले ली। खोलकर देखा, लेख का शीर्षक था 'आषाढ़ का चाँद'। पिछले दो सप्ताह से भारत सरकार के बजट की समालोचना के सम्बन्ध में भूपति अंकों की बड़ी-बड़ी तालिकाएँ बना रहा था। वे अंक बहुपद कीड़ों के समान उसके मस्तिष्क के नाना विवरों में रेंग रहे थे। ऐसे में अचानक बंगला भाषा में 'आषाढ़ का चाँद' शीर्षक लेख आद्योपान्त पढ़ने के लिए उसका मन तैयार न था। लेख भी नितान्त छोटा न था।

लेख इस प्रकार शुरू हुआ था, "आज आषाढ़ का चाँद रात-भर मेघों में इस तरह छिपकर क्यों घूम रहा है। मानो स्वर्गलोक से वह कुछ चोरी कर लाया हो, मानो उसे अपना कलंक छिपाने की जगह न हो। फाल्गुन के महीने में जब आकाश के किसी भी कोने में कहीं मुट्ठी-भर भी मेघ नहीं थे तब तो जगत्

की आंखों के सामने वह निर्लज्ज के समान उन्मुक्त आकाश में अपने को प्रकाशित किये हुए था—और आज उसकी वही तरल हंसी—शिशु के स्वप्न के समान, प्रिया की स्मृति के समान, सुरेश्वरी शची के अलकविलम्बित मोतियों की माला के समान—"

भूपति ने सिर खुजलाकर कहा, "अच्छा लिखा है। किन्तु मुझे क्या ! यह सब कवित्व क्या मैं समझता हूं।"

चारु ने लज्जित होकर भूपति के हाथ से पत्रिका छीनकर कहा, "तब तुम क्या समझते हो ?"

भूपति ने कहा, "मैं संसारी आदमी हूं, मैं मनुष्य को समझता हूं।"

चारु ने कहा, "मनुष्य की बात क्या साहित्य में नहीं लिखी जाती ?"

भूपति—"ग़लत लिखते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के सशरीर वर्तमान रहते बनावटी बातों के बीच उसे खोजते फिरने की क्या ज़रूरत है ?"

यह कहकर चारुलता की ठोड़ी पकड़कर कहा, "यही लो, जैसे मैं तुमको समझता हूं, किन्तु उसके लिए क्या 'मेघनाद-वध,' 'कविकङ्कणचण्डी' आदि आद्योपांत पढ़ने की ज़रूरत है।"

भूपति को इस बात का अहंकार था कि वह काव्य नहीं समझता तो भी अमल के लेख को अच्छी तरह न पढ़ने पर भी उसके प्रति मन-ही-मन भूपति को कुछ श्रद्धा थी। भूपति सोचता, 'कहने को कुछ भी नहीं, फिर भी अनर्गल इतनी बातें बनाकर कहना, यह तो मैं सिर फोड़कर मर जाऊं तो भी नहीं कर सकता। अमल में इतनी क्षमता है, यह कौन जानता था।'

भूपति अपनी रसज्ञता अस्वीकार करता, किन्तु साहित्य के प्रति उसमें कृपणता नहीं थी। दरिद्र लेखक के उसको पकड़ लेने पर भूपति किताब छापने का खरचा देता, केवल विशेष रूप से यह कह देता, "किताब मुझे समर्पित न की जाय।" बंगला के छोटे-बड़े सभी साप्ताहिक और मासिक पत्र, प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, पाठ्य-अपाठ्य सभी किताबें वह खरीदता। कहता, "एक तो पढ़ता नहीं, ऊपर से यदि खरीदूं भी नहीं तो पाप भी करूंगा और प्रायश्चित्त भी न होगा।" पढ़ता नहीं था, इसलिए खराब पुस्तकों के प्रति उसका लेश-मात्र भी विद्वेष न था, इसी कारण उसकी बंगला-पुस्तकों की लाइब्रेरी ग्रन्थों से परिपूर्ण थी।

अमल अंग्रेज़ी के प्रूफ-संशोधन के कार्य में भूपति की सहायता करता था; किसी कापी की दुर्बोध लिखावट दिखा लेने के लिए उसने एक गट्ठर कागज-पत्र लिये कमरे में प्रवेश किया।

भूपति ने हंसकर कहा, "अमल, तुम आषाढ़ के चांद और भाद्र मास के

पके ताड़-फल भर जो चाहो लिखो, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं—मैं किसी की भी स्वाधीनता में हाथ नहीं डालना चाहता—किंतु मेरी स्वाधीनता में हस्तक्षेप क्यों ? वह सब मुझे पढ़ाए बिना नहीं छोड़ेंगी, तुम्हारी भाभी का यह कैसा अत्याचार है ।"

अमल ने हँसकर कहा, "ठीक तो है भाभी—मेरे लेखों को लेकर तुम भैया पर जुल्म करने का उपाय निकाल लोगी, ऐसा जानता तो मैं लिखता ही नहीं ।"

साहित्यरस-विमुख भूपति के सामने लाकर अपने अत्यन्त भावपूर्ण लेखों को अपदस्थ कराने के लिए अमल मन-ही-मन चारु के ऊपर नाराज हो गया एवं उसी क्षण यह समझते ही चारु दुखी हो गई । प्रसंग बदलने के अभिप्राय से उसने भूपति से कहा, "अपने भाई का विवाह करा दो, तो फिर कभी लेखों का उपद्रव न सहना पड़ेगा ।"

भूपति ने कहा, "आजकल के लड़के हमारे समान अबोध नहीं हैं, वे कविता लिखने में जैसे सयाने हैं वैसे ही काम-काज में भी हैं, भला तुम अपने देवर को विवाह करने के लिए राजी कहाँ करा पाई ।"

चारु के चले जाने पर भूपति ने अमल से कहा, "अमल, मुझे इस अखबार के झंझट में रहना पड़ता है, चारु बेचारी बड़ी अकेली रहती है । कोई काम-काज नहीं । बीच-बीच में मेरे लिखने के कमरे में झाँककर चली जाती है । क्या करूँ, बताओ ! अमल, तुम उसे जरा लिखने-पढ़ने में लगाए रख सको तो अच्छा हो । बीच-बीच में यदि चारु को अँग्रेजी काव्य का अनुवाद करके सुनाओ तो उसको लाभ भी होगा और अच्छा भी लगेगा । चारु की साहित्य में बड़ी रुचि है ।"

अमल ने कहा, "यह तो ठीक है । भाभी यदि थोड़ा और पढ़-लिख लें तो मेरा विश्वास है वे स्वयं अच्छा लिख सकेंगी ।"

भूपति ने हँसकर कहा, "इतनी आशा नहीं करता, किन्तु चारु बंगला-लेखों की अच्छाई-बुराई मेरी अपेक्षा ज्यादा समझ सकती ।"

अमल—"उनकी कल्पना-शक्ति खूब है, महिलाओं में ऐसी नहीं दिखती ।"

भूपति—"पुरुषों में भी कम दिखती है, उसका प्रमाण मैं हूँ । अच्छी बात है, तुम यदि अपनी भाभी को गढ़कर तैयार कर सको तो मैं तुमको पारितोषिक दूँगा ।"

अमल—"क्या दोगे, सुनूँ ।"

भूपति—"तुम्हारी भाभी की जोड़ की कोई एक और खोज-खाज कर-ले आऊँगा ।

अमल—"फिर उसमें लगना होगा ! सारा जीवन क्या गढ़कर तैयार

करने में ही काटूँगा।"

दोनों भाई आजकल के लड़के थे, किसी बात पर उनकी जीभ नहीं अटकती।

: ४ :

पाठक-समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करके अब अमल का सिर ऊँचा हो गया है। पहले वह स्कूली विद्यार्थी की भाँति रहता था, अब वह मानो समाज का गण्य-मान्य व्यक्ति बन गया है। बीच-बीच में सभाओं में साहित्यिक निबन्ध पढ़ता है—सम्पादक और सम्पादक के दूत उसके कमरे में आकर बैठे रहते हैं, उसको निमंत्रित करके खिलाते हैं नाना सभाओं का सदस्य और सभापति बनने के लिए अनुरोध आते हैं, भूपति के घर में नौकर-चाकरों तथा कुटुम्बियों की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई है।

मन्दाकिनी अभी तक उसको महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं समझती थी। अमल और चारु के हास्यालाप तथा आलोचना को वह बचपन कहकर उपेक्षा करती, पान लगा देती और घर का काम-काज करती रहती; अपने को वह उनसे श्रेष्ठ और संसार के लिए आवश्यक समझती थी।

अमल बेहद पान खाता था। मन्दा के ऊपर पान लगाने का भार था, इसलिए वह पान के अनुचित अपव्यय से चिढ़ती। षड्यन्त्र करके मन्दा के पान-भण्डार को प्रायः लूट लाना अमल और चारु के आमोदों में से एक था। किन्तु इन दोनों शौकीन चोरों का चोरी का मजाक मन्दा को अच्छा नहीं लगता था।

असल बात है, एक आश्रित व्यक्ति दूसरे आश्रित व्यक्ति को अच्छी नजर से नहीं देखता। अमल के लिए मन्दा को जो थोड़े-बहुत अतिरिक्त काम-काज करने पड़ते उन्हींसे वह मानो कुछ अपमान का अनुभव करती। चारु को अमल का पक्षपाती समझकर वह मुख से स्पष्ट कुछ कह नहीं पाती थी, किन्तु अमल की अवहेलना करने की उसकी कोशिश बराबर रहती। अवसर पाते ही पीठ पीछे नौकर-चाकरों से भी वह अमल के नाम पर ताने देना न भूलती। वे भी साथ देते।

किन्तु जब अमल का उत्थान आरंभ हुआ तो मन्दा कुछ चौंकी। अमल अब वह नहीं था। अब उसकी संकोचभरी नम्रता एकदम लुप्त हो गई थी। दूसरे की अवज्ञा करने का अधिकार अब मानो उसीके हाथ में था। संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करके जो व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट के निस्संकोच अपना प्रचार कर सकता है, जिस व्यक्ति ने एक निश्चित अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह समर्थ

व्यक्ति सहज ही स्त्री की दृष्टि आकर्षित कर सकती है। मन्दा ने जब देखा, अमल चारों ओर से श्रद्धा पा रहा है तब उसने भी अमल के ऊँचे उठे हुए मस्तक की ओर मुँह उठाकर देखा। अमल के तरुण मुख में नवगौरव की गर्वोज्ज्वल दीप्ति ने मन्दा की आँखों में मोह उत्पन्न कर दिया; उसने मानो अमल को एक नए रूप में देखा।

अब पान चुराने की आवश्यकता न रही। अमल के प्रसिद्धि पाने से चारु को यह एक और हानि हुई, उनके षड्यन्त्र का विनोद-बन्धन विच्छिन्न हो गया; पान अब अमल को अपने-आप मिल जाता, कोई अभाव न होता।

इसके अलावा, वे अपने दोनों के संगठित दल से मन्दाकिनी को विभिन्न उपायों द्वारा दूर रखने में जिस आनन्द का अनुभव करते थे, उसके नष्ट होने की भी तैयारी हो गई। मन्दा को दूर रखना कठिन हो गया। अमल का यह सोचना कि चारु ही उसकी एक-मात्र मित्र और प्रशंसक है, मन्दा को अच्छा न लगता। पहले की अवहेलना को वह ब्याज-सहित शोधकर देने के लिए उद्यत थी। अतः अमल और चारु की भेंट होते ही मन्दा किसी-न-किसी बहाने बीच में पड़कर छाया डालकर ग्रहण लगा देती। मन्दा के इस आकस्मिक परिवर्तन को लेकर चारु उसकी अनुपस्थिति में परिहास कर ले इसका भी अवसर पाना कठिन हो गया।

मन्दा का यह अनामंत्रित प्रवेश चारु को जितना अरुचिकर लगता था अमल को उतना नहीं—यह कहना व्यर्थ है। विमुख रमणी का मन क्रमशः उसकी ओर फिर रहा था, इससे वह भीतर-ही-भीतर एक आसक्ति का अनुभव करता था।

किन्तु चारु जब दूर से मन्दा को देखकर धीमे से तीखे स्वर में कहती, "यह लो, आ रही हैं।" तब अमल भी कहता, "सच, नाक में दम कर दिया।" संसार के और सभी लोगों के संग के प्रति असहिष्णुता प्रकट करना उनका दस्तूर था, अमल सहसा उसे कैसे छोड़े। अन्त में मन्दाकिनी के पास आने पर अमल जैसे बलपूर्वक शिष्टता दिखाकर कहता, "कहो, मन्दा भाभी, तुम्हें अपने पानदान में आज बटमारी के कुछ चिह्न दिखे!"

मन्दा—"जब माँगते ही पा जाते हो, तब चोरी करने की ज़रूरत!"

अमल—"माँगकर पाने से इसमें ज्यादा मज़ा है।"

मन्दा—"तुम लोग क्या पढ़ रहे थे, पढ़ो न, भई। रुक क्यों गए। पाठ सुनना मुझे बहुत अच्छा लगता है।"

इसके पूर्व पाठानुराग में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए मन्दा की ओर से कोई प्रयत्न नहीं देखा गया था, किन्तु 'कालो हि बलवत्तरः।'

चारु की इच्छा नहीं थी कि अरसिका मन्दा के सामने अमल पढ़े, अमल की इच्छा थी कि मन्दा भी उसका लेख सुने।

चारु—"अमल कमलाकान्त के दफ़्तर की समालोचना लिखकर लाया है, वह क्या तुमको—"

मन्दा—"मैं मूर्ख ही सही, फिर भी अगर सुनूं तो क्या बिलकुल भी नहीं समझ पाऊँगी।"

तब अमल को और एक दिन की बात याद आ गई। चारु और मन्दा ताश खेल रही थी, वह हाथ में अपना लेख लिये खेल-की मजलिस में प्रविष्ट हुआ था। वह चारु को सुनाने के लिए अधीर था, खेल खत्म न होते देखकर खीझ रहा था, अन्त में बोल पड़ा, "तो फिर भाभी तुम खेलो, मैं अखिल बाबू को लेख सुना आता हूँ।"

चारु ने अमल की चादर पकड़कर कहा था, "अरे; बैठो ना, कहाँ जाते हो।" यह कहकर चटपट हार मानकर खेल खत्म कर दिया था।

मन्दा ने कहा था, "क्या तुम लोगों का पाठ आरम्भ होगा? तो मैं उठूं?"

चारु ने शिष्टाचार दिखाते हुए कहा था, "क्यों, तुम भी सुनो न भई!"

मन्दा—"नहीं भैया, मैं तुम्हारी ये बातें खाक भी नहीं समझती। मुझे तो बस नींद आने लग जाती है—यह कहते हुए वह बीच ही में खेल खत्म हो जाने के कारण दोनों पर खीझती हुई चली गई थी।

वही मन्दा आज कमलाकान्त की समालोचना सुनने के लिए उत्सुक थी। अमल बोला, "यह तो अच्छी बात है, मन्दा भाभी, तुम सुनो यह तो मेरा सौभाग्य है।" यह कहते हुए उसने पन्ने पलटकर फिर शुरू से पढ़ने की तैयारी की। लेख के आरम्भ में उसने पर्याप्त मात्रा में रस बरसाया था, उसे शामिल किये बिना पढ़ने की उसकी इच्छा नहीं हुई।

चारु चट-से बोली, "देवरजी, तुमने कहा था न कि जाह्नवी लाइब्रेरी से कुछ पुराने मासिक पत्र ला दोगे!"

अमल—"आज थोड़े ही।"

चारु—"आज ही तो। वाह भूल गए शायद?"

अमल—"भूलूंगा क्यों। तुमने कहा था न—"

चारु—"अच्छी बात है, मत लाओ। तुम लोग पढ़ो। मैं चलूं, चलकर परेश को लाइब्रेरी भेज दूँ।—" कहकर चारु उठ खड़ी हुई।

अमल को विपद की आशङ्का हुई। मन्दा मन-ही-मन समझ गई और क्षण-भर में ही उसका मन चारु के प्रति विषाक्त हो उठा। चारु के चले जाने

पर जब अमल उठे या न उठे, यह सोचता हुआ इधर-उधर कर रहा था तब मन्दा जरा हँसकर बोली, "जाओ भई, जाकर मनाओ; चारु रूठ गई है। मुझे लेख सुनाओगे तो मुश्किल में पड़ जाओगे।"

इसके बाद अमल के लिए उठना अत्यन्त कठिन हो गया। अमल ने चारु पर कुछ रुष्ट होकर कहा, "क्यों, मुश्किल काहे की।" कहते हुए लेख खोलकर पढ़ने की तैयारी करने लगा।

मन्दा ने दोनों हाथों से उसका लेख ढकते हुए कहा, "क्या जरूरत है, भई, मत पढ़ो!"— कहकर मानो आँसू रोकने के लिए अन्यत्र चली गई।

: ४ :

चारु दावत में गई थी। मन्दा कमरे में बैठी बालों में चुटीला गूँथ रही थी। 'भाभी' कहते हुए अमल ने कमरे में प्रवेश किया। मन्दा अच्छी तरह जानती थी कि चारु के दावत में जाने का समाचार अमल से छिपा नहीं है। हँसकर बोली, "अक्खाह, अमल बाबू, किसे खोजने आये और मिला कौन तुम्हारी तकदीर ही ऐसी है।"

अमल ने कहा, "जैसा बाईं ओर का पुआल ठीक वैसा ही दाहिनी ओर का पुआल गदहे के लिए तो दोनों बराबर प्रिय हैं।" कहकर वहीं बैठ गया।

अमल—"मन्दा भाभी, अपने गाँव की कहानी कहो, मैं सुनूंगा।"

लेख के विषय संग्रह करने के लिए अमल सभी जनों की सारी बातें कौतूहल के साथ सुनता। इसी कारण अब वह मन्दा की पहले के समान पूर्ण उपेक्षा नहीं करता था। मन्दा का मनस्तत्त्व, मन्दा का इतिहास अब उसकी उत्सुकता के विषय थे। उसकी जन्मभूमि कहाँ थी, उसका गाँव कैसा था, बचपन किस प्रकार बिताया, विवाह कब हुआ, इत्यादि सभी बातें खोद-खोदकर पूछने लगा। मन्दा के लघु जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में इतनी उत्सुकता कभी किसी ने प्रकट नहीं की थी। मन्दा आनन्दपूर्वक अपनी बातें सुनाती जा रही थी; बीच-बीच में कहती, "क्या कहती जा रही हूँ, कोई ठिकाना है।"

अमल ने प्रोत्साहन देते हुए कहा, "नहीं, मुझे बहुत अच्छा लग रहा है, कहे जाओ!" मन्दा के पिता का एक काना गुमाश्ता था, वह अपनी दूसरी स्त्री के साथ झगड़ा करके किसी-किसी दिन रूठकर अनशन व्रत करता, अन्त में भूख की ज्वाला से त्रस्त मन्दा के घर किस प्रकार छिपकर भोजन करने आता और दैवात् एक दिन स्त्री के द्वारा किस प्रकार पकड़ा गया, जिस समय यह कहानी चल रही थी और अमल मनोयोगपूर्वक सुनते हुए सकौतुक हँस रहा था

उसी समय चारु ने आकर कमरे में प्रवेश किया।

कहानी का सूत्र टूट गया। उसके आगमन से सहसा एक जमी हुई सभा भंग हो गई, चारु इसको साफ समझ गई।

अमल ने प्रश्न किया, "भाभी, इतनी जल्दी कैसे लौट आई।"

चारु ने कहा, "यही तो देख रही हूँ। बहुत जल्दी लौट आई।" यह कहते हुए चले जाने को तैयार हुई।

अमल बोला, "अच्छा ही किया, मुझे बचा लिया। मैं सोच रहा था, न मालूम, कब लौटोगी। मन्मथ दत्त की 'सन्ध्यार पाखि' (सन्ध्या का पक्षी) नामक नई पुस्तक तुमको पढ़कर सुनाने के लिए लाया हूँ।"

चारु—"अभी रहने दो, मुझे काम है।"

अमल—"काम है तो मुझे हुकुम दो, मैं कर डालता हूँ।"

चारु जानती थी कि अमल आज पुस्तक खरीदकर उसे सुनाने आयेगा; चारु ईर्ष्या उत्पन्न करने के लिए, मन्मथ के लेख की खूब प्रशंसा करेगी और अमल उस पुस्तक को विकृत करके पढ़कर हँसी उड़ायेगा। यह सब कल्पना करके अधैर्यवश वह समय से पहले ही निमंत्रण-गृह की समस्त अनुनय-विनय का उल्लंघन करके तबियत खराब के बहाने घर लौट आई थी। अब बार-बार मन में सोच रही थी, "वहीं ठीक थी, चला आना अनुचित हुआ।"

मन्दा भी तो कम बेहया नहीं। अमल के साथ एक कमरे में अकेली बैठी दाँत निपोरकर हंस रही है। लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। किन्तु मन्दा की इस बात को लेकर फटकारना चारु के लिए बड़ा कठिन था। कारण, यदि मन्दा ने उनके ही दृष्टान्त का उल्लेख करके उत्तर दिया तो। किन्तु वह अलग बात है, और यह अलग। वह अमल को लिखने के लिए उत्साह देती है, अमल के साथ साहित्यालोचना करती है, किन्तु मन्दा का तो वह उद्देश्य जरा भी नहीं। मन्दा निस्सन्देह ही सरल युवक को मुग्ध करने के लिए जाल बिछा रही है। इस भयंकर विपत्ति से बेचारे अमल की रक्षा करना उसीका कर्त्तव्य है। अमल को इस मायाविनी का उद्देश्य किस प्रकार समझाए। समझाने पर उसके प्रलोभन की निवृत्ति न होकर यदि उलटा हुआ तो।

बेचारे भैया। वे तो अपने मालिक के अखबार में दिन-रात पिसे जा रहे हैं, और मन्दा यहाँ कोने में बैठी अमल को भुलाने का आयोजन कर रही है। भैया एकदम निश्चिन्त हैं। मन्दा के ऊपर उनका अगाध विश्वास है। इन सब बातों को स्वयं अपनी आँखों देखकर चारु कैसे स्थिर रहे। बड़ी ज्यादती है।

किन्तु पहले अमल अच्छा था, जिस दिन से लिखना आरम्भ करके ख्याति

प्राप्त की है उसी दिन से सारे अनर्थ दिखने लगे हैं। चारु ही तो उसके लिखने के मूल में थी। किस अशुभ क्षण में उसने अमल को रचना करने के लिए उत्साहित किया। अब क्या अमल के ऊपर उसका पहले की भाँति जोर चलेगा। अब अमल को पाँच जनों के प्यार का स्वाद मिल चुका है, अतएव एक को छोड़ देने से उसका कुछ आता-जाता नहीं।

चारु ने स्पष्ट समझा, उसके हाथ से निकलकर पाँच जनों के हाथ में जा पड़ने पर अमल के लिए चारों ओर विपद है। अमल अब चारु को ठीक अपना समकक्ष नहीं समझता, चारु से वह आगे निकल गया है। अब वह लेखक है, चारु पाठक। इसका प्रतिकार करना ही होगा।

ओह! सरल अमल, मायाविनी मन्दा, बेचारे भैया।

: ६ :

उस दिन आषाढ़ के नवीन मेघों से आकाश ढक गया था। कमरे में घनीभूत अन्धकार होने के कारण चारु अपने खुले जंगले के पास खूब झुककर न जाने क्या लिख रही थी।

अमल कब चुपचाप पीछे आकर खड़ा हो गया इसका उसे पता न चला। बादलों के स्निग्ध आलोक में चारु लिखती रही, अमल पढ़ने लगा। पास में अमल के ही छपाये दो एक लेख खुले पड़े थे, चारु के लिए वे ही रचना के एकमात्र आदर्श थे।

"तुम तो कहती थीं, तुम लिख ही नहीं सकतीं।"

अचानक अमल की आवाज सुनकर चारु जोर से चौंक पड़ी; झटपट कापी छिपाकर बोली "यह तुम्हारी ज्यादती है।"

अमल—"क्या ज्यादती की है।"

चारु—"छिपे-छिपे क्यों देख रहे थे।"

अमल—"प्रकट रूप से देख नहीं पाता इसीलिए।"

चारु ने अपना लेख फाड़ डालने का प्रयत्न किया। अमल ने झट से उसके हाथ से कॉपी छीन ली। चारु बोली "अगर तुम पढ़ोगे तो तुम्हारे साथ हमेशा के लिए कुट्टी हो जायगी।"

अमल—"अगर पढ़ने से रोकोगी तो तुम्हारे साथ हमेशा को कुट्टी हो जायगी।

चारु—"तुम्हें मेरे सिर की सौगंध है देवरजी, मत पढ़ो।"

अन्त में चारु को ही हार माननी पड़ी। कारण, अमल को अपना लेख

दिखाने के लिए मन छटपटा रहा था; लेकिन दिखलाने के समय उसे इतनी लज्जा का अनुभव होगा, यह उसने नहीं सोचा था ! अमल ने जब बहुत अनुनय-विनय करके पढ़ना प्रारम्भ किया तो लज्जा से चारु के हाथ-पैर बरफ के समान ठंडे हो गए। बोली, "मैं पान ले आती हूँ।" यह कहती हुई झटपट अमल के कमरे में पान लगाने का बहाना करके चली गई।

पढ़ना समाप्त कर के अमल ने चारु के पास जाकर कहा, "बहुत सुन्दर है।"

चारु ने पान में कत्था लगाना भूलकर कहा, "चलो, अब मजाक रहने दो। लाओ, मेरी कॉपी दे दो !"

अमल ने कहा, "कॉपी अभी नहीं दूंगा, लेख की नकल करके पत्र में भेजूंगा।"

चारु—"हाँ, पत्र में तो भेजोगे ही, यह नहीं हो सकता। चारु ने बड़ी आफ़त कर दी, अमल ने भी किसी तरह नहीं छोड़ा। उसने जब बार-बार शपथ खाकर कहा, "पत्र में देने के उपयुक्त है।" तब चारु ने मानो अत्यंत हताश होकर कहा, "तुम्हारे साथ तो पार पाना मुश्किल है ! जो तय कर लेते हो फिर उसे किसी भी तरह नहीं छोड़ते !"

अमल ने कहा, "एक बार भैया को दिखाना होगा।"

सुनकर पान लगाना छोड़ कर चारु आसन से तेजी से उठ खड़ी हुई; कापी छीनने की कोशिश करती हुई बोली, "न, उनको नही सुना सकते ! उनसे यदि मेरे लिखने की बात कहोगे तो फिर मैं एक अक्षर भी नही लिखूंगी।"

अमल—"भाभी, तुम बहुत गलत समझ रही हो। भैया मुख से चाहे जो कहें, किन्तु तुम्हारा लेख देखकर बहुत खुश होंगे।"

चारु—"होने दो, मुझे खुशी से क्या लेना है !"

चारु प्रतिज्ञा कर बैठी थी कि वह लिखेगी—अमल को आश्चर्य मे डाल देगी, मन्दा और उसमें बहुत अन्तर है वह उस बात को प्रमाणित किये बिना न रहेगी। इधर कई दिन उसने ढेरों लिखा और फाड़कर फेक दिया। जो भी लिखने बैठती वह एकदम अमल का-सा लेख हो जाता। मिलाने पर देखती कोई-कोई अंश अमल की रचना से प्रायः अविकल उद्धृत किया हुआ लगता। वे ही अंश अच्छे होते, बाकी सब कच्चे। देखने पर अमल अवश्य ही मन-ही-मन हँसेगा, यही कल्पना करके उन सब लेखों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करके फाड़कर तालाब में फेंक देती, बाद में कहीं उसका एक भी टुकड़ा अमल के हाथों में न आ पड़े।

सबसे पहले उसने लिखा 'श्रावण का मेघ'। सोचा था, 'भावाश्रुजल-

अभिषिक्त एक बहुत ही नवीन लेख लिखा है।' सहसा होश आने पर देखा लेख अमल के 'आषाढ़ का चाँद' का रूपान्तर मात्र है। अमल ने लिखा था 'भाई चाँद, तुम मेघों के बीच चोर के समान छिपकर क्यों घूम रहे हो।' चारु ने लिखा, 'सखी कादम्बिनी, सहसा कहाँ से आकर अपने नीलाञ्चल के नीचे चाँद को चुराकर भाग रही हो' इत्यादि।

किसी प्रकार भी अमल की सीमा को न लाँघ पा सकने पर अन्त में चारु ने रचना का विषय—परिवर्तन किया। चाँद, मेघ, शेफालिका, बहू-कथा कहो[1] इन सबको छोड़कर उसने 'काली तला'[2] नामक एक लेख लिखा। उसके गाँव में छायान्धकारयुक्त तालाब के किनारे काली का मन्दिर था; उस मन्दिर को लेकर उसके बाल्य-काल की कल्पना, भय, औत्सुक्य, उसके सम्बन्ध में उसकी विचित्र स्मृति, उस जाग्रत देवी के माहात्म्य के सम्बन्ध में गाँव में चिरप्रचलित प्राचीन कहानी—इन सबको लेकर उसने एक लेख लिखा। उसका आरम्भिक हिस्सा अमल के लेख के समान काव्याडम्बरपूर्ण हुआ, किन्तु थोड़ा आगे चलकर उसका लेख सहज सरल और ग्रामीण भाषा-भङ्गी के आभास से परिपूर्ण हो उठा।

इस लेख को अमल ने छीनकर पढ़ा। उसको लगा प्रारम्भ का भाग बहुत सरस बन पड़ा है, किन्तु कवित्व की अंत तक रक्षा नहीं हो सकी है। जो हो, प्रथम रचना की दृष्टि से लेखिका का उद्यम सराहनीय था।

चारु ने कहा, "देवरजी, आओ हम लोग एक मासिक पत्र निकालें। क्या कहते हो!"

अमल—"ढेरों रौप्यचक्र हुए बिना वह पत्र चलेगा कैसे!"

चारु—"अपने इस पत्र में कोई खर्च नहीं होगा। छापा तो जायगा नहीं—हाथ से लिखेंगे। उसमें तुम्हारे और मेरे अतिरिक्त और किसी का लेख नहीं निकलेगा, किसी को पढ़ने नहीं दिया जायगा। केवल दो प्रतियाँ निकलेंगी; एक तुम्हारे लिए, एक मेरे लिए।"

कुछ दिन पहले अमल इस प्रस्ताव पर उन्मत्त हो उठता; इस समय उसका गोपनीयता का उत्साह चला गया है। इस समय तो दस व्यक्तियों को उद्देश्य किये बिना किसी रचना से उसे सुख नहीं मिलता। तो भी बीते हुए समय का ठाठ बनाए रखने के लिए उसने उत्साह प्रकट किया। कहा, "बड़ा मजा आयेगा।"

---

१. कोकिलजातीय एक पक्षी। बोली के अनुकरण पर नामकरण।
२. कालिका देवी की पूजा के लिए निर्दिष्ट स्थान।

चारु ने कहा, "किन्तु प्रतिज्ञा करनी होगी, अपने पत्र को छोड़कर और कहीं तुम लेख नहीं छपवा सकोगे।"

अमल—"तब तो सम्पादक लोग मार ही डालेंगे।"

चारु—"और मेरे हाथ जैसे मारने का अस्त्र ही नहीं है?"

बात पक्की हो गई। दोनों सम्पादक दोनों लेखक और दोनों पाठकों की सम्मिलित कमेटी बैठी। अमल ने कहा, "पत्र का नाम रखा जाय चारुपाठ।" चारु ने कहा, "नहीं इसका नाम हो अमला।"

इस नवीन बन्दोबस्त में चारु बीच के कई दिनों की दुखभरी खीझ भूल गई। उनके मासिक पत्र में मन्दा के प्रवेश करने के लिए भी कोई ऐसा मार्ग नहीं था और बाहर के लोगों के प्रवेश का भी द्वार बंद था।

: ७ :

भूपति ने एक दिन आकर कहा, "चारु तुम लेखिका बनोगी, पहले तो ऐसी कोई आशा नहीं थी।"

चारु चौंककर लाल होकर बोली, "मैं लेखिका! तुमसे किसने कहा। कभी नहीं।"

"चोर माल समेत गिरफ्तार। हाथों-हाथ प्रमाण"—कहते हुए भूपति ने 'सरोरुह' की एक प्रति निकाली। चारु ने देखा जिन लेखों को वह अपनी गुप्त सम्पत्ति समझकर अपने हस्तलिखित मासिक पत्र में सञ्चित कर रखती वे ही लेखक-लेखिका के नाम के साथ 'सरोरुह' में प्रकाशित हुए हैं।

उसे लगा कि न जाने किसने बड़ी साध से पाले गए पक्षियों को पिंजड़े का द्वार खोलकर उड़ा दिया हो, भूपति द्वारा पकड़ी जाने की लज्जा को भूलकर विश्वासघाती अमल के ऊपर मन-ही-मन उसे बड़ा क्रोध आया।

"और हाँ, यह तो देखो!" कहते हुए 'विश्वबन्धु' समाचार-पत्र खोलकर भूपति ने चारु के सामने रख दिया। उसमें 'आधुनिक बंगला लेख का ढंग' शीर्षक एक प्रबन्ध प्रकाशित हुआ था।

चारु ने हाथ से उसे हटाते हुए कहा, "इसे पढ़कर मैं क्या करूँगी।" उस समय अमल से मान के कारण अपने मन को कहीं लगा नहीं पा रही थी। भूपति ने ज़िद्द करके कहा, "एक बार पढ़ ही देखो न!"

चारु ने हारकर उस पर दृष्टि डाली! कुछ आधुनिक लेखकों की भावा-डम्बरपूर्ण गद्य-रचनाओं को गाली देते हुए लेखक ने खूब कड़ा निबन्ध लिखा था। उसमें समालोचक ने अमल और मन्मथ दत्त की लेखन-शैली का कटु उपहास

किया था; और उसीके साथ तुलना करते हुए नवीन लेखिका श्रीमती चारुबाला की भाषा की अकृत्रिम सरलता, अनायास सरसता और चित्ररचना-नैपुण्य की खूब प्रशंसा की थी। लिखा था,·"इसी प्रकार की रचना-प्रणाली का अनुकरण करके सफलता प्राप्त करने से ही अमल कम्पनी का विस्तार सम्भव है, नहीं तो वह पूर्णरूप से फेल होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

भूपति ने हँसकर कहा, "इसीको कहते है गुरु गुड़ ही रहे चेला शक्कर हो गए।"

चारु अपनी रचना-शैली की इस प्रथम प्रशसा मे ज्यों ही जरा खुश होती त्यों ही उसे पीड़ा होने लगती। उसका मन जैसे किसी भी प्रकार प्रसन्न नही होना चाहता था। प्रशंसा के लुभावने सुधा-पात्र को वह मुँह के पास पहुँचते ही दूर ठेल देती।

वह समझ गई, उसके लेख पत्र में छपवाकर अमल ने एकाएक उसे विस्मित कर देने का संकल्प किया था। अन्त में छप जाने पर निश्चय किया होगा कि किसी पत्र में प्रशंसापूर्ण समालोचना छप जाने पर दोनों को एक साथ दिखा-कर चारु की रोष शान्ति और उत्साहवर्द्धन करेगा। जब प्रशंसा छप गई तब अमल क्यों आग्रहपूर्वक उसे दिखाने नही आया। इस समालोचना से अमल को चोट पहुँची और चारु को दिखाना नहीं चाहा इसीलिए इन पत्रों को उसने एक-दम छिपा लिया। चारु स्वान्तःसुखाय चुपचाप एकान्त मे एक छोटे साहित्य-नीड़ की रचना कर रही थी, सहसा प्रशंसा शिला-वृष्टि की एक बड़ी-सी शिला ने आकर उसको एकदम गिराने का प्रयत्न किया। चारु को यह बिलकुल अच्छा नही लगा।

भूपति के चले जाने पर चारु अपने सोने के कमरे में खाट पर चुपचाप बैठी रही; सामने सरोरुह और विश्वबन्धु खुले पड़े थे।

चारु को सहसा चकित कर देने के लिए कापी हाथ मे लिये अमल ने पीछे से चुपचाप प्रवेश किया। पास आकर देखा, विश्वबन्धु की समालोचना खोले हुए चारु ध्यानमग्न बैठी थी!

फिर अमल चुपचाप बाहर चला गया। "मुझे गाली देकर चारु की रच-नाओं की प्रशंसा की गई है। इसीलिए प्रसन्नता के कारण चारु को होश नही है।" क्षण-भर में ही उसका सारा मन जैसे कड़वा हो गया। वह जरूर इस मूर्ख की समालोचना पढ़कर अपने को अपने गुरु की अपेक्षा अधिक बड़ा समझ रही है, इस निश्चित धारणा के कारण अमल चारु पर बहुत क्रुद्ध हुआ। चारु को चाहिए था कि उस पत्र को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करके आग में डालकर भस्म

कर देती।

चारु के ऊपर गुस्सा होकर अमल ने मन्दा के कमरे के द्वार पर खड़े होकर जोर से पुकारा, "मन्दा भाभी!"

मन्दा—"आओ, भई, आओ! आज तो बिना माँगे ही दर्शन मिल गए, बड़े सौभाग्य की बात है।"

अमल—"मेरे दो-एक नए लेख सुनोगी?"

मन्दा—"कितने दिन से, सुनाऊँगा, सुनाऊँगा कहकर आशा दे रखी है? किन्तु सुनाते तो हो नहीं। क्या जरूरत है, भई—फिर कहीं कोई नाराज हो बैठे तो तुम्हीं मुश्किल में पड़ोगे—मेरा क्या।"

अमल ने कुछ ऊँचे स्वर से कहा, "गुस्सा कौन होगा। और क्यों गुस्सा होगा। अच्छा वह देखा जायेगा, तुम इस समय तो सुनो।"

मन्दा जैसे अत्यन्त आग्रह से झटपट तैयार होकर बैठ गई। अमल ने सस्वर समरोह के साथ पढ़ना आरम्भ किया।

अमल का लेख मन्दा के लिए नितान्त अपरिचित था, उसमें वह कहीं कोई कूल-किनारा नहीं पा सकी। इसीलिए मुंह पर प्रसन्नता की हँसी लाकर और भी उत्सुक भाव से सुनने लगी। उत्साह पाकर अमल की आवाज उत्तरोत्तर ऊँची होती गई।

वह पढ़ रहा था—'अभिमन्यु ने गर्भावस्था में जिस प्रकार व्यूह में प्रवेश करना सीखा था, व्यूह से बाहर निकलना नहीं सीखा था—उसी प्रकार नदी की धारा ने भी पर्वत-गह्वरों पाषाण-गर्भ में रहकर केवल आगे चलना ही सीखा है, पीछे लौटना नहीं सीखा। हा नदी के स्रोत, हा यौवन, हा! काल, हा संसार तुम केवल आगे ही चल सकते हो—जिस पथ पर स्मृति के स्वर्णमण्डित उपल-खण्ड बिखरा आते हो, उस पथ पर फिर किसी दिन लौटकर नहीं जाते। केवल मनुष्य का मन ही पीछे की ओर देखता है, अनन्त संसार उस ओर कभी मुड़कर भी नहीं देखता।'

इसी समय मन्दा के द्वार के समीप एक छाया पड़ी, मन्दा ने उस छाया को देखा। किन्तु जैसे उसने न देखा हो, ऐसी चेष्टा करके निर्निमेष दृष्टि से अमल के मुख की ओर देखती हुई गम्भीर मनोयोग से पाठ सुनने लगी।

छाया उसी क्षण हट गई।

चारु ने प्रतीक्षा की थी कि अमल के आते ही उसके सामने 'विश्वबन्धु' पत्र को यथोचित लांछित करेगी, और उसने प्रतिज्ञा-भङ्ग करके उसके लेख मासिक पत्र में छपा दिए हैं, इसके लिए अमल को भी फटकारेगी।

अमल के आने का समय निकल गया, तो भी वह नहीं आया। चारु ने एक लेख ठीक करके रखा था; अमल को सुनाने की इच्छा से; वह भी पड़ा रह गया।

ऐसी अवस्था में कहीं से अमल का कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा। लगा, जैसे मन्दा के कमरे से। शरविद्ध के समान वह उठ खड़ी हुई। दबे पैर वह द्वार के समीप आकर खड़ी हो गई। अमल जो लेख मन्दा को सुना रहा था अभी चारु ने उसको नहीं सुना। अमल पढ़ रहा था—'केवल मनुष्य का मन ही पीछे की ओर जाता है—अनन्त संसार उस ओर कभी मुड़कर भी नहीं देखता!'

चारु जिस प्रकार चुपचाप आई थी, उसी प्रकार चुपचाप फिर लौट न सकी। आज एक के बाद एक दो-तीन आघातों ने उसको एकदम धैर्यच्युत कर दिया था। मन्दा एक अक्षर भी नहीं समझ रही है और अमल नितान्त निर्बोध मूढ़ की भाँति उसे पाठ सुनाकर तृप्ति-लाभ कर रहा है—यह बात चिल्लाकर कह आने की उसकी इच्छा हुई। किन्तु बिना बोले सक्रोध पद शब्दों द्वारा वह यही प्रचार कर आई। शयन-कक्ष में जाकर चारु ने सशब्द द्वार बन्द कर लिया।

क्षण-भर के लिए अमल ने पढ़ना बन्द कर दिया। मन्दा ने हँसकर चारु की ओर इशारा किया। अमल ने मन-ही-मन कहा, "भाभी यह कैसा निष्ठुर आचरण। क्या उन्होंने समझ रखा है, मैं उनका ही क्रीतदास हूँ। उनको छोड़कर और किसी को भी पढ़कर नहीं सुना सकता। ये तो बड़ा जुल्म है।" ऐसा सोचकर वह और भी ऊँचे स्वर से पढ़कर मन्दा को सुनाने लगा।

पढ़ना समाप्त होने पर चारु के कमरे के सामने से होकर वह बाहर चला गया। एक बार दृष्टि डाली, कमरे का द्वार बन्द था।

चारु ने पैरों की आहट से जान लिया, अमल उसके कमरे के सामने से निकल गया—एक बार भी नहीं रुका। क्रोध और क्षोभ के कारण उसे रुलाई नहीं आई। अपने नए लेख वाली कॉपी को निकालकर बैठे-बैठे उसके प्रत्येक पृष्ठ के फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर ढेर लगा दिया। हाय! किस अशुभ क्षण में यह लेखा-लेखी आरम्भ हुई थी।

: ८ :

सन्ध्या समय बरामदे के गमले से जुही के फूलों की सुगन्ध आ रही थी, बिखरे बादलों में से स्निग्ध आकाश में तारे दिख रहे थे। आज चारु ने केश नहीं बाँधे, कपड़े नहीं बदले। जंगले के पास अन्धकार में बैठी थी, मंद पवन में उसके खुले केश धीरे-धीरे उड़ रहे थे, और उसके नेत्रों से इस प्रकार टप-टप करके आँसू क्यों गिर रहे थे इसको वह स्वयं भी नहीं समझ पा रही थी।

तभी भूपति ने कमरे में प्रवेश किया। उसका मुख बिलकुल उतरा हुआ, हृदय भाराक्रान्त था। भूपति के आने का अभी समय नहीं था। अखबार के लिए लिखकर प्रूफ देखकर अन्त:पुर में आने में प्राय: उनको देर होती थी। आज संध्या के तुरत बाद ही मानो किसी सान्त्वना की प्रत्याशा से वह चारु के पास आकर उपस्थित हुआ है।

घर में दीपक नहीं जल रहा था। खुले जंगले के क्षीण आलोक में भूपति चारु को खिड़की के पास स्पष्ट नहीं देख पाया; धीरे-धीरे पीछे आकर खड़ा हो गया। पैरों की आहट सुनकर भी चारु ने मुँह नहीं फेरा—मूर्तिवत् स्थिर, कठिन होकर बैठी रही।

भूपति ने कुछ आश्चर्यान्वित होकर पुकारा, "चारु !"

भूपति के स्वर से चौंककर वह झटपट उठ खड़ी हुई। भूपति आया है उसने नहीं सोचा था। भूपति ने चारु के केशों में उँगली फेरते-फेरते स्नेहार्द्र स्वर में पूछा, "अन्धकार में तुम अकेली क्यों बैठी हो, चारु ? मन्दा कहाँ गई ?"

चारु ने जैसी आशा की थी आज सारे दिन वह सब-कुछ भी नहीं हुआ। उसने यह निश्चित रूप से सोच रखा था कि अमल आकर क्षमा माँगेगा—उसके लिए तैयार होकर वह प्रतीक्षा कर रही थी, इतने में भूपति के अप्रत्याशित कण्ठ-स्वर को सुनकर वह जैसे और अधिक आत्म-संवरण नहीं कर सकी—एकदम रो पड़ी।

भूपति ने घबराकर व्यथित होकर पूछा, "चारु, क्या हुआ।"

क्या हुआ यह कहना कठिन था। ऐसा तो कुछ नहीं हुआ। विशेष तो कुछ नहीं हुआ। अमल ने अपना नया लेख पहले उसको न सुनाकर मन्दा को सुनाया है, इस बात को लेकर भूपति के पास वह क्या नालिश करे। सुनकर क्या भूपति हँसेगा नहीं ? उस तुच्छ बात में गुरुतर शिकायत का विषय कहाँ छिपा हुआ था, उसको खोज निकालना चारु के लिए दुस्तर था। अकारण ही वह क्यों इतना अधिक कष्ट पा रही है। इसको पूर्णरूप से समझ पाने के कारण उसकी वेदना और भी बढ़ गई।

भूपति—"बोलो न चारु, तुमको क्या हुआ है ! मैंने क्या तुम्हारे प्रति कोई अन्याय किया है ? तुम तो जानती ही हो, अखबार के झंझट को लेकर मैं किस प्रकार अति व्यस्त रहता हूँ, यदि तुम्हारे मन को कोई आघात पहुँचा हो तो जान-बूझकर नहीं पहुँचाया है।

भूपति ऐसे विषयों पर प्रश्न कर रहा था जिनमें से किसी का कोई उत्तर नहीं। इसी कारण चारु भीतर-ही-भीतर अधीर हो उठी। सोचने लगी, भूपति यदि

उसे इस समय निष्कृति दे दे तो जान बचे।'

दूसरी बार भी कोई उत्तर न पाकर भूपति ने फिर स्नेहसिक्त-स्वर में कहा, "चारु, मैं हर समय तुम्हारे पास नहीं आ सकता, इसलिए मैं अपराधी हूँ, किन्तु अब ऐसा नहीं होगा, अब से दिन-रात अखबार में नहीं लगा रहूँगा। मुझे तुम जितना चाहोगी उतना ही पाओगी।"

चारु अधीर होकर बोली, "इसलिए नहीं।"

भूपति ने कहा, "तो फिर किसलिए।" कहता हुआ खाट पर बैठ गया।

चारु खीझ के स्वर को न छिपा सकी। बोली, "अभी रहने दो, रात को बताऊँगी!"

क्षण-भर स्तब्ध रहकर भूपति ने कहा, "अच्छा इस समय रहने दो!" कहते हुए उठकर धीरे-धीरे बाहर चला गया। उसे अपनी कोई बात कहनी थी, वह भी न कह पाया।

भूपति क्षोभ से चला गया, चारु से यह छिपा नहीं रहा! सोचा, "बुलाऊँ। किन्तु बुलाकर क्या कहूँगी।" पश्चात्ताप ने उसे पीड़ित किया, किन्तु उसका कोई भी प्रतिकार वह नहीं ढूंढ़ पाई।

रात हुई। चारु ने आज बहुत यत्न से भूपति का रात का भोजन परोसा और स्वयं हाथ में पंखा लेकर बैठी रही।

इसी समय उसने सुना, मन्दा ऊँचे स्वर में पुकार रही थी, "ब्रज, ब्रज!" नौकर ब्रज के उत्तर देने पर पूछा, "अमल बाबू ने भोजन कर लिया है क्या।" ब्रज ने उत्तर दिया, "कर लिया।" मन्दा ने कहा, "भोजन हो गया और तू पान नहीं ले गया, क्यों!" मन्दा ब्रज को बहुत डाँटने लगी।

इसी समय भूपति अन्तःपुर में आकर भोजन करने बैठा, चारु पंखा करने लगी।

चारु ने आज निश्चय किया था कि भूपति के साथ प्रफुल्ल स्नेह भाव से अनेक बातें करेगी। बातचीत पहले से ही ठीक करके तैयार होकर बैठी थी। किन्तु मन्दा की आवाज से उसका सारा विस्तृत आयोजन नष्ट हो गया, भोजन के समय वह भूपति से एक बात भी नहीं कर सकी। भूपति भी अत्यन्त उदास और अन्यमनस्क था। उसने अच्छी तरह भोजन भी नहीं किया, चारु ने केवल एक बार पूछा, "कुछ खा नहीं रहे हो, क्यों?"

भूपति ने प्रतिवाद करते हुए कहा, "क्यों, कम तो नहीं खाया।"

शयन-कक्ष में दोनों के मिलने पर भूपति ने कहा, "आज रात को तुमने क्या कहने के लिए कहा था।"

चारु ने कहा, "देखो, कुछ दिनों से मन्दा का व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। उसको यहाँ रखने का मुझे और साहस नहीं हो रहा है।"

भूपति—"क्यों, उसने क्या किया है।"

चारु—"अमल के साथ वह ऐसा व्यवहार करती है कि उसे देखने में लज्जा लगती है।"

भूपति हँस पड़ा। कहा, 'धत्, तुम पागल हो गई हो। अमल तो बच्चा है। कल का छोकरा—"

चारु—"तुम तो घर की कोई भी खबर नहीं रखते, केवल बाहर की खबर इकट्ठी करते फिरते हो। जो हो, बेचारे भैया के लिए मैं चिन्तित हूँ। वे कब खाते हैं, नहीं खाते हैं, इसकी मन्दा कोई सुध भी नहीं लेती, लेकिन अमल के कामों में ज़रा-सी भूल-चूक होते ही नौकर-चाकरों के साथ बक-झक करके अनर्थ कर देती है।"

भूपति—"तुम स्त्रियाँ बहुत संदेही होती हो।"

चारु गुस्से में बोली, "अच्छा ठीक है, हम सन्देही ही सही, किन्तु घर में मैं यह सब बेहयापन नहीं होने दूँगी यह कहे—देती हूँ।"

चारु की इस समस्त निराधार आशङ्का से भूपति मन-ही-मन हँसा। खुश भी हुआ। घर जिससे पवित्र रहे, दाम्पत्य धर्म को आनुमानिक और काल्पनिक कलंक भी लेश-मात्र स्पर्श न करे, इसके लिए साध्वी स्त्रियों में जो अतिरिक्त सतर्कता और संदेहाकुल दृष्टि पाई जाती है उसमें अपना एक माधुर्य और महत्त्व होता है।

भूपति ने श्रद्धा और स्नेह से चारु के ललाट का चुम्बन करते हुए कहा, "इसको लेकर और कोई हंगामा करने की आवश्यकता नहीं होगी। उमापद मेमनसिंह में प्रैक्टिस करने जा रहा है; मन्दा को भी साथ ले जायेगा।"

अन्त में अपनी दुश्चिन्ता और यह सब अप्रीतिकर आलोचना दूर करने के लिए भूपति ने टेबिल से एक कापी उठाकर कहा, "चारु अपना लेख मुझे सुनाओ न।"

चारु ने कापी छीनकर कहा, "यह तुमको अच्छा नहीं लगेगा, तुम मजाक उड़ाओगे!"

इस बात से भूपति कुछ व्यथित हुआ, किन्तु उसे छिपाकर हँसते हुए कहा, "अच्छा, मैं मजाक नहीं उड़ाऊँगा, इस प्रकार स्थिर होकर सुनूँगा कि तुम्हें लगेगा कि मैं सो गया हूँ।"

किन्तु भूपति की एक न चली। देखते-देखते वह कापी अनेक आवरण आच्छादनों में अन्तर्हित हो गई।

: ६ :

भूपति चारु से सारी बातें न कह सका। उमापद भूपति के अखबार का व्यवस्थापक था। चन्दा अदायगी, छापेखाने और बाज़ार का हिसाब चुकाना, नौकरों को वेतन देना, यह सारा भार उमापद के ऊपर था।

इस बीच में सहसा एक दिन कागज़ वाले के यहाँ से वकील की चिट्ठी पाकर भूपति को आश्चर्य हुआ। भूपति के पास उनका २७०० रुपया बाकी है इसकी सूचना दी थी। भूपति ने उमापद को बुलाकर कहा, "यह क्या मामला है! यह रुपया तो मैंने तुमको दे दिया था। कागज़ का बकाया तो चार-पाँच सौ से अधिक नहीं होना चाहिए।"

उमापद ने कहा, "अवश्य ही उन्होंने भूल की है।"

किन्तु बात अब और दबी न रह सकी। कुछ समय से उमापद इसी प्रकार धोखा देता आ रहा था। केवल कागज़ के ही सम्बन्ध में नहीं, भूपति के नाम से उमापद ने बाज़ार में बहुत-सा उधार कर रखा था। वह गाँव में जो एक पक्का मकान बनवा रहा था उसके लिए बहुत-कुछ सामान भूपति के नाम लिखवा दिया था, अधिकांश कागज़ के रुपयों में से अदा कर दिया था।

जब वह बिलकुल पकड़ा ही गया तो रूखे स्वर से बोला, "मैं कहीं चला तो नहीं जा रहा हूँ। काम करते-करते मैं धीरे-धीरे चुका दूंगा—तुम पर यदि एक कौड़ी भी उधार रहे तो मेरा नाम उमापद नहीं।"

उसका नाम बदलने में भूपति के लिए कोई सान्त्वना की बात नहीं थी। अर्थक्षति से भूपति उतना दुखी नहीं हुआ, किन्तु अकस्मात् इस विश्वास-घातकता से उसे ऐसा लगा मानो घर से शून्य में पैर रखा हो।

उसी दिन वह असमय अन्तःपुर में गया था। संसार में विश्वास का एक स्थान तो अवश्य ही है। क्षण-भर के लिए यही अनुभव करने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो गया था। चारु उस समय अपने दुःख में सन्ध्या-दीप बुझाकर जंगले के पास अन्धकार में बैठी थी।

दूसरे ही दिन उमापद मैमनसिंह जाने के लिए तैयार हुआ। बाज़ार के रुपया पाने वालों को खबर लगने के पहले ही वह खिसक जाना चाहता था। घृणा के कारण उमापद से भूपति ने बात नहीं की—भूपति की इस मौनावस्था को उमापद ने अपना सौभाग्य समझा।

अमल ने आकर पूछा, "भाभी, यह क्या मामला है। सामान ठीक करने की इतनी धूम क्यों मची हुई है?"

मन्दा—"अरे भाई, जाना तो है ही। हमेशा थोड़े ही रहूँगी।"

अमल—"कहाँ जा रही हो ?"

मन्दा—"गाँव।"

अमल—"क्यों, यहाँ क्या असुविधा हो रही है ?"

मन्दा—"मुझे क्या असुविधा होगी। तुम पाँच जनों के साथ थी, सुख से ही थी। किन्तु दूसरों को जो असुविधा होने लगी।"—कहते हुए चारु के कमरे की ओर कटाक्ष किया।

अमल गंभीर होकर चुप रहा। मन्दा ने कहा, "छी, छी, कैसी लज्जा की बात है। बाबू ने क्या सोचा होगा।"

इस बात को लेकर अमल ने और अधिक आलोचना नहीं की। केवल इतना स्थिर किया, 'चारु ने उनके सम्बन्ध में भैया से कुछ ऐसी बात कही है, जो नहीं कहनी चाहिए थी।'

अमल घर से बाहर निकलकर सड़क पर टहलने लगा। उसकी इच्छा हुई—इस घर में फिर लौटकर न आए। भैया ने यदि भाभी की बात पर विश्वास करके उसे अपराधी समझ लिया है, तो जिस रास्ते मन्दा गई है उसको भी उसी रास्ते चला जाना चाहिए। मन्दा को विदा करना एक हिसाब से अमल के प्रति भी निर्वासन का आदेश था—केवल मात्र मुँह खोलकर कहा नहीं गया। इसके बाद तो कर्त्तव्य बिलकुल स्पष्ट है—यहाँ अब और एक क्षण भी नहीं रहना। किन्तु भैया मन-ही-मन उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की ग़लत धारणा पाल लें यह नहीं हो सकता। इतने दिन से वे अक्षुण्ण विश्वास से उसे घर में स्थान देकर पालन करते आ रहे हैं, और उस विश्वास को अमल ने तनिक भी आघात नहीं पहुँचाया है, भैया को यह बात बिना समझाए वह किस प्रकार जायगा।

भूपति उस समय कुटुम्बियों की कृतघ्नता, महाजनों की भर्त्सना, बिखरा हिसाब-किताब और रिक्त तहबील लिये सिर पर हाथ रखे सोच रहा था। उसके उस शुष्क मनोदुःख का कोई साथी नहीं था—चित्तवेदना और ऋण से अकेले खड़े होकर युद्ध करने के लिए भूपति तैयार हो रहा था।

ऐसे समय अमल ने आँधी के समान कमरे में प्रवेश किया। भूपति ने सहसा अपनी अगाध चिन्ता से चौंककर देखा। कहा, "क्या है, अमल !" अकस्मात् लगा, अमल शायद और कोई गुरुतर दुःसंवाद लेकर आया है।

अमल ने कहा, "भैया, मेरे ऊपर सन्देह करने का क्या तुम्हें कोई कारण मिला है।"

भूपति ने आश्चर्य से कहा, "तुम्हारे ऊपर सन्देह !" मन-ही-मन सोचा,

"संसार जैसा दिखाई दे रहा है, उससे किसी दिन अमल पर भी सन्देह कर बैठूं तो क्या आश्चर्य है !"

अमल—"क्या भाभी ने तुमसे मेरे चरित्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार का दोषारोपण किया है ?"

भूपति ने सोचा, 'ओह ! तो यह बात है। जान बची। स्नेह का उलाहना।' वह तो सोच बैठा था कि शायद एक सर्वनाश पर कोई दूसरा सर्वनाश घटित हुआ है ? किन्तु गुरुतर संकट के समय भी ये सब तुच्छ बातें सुननी पड़ती हैं ! दुनिया एक ओर तो पुल हिलाना भी नहीं छोड़ती और साथ-ही-साथ उस पुल पर से शाक-भाजी का बोझा पार उतारने के लिए ताकीद करना भी नहीं छोड़ती। और कोई अवसर होता तो भूपति अमल का परिहास करता, किन्तु आज उसमें वैसी प्रसन्नता नहीं थी। उसने कहा, "पागल हो गए हो क्या ?"

अमल ने फिर पूछा, "भाभीजी ने कुछ नहीं कहा ?"

भूपति—"तुमसे स्नेह करती हैं, इसलिए कुछ कह बैठी हों तो भी उसमें क्रोध करने का तो कोई कारण नहीं है।"

अमल—"काम-काज की खोज में अब मुझे अन्यत्र जाना चाहिए।"

भूपति ने डाँटकर कहा, "अमल, न जाने तुम यह क्या लड़कपन कर रहे हो, अभी पढ़ो-लिखो, काम-काज पीछे होगा।"

अमल उदास चेहरे से चला गया, भूपति अपने अख़बार के ग्राहकों की शुल्क-प्राप्ति की तालिका लेकर तीन वर्ष के जमा-खर्च का हिसाब मिलाने बैठ गया।

: १० :

अमल ने तय किया, 'भाभी का मुकाबला करना होगा, इस बात को समाप्त किये बिना नहीं छोड़ेगा।' भाभी को जो कड़ी-कड़ी बातें सुनायेगा मन-ही-मन उन्हें दुहराने लगा।

मन्दा के चले जाने पर चारु ने संकल्प किया, अमल को वह स्वयं बुलाकर उसका क्रोध शान्त करेगी। किन्तु लेख का बहाना करके बुलाना होगा। अमल के ही एक लेख का अनुकरण करके 'अमावस्या का आलोक' शीर्षक एक निबंध उसने तैयार किया। चारु यह समझ गई थी कि उसके स्वतन्त्र लेख अमल पसन्द नहीं करता।

पूर्णिमा अपने सम्पूर्ण आलोक को प्रकाशित कर देती है, इसलिए चारु ने अपनी नवीन रचना में पूर्णिमा को तिरस्कृत करते हुए धिक्कारा। उसने

लिखा—'ग्रमावस्या के ग्रतलस्पर्शी ग्रंधकार में षोड्शकला चन्द्र का सम्पूर्ण ग्रालोक तहों में ग्राबद्ध हो गया है, उसकी रश्मि भी बिखरने नहीं पाती—इसीलिए पूर्णिमा की उज्ज्वलता की ग्रपेक्षा ग्रमावस्या की कालिमा ग्रधिक पूर्ण है—' इत्यादि। ग्रमल ग्रपनी सारी रचनाएँ सबके सामने प्रकाशित कर देता है ग्रौर चारु ऐसा नहीं करती—पूर्णिमा-ग्रमावस्या की तुलना में क्या इसी बात का ग्राभास था।

उधर इस परिवार का तीसरा व्यक्ति भूपति किसी ग्रासन्न ऋण के तगादे से मुक्ति-लाभ करने की दृष्टि से ग्रपने परम मित्र मतिलाल के पास गया था।

भूपति ने मतिलाल को संकट के समय कई हज़ार रुपये उधार दिये थे—उस दिन ग्रत्यन्त विपन्न होकर वे ही रुपये माँगने गया था। मतिलाल स्नान करके नंगे बदन बैठा पंखे की हवा खा रहा था ग्रौर लकड़ी के एक बक्स पर कागज़ रखकर खूब छोटे-छोटे ग्रक्षरों में हज़ार बार दुर्गा का नाम लिख रहा था। भूपति को देखकर ग्रत्यन्त ग्रात्मीयता के स्वर में बोला, "ग्राग्रो, ग्राग्रो—ग्राजकल तो तुम्हारे दर्शन ही दुर्लभ हैं।"

रुपयों की बात सुनकर मतिलाल ने बहुत सोचकर कहा, "किन रुपयों की बात कर रहे हो। इस बीच क्या तुमसे कुछ लिया है ?"

भूपति के साल, तारीख स्मरण करा देने पर मतिलाल ने कहा, "ग्रोह ! उसे तो बहुत दिन हुए तमादी लग गई।"

भूपति की ग्राँखों में मानो चारों ग्रोर दुनिया का स्वरूप ही बदल गया हो। संसार के जिस ग्रंश पर से चेहरा हट गया था उसकी ग्रोर देखकर भूपति का शरीर ग्रातंक से सिहर उठा। जिस प्रकार सहसा बाढ़ ग्रा जाने से भयभीत व्यक्ति जहाँ सबसे ऊँची जगह देखता है वहीं दौड़ जाता है, संशयाक्रान्त भूपति ने भी उसी प्रकार बहि:संसार से ग्रन्त:पुर में प्रवेश किया। मन-ही-मन कहा, 'ग्रौर जो हो, चारु तो मुझे धोखा नहीं देगी।'

चारु उस समय खाट पर बैठी गोद में तकिया ग्रौर तकिये पर कॉपी रखकर झुकी हुई एकाग्रचित्त से लिख रही थी। जब भूपति उसके ग्रत्यन्त समीप पहुँचकर खड़ा हो गया तभी उसे पता चला; जल्दी से कॉपी पैरों के नीचे दबाकर बैठ गई।

मन जब व्यथित रहता है तब छोटे-से ग्राघात से भी गुरुतर व्यथा का ग्रनुभव होता है। चारु को इस प्रकार ग्रनावश्यक शीघ्रता से ग्रपना लेख छिपाते देख भूपति के मन को कष्ट हुग्रा।

भूपति धीरे-धीरे खाट पर चारु के पास बैठ गया। चारु अपने रचना-स्रोत में अप्रत्याशित बाधा पाकर और सहसा कॉपी छिपाने की व्यस्तता से अप्रतिभ होकर कोई भी बात शुरू न कर सकी।

उस दिन भूपति के पास स्वयं भी कुछ देने या कहने को न था। वह खाली हाथों चारु के पास प्रार्थी होकर आया था। चारु से यदि वह आशङ्का-धर्मी प्रेम का कोई प्रश्न या प्यार का कोई चिह्न पा जाता तो उसकी क्षतयंत्रणा पर ओषधि का लेप हो जाता। किन्तु लक्ष्मी ही लक्ष्मीहीन हो गई। जरूरत पड़ने पर एक क्षण के लिए चारु मानो प्रीति-भाण्डार की चाबी कहीं खोज ही न पाई। दोनों के कठिन मौन के कारण कमरे की नीरवता बड़ी गहरी हो उठी।

कुछ देर बिलकुल चुपचाप बैठा भूपति दीर्घ निःश्वास लेकर खाट से उठा और धीरे-धीरे बाहर चला गया।

उसी समय अमल अनेक कड़ी-कड़ी बातें मन में संचित करके तेजी से चारु के कमरे की ओर आ रहा था। रास्ते में भूपति के अत्यन्त शुष्क विवर्ण मुख को देखकर अमल उद्विग्न होकर रुक गया। पूछा, "भैया, क्या तबियत खराब है?"

अमल के स्निग्ध स्वर को सुनते ही हठात् भूपति का सारा हृदय अपनी अश्रु-धारा को लेकर मानो अन्दर-ही-अन्दर फूल उठा। कुछ देर तक कोई बात नहीं निकल सकी। बलपूर्वक आत्म-संवरण करके भूपति ने आर्द्र स्वर से कहा, "कुछ नहीं हुआ, अमल! इस बार पत्र में तुम्हारा कोई लेख निकल रहा है क्या।"

अमल ने जो कड़ी-कड़ी बातें सञ्चित की थीं, वे कहाँ गईं। झटपट चारु के कमरे में आकर उसने प्रश्न किया, "भाभी, भैया को क्या हुआ है, बताओ तो!"

चारु ने कहा, "कहाँ, कुछ समझ ही न पाई। शायद किसी अखबार में उनके अखबार को गाली दी गई होंगी।"

अमल ने सिर हिला दिया।

अमल बिना बुलाए ही आया था और सहज भाव से बातचीत कर रहा था। यह देखकर चारु को बहुत चैन मिला। सीधे लेख की बात छेड़ दी—बोली, "आज मैंने 'अमावस्या का आलोक' शीर्षक एक लेख लिखा था; और ज़रा देर हो जाती तो उन्होंने उसे देख लिया होता।"

चारु को पूरा विश्वास था, कि उसका नया लेख देखने के लिए अमल ज़िद करेगा। इसी अभिप्राय से उसने कॉपी भी ज़रा इधर-उधर की। किन्तु, अमल ने एक बार तीखी निगाह से कुछ क्षण चारु के मुख की ओर देखा—क्या समझा, क्या सोचा, पता नहीं। फिर चौंककर उठ खड़ा हुआ। मानो पर्वतीय पथ

पर चलते-चलते सहसा कुहरे के बादल हटते ही पथिक ने चौंककर देखा कि वह हज़ार हाथ गहरे गह्वर में पैर देने जा रहा था। अमल बिना कुछ कहे सीधा कमरे से बाहर चला गया।

चारु अमल के इस अभूतपूर्व व्यवहार का कोई तात्पर्य न समझ सकी।

: ११ :

दूसरे दिन भूपति ने फिर असमय शयन-कक्ष में आकर चारु को बुलवाया। बोला, "चारु, अमल के विवाह का एक बड़ा बढ़िया प्रस्ताव आया है।"

चारु अन्यमनस्क थी। बोली, "क्या आया है बढ़िया ?"

भूपति—"विवाह का प्रस्ताव।"

चारु—"क्यों, मैं क्या पसन्द नहीं आई ?"

भूपति उच्च स्वर से हँस पड़ा। उसने कहा, "तुम पसन्द आईं या नहीं आईं, यह बात तो अभी अमल से पूछी नहीं गई। यदि पसन्द आ भी गई होओ तो भी मेरा भी तो एक छोटा-मोटा अधिकार है, मैं चट से थोड़े ही छोड़ दूँगा।"

चारु—"उफ़, न जाने क्या बकते हो। ठिकाना नहीं है। तुमने कहा था, न, कि तुम्हारे विवाह का सम्बन्ध आया है—" चारु का मुख लाल हो उठा।

भूपति—"ऐसा होता तो क्या दौड़कर तुम्हें खबर देने आता ? बख़्शीश पाने की तो कोई आशा नहीं थी।"

चारु—"अमल का सम्बन्ध आया है ? अच्छी बात है। तो फिर अब देर क्यों ?"

भूपति—"बर्दवान के वकील रघुनाथ बाबू अपनी लड़की के साथ विवाह करके अमल को विलायत भेजना चाहते हैं।"

चारु ने विस्मित होकर प्रश्न किया, "विलायत ?"

भूपति—"हाँ, विलायत।"

चारु—"अमल विलायत जायगा ? बड़े मज़े की बात है। अच्छा हुआ, ठीक हुआ, तो फिर तुम उससे एक बार बात करके देखो !"

भूपति—"यदि मेरे कहने के पहले तुम एक बार उसे बुलाकर समझाओ तो क्या अच्छा नहीं होगा ?"

चारु—"मैं तो हज़ारों बार कह चुकी हूँ। वह मेरी बात नहीं मानता। मैं उससे नहीं कह सकूँगी।"

भूपति—"तुम क्या सोचती हो ? वह नहीं करेगा ?"

चारु—"और भी तो अनेक बार प्रयत्न करके देखा है, किसी प्रकार भी तो राज़ी नहीं होता।"

भूपति—"किन्तु इस बार के इस प्रस्ताव को छोड़ना उसके लिए उचित न होगा। मुझ पर बहुत कर्ज़ हो गया है, अब मैं तो इस तरह अमल को आश्रय दे नहीं पाऊँगा।"

भूपति ने अमल को बुलवाया। अमल के आने पर उससे कहा, "बर्दवान के वकील रघुनाथ बाबू की लड़की के साथ तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव आया है। उनकी इच्छा है कि विवाह के बाद तुमको विलायत भेज दें। तुम्हारी क्या राय है?'

अमल ने कहा, "यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।"

अमल की बात सुनकर दोनों को आश्चर्य हुआ। वह कहते ही राज़ी हो जायगा, यह किसी ने भी नहीं सोचा था।

चारु ने तीखे स्वर से मज़ाक करते हुए कहा, "भैया की अनुमति होने पर ये अपनी राय देंगे! वाह रे मेरे आज्ञाकारी छोटे भाई। भैया के ऊपर भक्ति इतने दिनों तक कहाँ थी। देवर जी?"

अमल ने उत्तर न देकर थोड़ा हँसने का प्रयत्न किया।

अमल को निरुत्तर देखकर चारु मानो उसे सतर्क करने के लिए द्विगुणित तेज़ी से बोली, "यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हारी इच्छा है। इतने दिन यह बहाना करते रहने की क्या ज़रूरत थी कि विवाह नहीं करना चाहते? 'मन मन भावे मूड़ हिलावे'।"

भूपति ने मज़ाक करते हुए कहा, "तुम्हारी ही खातिर अमल इतने दिन मन को रोके रहा, कहीं देवरानी की बात सुनकर तुम्हें ईर्ष्या न हो।"

यह बात सुनकर चारु लाल हो उठी। ज़ोर से बोली, "ईर्ष्या! अच्छा जी! मुझे कभी ईर्ष्या नहीं होती। इस प्रकार की बात कहना तुम्हारा बड़ा अन्याय है।"

भूपति—"यह लो अपनी स्त्री से हँसी-मज़ाक भी नहीं कर सकता।"

चारु—"नहीं, इस तरह का मज़ाक मुझे अच्छा नहीं लगता!"

भूपति—"अच्छा, गुरुतर अपराध किया। माफ़ कर दो! जो हो, तो फिर विवाह की बात तय रही?"

अमल ने कहा, "हाँ।"

चारु—"लड़की अच्छी है या बुरी एक बार यह देखने जाने की भी देर नहीं सह सकते। तुम्हारी ऐसी दशा हो गई है इसका तो ज़रा भी आभास न दिया।"

भूपति—"अमल, लड़की को देखना चाहो तो उसका बन्दोबस्त करूँ। मैंने पता लगाया है, लड़की सुन्दर है।"

अमल—"नहीं, देखने की तो कोई ज़रूरत मालूम नहीं पड़ती।"

चारु—"उसकी बात क्यों सुनते हो। भला ऐसा होता है। लड़की देखे बिना विवाह होगा! वह न देखना चाहे, हम लोग तो देखेंगे।

अमल—"नहीं भैया, इसको लेकर फिजूल देर करने का ज़रूरत नहीं दिखती।"

चारु—"रहने दो बाबा, देर हुई तो छाती फट जायगी। तुम सिर पर मौर लगाकर अभी चल दो। क्या पता, कहीं तुम्हारा सात राजाओं[1] का ईप्सित बहुमूल्य माणिक्य कोई और न छीन ले ज़ाय।"

अमल को किसी भी हंसी-मज़ाक से चारु जरा भी विचलित न कर पाई।

चारु—"विलायत भाग जाने के लिए तुम्हारा मन इतना उतावला क्यों हो रहा है? क्यों, यहाँ हम लोग तुमको क्या मारपीट रहे थे? हैट-कोट पहनकर साहब बने बिना आजकल के लड़कों का मन ही नहीं भरता। देवर जी, विलायत से लौटकर हम-जैसे काले आदमियों को पहचान तो पाओगे न?"

अमल, "तो फिर भला विलायत जाने की क्या ज़रूरत है।"

भूपति ने हँसकर कहा, "काला रूप भूलने के लिए ही तो सात समुद्र पार जाते हैं। खैर, उसकी क्या बात है चारु, हम तो हैं, काले के भक्तों की कमी नहीं होगी।"

भूपति ने खुश होकर उसी समय चिट्ठी लिखकर बर्दवान भेज दी। विवाह का दिन निश्चित हो गया।

: १२ :

इसी बीच अखबार बन्द कर देना पड़ा। भूपति और खर्च नहीं जुटा सका। जन-साधारण नामक एक अत्यन्त निर्मम पदार्थ की जिस साधना में भूपति बहुत समय से दिन-रात एकाग्र मन से लगा हुआ था उसे एक क्षण में विसर्जित करना पड़ा। भूपति के जीवन का सारा प्रयत्न निरन्तर गत बारह वर्ष से जिस परिचित पथ पर चला आ रहा था वह सहसा एक जगह पहुँचकर मानो जल में आ पड़ा हो। इसके लिए भूपति बिलकुल भी तैयार न था। अपने इतने दिन के समस्त उद्यमों को अकस्मात् बाधा आ पड़ने पर वह लौटाकर कहाँ ले जाय?

१. बंगला में कहावत है 'सात राजाओं का एक धन माणिक्य', जिसका अर्थ है अत्यन्त बहुमूल्य धन।

निराहार अनाथ शिशुओं की भाँति उन्होंने भूपति के मुख की ओर देखा। भूपति ने उन्हें करुणामयी सेवापरायणा स्त्री के समीप अपने अन्तःपुर में लाकर खड़ा कर दिया।

स्त्री उस समय कुछ सोच रही थी। वह मन-ही-मन कह रही थी,—'आश्चर्य है, अमल का विवाह होगा यह तो बहुत ही अच्छी बात है। किन्तु इतने दिनों बाद हमें छोड़कर पराए घर में विवाह करके विलायत चला जायगा,' इससे उसके मन में क्या एक बार जरा भी द्विविधा उत्पन्न नहीं हुई? इतने दिन हमने उसे इतने यत्न से रखा, और विदा लेने का ज़रा-सा अवसर पाते ही ऐसे कमर कसकर तैयार हो गया मानो इतने दिन तक अवसर की प्रतीक्षा में हो। वैसे ऊपर से कितना मिष्टभाषी और स्नेहशील है। मनुष्य को पहचानना कितना कठिन है। कौन जानता था कि जो व्यक्ति इतना लिख सकता है उसके पास हृदय है ही नहीं।'

अपनी सहृदयता से तुलना करते हुए चारु ने अमल के रिक्त हृदय की अत्यन्त अवज्ञा करने की बहुत चेष्टा की, किन्तु कर न सकी। भीतर-ही-भीतर स्थित वेदना का उद्वेग तप्त शूल के समान उसके अभिमान को ठेल-ठेलकर जगाने लगा, 'अमल आज नहीं तो कल चला जायगा, फिर भी इन कई दिनों से वह दिखाई नहीं दिया। हमारे बीच आपस में जो एक मनोमालिन्य हो गया है उसे दूर करने का भी कोई अवसर नहीं मिला।' चारु प्रतिक्षण मन में सोचती, 'अमल स्वयं आयगा—उनकी इतने दिनों की खेल-कूद यों ही समाप्त नहीं हो जायगी, किन्तु अमल तो अब आता ही नहीं।' अन्त में जब यात्रा का दिन अत्यन्त निकट आ पहुँचा, तब चारु ने स्वयं ही अमल को बुलवाया।

अमल ने कहा, "थोड़ी देर बाद आता हूँ।" चारु अपने उसी बरामदे की चौकी पर जाकर बैठ गई। सबेरे से ही घने बादलों के छाए रहने से उमस हो रही थी—चारु अपने खुले केशों का जूड़ा बनाकर हाथ का एक पंखा लेकर थकी देह पर धीरे-धीरे पंखा झलने लगी।

बहुत देर हो गई। अन्त में हाथ का पंखा रुक गया। क्रोध, दुःख, अधैर्य, उसके हृदय में उमड़ पड़े। मन-ही-मन बोली—'अमल नहीं आया, तो क्या हुआ।' किन्तु तो भी पैरों की आहट-मात्र से उसका मन दरवाजे की ओर दौड़ पड़ता।

दूर गिरजे के घंटे ने ग्यारह बजाए। स्नान करके अभी भूपति खाना खाने आयगा। अब भी आधा घण्टा समय है, अब भी काश अमल आ जाय। जैसे भी हो, पिछले कुछ दिनों का अपना नीरव झगड़ा आज चुका ही डालना होगा—अमल को इस प्रकार विदा नहीं किया जा सकता। इन समवयस्क देवर-

भावज के बीच जो चिरन्तन मधुर सम्बन्ध है—प्रगाढ़ मित्रता, लड़ाई, गहरे स्नेह के उपद्रव नाना प्रशान्त सुखालोचनाओं से विजड़ित एक चिरच्छायामय लतावितान—अमल क्या आज उसे धूल में मिलाकर बहुत दिनों के लिए बहुत दूर चला जायगा। ज़रा भी परिताप न होगा? क्या वह उसमें अन्तिम बार जल-सिंचन करके भी नहीं जावेगा—उनके बहुत दिनों के देवर-भावज-सम्बन्ध का अन्तिम अश्रु-जल।

लगभग आधा घण्टा बीत गया। अपना ढीला जूड़ा खोलकर बालों की एक लट लेकर चारु द्रुतवेग से उसे अँगुली में लपेटने और खोलने लगी। अब आँसू रोके नहीं रुकते। नौकर ने आकर कहा, "माजी, बाबूजी के लिए डाभ[1] निकालना है।"

चारु ने अंचल से भण्डार की चाबी खोलकर झन-से नौकर के पैरों के पास फेंक दी—वह आश्चर्य-चकित होकर चाबी लेकर चला गया।

चारु के हृदय से न जाने क्या उमड़ता हुआ उसके कण्ठ तक आने लगा।

यथासमय प्रसन्न-मुख से भूपति खाने के लिए आया। पंखा हाथ में लिए चारु ने आहार-स्थान पर आकर देखा, अमल भूपति के साथ आया है। चारु ने उसके मुख की ओर नहीं देखा।

अमल ने पूछा, "भाभी, मुझे बुलाया था?"

चारु ने कहा, "नहीं, अब कोई ज़रूरत नहीं।"

अमल—"तो मैं जाऊँ, मुझे बहुत सामान ठीक करना है।"

चारु ने उस समय तीव्र दृष्टि से एक बार अमल के मुख की ओर देखा। कहा, "जाओ!"

अमल चारु के मुख की ओर एक बार देखकर चला गया।

भोजनोपरान्त भूपति कुछ देर चारु के पास बैठता था। आज लेन-देन के हिसाब के झगड़े में भूपति बहुत ही व्यस्त था—इसीसे आज अन्तःपुर में बहुत देर नहीं रुक सकेगा—इसलिए कुछ खिन्न होकर बोला, "आज मैं ज़्यादा देर नहीं बैठ सकता—आज बहुत झंझट है।"

चारु बोली, "तो जाओ न!"

भूपति ने सोचा, 'चारु रूठ गई, बोला, "फिर भी अभी तुरत जाना हो, ऐसा नहीं है, थोड़ा आराम करके जाऊँगा।" यह कहते हुए वह बैठ गया। उसने देखा, चारु उदास है। भूपति अनुतप्त चित्त से बहुत देर तक बैठा रहा, किन्तु किसी प्रकार कोई बात शुरू न कर सका। काफ़ी देर तक बातचीत करने की व्यर्थ कोशिश करके भूपति ने कहा, "अमल तो कल चला जा रहा है, कुछ

१. कच्चा नारियल।

दिन शायद तुमको बहुत सूना लगेगा।"

चारु उसका कोई उत्तर न देकर जाने क्या लेने के लिए झट दूसरे कमरे में चली गई। भूपति कुछ देर प्रतीक्षा करके बाहर चला गया।

चारु ने आज अमल के मुख की ओर देखकर लक्ष्य किया, अमल इन कई दिनों में बहुत दुबला हो गया है—उसके चेहरे पर तरुणाई की वह स्फूर्ति बिलकुल नहीं है। इससे चारु को प्रसन्नता भी हुई और वेदना भी। आसन्न-विच्छेद अमल को दुःख दे रहा है, चारु को इसमें सन्देह न रहा—किन्तु तो भी अमल का ऐसा व्यवहार क्यों? क्यों वह दूर-दूर भागता फिर रहा है। विदा की बेला को क्यों इच्छापूर्वक इस प्रकार विरोध से कटु बना रहा है।

बिस्तर पर लेटी हुई सोचते-सोचते वह सहसा चौंककर उठ बैठी। सहसा मन्दा की बात याद आई। 'मान लो, अमल मन्दा को प्यार करता है। मन्दा चली गई है इसलिए यदि अमल इस प्रकार—छिः! अमल का मन क्या ऐसा होगा। इतना छोटा? ऐसा कलुषित? विवाहित रमणी के प्रति उसका मन आसक्त होगा? असम्भव।' सन्देह को पूरे प्रयत्न से दूर करना चाहा किन्तु सन्देह ने उसको बलपूर्वक जकड़ लिया था।

इस प्रकार विदा की बेला आ गई। बादल नहीं हटे। अमल ने आकर कम्पित स्वर में कहा, 'भाभी, मेरा जाने का समय हो गया। तुम अब से भैया को देखना। उनकी बड़ी संकटपूर्ण अवस्था है—तुम्हें छोड़कर उनके लिए सान्त्वना का और कोई मार्ग नहीं है।"

अमल भूपति का विषण्ण, म्लान भाव देखकर, पता लगाकर उसकी दुर्गति की बात जान चुका था। भूपति किस प्रकार अकेला ही चुपचाप अपनी दुःख-दुर्दशा से जूझ रहा था, उसे किसी से भी सहायता या सान्त्वना नहीं मिल रही थी, फिर भी उसने अपने आश्रित-पालित आत्मीय जनों को इस संकटावस्था में विचलित नहीं होने दिया, यह सोचकर वह चुप रह गया। फिर उसने चारु की बात सोची, अपने विषय में सोचा। उसकी कनपटी लाल हो गई। तेजी से बोला, "चूल्हे में जाय आषाढ़ का चाँद और अमावस्या का आलोक। मैं बैरिस्टर होकर लौटने पर यदि भैया की सहायता कर सकूँ तभी समझो कि मैं पुरुष हूँ।"

कल रात-भर जागकर चारु ने सोच लिया था कि विदाई के समय अमल से क्या बातें कहेगी—सहास्य मन और प्रफुल्ल उदासीनता द्वारा मार्जित बातों को उसने मन-ही-मन उज्ज्वल तीक्ष्ण बना लिया था, किन्तु विदा देने के समय चारु के मुँह से कोई बात न निकली। उसने केवल कहा, "चिट्ठी तो लिखोगे अमल?"

अमल ने धरती पर सिर टेककर प्रणाम किया। चारु ने दौड़कर शयन-कक्ष में जाकर द्वार बन्द कर लिया।

: १३ :

भूपति बर्दवान जाकर अमल को विवाहोपरान्त विलायत रवाना करके घर लौट आया।

चारों ओर से चोट खाकर विश्वासपरायण भूपति के मन में बहिः-संसार के प्रति कुछ वैराग्य आ गया था। सभा-समिति, मेल-मुलाकात कुछ भी उसे अच्छा न लगा। उसे लगा, "इन्हीं बातों में पड़कर मैं इतने दिन तक अपने-आपको बस धोखा ही देता रहा—जीवन के सुख के दिन व्यर्थ चले गए और सार-भाग मैंने घूरे पर फेंक दिया।"

भूपति ने मन-ही-मन कहा, "जाने दो, अखबार गया, अच्छा ही हुआ। मुक्ति मिली।" संध्या समय अन्धकार का सूत्रपात देखते ही पक्षी जिस प्रकार घोंसले में लौट आता है, उसी प्रकार भूपति अपने अनेक दिन के संचरण-क्षेत्र का परित्याग करके अन्तःपुर में चारु के पास लौट आया। मन-ही-मन निश्चय किया, "बस, अब और कहीं नहीं, यहीं मेरी स्थिति है। जिस कागज और जहाज को लेकर सारे दिन खेल किया करता था, वह डूब गया, अब घर चलूं।"

मालूम होता है भूपति का एक साधारण विश्वास था, पत्नी के ऊपर किसी को अधिकार प्राप्त नहीं करना पड़ता, वह ध्रुवतारे के समान अपने प्रकाश से स्वयं को आलोकित रखती है—हवा से बुझती नहीं, तेल की आवश्यकता नहीं होती। बाहर जिस समय तोड़-फोड़ शुरू हुई उस समय अन्तःपुर के किसी मेहराब में दरार पड़ी है कि नहीं इसकी एक बार परीक्षा करके देखने की बात भी भूपति के मन में नहीं आई।

संध्या समय बर्दवान से भूपति घर लौटकर आया। झटपट मुंह-हाथ धोकर जल्दी से खाना खाया। अमल के विवाह और विलायत-यात्रा का वर्णन आद्योपांत सुनने के लिए चारु स्वभावतः विशेष उत्सुक होगी, ऐसा सोचकर भूपति ने आज जरा भी देर न की। भूपति सोने के कमरे में बिस्तर पर लेटकर हुक्के की लम्बी नाल गुड़गुड़ाने लगा। चारु अभी तक अनुपस्थित थी, शायद घर का काम कर रही हो। तंबाकू समाप्त हो जाने पर श्रान्त भूपति को नींद आने लगी। तन्द्रा भंग होने पर क्षण-क्षण में वह चौंककर जागता हुआ सोचने लगा, 'अभी तक चारु आई क्यों नहीं।' अन्त में भूपति से न रहा गया। उसने चारु को बुलवा भेजा। भूपति ने पूछा, "चारु आज बड़ी देर कर दी?"

चारु ने कैफ़ियत दिये बिना ही कहा, "हाँ, आज देर हो गई।"

चारु के आग्रहपूर्ण प्रश्न की भूपति प्रतीक्षा करता रहा। चारु ने कोई प्रश्न नहीं किया। उससे भूपति कुछ खिन्न हुआ। तो क्या चारु अमल से स्नेह नहीं करती। जितने दिन अमल यहाँ रहा चारु उसके साथ हँसती-खेलती रही, और जैसे ही वह चला गया वैसे ही उसके सम्बन्ध में उदासीन! इस प्रकार के विषम व्यवहार से भूपति के मन में खटका हुआ। वह सोचने लगा—'तो क्या चारु के हृदय में गहराई नहीं है। वह केवल आमोद-प्रमोद करना ही जानती है, स्नेह करना नहीं जानती? स्त्रियों के लिए इस प्रकार का निरासक्त भाव तो अच्छा नहीं है।'

चारु और अमल की मैत्री से भूपति आनन्द का अनुभव करता। इन दोनों का लड़कपन, विवाद और मित्रता, खेल और मन्त्रणा उसके लिए मधुर कौतुक के विषय थे! अमल को चारु सदा जिस तरह लाड़-प्यार करती उससे चारु की कोमल सहृदयता का परिचय पाकर भूपति मन-ही-मन प्रसन्न होता। आज आश्चर्य से वह सोच रहा था, कि वह सब क्या केवल ऊपर-ही-ऊपर था, हृदय के भीतर उसकी कोई नींव नहीं थी? भूपति ने सोचा, 'चारु के पास यदि हृदय नहीं है तो भूपति कहाँ आश्रय पायगा?'

धीरे-धीरे परीक्षा करने के लिए भूपति ने बात छेड़ी, "चारु, तुम अच्छी तरह तो रहीं? तुम्हारी तबीयत तो ठीक है?"

चारु ने संक्षेप में उत्तर दिया, "ठीक ही हूँ।"

भूपति—"अमल का विवाह तो सम्पन्न हो गया!"

यह कहकर भूपति चुप हो गया। चारु ने उस अवसर के अनुकूल कोई संगत बात कहने की बहुत चेष्टा की, किन्तु कोई बात नहीं मिली। वह जड़वत् रह गई।

भूपति स्वभावतः कभी किसी बात पर ध्यान नहीं देता था—किन्तु अमल की विदाई का शोक उसके अपने मन पर छाया हुआ था। इसी कारण चारु की उदासीनता ने उसे आघात पहुँचाया। उसकी इच्छा थी, समवेदना से व्यथित चारु के साथ अमल के प्रसंग में बातचीत करके हृदय का भार हल्का करे।

भूपति—"लड़की देखने में सुन्दर है—चारु सो रही हो?"

चारु ने कहा, "नहीं।"

भूपति—"बेचारा अमल अकेला चला गया। जब उसे गाड़ी में चढ़ाया, तो वह बच्चों की भाँति रोने लगा—देखकर इस वृद्धावस्था में मैं और आँसू न रोक सका। गाड़ी में दो साहब थे, पुरुष को रोते देखकर उन्हें बड़ा कौतुक हुआ।

दीपक-बुझे शयन-कक्ष में बिछौने पर अंधकार में चारु पहले तो पीठ फेरकर लेटी रही, फिर सहसा झटपट बिछौना छोड़कर चली गई। चकित होकर भूपति ने पूछा, "चारु, तबीयत खराब है ?"

कोई उत्तर न पाकर वह भी उठा। पास के बरामदे से रोने की दबी आवाज़ सुनकर जल्दी से जाकर देखा, चारु धरती पर औंधी पड़ी रोना रोकने की चेष्टा कर रही है।

ऐसा प्रबल शोकोच्छ्वास देखकर भूपति को आश्चर्य हुआ। सोचा, 'चारु को कितना ग़लत समझा था। चारु का स्वभाव इतना भीतरी है कि मुझसे भी हृदय की कोई वेदना व्यक्त नहीं करना चाहती। जिन लोगों की ऐसी प्रकृति होती है उनका प्रेम अत्यन्त गम्भीर एवं उनकी वेदना भी अत्यन्त गहन होती है। चारु का प्रेम साधारण स्त्रियों के समान बाहर से दिखने वाला नहीं है,' भूपति ने यह मन-ही-मन जाँचकर देखा। भूपति ने चारु के प्रेम का उच्छ्वास कभी नहीं देखा था; आज विशेष रूप से समझा कि उसका कारण था चारु के स्नेह का भीतर-ही-भीतर गोपन प्रसार। भूपति स्वयं भी अपने-आपको प्रकट करने में अपटु था; चारु की प्रकृति से भी हृदयावेग की गम्भीर अन्तःशीलता का परिचय पाकर उसने एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव किया।

तब भूपति चारु के पास बैठकर बिना बोले धीरे-धीरे उसके शरीर पर हाथ फेरने लगा। किस प्रकार सान्त्वना दी जाती है भूपति को इसका ज्ञान नहीं था—वह यह नहीं समझ सका कि जब कोई अन्धकार में शोक को गला दबाकर हत्या करना चाहे तब साक्षी का बैठा रहना अच्छा नहीं लगता।

: १४ :

भूपति ने जब समाचार-पत्र से छुट्टी ली थी तब उसने अपने मन में अपने भविष्य का एक चित्र खींच लिया था। उसने प्रतिज्ञा की थी, किसी प्रकार की दुराशा-दुश्चेष्टा की ओर नहीं जायगा, चारु को लेकर लिखना-पढ़ना, प्रेम और प्रतिदिन के गार्हस्थ्य के छोटे-मोटे कर्त्तव्यों का पालन करता चलेगा। सोचा था, ये घरेलू सुख सबसे सुलभ हैं साथ ही सुन्दर हैं, पूरी तरह अपने अधिकार में हैं साथ ही पवित्र और निर्मल हैं, उन्हीं सहजलभ्य सुखों द्वारा वह अपने जीवन के घर के कोने में सन्ध्या-प्रदीप जलाकर निभृत शान्ति की अवतारणा करेगा। हास-परिहास, वार्तालाप, परस्पर के मनोरंजन के लिए प्रतिदिन के छोटे-मोटे आयोजन इन सबके लिए बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, फिर भी सुख अपरिसीम मिलता है।

कार्यान्वित करके उसने देखा, सहज सुख सहज नहीं है। जिसे मूल्य देकर खरीदना नहीं पड़ता वह यदि अपने हाथ के पास न मिले तो उसे और किसी प्रकार कहीं भी खोजकर पाना संभव नहीं।

भूपति किसी भी प्रकार चारु के साथ अच्छी तरह पटरी नहीं बैठा सका। इसके लिए उसने अपने को ही दोषी ठहराया। सोचा, 'बारह वर्ष तक केवल समाचार-पत्र लिखते-लिखते पत्नी के साथ कैसे बात की जाती है यह विद्या बिलकुल गँवा दी है।' सन्ध्या-दीप जलते ही भूपति आग्रह के साथ कमरे में जाता—एकाध बात करता, एकाध बात चारु करती, उसके बाद क्या कहे भूपति किसी भी प्रकार सोच नहीं पाता। अपनी इस अक्षमता के कारण पत्नी के समीप वह लज्जा का अनुभव करता। पत्नी के साथ बातचीत करना उसने बहुत-ही आसान समझा था, जब कि मूढ़ के लिए वह बहुत ही कठिन है। सभा में भाषण देना उसकी अपेक्षा सहज है।

भूपति ने जिस सन्ध्या को हास्य, कौतुक, प्रणय, प्रेम से रमणीय बना देने की कल्पना की थी, वही सन्ध्या वेला काटनी उसके लिए समस्या बन गई। कुछ देर मौन बैठे रहने के बाद भूपति सोचता—'उठकर चला जाऊँ'—किन्तु उठकर चले जाने पर चारु मन में क्या सोचेगी यही सोचकर उठ भी नहीं पाता था। कहता, "चारु, ताश खेलोगी?" चारु और कोई रास्ता न देखकर कहती, "अच्छा।" यह कहकर अनिच्छापूर्वक वह ताश ले आती, बहुत-सी भूलें करके अनायास ही हार जाती—उस खेल में कोई आनन्द न आता।

बहुत सोचकर भूपति ने चारु से एक दिन पूछा, "चारु, मन्दा को बुला न लिया जाय? तुम बिलकुल अकेली पड़ गई हो।"

चारु मन्दा का नाम सुनते ही जल उठी। बोली, "नहीं, मन्दा की मुझे जरूरत नहीं।"

भूपति हँसा। मन-ही-मन खुश हुआ। साध्वी जहाँ सती धर्म का थोड़ा भी व्यतिक्रम देखती है वहाँ धैर्य नहीं रख सकती।

विद्वेष के प्रथम धक्के से सम्हलकर चारु ने सोचा, 'मन्दा के रहने से शायद वह भूपति को बहुत-कुछ प्रसन्न रख सके। भूपति उससे मन का जो सुख चाहता है वह उसे किसी भी प्रकार नहीं दे पा रही है,' यह समझकर चारु पीड़ा का अनुभव करती। भूपति संसार का सब-कुछ छोड़कर एक-मात्र चारु से अपने जीवन का सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त कर लेने की चेष्टा कर रहा है, इस एकनिष्ठ प्रयत्न को और अपने हृदय के दैन्य को समझकर चारु भयभीत हो गई थी। इस प्रकार—कितने दिन कैसे चलेगा। भूपति और कोई सहारा क्यों

नहीं लेता। एक और समाचार पत्र क्यों नहीं चलाता। भूपति का मनोरंजन करने का अभ्यास अभी तक चारु को कभी नहीं करना पड़ा था, भूपति ने उससे किसी प्रकार की सेवा की माँग नहीं की, किसी सुख की प्रार्थना नहीं की, चारु को उसने पूरी तरह से केवल अपने ही लिए प्रयोजनीय नहीं बनाया था; आज अचानक अपने जीवन के समस्त प्रयोजनों को चारु से माँग बैठने पर वह मानो कहीं कुछ खोज कर पा नहीं रही थी। भूपति को क्या चाहिए, क्या हो कि उसे तृप्ति मिले, चारु यह ठीक से नहीं जानती और जान ले तो भी वह चारु के लिए सहज उपलब्ध नहीं।

भूपति यदि धीरे-धीरे बढ़ता तो चारु के लिए शायद इतना कठिन न होता—किन्तु सहसा रात-भर में ही दिवालिया होकर खाली भिक्षा-पात्र फैला देने से वह मानो विपन्न होगई हो।

चारु ने कहा, "अच्छा मन्दा को बुला लो, उसके रहने से तुम्हारी देख-भाल की बहुत सुविधा हो सकेगी।"

भूपति ने हँसकर कहा, "मेरी देख-भाल! कोई ज़रूरत नहीं।"

भूपति ने खिन्न होकर सोचा, "मैं बड़ा नीरस व्यक्ति हूँ, चारु को किसी भी प्रकार मैं सुखी नहीं कर पा रहा हूँ।"

ऐसा सोचकर वह साहित्य के पीछे पड़ गया। मित्र कभी घर आते, विस्मित होकर देखते, भूपति टेनिसन, बायरन, बंकिम की कहानियाँ आदि लेकर बैठा है। भूपति के इस असमय काव्यानुराग को देखकर मित्र-मण्डली खूब हँसी-मज़ाक करने लगी। भूपति ने हँसकर कहा, "भाई, बाँस में भी फूल लगते हैं, किन्तु कब लगते हैं—इसका पता नहीं।"

एक दिन सन्ध्या समय सोने के कमरे में बड़ी बत्ती जलाकर पहले भूपति ने लज्जा से कुछ इधर-उधर किया। बाद में कहा, "कुछ पढ़कर सुनाऊँ?"

चारु बोली, "सुनाओ न!"

भूपति—"क्या सुनाऊँ?"

चारु—"जो तुम्हारी इच्छा हो।"

भूपति चारु का अधिक आग्रह न देखकर कुछ हतोत्साहित हो गया। तो भी साहस करके कहा, "टेनिसन का कुछ तरजुमा करके तुमको सुनाऊँ।"

चारु ने कहा, "सुनाओ!"

सब मिट्टी हो गया। संकोच और निरुत्साह के कारण भूपति के पढ़ने में बाधा पड़ने लगी, बँगला के ठीक प्रतिशब्द नहीं खोज पा रहा था। चारु की

शून्य दृष्टि से यह स्पष्ट था, कि वह ध्यान नहीं दे रही थी। वह दीपालोकित छोटा कमरा, वह संध्यावेला का निभृत अवकाश वैसी प्रसन्नता से नहीं भर सका।

भूपति ने और दो-एक बार ऐसी भूल करके अंत में पत्नी के साथ साहित्य-चर्चा करने का प्रयत्न छोड़ दिया।

: १५ :

जिस प्रकार कठोर आघात से स्नायु सुन्न पड़ जाती हैं और आरम्भ में वेदना का बोध नहीं होता, उसी प्रकार विच्छेद के आरंभ-काल में अमल के अभाव की चारु मानो अच्छी तरह से अनुभव नहीं कर पाई।

अंत में ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-त्यों ही अमल के अभाव में मानो सांसारिक शून्यता की मात्रा क्रमशः बढ़ने लगी। इस भयंकर अनुभव से चारु हतबुद्धि हो गई। निकुञ्ज-वन से बाहर निकलकर वह सहसा मानो किसी मरुभूमि में आ पड़ी हो—दिन के बाद दिन बीत रहे हैं—मरुप्रान्त क्रमशः बढ़ता ही चला जा रहा है। इस मरुभूमि की बात वह तनिक भी नहीं जानती थी।

नींद से जागकर सहसा उसकी छाती धक् कर उठती—ध्यान आता, अमल नहीं है। सुबह जिस समय वह बरामदे में पान लगाने बैठती, प्रतिक्षण उसे केवल यही लगता, अमल आज पीछे से नहीं आयगा। कभी-कभी अन्य-मनस्क होकर ज्यादा पान लगा डालती, फिर सहसा ध्यान आता, ज्यादा पान खाने वाला आदमी है ही नहीं। जैसे ही भाण्डारघर में पैर रखती, मन में आता अमल को जलपान नहीं देना है। अन्तःपुर की सीमा पर पहुँचकर मन का अधैर्य उसे स्मरण करा देता, अमल कॉलेज से नहीं लौटेगा। कोई नई पुस्तक, नया लेख, नई खबर, नए कौतुक की आशा नहीं है, किसी के लिए न कुछ सीना है, न कोई शौकीनी की वस्तु खरीदकर रखनी है।

अपनी असह्य वेदना और चांचल्य पर चारु स्वयं विस्मित थी। मनो-वेदना की अविरत पीड़ा से वह डरने लगी, वह अपने से ही प्रश्न करने लगी, 'क्यों? इतना कष्ट क्यों हो रहा है? अमल मेरा ऐसा कौन है कि उसके लिए इतना दुःख भोगूँ। मुझे क्या हो गया। इतने दिन बाद मुझे यह क्या हुआ? नौकर-चाकर, रास्ते के मजदूर भी तो निश्चिन्त होकर फिर रहे हैं, मुझे ऐसा क्यों हुआ? हे भगवान्! मुझे ऐसी विपद् में क्यों डाल दिया?'

वह प्रश्न करती रहती और आश्चर्य करती रहती, किन्तु दुःख किसी भी प्रकार शान्त न होता। अमल की स्मृति से उसका भीतर-बाहर इस प्रकार

परिव्याप्त रहता कि उसे कहीं भागने को स्थान ही न मिलता।

भूपति को कहाँ तो अमल की स्मृति के आक्रमण से उसकी रक्षा करनी चाहिए थी, ऐसा न करके वह वियोग-व्यथित स्नेहशील मूढ़ बार-बार अमल की ही याद दिला देता।

अन्त में चारु ने हिम्मत हार दी—वह अपने-आपसे युद्ध करते-करते थक गई, हार मानकर अपनी अवस्था को उसने निर्विरोध स्वीकार कर लिया। अमल की स्मृति को बड़े यत्न से अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया।

बाद को ऐसा हो गया, एकाग्र चित्त से अमल का ध्यान करना उसके लिए छिपे गर्व का विषय हो गया—वह स्मृति ही मानो उसके जीवन का श्रेष्ठ गौरव हो।

गृह-कार्य से अवकाश का उसने एक समय निश्चित कर लिया। उस समय वह एकान्त में कमरे का द्वार बंद करके एक-एक करके अमल के साथ अपने विगत जीवन की प्रत्येक घटना पर विचार करती। औंधी होकर लेटी-लेटी वह तकिए पर मुँह रखकर बार-बार पुकारती, "अमल, अमल, अमल!" समुद्र-पार से जैसे उत्तर मिलता, "भाभी, क्या है भाभी।" चारु भीगे नेत्रों को बन्द करके कहती, "अमल, तुम क्रोध करके क्यों चले गए? मैंने तो कोई गलती नहीं की। तुम यदि प्रसन्न-मुख से विदा ले जाते, तो शायद मैं इतना दुःख न पाती।" अमल के सामने रहने पर जिस प्रकार की बातें होती थीं चारु ठीक उसी प्रकार ज़ोर से कहती, "अमल तुमको मैं एक दिन भी नहीं भूली। एक दिन के लिए भी नहीं। मेरे जीवन के श्रेष्ठ पदार्थ सब तुमने ही अंकुरित किये हैं, अपने जीवन का सार-भाग देकर प्रतिदिन तुम्हारी पूजा करूँगी।"

इस प्रकार चारु ने अपनी सारी घर-गृहस्थी, सारे कर्त्तव्यों के अन्तरतम प्रदेश में सुरंग खोदकर उस निरालोक निस्तब्ध अन्धकार में अंशुमाला से सज्जित एक गोपन शोक-मन्दिर का निर्माण कर लिया। वहाँ उसके पति या संसार के अन्य किसी व्यक्ति का कोई अधिकार न था। वह स्थान जैसा गोपनतम था वैसा ही गम्भीरतम तथा प्रियतम था। उसीके द्वार पर वह संसार के सारे छद्म-वेशों का परित्याग करके अपने अनावृत आत्मस्वरूप को लेकर प्रवेश करती और वहाँ से बाहर निकलते ही मुख पर फिर चेहरा लगाकर संसार के हास्यालाप और क्रिया-कर्म की रंगभूमि में आ उपस्थित होती।

: १६ :

इस तरह मन से द्वन्द्व और विवाद का त्याग करके चारु ने व्यापक विषाद में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव किया और एकनिष्ठ होकर पति की भक्ति

भौर सेवा करने लगी। भूपति जब सो जाता तो चारु धीरे से उसके पैरों पर सिर रखकर पैरों की धूल मांग में धारण करती। घर के काम में, सेवा-शुश्रूषा में पति की रंच-मात्र इच्छा भी वह अधूरी न रखती। आश्रित, प्रतिपालित लोगों के प्रति किसी प्रकार सेवा में कमी देखकर भूपति कभी दुखी होता है, यह जानकर चारु उनके आतिथ्य में तनिक भी त्रुटि न होने देती। इस तरह सारा काम-काज करके भूपति का जूठा प्रसाद खाकर चारु के दिन बीतते।

इस सेवा और देख-भाल के फलस्वरूप भग्नश्री भूपति ने मानो फिर नवयौवन पा लिया हो। मानो इसके पहले पत्नी के साथ विवाह ही नहीं हुआ था, मानो इतने दिनों के बाद अब हुआ हो। सज-धज, हास-परिहास से उत्फुल्ल होकर संसार की सारी दुर्भावनाओं को भूपति ने मन में एक ओर ठेलकर रख दिया। रोग-शमन के बाद जिस प्रकार भूख बढ़ जाती है, शरीर में भोग-शक्ति के विकास का सजीव भाव से अनुभव होने लगता है, भूपति के मन में इतने दिनों के बाद उसी प्रकार के एक अपूर्व और प्रकट भावावेश का संचार हुआ। मित्रों से, यही नहीं चारु से भी छिपाकर भूपति बस कविताएँ पढ़ता रहता। मन-ही-मन कहता, 'समाचार-पत्र बंद करके और अनेक दुःख भोगकर इतने दिनों के बाद मैं अपनी पत्नी को जान पाया हूँ।'

भूपति ने चारु से कहा, "चारु, आजकल तुमने लिखना एकदम क्यों छोड़ दिया है।"

चारु ने कहा, "क्या कहने हैं मेरे लेख के!"

भूपति—"सच कहता हूँ, तुम्हारे जैसी बँगला तो मैंने आजकल के लेखकों में और किसी की नहीं देखी। 'विश्वबन्धु' ने जो लिखा था मेरा भी ठीक वही मत है।

चारु—बस, बस रहने दो।

भूपति ने, "यह देखो न" कहकर 'सरोरुह' का एक अंक निकालकर चारु और अमल की भाषा की तुलना करनी शुरू की। चारु का मुँह लाल हो गया। उसने भूपति के हाथ से पत्र छीनकर आँचल में छिपा लिया।

भूपति ने मन-ही-मन सोचा, 'लेखन का कोई साथी न हो तो लेख प्रकट नहीं होता, ठहरो, मुझे लिखने का अभ्यास करना होगा। इस तरह से क्रमशः चारु में भी लिखने के उत्साह का संचार कर सकूँगा।'

भूपति ने अत्यन्त छिपाकर कापी लेकर लिखने का अभ्यास करना शुरू किया। शब्दकोष देखकर बार-बार प्रतिलिपि करते हुए भूपति के बेकारी के दिन कटने लगे। उसे लिखने में इतना कष्ट और प्रयत्न करना पड़ता कि उन कष्टों

से लिखी गई रचनाओं के प्रति धीरे-धीरे उसके मन में विश्वास और ममता उत्पन्न हो गई।

अन्त में एक दिन अपने लेख को किसी दूसरे से नकल करवाकर भूपति ने लाकर पत्नी को दिया। कहा, "मेरे एक मित्र ने अभी-अभी लिखना शुरू किया है। मैं तो कुछ समझता नहीं, तुम एक बार पढ़कर तो देखो तुम्हें कैसा लगता है?"

कॉपी चारु के हाथ में देकर जल्दी से भूपति बाहर चला गया। सरल भूपति की यह चालाकी चारु से छिपी न रह सकी।

पढ़ा, लेख की शैली एवं विषय देखकर कुछ हँसी। हाय! चारु अपने पति की भक्ति करने के लिए इतना आयोजन कर रही है। वह क्यों इस प्रकार लड़कपन करके पूजा के अर्घ्य को बिखेरे डाल रहा है। चारु से वाह-वाह पाने के लिए उनका इतना प्रयत्न क्यों? वह यदि कुछ भी न करते, चारु का ध्यान आकर्षित करने के लिए यदि हमेशा प्रयास न करते रहते, तो चारु के लिए पति की पूजा बहुत सहज होती। चारु की एक-मात्र इच्छा थी, भूपति किसी भी प्रकार अपने को चारु की अपेक्षा छोटा न समझे।

चारु कॉपी मोड़कर तकिये पर टिककर दूर की ओर देखती हुई बहुत देर तक सोचती रही। अमल भी उसे पढ़ने के लिए नए लेख ला देता था।

संध्या-समय उत्सुक भूपति शयन-कक्ष के सामने स्थित बरामदे में फूलों के गमलों के निरीक्षण में लग गया, कुछ पूछने का साहस न किया।

चारु स्वयं बोली, "यह क्या तुम्हारे मित्र का पहला लेख है?"

भूपति ने कहा, "हाँ।"

चारु—"बहुत ही सुन्दर है—पहला लेख हो, ऐसा नहीं लगता।"

अत्यन्त प्रसन्न होकर भूपति सोचने लगा, 'बिना नाम के लेख के लिए अपना नाम किस प्रकार जारी किया जाए।'

भूपति की कॉपी अत्यन्त द्रुत गति से भरने लगी। नाम प्रकट होने में भी देर न लगी।

: १७ :

विलायत से चिट्ठी आने का दिन कब पड़ता इसकी खबर चारु हमेशा रखती। पहले अदन से भूपति के नाम एक चिट्ठी आई, उसमें अमल ने भाभी को प्रणाम निवेदित किया था, स्वेज से भी भूपति को चिट्ठी मिली, उसमें भी भाभी के लिए प्रणाम था। माल्टा से भी चिट्ठी मिली, उसमें फिर भाभी को

प्रणाम निवेदित किया गया था'।

चारु को अमल की एक भी चिट्ठी नहीं मिली। भूपति की चिट्ठियों को माँगकर उलट-पलट कर बार-बार पढ़कर देखती—प्रणाम लिखने के अतिरिक्त और कहीं भी उसके सम्बन्ध में आभास-मात्र भी नहीं था।

इधर कई दिन से चारु ने जो एक शान्त विषाद की चन्द्रातपछाया का आश्रय लिया था, अमल की इस उपेक्षा से वह नष्ट हो गया। अन्तर में अपने हृदय को लेकर मानो फिर छीना-झपटी शुरू हुई। संसार-विषयक उसकी कर्त्तव्य-स्थिति में फिर भूकम्प का आंदोलन जाग उठा।

अब भूपति किसी-किसी दिन आधी रात को उठकर देखता, चारु बिछौने पर नहीं है। खोजकर देखता, चारु दक्षिण की ओर वाले कमरे के जँगले पर बैठी है। उसको देखकर चारु तुरत बोल उठती, "कमरे में आज बड़ी गरमी है, इसलिए ज़रा खुले में चली आई।"

उद्विग्न होकर भूपति ने बिछौने के ऊपर पंखा लगवाने का बन्दोबस्त कर दिया, और चारु का स्वास्थ्य खराब होने की आशङ्का करते हुए हमेशा उस पर दृष्टि रखता। चारु हँसकर कहती, "मैं तो ठीक हूँ, तुम क्यों व्यर्थ चिंतित होते हो।" मुँह पर यह हँसी लाने के लिए उसे अपने हृदय की सारी शक्ति लगानी पड़ती।

अमल विलायत पहुँच गया। चारु ने सोचा था, शायद मार्ग में उसे अलग चिट्ठी लिखने का यथेष्ट सुयोग न मिला होगा, विलायत पहुँचकर अमल लम्बी चिट्ठी लिखेगा। किन्तु वह लम्बी चिट्ठी नहीं आई।

प्रत्येक डाक आने वाले दिन चारु अपने सारे काम-काज तथा बातचीत के बीच भीतर-ही-भीतर छटपटाती रहती। कहीं भूपति कहे, "तुम्हारे नाम चिट्ठी नहीं है।" इसलिए साहस करके भूपति से और कोई प्रश्न नहीं कर पाती थी।

ऐसी ही अवस्था में चिट्ठी आने वाले एक दिन धीरे-धीरे आते हुए भूपति ने मृदुहास्य के साथ कहा, "एक चीज़ है, देखोगी?"

चारु ने अत्यन्त हड़बड़ाकर चौंककर कहा, "कहाँ, दिखाओ!"

भूपति ने हँसी करते हुए न दिखाने का अभिनय किया।

अधीर होकर चारु ने भूपति की चादर से इच्छित पदार्थ निकाल लेने का प्रयत्न किया। उसने मन-ही-मन सोचा, 'सुबह से ही मेरा मन कह रहा है, आज मेरी चिट्ठी ज़रूर आयगी—यह कभी व्यर्थ नहीं हो सकता।'

परिहास करने की भूपति की इच्छा और भी बढ़ी; चारु से बचकर वह

खाट के चारों ओर चक्कर लगाने लगा।

चारु अत्यन्त खीझकर खाट के ऊपर बैठ गई और उसकी आँखें छल-छला आईं।

चारु के एकान्त आग्रह से अत्यन्त खुश होकर भूपति ने चादर के भीतर से अपनी रचना की कॉपी बाहर निकालकर तुरत चारु की गोद में डालते हुए कहा, "क्रोध मत करो। यह लो!"

: १८ :

यद्यपि अमल ने भूपति को सूचित कर दिया था कि पढ़ाई-लिखाई की व्यस्तता के कारण उसे दीर्घ काल तक पत्र लिखने का समय नहीं मिलेगा, तो भी दो-एक मेल से उसका पत्र न आने पर चारु के लिए सारा संसार काँटों की सेंज-सा हो उठा।

सन्ध्या समय इधर-उधर की बातों के बीच अत्यन्त उदासीन भाव से शान्त स्वर में चारु ने अपने पति से कहा, "अच्छा देखो, क्या विलायत को एक तार भेजकर यह नहीं जाना जा सकता कि अमल कैसा है?"

भूपति ने कहा, "दो सप्ताह पूर्व उसकी चिट्ठी मिली थी, वह इन दिनों पढ़ने में व्यस्त है।"

चारु—"अच्छा! तब कोई जरूरत नहीं। मैंने सोचा था, विदेश में है, यदि बीमार हो गया हो—कुछ कहा भी तो नहीं जा सकता।"

भूपति—"ना वैसी कोई बात होती तो खबर मिलती। तार करने में भी तो कम खर्चा नहीं है।"

चारु—"अच्छा? मैने तो सोचा था, अधिक-से-अधिक एक या दो रुपये लगेंगे।"

भूपति—"क्या कहती हो, लगभग सौ रुपये का धक्का है।"

चारु—"तब तो कोई बात ही नहीं।"

दो-एक दिन बाद चारु ने भूपति से कहा, "मेरी बहन यहाँ चूँचड़ा में है, आज एक बार उसकी खबर ले आ सकते हो?"

भूपति—"क्यों? बीमार हो गई है क्या?"

चारु—"नहीं बीमार नहीं, तुम तो जानते ही हो, तुम्हारे जाने से वे कितने खुश होते हैं।"

चारु के अनुरोध से भूपति गाड़ी पर बैठकर हावड़ा स्टेशन की ओर रवाना हुआ। रास्ते में बैलगाड़ियों की एक कतार ने आकर उसकी गाड़ी रोक ली।

इसी समय तारघर के परिचित हरकारे ने भूपति को देखकर उसके हाथ में एक तार थमा दिया। विलायत का तार देखकर भूपति बहुत भयभीत हुआ। सोचा, 'शायद अमल अस्वस्थ है।' डरते-डरते खोलकर देखा, तार में लिखा था, "मैं अच्छा हूं।"

इसका क्या अर्थ है ! जांच करके देखा, यह प्रीपेड टेलिग्राम का उत्तर था।

हावड़ा जाना नहीं हुआ। गाड़ी लौटाकर भूपति ने घर आकर तार पत्नी को दिया। भूपति के हाथ में टेलिग्राम देखकर चारु का मुख पीला हो गया।

भूपति ने कहा, "मैं तो इसका कुछ भी मतलब नहीं समझ पा रहा हूं।" पता लगाने पर भूपति अर्थ समझा। चारु ने अपना गहना गिरवी रखकर रुपया उधार लेकर तार भेजा था।

भूपति ने सोचा, इतना करने की तो कोई ज़रूरत नहीं थी। मुझसे थोड़ा-बहुत अनुरोध करती तो मैं ही तार कर देता, छिपाकर नौकर के हाथ गहना गिरवी रखने के लिए भेजना—यह तो अच्छा नहीं हुआ।

रह-रहकर भूपति के मन में केवल मात्र यही प्रश्न उठने लगा; चारु ने क्यों इतनी अति की। एक अस्पष्ट सन्देह अलक्ष्य भाव से उसको बिद्ध करने लगा। उस सन्देह को भूपति ने प्रत्यक्ष भाव से देखना नहीं चाहा, भूलने की चेष्टा की, किन्तु वेदना ने किसी प्रकार पीछा नहीं छोड़ा।

: १६ :

अमल की तबीयत ठीक है, तो भी वह चिट्ठी नहीं लिखता ! एकदम इस तरह कठोर विच्छेद हुआ कैसे ? एक बार आमने-सामने होकर इस प्रश्न का जवाब ले आने की इच्छा होती है, किन्तु बीच में समुद्र है—पार करने का कोई रास्ता नहीं। निष्ठुर विच्छेद, निरुपाय विच्छेद, सब प्रश्न, सब प्रतिकारों से परे विच्छेद।

चारु अपने को अब और नहीं सँभाल सकती। काम-काज पड़ा रहता, सभी कामों में भूल होती, नौकर-चाकर चोरी करते, उसकी दयनीय दशा को लक्ष्य करके लोग तरह-तरह की कानाफूसी करते, उसे किसी की भी सुध न थी।

यहां तक कि चारु अचानक चौंक पड़ती, बात करते-करते रोने के लिए उसे उठ जाना पड़ता, अमल का नाम सुनते ही उसका मुख विवर्ण हो जाता।

अन्त में भूपति ने भी सब-कुछ देखा, और जिसकी क्षण-भर के लिए भी कल्पना न की थी वह भी सोचा—दुनिया उसके लिए एकदम पुरानी, शुष्क जीर्ण हो गई।

बीच में जिन दिनों भूपति आनन्द के उन्मेष से अन्धा हो गया था, उन कुछ दिनों की स्मृति उसको लज्जित करने लगी। जो अज्ञानी बन्दर रत्न नहीं पहचानता, झूठा पत्थर देकर क्या उसको इसी तरह ठगा जाता है ?

चारु की जिन सब बातों में, प्रेम-व्यवहार में भूपति भूला हुआ था वे मन में आकर उसको 'मूढ़, मूढ़, मूढ़' कहकर बेंत मारने लगीं।

अन्त में बहुत कष्ट और बहुत प्रयत्न से लिखी अपनी रचनाओं की बात जब मन में आई तब भूपति ने धरती फट जाने की प्रार्थना की। अंकुश से ताड़ित की भाँति द्रुत गति से चारु के पास जाकर भूपति ने कहा, "मेरे वे लेख कहाँ हैं ?"

चारु ने कहा, "मेरे ही पास हैं।"

भूपति ने कहा, "वे दे दो !"

चारु उस समय भूपति के लिए अंडे की कचौड़ी तल रही थी। बोली, "तुम्हें क्या अभी चाहिए ?"

भूपति ने कहा, "हाँ अभी चाहिए।"

चारु कड़ाही उतारकर आलमारी से कॉपी और काग़ज निकाल लाई।

अधीर भाव से उसके हाथ से सब-कुछ छीनकर भूपति ने कॉपी-काग़ज़ तुरत चूल्हे में फेंक दिए।

चारु ने घबराकर उनको बाहर निकालने का प्रयत्न करते हुए कहा, "यह क्या किया ?"

भूपति ने कसकर उसका हाथ पकड़े हुए चिल्लाकर कहा, "रहने दो !"

विस्मित होकर चारु खड़ी रही। सारे लेख अन्त में जलकर भस्म हो गए।

चारु समझ गई। दीर्घ निःश्वास ली। कचौड़ियों का तलना बीच ही में छोड़कर धीरे-धीरे दूसरी जगह चली गई।

चारु के सामने कॉपी नष्ट करने का भूपति का संकल्प नहीं था। किन्तु ठीक सामने आग जल रही थी, उसे देखकर जाने उस पर कैसा खून सवार हो गया। भूपति ने आत्म-संवरण न कर सकने पर प्रवञ्चित निर्बोध के सारे प्रयत्नों को वंचना-कारिणी के सामने ही आग में फेंक दिया।

सब-कुछ राख हो जाने पर भूपति की आकस्मिक उद्दामता जब शान्त हो आई, तब चारु अपने अपराध का भार वहन करती हुई जिस प्रकार गहरे विषाद से नीरव नतमुख होकर चली गई वह भूपति के मन मे साकार हो उठा— सामने दृष्टि डालने पर देखा, भूपति को खास तौर से पसन्द है इसीलिए चारु अपने हाथ से यत्नपूर्वक भोजन तैयार कर रही थी।

भूपति बरामदे में रेलिंग के ऊपर टिककर खड़ा हो गया। मन-ही-मन सोचने लगा—"उसके लिए यह सब चारु का अथक प्रयत्न, इस सारी प्राणपण से की गई वञ्चना-इसकी अपेक्षा करुण बात संसार मे और क्या है ! यह समस्त प्रतारणा, यह तो छलनाकारिणी की तुच्छ छलना-मात्र नहीं है, इस छलना के लिए क्षत हृदय की क्षत यन्त्रणा चौगुनी बढ़ाकर अभागिनी को प्रतिदिन प्रति-क्षण हृदय से रक्त निचोड़कर डालना पड़ता है।' भूपति ने मन-ही-मन कहा, 'हाय अबला ! हाय दुःखिनी ! कोई आवश्यकता नहीं थी, मुझे उस सबकी तनिक भी जरूरत न थी। इतने समय तक मैं तो प्रेम न पाकर भी 'मिला नहीं' यह जान भी न पाया था—मेरे तो केवल प्रूफ़ देखकर, अख़बार में लिखकर दिन कट रहे थे; मेरे लिए इतना करने की कोई जरूरत नहीं थी।'

तब भूपति ने अपने जीवन को चारु के जीवन से दूर हटाकर—डॉक्टर जिस प्रकार भीषण रोगग्रस्त रोगी को देखता है, भूपति ने भी उसी प्रकार अपरिचित व्यक्ति की तरह चारु को दूर से देखा। एक क्षीणशक्ति नारी-हृदय कैसे प्रबल संसार द्वारा चारों ओर से आक्रान्त हो गया है। कोई भी ऐसा नहीं जिसके सामने सब बातें कही जा सकें, ऐसी कोई बात नहीं जो व्यक्त की जा सके, ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ समस्त हृदय को खोलकर वह हाहाकार कर सके—फलतः इस अप्रकाशित, अपरिहार्य, अप्रतिकारी पुञ्जीभूत दुःख-भार को अत्यन्त सहज व्यक्ति की भाँति प्रतिदिन वहन करती, अपनी स्वस्थ चित्त पड़ोसिनों के समान उसे प्रतिदिन का गृह-कर्म संपन्न करना पड़ता।

भूपति ने उसके शयन-कक्ष में जाकर देखा—जंगले के सीखचे पकड़कर अश्रुहीन निर्निमेष दृष्टि से चारु बाहर की ओर देख रही थी। धीरे-धीरे आकर भूपति उसके पास खड़ा हो गया—कुछ बोला नहीं, उसके सिर पर हाथ रख दिया।

: २० :

मित्रों ने भूपति से पूछा, "बात क्या है। इतने परेशान क्यों हो ?"

भूपति ने कहा, "अख़बार।"

मित्र—"फिर अखबार? घर-द्वार अखबार में लपेटकर गंगाजी में डालना है क्या!"

भूपति—"नहीं, अब अपना अखबार नहीं निकालूँगा।

मित्र—"तब?"

भूपति—"मैसूर से एक अखबार निकलेगा। मुझे उसका सम्पादक बनाया गया है।"

मित्र—"घर-बार छोड़कर एकदम मैसूर जाओगे? चारु को साथ ले जा रहे हो?"

भूपति—"नहीं, मामा वगैरह यहाँ आकर रहेंगे।"

मित्र—"सम्पादकी का तुम्हारा नशा किसी तरह नहीं छूटा?"

भूपति—"मनुष्य को एक-न-एक नशा तो चाहिए ही।"

विदाई के अवसर पर चारु ने प्रश्न किया, "कब आओगे?"

भूपति ने कहा, "तुम्हें यदि सूना-सूना लगे तो मुझे लिखना, मैं चला आऊँगा।"

कहकर विदा लेकर भूपति द्वार के पास पहुँचा तब सहसा दौड़कर चारु ने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा, "मुझे संग ले चलो। मुझे यहाँ छोड़कर मत जाओ!"

भूपति जाते-जाते सहसा रुककर चारु के मुख की ओर देखता रहा। मुट्ठी शिथिल पड़ने के कारण भूपति के हाथ से चारु का हाथ छूट गया। भूपति चारु के पास से हट आकर बरामदे में खड़ा हो गया।

भूपति समझ गया, अमल की वियोग-स्मृति जिस घर को लपेटकर जला रही है चारु दावानलग्रस्त हरिणी के समान उस घर को छोड़कर भागना चाहती है।—"किन्तु, मेरी स्थिति उसने एक बार भी सोचकर नहीं देखी? मैं कहाँ भागूँ? जो पत्नी हृदय में सदा दूसरे का ध्यान कर रही है, विदेश चले जाने पर भी उसे भूलने का अवसर नहीं पाऊँगा? निर्जन मित्ररहित प्रवास में प्रति-दिन उसको संग दान करना होगा? दिन-भर परिश्रम करके सन्ध्या को जब घर लौटूँगा तब निस्तब्ध—शोकपरायणा नारी को लेकर वह सन्ध्या कैसी भयानक हो उठेगी। जिसके हृदय पर मृतभार है, उसे छाती से लगाकर रखना, यह मैं कितने दिन कर सकूँगा। प्रतिदिन यही करते-करते मुझे और कितने वर्ष जीवित रहना होगा! जो आश्रय चूर्ण होकर टूट गया है उसके टूटे ईंट-काठादि को छोड़कर नहीं जा सकूँगा, कँधे पर लिये घूमना होगा?"

भूपति ने आकर चारु से कहा, "नहीं, यह मैं नही कर सकूँगा।"

क्षण-भर में सारा रक्त उतरकर चारु का मुख कागज़ की तरह शुष्क, सफेद हो गया, चारु ने चारपाई मुट्ठी से कसकर पकड़ ली। उसी क्षण भूपति ने कहा, "चलो, चारु, मेरे ही संग चलो !"

चारु बोली, "नहीं, रहने दो !"

मास्टर साहब

भूमिका

उस समय रात के लगभग दो बजे थे। कलकत्ता के निस्तब्ध शब्द-समुद्र में तरंग उठाती हुई एक बड़ी बग्घी भवानीपुर की ओर से बिर्जि तलाव के मोड़ के पास आकर रुकी। वहाँ भाड़े की एक गाड़ी देखकर गाड़ी पर सवार बाबू ने उसे बुलवाया। उनके पास हैट, कोट पहने विलायत से लौटा एक बङ्गाली युवक सामने के आसन पर दोनों पैर उठाए कुछ मदहोशी में गर्दन झुकाए सो रहा था। यह युवक हाल ही में विलायत से आया था। इसीकी अभ्यर्थना के उपलक्ष्य में मित्र-मण्डली में एक दावत हुई थी। दावत से लौटते समय रास्ते में एक मित्र ने उसे कुछ दूर पहुंचाने के लिए अपनी गाड़ी में बैठा लिया था। उन्होंने उसको दो-तीन बार ठेलकर जगाते हुए कहा, "मजूमदार, गाड़ी मिल गई, घर जाओ!"

मजूमदार चौंककर एक पक्की विलायती कसम खाकर किराए की गाड़ी पर चढ़ गया। उसके गाड़ीवान को भली भाँति ठिकाना समझाकर ब्रूहाम[1] गाड़ी के आरोही अपने रास्ते चले गए।

भाड़े की गाड़ी कुछ दूर सीधी जाकर पार्क स्ट्रीट के सामने मैदान के रास्ते की ओर मुड़ी। मजूमदार ने फिर एक बार अंग्रेज़ी शपथ का उच्चारण करके अपने मन में कहा, 'यह क्या! यह तो मेरा रास्ता नहीं है!' उसके बाद अर्द्धनिद्रित अवस्था में सोचा, 'क्या पता, शायद यही सीधा रास्ता हो।'

मैदान में घुसते ही मजूमदार का शरीर कांप उठा। हठात् उसे लगा—कोई आदमी नहीं है फिर भी उसकी बगल की जगह मानो भरी-भरी लग रही थी; जैसे उसके आसन के खाली स्थान का आकाश ठोस होकर उसे भींच रहा हो। मजूमदार ने सोचा, 'यह क्या मामला है!'

'गाड़ी मेरे साथ यह कैसा व्यवहार कर रही है।'

"ए गाड़ीवान! गाड़ीवान!"

गाड़ीवान ने कोई उत्तर नहीं दिया। पीछे की खिड़की खोलकर सईस का

---

१. एक प्रकार की घोड़ागाड़ी, जो गोल होती थी।

हाथ पकड़ लिया; कहा, "तुम भीतर आकर बैठो।"

सईस ने भयभीत स्वर से कहा, "नहीं सा' ब, भीतर नहीं जायगा!"

सुनकर मजूमदार का शरीर रोमाञ्चित हो गया; उन्होंने जोर से सईस का हाथ पकड़कर कहा, "जल्दी भीतर आओ!"

सईस ने बलपूर्वक हाथ छुड़ाया और उतरकर छूट भागा। तब मजूमदार भय से बगल की ओर ताकने लगे; कुछ भी नहीं दिखा, तो भी ऐसा लगा, जैसे बगल में कोई अटल पदार्थ एकदम भिचकर बैठा हो। किसी तरह गले में बोल भरकर मजूमदार ने कहा, "गाड़ीवान, गाड़ी रोको!" ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे गाड़ीवान ने खड़े होकर दोनों हाथों से लगाम खींचकर घोड़ों को रोकने का प्रयत्न किया—घोड़े किसी तरह रुके ही नहीं। रुकने की बजाय दोनों घोड़े रेड रोड का रास्ता पकड़कर फिर दक्षिण की ओर मुड़ गए। मजूमदार ने घबराकर कहा, "अरे, कहाँ जाता।" कोई उत्तर नहीं मिला। बगल की शून्यता की ओर रह-रहकर कटाक्ष करते-करते मजूमदार के सारे बदन से पसीना छूटने लगा। किसी प्रकार जड़वत् होकर अपनी देह को वह जितना समेट सकते थे, समेटा, किन्तु उसने जितनी जगह खाली की उतनी ही जगह भर उठी। मजूमदार मन-ही-मन तर्क करने लगे कि 'किसी प्राचीन यूरोपीय ज्ञानी ने कहा है—Nature abhors vacuum—सो वही तो देख रहा हूँ। किन्तु यह क्या है! यह क्या नेचर है? यदि मुझसे कुछ न कहे तो मैं अभी उसके लिए सब जगह छोड़कर कूद पड़ूँ।' कूदने का साहस नहीं हुआ—कहीं पीछे से कोई अनहोनी घटना न घट जाये। 'पहरे वाले' कहकर पुकारने की चेष्टा की—किन्तु बड़ी कठिनाई से ऐसी एक अद्भुत क्षीण आवाज निकली कि अत्यन्त भयभीत होने पर भी उसे हँसी आ गई। अँधेरे में मैदान के वृक्ष भूतों की निस्तब्ध पार्लमेंट के समान परस्पर एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े थे, और गैस के खंभे-जैसे सब-कुछ जानते हों फिर भी जैसे कुछ भी नहीं बतायेंगे, इस प्रकार खड़े हुए टिमटिमाती आलोक-शिखा द्वारा इशारा करने लगे। मजूमदार ने सोचा कि झट से कूदकर सामने के आसन पर जा बैठे। जैसे ही उसने यह सोचा वैसे ही उसे लगा जैसे सामने के आसन से खाली एक चितवन उसके मुँह की ओर ताक रही हो। आँखें नहीं, कुछ नहीं, फिर भी एक चितवन। वह चितवन किसकी थी यह जैसे उसे याद आ रही हो, फिर भी किसी भी तरह जैसे स्पष्ट रूप से स्मरण नहीं कर पा रहा हो। मजूमदार ने दोनों आँखें ज़बरदस्ती बन्द करने की चेष्टा की—किन्तु भय के कारण बन्द नहीं कर पाया—उस निरुद्देश्य चितवन की ओर दोनों आँखें इस प्रकार बलपूर्वक गड़ा रखी थीं कि पलक गिराने का भी अवसर न मिला।

इधर गाड़ी बार-बार मैदान के रास्ते पर ही उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर चक्कर काटती हुई घूमने लगी। दोनों घोड़े जैसे उन्मत्त हो उठे हों—उनका वेग उत्तरोत्तर बढ़ चला—गाड़ी की थर-थर काँपती हुई खिड़कियों से खट-खट आवाज़ होने लगी।

इतने में गाड़ी जैसे किसी से टकराकर ज़ोर का धक्का खा हठात् रुक गई। मजूमदार ने चौंककर देखा, उसीके रास्ते पर गाड़ी खड़ी है और गाड़ीवान उसको हिलाकर पूछ रहा है, "साहब, कहाँ जाना होगा, बताइए !"

मजूमदार ने नाराज़ होकर पूछा, "इतनी देर मुझे मैदान में क्यों घुमाया ?"

गाड़ीवान ने आश्चर्य से कहा, "कहाँ, मैदान में तो नहीं घुमाया।"

मजूमदार ने विश्वास न करते हुए कहा, "तब क्या यह केवल स्वप्न था।"

गाड़ीवान ने कुछ सोचते हुए डरकर कहा, "बाबू साहब शायद, यह केवल स्वप्न न हो। आज तीन वर्ष हुए मेरी इसी गाड़ी में एक घटना घटी थी।"

उस समय मजूमदार का नशा और नींद का झोंका पूरी तरह दूर हो जाने के कारण वह गाड़ीवान की कहानी सुने बिना ही भाड़ा चुकाकर चला गया।

किन्तु, रात में उसे अच्छी तरह नींद नहीं आई—बस यही सोचता रहा, वह चितवन थी किसकी।

: १ :

अधर मजूमदार के पिता साधारण शिप-सरकारी[1] पद से आरम्भ करके एक बड़े फ़र्म के कारिन्दे के पद तक पहुँच गए थे। अधर बाबू पिता द्वारा उपार्जित नगद रुपयों को ब्याज पर लगाते थे, उनको स्वयं परिश्रम नहीं करना पड़ता था। पिता सिर पर सफ़ेद साफ़ा बाँधकर पालकी में बैठकर आफ़िस जाते थे, दूसरी ओर वे क्रिया-कर्म, दान-ध्यान भी पर्याप्त करते थे। विपद् आपद्, अभाव-अकाल में सभी श्रेणी के लोग आकर उन्हें घेरते, इसे वे गर्व का विषय समझते थे।

अधर बाबू ने बड़ा घर बनवा लिया है, गाड़ी, घोड़ा लिया है, किन्तु लोगों के साथ उनका संपर्क नहीं है; केवल रुपया उधार देने वाला दलाल आकर उनके

१. जहाजों पर आने-जाने वाले माल-असबाब के प्रबन्ध-विभाग का साधारण कर्मचारी।

भरे हुए हुक्के से तम्बाकू पी जाता है और एटॉर्नी के ऑफिस के बाबुओं के साथ स्टाम्प-लगी दलील की शर्त के विषय में बातचीत होती रहती है। उनकी गृहस्थी खर्चे से संबंधित हिसाब की ऐसी खींच-तान है कि मुहल्ले के फुटबॉल-क्लब के पीछा न छोड़ने वाले लड़के तक बहुत प्रयत्न करने पर भी उनके खजाने से कुछ वसूल नहीं कर पाते।

ऐसी स्थिति में उनकी गृहस्थी में एक अतिथि का आगमन हुआ। लड़का नहीं हुआ, नहीं हुआ, करते-करते बहुत दिन बाद उनके एक लड़का पैदा हुआ। लड़के का चेहरा माँ की तरह का था। बड़ी-बड़ी आँखें, नुकीली नाक, रजनीगन्धा की पंखुड़ी के समान रंग—जिसने देखा उसीने कहा, "आहा! लड़का क्या है, मानो कार्तिकेय हो।" अधर बाबू का अनुगत अनुचर रतिकान्त बोला, "बड़े घर में जैसा लड़का होना चाहिए वैसा ही हुआ है।"

लड़के का नाम रखा वेणुगोपाल। इससे पहले अधरबाबू की स्त्री ननीबाला ने गृहस्थी के खर्च के विषय में पति के विरुद्ध अपना मत इस तरह बल-पूर्वक कभी प्रदर्शित नहीं किया था। अपने शौक की दो-एक बातों अथवा दुनिया-दारी के अत्यावश्यक कार्यों को लेकर बीच-बीच में बहस अवश्य हुई है, किन्तु अन्ततः पति की कृपणता के प्रति अवज्ञा दिखाकर चुपचाप हार मान ली है।

इस बार ननीबाला को अधरलाल नहीं दबा सके, वेणुगोपाल को लेकर उनका हिसाब क़दम-क़दम आगे बढ़ने लगा। उसके पैरों की पैंजनी, हाथ का बाला, गले का हार, सिर की टोपी, उसकी देशी, विलायती नाना प्रकार की नाना रंग की वेशभूषा के संबंध में ननीबाला ने जो कुछ माँग की, सभी उन्होंने कभी चुपचाप आँसू बहाकर कभी ज़ोर की वाक्य-वर्षा द्वारा प्राप्त कर ली। वेणुगोपाल के लिए जो ज़रूरी हो वह भी और जो ज़रूरी न हो वह भी चाहिए ही चाहिए—वहाँ खाली खज़ाने का बहाना या भविष्य के लिए कोरा आश्वासन एक दिन भी नहीं टिक सका।

: २ :

वेणुगोपाल बड़ा होने लगा। वेणु के लिए खर्च करने का अधरलाल को अभ्यास हो चला। उसके लिए अधिक मासिक वेतन देकर खूब पढ़ा-लिखा एक बूढ़ा मास्टर रख लिया। इन मास्टर ने मीठी बोली और शिष्टाचार द्वारा वेणु को वश में करने की बहुत कोशिश की—किन्तु वे शायद आज तक छात्रों पर बराबर कड़ा अनुशासन रखकर मास्टरी की मर्यादा को अक्षुण्ण रखते आए थे, इसलिए उनकी भाषा की मिष्टता और व्यवहार की शिष्टता बस बेसुरी ही लगती रही—

यह शुष्क साधना लड़के को बहला नहीं सकी।

ननीबाला ने अधरलाल से कहा, "यह तुम्हारा मास्टर कैसा है ? उसे देखते ही लड़का घबरा जाता है। उसे छुड़ा दो !"

बूढ़ा मास्टर विदा हो गया। पुराने समय में लड़कियाँ जिस प्रकार स्वयंवरा होती थीं उसी प्रकार ननीबाला का बेटा स्वयम्मास्टर बनने चला—वह जिसे स्वीकार नहीं करेगा उसकी सारी डिग्रियाँ और सर्टिफिकेट व्यर्थ हैं।

इसी समय देह पर एक मैली चादर डाले और पैरों में कैन्वास का फटा-जूता पहने मास्टरी की उम्मीदवारी के लिए हरलाल आ पहुँचा। उसकी विधवा माँ ने दूसरे के घर की रसोई बनाकर और धान कूटकर उसे मुफ़स्सिल एंट्रेंस स्कूल से किसी प्रकार एंट्रेंस पास करा दिया था। अब हरलाल कलकत्ता के कॉलिज में पढ़ने के लिए प्राणपण से प्रतिज्ञा करके बाहर निकला था। भोजन के बिना उसके मुँह का निचला भाग सूखकर भारतवर्ष की 'कन्या कुमारी' के समान नुकीला हो गया था, केवल चौड़ा माथा हिमालय की भाँति प्रशस्त होकर आँखों को आकर्षित करता था। मरुभूमि की बालू से सूर्य की किरणें जिस प्रकार टकराकर लौटती हैं उसी प्रकार उसके दोनों नेत्रों से दैन्य की एक अस्वाभाविक दीप्ति निकल रही थी।

दरबान ने पूछा, "तुम क्या चाहते हो ? किसे चाहते हो ?"

हरलाल ने डरते-डरते कहा, "घर के मालिक के साथ भेंट करना चाहता हूँ।"

दरबान ने कहा, "भेंट नहीं होगी।" इसके उत्तर में हरलाल क्या कहे, यह न सोच पाने के कारण इधर-उधर कर रहा था, तभी सात वर्ष का लड़का वेणुगोपाल बाग में खेल खत्म करके ड्योढ़ी में आ पहुँचा। हरलाल को द्विविधा में देखकर दरबान ने फिर कहा, "बाबू चले जाओ !"

वेणु को अचानक ज़िद सवार हो गई—उसने कहा, "नहीं जायगा।" यह कहते हुए उसने हरलाल का हाथ पकड़कर उसे दोतल्ले के बरामदे में अपने पिता के पास ले जाकर हाज़िर किया।

बाबू उस समय दिवा-निद्रा पूरी करके जड़ालस भाव से बरामदे में बेंत की कुरसी पर चुपचाप बैठे पैर हिला रहे थे और बूढ़ा रतिकान्त काठ की एक चौकी पर आसन लगाए बैठा हुआ धीरे-धीरे हुक्का पी रहा था। उस दिन के ऐसे समय ऐसी अवस्था में दैवयोग से हरलाल मास्टरी पर बहाल हो गया।

रतिकान्त ने प्रश्न किया, "आप कहाँ तक पढ़े हैं।"

हरलाल ने कुछ मुँह नीचा करके कहा, "एंट्रेंस पास किया है।"

रतिकान्त ने भौंहें तानकर कहा, "सिर्फ एंट्रेंस पास ! मैंने तो समझा था, कॉलेज में पढ़ चुके हैं। आपकी उम्र भी तो कुछ कम नहीं दिखती।"

हरलाल चुप रह गया। आश्रित और आश्रय-प्रत्याशियों को प्रत्येक प्रकार से पीड़ित करना ही रतिकान्त के आनन्द का प्रधान विषय था।

रतिकान्त ने प्यार से वेणु को अपनी गोद के पास खींचने का प्रयत्न करते हुए कहा, "कितने एम० ए०, बी० ए० आए और गए, कोई पसन्द नहीं आया—भला अन्त में क्या सोनाबाबू एंट्रेंस पास मास्टर से पढ़ेंगे।"

वेणु ने रतिकान्त के स्नेहाकर्षण से अपने को जबरदस्ती छुड़ाकर कहा, "हटो", रतिकान्त को वेणु किसी तरह सहन नहीं कर पाता था, किन्तु रति भी वेणु की इस असहिष्णुता को उसके बाल्य-माधुर्य का एक लक्ष्य समझकर उसमें खूब आनंदित होने की चेष्टा करता, और उसको सोनाबाबू, चाँदबाबू कह-कहकर चिढ़ाकर आग-बबूला कर देता।

हरलाल को उम्मीदवारी में सफलता पाना कठिन हो गया; वह मन-ही-मन सोच रहा था, कि बस अब किसी सुयोग से चौकी से उठकर बाहर चला जाय तो जान बचे। तभी सहसा अधरलाल के मन में आया कि इस छोकरे को बिलकुल मामूली वेतन देकर भी रखा जा सकता है। अन्त में तय हुआ कि हरलाल घर में ही रहेगा, खायगा और पाँच रुपया महीना वेतन लेगा। घर में रखने से जितनी अतिरिक्त दया प्रदर्शित करनी होगी उसके बदले में अतिरिक्त काम करा लेने से वह दया सार्थक हो सकेगी।

: २ :

इस बार मास्टर टिक गया। प्रारम्भ से ही हरलाल के साथ वेणु की ऐसी जमी जैसे वे दोनों भाई हों। कलकत्ता में हरलाल का आत्मीय मित्र कोई नहीं था—इस सुन्दर नन्हे लड़के ने उसके सम्पूर्ण हृदय पर अधिकार कर लिया। अभागे हरलाल को इससे पहले किसी व्यक्ति से इस प्रकार स्नेह करने का सुयोग नहीं मिला था। किसी तरह उसकी अवस्था सुधर जाय, इसी आशा में उसने बड़े कष्ट से पुस्तकें इकट्ठी करके अकेले अपने प्रयत्न से दिन-रात पढ़ाई ही की थी। माँ को पराधीन बनकर रहना पड़ा इससे लड़के की बाल्यावस्था केवल संकोच ही में बीती—रोक-टोक की सीमा लाँघकर नटखटपन द्वारा अपने बाल्यप्रताप को विजयी बनाने का सुख उसे कभी नहीं मिला। वह किसी के दल में नहीं था, वह अपनी फटी किताब और टूटी स्लेट के बीच नितान्त अकेला था। जगत् में जन्म लेकर जिस लड़के को बचपन में ही गुम-सुम भला आदमी

बनना पड़े, बचपन से ही माता का दुःख और अपनी अवस्था समझकर जिसे सावधानी से चलना पड़े, एकदम अविवेकी होने की स्वाधीनता जिसके भाग्य में कभी न जुटे, प्रसन्न होकर चञ्चलता दिखाना या दुःख पाकर रोना, इन दोनों को ही जिसे दूसरे लोगों की असुविधा और नाराजी के भय से सारी बाल्य-शक्ति का प्रयोग करके दबाकर रखना पड़े। उसके समान करुणा का पात्र फिर भी करुणा से वञ्चित जगत् में और कौन है!

विश्व के सब मनुष्यों के नीचे दबा पड़ा हुआ यह हरलाल स्वयं भी नहीं जानता था कि उसके मन के भीतर इतना स्नेह-रस अवसर की अपेक्षा में इस प्रकार जमा था। वेणु के साथ खेलकर, उसे पढ़ाकर, अस्वस्थता के समय उसकी सेवा करके हरलाल भली भाँति समझ गया कि अपनी स्थिति सुधारने से भी बढ़कर मनुष्य के लिए एक और चीज़ है—वह जब मिल जाती है तब उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता।

वेणु भी हरलाल को पाकर जी उठा। कारण घर में वह अकेला लड़का था, एक बहुत ही छोटी तीन वर्ष की एक बहन और थी—वेणु उन्हें साथ देने के योग्य ही नहीं समझता था। मुहल्ले में समवयस्क लड़कों की कमी नहीं थी, किन्तु अधरलाल द्वारा मन-ही-मन अपने घर को अत्यन्त बड़ा घर समझ लेने के कारण वेणु के भाग्य में मिलने-जुलने योग्य लड़के नहीं जुटे। इस कारण हरलाल उसका एक-मात्र संगी हो गया। अनुकूल परिस्थिति में वेणु की जो सारी शैतानी दस जनों में बँटकर एक प्रकार से सहन योग्य हो सकती थी वह सब अकेले हरलाल को सहन करनी पड़ती। यह सारा उपद्रव प्रतिदिन सहन करते-करते हरलाल का स्नेह और भी दृढ़ होने लगा। रतिकान्त कहने लगा, "हमारे सोना बाबू को मास्टर साहब चौपट करने पर तुले हैं।" अधरलाल को भी बीच-बीच में लगने लगता, मानो मास्टर के साथ छात्र का सम्बन्ध शायद यथोचित न हो। किन्तु हरलाल को वेणु से अलग कर सके ऐसी सामर्थ्य अब किसमें थी।

: ४ :

वेणु की अवस्था अब ग्यारह की थी। हरलाल एफ० ए० पास करके छात्रवृत्ति पाकर तृतीय वर्ष में पढ़ रहा था। इस बीच में कॉलिज में उसके दो-एक मित्र न जुटे हों ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वह ग्यारह साल का लड़का अपने सब मित्रों से बढ़कर था। कॉलिज से लौटकर वेणु को लेकर वह गोलदीघी और किसी-किसी दिन ईडन गॉर्डन घूमने जाता। उसको ग्रीक इतिहास के वीर

पुरुषों की कहानी सुनाता, थोड़ी-थोड़ी करके बँगला में स्कॉट और विक्टर ह्यूगो की कहानियाँ सुनाता—उच्च स्वर से अंग्रेज़ी कविता की आवृत्ति करके सुनाता और अनुवाद करके उसकी व्याख्या करता, माने बता-बताकर शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' पढ़-पढ़कर उसमें से उसे एण्टनी की वक्तृता कण्ठस्थ कराने का प्रयत्न करता। वह नन्हा-सा बालक हरलाल के मन के उद्‌बोधन के लिए मानो सोने की छड़ी[1] बन गया था। जब वह अकेला बैठकर पाठ याद करता था तब अंग्रेज़ी साहित्य में उसका इतना मन नहीं लगता था। अब इतिहास, विज्ञान, साहित्य जो कुछ भी वह पढ़ता उसमें थोड़ा-सा रस पाते ही वह उसे पहले वेणु को देने के लिए आग्रह अनुभव करता और वेणु के मन में उस आनन्द का संचार करने के प्रयत्न में ही उसकी अपनी समझाने की शक्ति और आनन्द का अधिकार मानो बढ़कर दुगुना हो जाता।

वेणु स्कूल से आते ही किसी प्रकार झटपट जलपान समाप्त करके हरलाल के पास जाने के लिए एकदम अधीर हो जाता, उसकी माँ उसे किसी भी बहाने से, किसी भी प्रलोभन से घर में नहीं रोक पाती थी। ननीबाला को यह अच्छा नहीं लगता था। उसे लगता कि हरलाल अपनी नौकरी बनाए रखने के लिए लड़के को इस प्रकार वश में रखने का प्रयत्न कर रहा है। उसने एक दिन हरलाल को बुलाकर परदे की ओट में से कहा, "तुम मास्टर हो, लड़के को बस एक घंटा सवेरे और एक घंटा शाम को पढ़ाओ—दिन-रात इसके साथ क्यों लगे रहते हो। आजकल तो वह माँ-बाप किसी को भी नहीं मानता। वह कैसी शिक्षा पा रहा है! पहले जो लड़का माँ का नाम सुनते ही नाच उठता था आज वह बुलाने पर भी हाथ नहीं आता। वेणु अपने बड़े घर का लड़का है, उसके साथ तुम्हारा इतना मेल-जोल किसलिए ?"

उस दिन रतिकान्त अधर बाबू के साथ बातें कर रहा था कि उसकी जान-पहचान के ऐसे तीन-चार आदमी हैं, जिन्होंने बड़े आदमियों के लड़कों की मास्टरी करते हुए लड़कों का मन इस तरह वश में कर लिया था कि लड़कों के जायदाद का अधिकारी बनने पर उन्होंने सर्वेसर्वा बनकर लड़कों को अपनी इच्छानुसार चलाया था। हरलाल को ही इशारा करके ये सब बातें कही जा रही थीं। यह समझने में हरलाल को देर नहीं लगी। तो भी उसने चुप रहकर सब सह लिया। किन्तु, आज वेणु की माँ की बात सुनकर उसकी छाती फट गई। वह समझ गया कि बड़े आदमियों के घरों में मास्टर की क्या इज्ज़त है।

१ एक लोक-प्रचलित कथा, जिसमें राजकुमार ने सोने की छड़ी छुआकर सोती हुई राजकुमारी को जगा लिया था। सोने की छड़ी प्रेम तथा जाग्रत अवस्था की प्रतीक है।

गोशाला में लड़के के दूध के लिए जैसे गाय रखी जाती है उसी प्रकार उसको विद्या प्राप्त कराने के लिए एक मास्टर भी रखा जाता है—विद्यार्थी के साथ स्नेहपूर्ण आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना इतना बड़ा दुस्साहस है कि घर के नौकरों से लेकर मालकिन तक कोई भी उसे सहन नहीं कर सकता; और सभी उसे स्वार्थ-साधन की चातुरी ही समझते हैं।

हरलाल ने कम्पित स्वर से कहा, "माँ, वेणु को मैं केवल पढ़ाऊँगा ही, उसके साथ मेरा और कोई सम्पर्क न रहेगा।"

उस दिन शाम को वेणु के साथ खेलने के समय हरलाल कॉलेज से ही नहीं लौटा। किस प्रकार सड़कों पर घूम-घूमकर उसने समय काटा यह वही जानता था। संध्या होने पर जब वह पढ़ाने आया तो वेणु मुँह फुलाए रहा। हरलाल अपनी अनुपस्थिति की कोई सफ़ाई दिये बिना पढ़ा गया—उस दिन पढ़ाई अच्छी तरह नहीं हुई।

हरलाल प्रतिदिन रात रहते उठकर अपने कमरे में बैठकर पढ़ता। वेणु सवेरे उठकर, मुँह धोकर दौड़कर उसके पास जाता। बगीचे में पक्के हौज़ में मछलियाँ थीं। उनको लाई खिलाना इनका एक काम था। बगीचे के एक कोने में बहुत-से पत्थर सजाकर छोटे-छोटे रास्ते और छोटा गेट और अहाता बनाकर वेणु ने बालखिल्य ऋषि के आश्रम के उपयुक्त एक बहुत छोटा-सा बाग बना दिया था। उस बगीचे पर माली का कोई अधिकार नहीं था। सवेरे इस बगीचे की देख-भाल करना इनका दूसरा काम था। उसके बाद धूप चढ़ने पर घर लौट-कर वेणु हरलाल के साथ पढ़ने बैठता। कल शाम को जिस कहानी का अंश सुने बिना रह गया था उसीको सुनने के लिए आज वेणु यथासंभव तड़के उठ-कर दौड़कर बाहर आया था। उसने सोचा था, सवेरे उठने में आज उसने मास्टर साहब को जीत लिया है। कमरे में आकर देखा, मास्टर साहब नहीं थे। दरबान से पूछने पर पता लगा, मास्टर साहब बाहर निकल गए हैं।

उस दिन भी सवेरे पढ़ते समय वेणु नन्हे हृदय की वेदना लिये मुँह गम्भीर बनाए बैठा रहा। सवेरे हरलाल क्यों बाहर निकल गया था यह भी नहीं पूछा। वेणु के मुँह की ओर देखे बिना हरलाल किताब के पन्नों पर आँखें गड़ाए पढ़ा गया। वेणु घर के भीतर अपनी माँ के पास जब खाने बैठा तब उसकी माँ ने पूछा, "कल शाम से तुझे क्या हो गया है—बता तो सही। मुँह हाँडी-सा क्यों कर लिया है—अच्छी तरह खाता भी नहीं—बात क्या है!"

वेणु ने कोई उत्तर नहीं दिया। खाने के बाद माँ ने उसे पास खींचकर उसकी देह पर हाथ फेरकर खूब स्नेह दिखाते हुए जब बार-बार उससे पूछना

शुरू किया, तब वह और नहीं रह सका, फफक-फफककर रो पड़ा। बोला, "मास्टर साहब—"

माँ ने कहा, "मास्टर साहब क्या !"

वेणु नहीं बोल सका कि मास्टर साहब ने क्या किया है। अभियोग क्या था उसे भाषा में व्यक्त करना कठिन था।

ननीबाला ने कहा, "मालूम होता है मास्टर साहब ने तेरी माँ के सम्बन्ध में तुझसे कुछ लगाया है !"

इस बात का कोई अर्थ न समझ सकने के कारण वेणु बिना उत्तर दिए चला गया।

: ५ :

इस बीच अधर बाबू के घर से कुछ कपड़े-लत्ते चोरी हो गए। पुलिस को खबर दी गई। पुलिस ने खाना-तलाशी में हरलाल के बक्स की भी तलाशी करना नहीं छोड़ा। रतिकान्त ने अत्यन्त निरीह भाव से कहा, "जिस व्यक्ति ने चोरी की है वह क्या माल बक्स में रखेगा।"

सामान का कोई पता नहीं लगा। इस प्रकार का नुकसान अधरलाल के लिए असह्य था। वे दुनिया के सभी लोगों पर नाराज़ हो गए। रतिकान्त ने कहा, "घर में अनेक आदमी हैं, किसको दोषी ठहराएँ, किस पर सन्देह प्रकट करें। जिसकी जब खुशी होती है आता-जाता है।"

अधरलाल ने मास्टर को बुलवाकर कहा, "देखो हरलाल, अब किसी को भी घर में रखना हमारे लिए सुविधाजनक नहीं होगा। आज से तुम अलग घर में रहकर वेणु को निश्चित समय पर पढ़ा जाया करो, यही करना ठीक होगा- — न हो तो मैं तुम्हारे लिए दो रुपये महीना बढ़ाने को राज़ी हूँ।"

रतिकान्त तम्बाकू पीते हुए बोला, "यह तो बड़ी अच्छी बात है—दोनों ही के लिए अच्छा है।"

हरलाल सिर झुकाए सुनता रहा। उस समय वह कुछ नहीं कह सका। घर आकर अधर बाबू को चिट्ठी लिख भेजी, "कई कारणों से वेणु को पढ़ाना उसके लिए सम्भव नहीं होगा, अतएव आज ही वह विदा लेने के लिए तैयार है।"

उस दिन वेणु ने स्कूल से लौटकर देखा, मास्टर साहब का कमरा खाली था। उनका वह टीन का भग्नप्राय बक्स भी नहीं था। जिस रस्सी के ऊपर उनकी चादर और अँगोछा लटका रहता, वह रस्सी तो थी, किन्तु चादर और अँगोछा नहीं। टेबुल के ऊपर कॉपी, काग़ज़ और किताबें इधर-उधर बिखरी

रहतीं, उसके बदले वहाँ एक बड़ी बोतल में चमकती हुई सुनहरी मछलियाँ ऊपर-नीचे आ जा रही थीं। बोतल के ऊपर मास्टर साहब के हस्ताक्षरों में वेणु के नाम लिखा एक कागज चिपका था। और एक नई अच्छी जिल्द वाली अंग्रेजी तस्वीरों की किताब थी, उसके भीतर के पन्ने पर एक कोने में वेणु का नाम और उसके नीचे आज की तारीख, महीना और सन् लिखा था।

वेणु ने दौड़कर अपने पिता के पास जाकर कहा, "पिताजी, मास्टर साहब कहाँ गए?"

पिता ने उसे पास खीचते हुए कहा, "वे काम छोड़कर चले गए हैं।"

वेणु पिता का हाथ छुड़ाकर पास के कमरे में बिछौने के ऊपर औंधा लेटकर रोने लगा। व्याकुल होकर अधर बाबू कुछ सोच न सके कि क्या करें।

दूसरे दिन साढ़े दस बजे हरलाल मेस के एक कमरे में चौकी के ऊपर उदास बैठा हुआ सोच रहा था कि कॉलेज जाए या नहीं। इसी बीच हठात् देखा कि पहले अधर बाबू के दरबान ने कमरे में प्रवेश किया और उसके पीछे वेणु कमरे में घुसते ही हरलाल के गले से लिपट गया। हरलाल का गला भर आया; बोलते ही उसकी आँखों से आँसू टपक पड़ेंगे इस डर से वह कुछ भी नहीं कहसका।

वेणु ने कहा, "मास्टर साहब, हमारे घर चलो!"

वेणु अपने वृद्ध दरबान चन्द्रभान के पीछे पड़ गया था कि जैसे भी हो उसे मास्टर साहब को घर ले ही चलना होगा। मुहल्ले का जो कुली हरलाल का पिटारा उठाकर लाया था उससे पता लगाकर आज स्कूल जाने वाली गाड़ी में चन्द्रभान ने वेणु को हरलाल के मेस में लाकर उपस्थित कर दिया।

हरलाल का वेणु के घर जाना क्यों एकदम असंभव था, यह वह कह भी नही सका और उसके घर भी नहीं जा सका। वेणु ने जो उसके गले से लिपटकर उससे कहा था, 'हमारे घर चलो'—इस स्पर्श और इस बात की स्मृति ने कितने दिन, कितनी रातें उसके गले का दबाकर जैसे उसकी साँस को रोक कर रखा हो। किन्तु, धीरे-धीरे ऐसा दिन भी आया जब दोनों ओर का सब-कुछ समाप्त हो गया, हृदय की नसों को जकड़कर वेदना-निशाचर चमगादड़ के समान फिर लटकता नहीं रह सका।

: ६ :

बहुत प्रयत्न करने पर भी पढ़ने में हरलाल वैसा मनोयोग फिर नहीं दे पाया। किसी भी प्रकार स्थिर होकर वह पढ़ने नहीं बैठ पाता था। पढ़ने की थोड़ी-सी चेष्टा करते ही झट पुस्तक बन्द कर देता और अकारण ही तेजी से रास्ते

का चक्कर लगा आता। कॉलेज में लेक्चरों को नोट करने में बीच-बीच में बड़ा व्यवधान पड़ जाता और बीच-बीच में जो कुछ घिच-पिच लिख पाता उसके साथ प्राचीन ईजिप्ट की चित्र-लिपि को छोड़कर और किसी वर्णमाला का सादृश्य नहीं था।

हरलाल ने समझा कि ये सब अच्छे लक्षण नहीं है। परीक्षा में चाहे वह उत्तीर्ण हो भी जाय, लेकिन छात्रवृत्ति पाने की कोई संभावना नहीं थी। वृत्ति पाए बिना कलकत्ता में उसका एक दिन भी काम नहीं चलेगा। दूसरी ओर घर माँ को भी दो-चार रुपए भेजने चाहिएँ। बहुत सोच-विचार करके वह नौकरी की कोशिश में बाहर निकला। नौकरी पाना कठिन था। किन्तु न मिलना उसके लिए और भी कठिन था; इस कारण आशा छोड़कर भी वह आशा नहीं छोड़ सका।

हरलाल के सौभाग्य से एक बड़े अंग्रेज़ सौदागर के कार्यालय में उम्मीदवारी के लिए जाने पर हठात् बड़े साहब की निगाह उस पर पड़ गई। साहब का विश्वास था कि वह चेहरा देखकर आदमी पहचान लेता था। हरलाल को बुलाकर उसके साथ दो-चार बातें करके उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'यह आदमी ठीक रहेगा।' प्रश्न किया, "काम जानते हो ?" हरलाल ने कहा, "नहीं," "जमानत दे सकोगे ?" उसका उत्तर भी 'नहीं' मिला। "किसी बड़े आदमी से सर्टीफिकेट ला सकते हो ?" वह किसी बड़े आदमी को नहीं जानता था।

सुनकर साहब ने जैसे और भी खुश होकर कहा, "अच्छा ठीक, पच्चीस रुपये वेतन पर काम आरम्भ करो, काम सीखने पर उन्नति होगी।" उसके बाद साहब ने उसकी वेश-भूषा की ओर देखते हुए कहा, "पन्द्रह रुपया पेशगी देता हूँ, ऑफिस के उपयुक्त कपड़े तैयार करा लेना !"

कपड़े तैयार हुए, हरलाल ने ऑफिस जाना भी शुरू कर दिया। बड़े साहब उससे भूत के समान काम कराने लगे। और क्लर्कों के घर चले जाने पर भी हरलाल को छुट्टी नहीं मिलती थी। कभी-कभी साहब के घर जाकर भी उन्हें काम समझा आना पड़ता।

इस तरह काम सीख लेने में हरलाल को देर नहीं लगी। उसके सहयोगी क्लर्कों ने उसे नीचा दिखाने की बहुत कोशिश की, उसके विरुद्ध ऊपर के लोगों से चुग़ली भी की, किन्तु इस मूक, निरीह, सामान्य हरलाल का कोई अपकार नहीं कर सका।

जब उसकी तनख्वाह चालीस रुपये हो गई, तब हरलाल घर से माँ को लाकर एक मामूली-सी गली में छोटे घर में रहने लगा। इतने दिनों बाद उसकी

मां का दुःख दूर हुआ। मां बोली, "बेटा, अब घर में बहू लाऊंगी।"

हरलाल ने माता के पैरों की धूल लेकर कहा, "मां, इसके लिए माफी देनी पड़ेगी।"

माता का एक और अनुरोध था। उन्होंने कहा, "तू जो दिन-रात अपने छात्र वेणुगोपाल की बात करता है, उसको एक बार भोजन के लिए निमंत्रित कर! उसे देखने की मेरी इच्छा है।"

हरलाल ने कहा, "मां, इस घर में उसे कहां बैठाऊंगा। ठहरो, एक बड़ा घर तो लूं, उसके बाद उसे निमंत्रित करूंगा।"

: ७ :

वेतन-वृद्धि के साथ छोटी गली से बड़ी गली में और छोटे घर से बड़े में हरलाल का निवास-परिवर्तित होता गया। तब भी वह पता नहीं मन में क्या सोचकर अधरलाल के घर जाने या वेणु को अपने घर बुला लाने का किसी प्रकार निश्चय नहीं कर पाया।

शायद उसका संकोच कभी भी न मिटता। तभी अचानक खबर मिली, कि वेणु की मां जाती रही। सुनकर क्षण-भर भी देर न करके वह अधरलाल के घर जाकर पहुंचा।

इन दो असमवयसी मित्रों का बहुत दिन बाद फिर एक बार मिलन हुआ। वेणु के सूतक का समय बीत गया, तो भी इस घर में हरलाल का आना-जाना चलता रहा। किन्तु, ठीक पहले-जैसा अब कुछ नहीं रहा। वेणु अब बड़ा होकर अँगूठे और तर्जनी से अपनी नई मूँछों की रेखा को सँभालने लगा था। चाल-चलन में बाबूपन झलकने लगा था। अब उसके योग्य बन्धु-बान्धवों का भी अभाव नहीं था। फोनोग्राफ पर थिएटर की नर्तकियों के हल्के गाने बजाकर वह मित्रों का मनोरंजन करता। सोने के कमरे की वह पुरानी और टूटी चौकी और धब्बों वाली टेबिल जाने कहां गई। शीशे, तस्वीर, सामान से कमरा जैसे छाती फुलाए हुए हो। वेणु अब कॉलेज जाता, किन्तु उसमें द्वितीय वर्ष की सीमा पार करने की कोई जल्दी नहीं दिखती थी। बाप ने तय कर लिया था कि दो-एक परीक्षाएँ पास करवाकर विवाह की हाट में लड़के की बाज़ार-दर बढ़ा लेंगे। किन्तु, लड़के की मां जानती थीं और स्पष्ट रूप से कहती थीं, "मेरे वेणु को साधारण लोगों के लड़कों के समान गौरव का प्रमाण देने के लिए परीक्षाएँ पास करने का हिसाब नहीं देना पड़ेगा। लोहे के सन्दूक में कम्पनी का कागज़ सुरक्षित बना रहे।" लड़का भी माता की यह बात मन-ही-मन अच्छी तरह

समझ गया था।

जो हो, वेणु के लिए अब वह नितान्त अनावश्यक था, यह हरलाल भली-भाँति समझ गया और केवल-रह-रहकर उस दिन की बात याद आती जब वेणु ने सवेरे अचानक उसके उस मेस के निवास पर जाकर उसके गले से लिपट-कर कहा था, 'मास्टर साहब, हमारे घर चलो,' न वह वेणु था, न वह घर था, अब मास्टर साहब को कौन बुलायगा।

हरलाल ने सोचा था, अब वह बीच-बीच में वेणु को अपने घर आमंत्रित करेगा। किन्तु उसको बुलाने का साहस नहीं हुआ। एक बार सोचा, 'उसको आने के लिए कहूँ,' उसके बाद सोचा, 'कहने से लाभ क्या—वेणु शायद निमंत्रण की रक्षा करे, किन्तु, रहने दो!'

हरलाल की माँ ने नहीं छोड़ा। वे बार-बार कहने लगीं, वे अपने हाथों से बनाकर उसे खिलायँगी—'हाय! बेचारे की माँ मर गई!'

अन्त में हरलाल एक दिन उसे निमंत्रित करने गया। बोला, "अधरबाबू से अनुमति लेकर आता हूँ।'

वेणु ने कहा, "अनुमति नहीं लेनी होगी, आप क्या सोचते हैं मैं अभी तक वही—छोटा बच्चा हूँ।"

हरलाल के घर वेणु भोजन करने आया। माँ ने कार्तिकेय-जैसे इस लड़के को अपने स्निग्ध नेत्रों के आशीर्वाद से अभिषिक्त करके बड़े यत्न से खिलाया। उन्हें बार-बार लगने लगा, हाय! इस उमर के ऐसे लड़के को छोड़-कर इसकी माँ जब मरी होगी तब पता नहीं उसके प्राणों को कैसा लगा होगा।"

भोजन समाप्त करते ही वेणु ने कहा, "मास्टर साहब, मुझे आज कुछ जल्दी जाना पड़ेगा, मेरे दो-एक मित्रों के आने की बात है।"

यह कहकर जेब से सोने की घड़ी निकालकर एक बार समय देखा; उसके बाद जल्दी से विदा लेकर बग्घी में जाकर बैठ गया। हरलाल अपने घर के दरवाजे पर खड़ा रहा। गाड़ी सारी गली को कँपाती हुई क्षण-भर में ही आँखों से ओझल हो गई।

माँ बोलीं, "हरलाल, उसको बीच-बीच में बुला लाया कर! इस उमर में उसकी माँ मर गई है, यह सोचकर मेरा जी कैसा होने लगता है।"

हरलाल चुप रहा। इस मातृहीन लड़के को सान्त्वना देने की उसे कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन बोला, 'बस यहीं तक, अब फिर कभी नहीं बुलाऊँगा। एक दिन पाँच रुपए महीने की मास्टरी ज़रूर की थी—किन्तु, मैं तो साधारण हरलाल-मात्र हूँ।'

: ८ :

एक दिन संध्या के बाद ऑफिस से लौटकर हरलाल ने देखा, उसके नीचे के कमरे में अंधेरे में कोई आदमी बैठा है। वहाँ कोई आदमी है इस पर ध्यान दिए बिना ही वह शायद ऊपर चला जाता, किन्तु दरवाजे से घुसते ही लगा वातावरण एसेन्स की सुगन्ध से भरा हो। घर में घुसते ही हरलाल ने प्रश्न किया, "कौन, साहब हैं।"

वेणु बोल पड़ा, "मास्टर साहब, मैं हूँ।"

हरलाल ने कहा, "क्या मामला है। कब आए?"

वेणु ने कहा, "बहुत देर का आया हूँ। आप ऑफिस से इतनी देर में लौटते हैं यह तो मैं जानता ही न था।"

बहुत समय हुआ जब वह दावत खाकर गया था। उसके बाद से वेणु एक बार भी इस घर में नहीं आया। न बात, न चीत, आज एकाएक इस प्रकार वह इस संध्या समय इस अंधेरे घर में बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। इससे हरलाल का मन उद्विग्न हो उठा।

ऊपर के कमरे में जाकर बत्ती जलाकर दोनों बैठ गए। हरलाल ने पूछा, "सब अच्छा तो है? कोई विशेष खबर है?"

वेणु ने कहा, 'पढ़ना लिखना क्रमशः उसके लिए बहुत नीरस होता जा रहा है। कहाँ तक वह सालों उसी सैकिण्ड इयर में अटका पड़ा रहे। उससे अवस्था में बहुत छोटे अनेक लड़कों के साथ उसको पढ़ना पढ़ता है, उसे बड़ी शर्म लगती है। किन्तु पिताजी किसी भी तरह नहीं समझते।'

हरलाल ने पूछा, "तुम्हारी क्या इच्छा है।"

वेणु ने कहा, "उसकी इच्छा है कि वह विलायत जाए, बैरिस्टर हो आए। उसके साथ ही पढ़ने वाले, यहाँ तक कि पढ़ने-लिखने में उससे बहुत कमजोर एक लड़के का विलायत जाना निश्चित हो गया है।"

हरलाल ने कहा, "अपने पिता को अपनी इच्छा बताई है?"

वेणु ने कहा, "बताई है। पिताजी कहते हैं, बिना पास हुए विलायत जाने का प्रस्ताव वे सुनना नहीं चाहते। किन्तु मेरा मन उचट गया है—यहाँ रहकर मैं किसी भी तरह पास नहीं हो सकूँगा।"

हरलाल चुपचाप बैठकर सोचने लगा।

वेणु ने कहा, "इस बात को लेकर आज पिताजी ने मुझसे जो मन में आया कह डाला। इसीसे मैं घर छोड़कर चला आया हूँ। माँ के रहते ऐसा कभी नहीं हो सकता था।" कहते-कहते वह क्षोभ से रोने लगा।

हरलाल ने कहा, "चलो हम तुम्हारे पिताजी के पास चलें, परामर्श करके जो उचित होगा तय किया जायगा।"

वेणु ने कहा, "नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगा।"

पिता पर गुस्सा होकर वेणु आकर हरलाल के घर रहेगा, यह बात हरलाल को बिलकुल अच्छी नहीं लगी। और 'मेरे घर नहीं रह सकोगे' यह कहना भी बहुत कठिन था।

हरलाल ने सोचा, 'और थोड़ी देर बाद मन कुछ ठण्डा होने पर फुसलाकर इसको घर ले जाऊँगा।' पूछा, "तुम खाना खा आए हो?"

वेणु ने कहा, "नहीं, मुझे भूख नहीं है, आज मैं नहीं खाऊँगा।"

हरलाल ने कहा, "यह कैसे हो सकता है!" झटपट जाकर माँ से कहा, "माँ, वेणु आया है, उसके लिए कुछ खाना चाहिए।"

सुनते ही खूब खुश होकर माँ भोजन तैयार करने गईं। हरलाल ऑफिस के कपड़े उतारकर हाथ-मुँह धोकर वेणु के पास आकर बैठा। थोड़ा खाँसकर, कुछ इधर-उधर करके वेणु के कन्धे के ऊपर हाथ रखकर वह बोला, "वेणु, काम अच्छा नहीं हो रहा है। पिता के साथ झगड़ा करके घर से चले आना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।"

सुनकर उसी क्षण चारपाई से उठकर वेणु ने कहा, "आपके यहाँ यदि सुविधा न हो तो मैं सतीश के घर चला जाऊँगा।"

यह कहते हुए वह जाने को तैयार हुआ। उसका हाथ पकड़कर हरलाल ने कहा, "ठहरो, कुछ खाकर जाओ!"

वेणु गुस्सा होकर बोला, "नहीं, मैं नहीं खा सकूँगा।" कहते हुए हाथ छुड़ाकर कमरे से बाहर निकल आया।

इस बीच, हरलाल के लिए जो जल-पान तैयार था वही वेणु के लिए थाल में सजाकर माँ उसके सामने आ उपस्थित हुईं। बोलीं, "कहाँ जाते हो, बेटा!"

वेणु ने कहा, "मुझे काम है, मैं जा रहा हूँ।"

माँ बोली, "बेटा ऐसा क्या हो सकता है, बिना कुछ खाए नहीं जा सकते।" यह कहती हुई बरामदे में ही खाने की व्यवस्था करके उसका हाथ पकड़कर खाने को बैठाया।

वेणु गुस्से के मारे कुछ खा नहीं रहा था, भोजन को लेकर कुछ टाल-मटूल कर रहा था कि इतने में दरवाज़े के पास आकर एक गाड़ी रुकी। पहले एक दरबान और उसके पीछे स्वयं अधरबाबू चर्र-मर्र करते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर

ऊपर आ उपस्थित हुए। वेणु का मुँह पीला पड़ गया।

माँ घर के भीतर चली गईं। अधर लड़के के सामने आकर क्रोध से काँपते हुए स्वर में हरलाल की ओर देखकर बोले, "ओह यह बात है! रतिकान्त ने मुझसे तभी कहा था, किन्तु तुम्हारे पेट में इतना कपट था यह मैंने विश्वास नहीं किया था। तुमने सोचा है, वेणु को वश में करके इसकी गर्दन मरोड़कर खाऊँगा। किन्तु, ऐसा नहीं होने दूँगा। लड़का चोरी करेगा! तुम्हारे नाम पुलिस-केस चलाऊँगा, तुम्हें जेल भेजकर छोड़ूँगा।"

यह कहकर वेणु की ओर देखते हुए बोले, "चल, उठ!" वेणु बिना कुछ कहे अपने पिता के पीछे-पीछे चल दिया।

उस दिन बस हरलाल को ही भोजन नसीब नहीं हुआ।

: ६ :

इस बार हरलाल का व्यापारी ऑफिस न जाने किस लिए ग्रामीण क्षेत्र से बहुत बड़ी मात्रा में दाल-चावल की खरीद करने में लगा था। इसके लिए हरलाल को प्रति सप्ताह शनिवार को सुबह की गाड़ी से सात-आठ हजार रुपया लेकर गाँवों में जाना पड़ता। छोटे दुकानदारों को हाथों-हाथ दाम चुकाने के लिए ग्रामीण क्षेत्र के एक विशेष केन्द्र में उनका जो एक ऑफिस था वहीं दस-दस, पाँच-पाँच रुपए के नोट और नकद रुपये लेकर वह जाता, वहाँ रसीद और खाता देखकर गत सप्ताह का बड़ा हिसाब मिलाकर, चालू सप्ताह का काम चलाने के लिए रुपये रख आता। ऑफिस के दो दरबान साथ जाते। हरलाल का जमानतदार नहीं है—यह बात ऑफिस में उठी थी, किन्तु बड़े साहब ने अपने ऊपर सारा भार लेकर कहा था—हरलाल के जमानतदार की आवश्यकता नहीं है।

माघ के महीने से इस प्रकार काम चल रहा था, चैत तक चलेगा, ऐसी संभावना थी। इस मामले को लेकर हरलाल विशेष रूप से व्यस्त था। प्रायः वह बहुत रात गए ऑफिस से लौट पाता।

एक दिन इसी तरह रात को लौटने पर सुना कि वेणु आया था। माँ ने खिलाकर यत्न से उसको बैठाया था। उस दिन उसके साथ बातचीत करके उनका मन उसकी ओर स्नेह से और भी आकर्षित हुआ।

और भी दो-एक दिन इसी प्रकार हुआ। माँ बोलीं, "घर में माँ नहीं है न, इसीलिए वहाँ उसका मन नहीं लगता। मैं वेणु को तेरे छोटे भाई के समान, छोटे लड़के के समान ही समझती हूँ। वैसा ही स्नेह पाकर केवल मुझे माँ कहकर पुकारने के लिए यहाँ आता है।" यह कहते हुए अंचल के छोर से

उन्होंने आँखें पोंछ लीं।

एक दिन हरलाल की वेणु से भेंट हुई। उस दिन वह प्रतीक्षा में बैठा था। काफ़ी रात तक बातचीत हुई। वेणु ने कहा, "पिताजी आजकल ऐसे हो गए हैं कि मैं किसी भी प्रकार घर में नहीं टिक सकता। खासकर मैं सुन रहा हूँ कि वे विवाह करने की तैयारी कर रहे हैं। रतिबाबू सम्बन्ध लेकर आया करते हैं—बस उनके साथ लगातार परामर्श किया जा रहा है। पहले कहीं से यदि मैं देर से लौटता तो पिताजी बेचैन हो उठते थे, इस समय यदि मैं दो-चार दिन घर न लौटूं तो वे चैन का अनुभव करते हैं। मेरे घर रहने से विवाह की बातचीत सावधानी से करनी पड़ती है इससे मेरे न रहने से वे सुख की साँस लेते हैं। यदि यह विवाह होता है तो मैं घर में नहीं रह सकूँगा। मुझे अब उद्धार का कोई रास्ता बतलाइए—मैं स्वतन्त्र होना चाहता हूँ।"

स्नेह और वेदना से हरलाल का हृदय परिपूर्ण हो उठा। संकट के समय और सब को छोड़कर वेणु अपने उन मास्टर साहब के पास आया था इस कारण दुःख के साथ-साथ उसे आनन्द भी हुआ। किन्तु, मास्टर साहब की बिसात ही क्या थी।

वेणु ने कहा, "जैसे भी हो, विलायत जाकर बैरिस्टर हो आने से इस विपद् से छुटकारा मिल जायगा।"

हरलाल बोला, "क्या अधर बाबू जाने देंगे।"

वेणु ने कहा, "मेरे चले जाने से उनकी जान बच जायगी। किन्तु रुपए का उनको जैसा मोह है इससे विलायत जाने का खर्च उनसे आसानी से वसूल नहीं हो सकेगा। कुछ तरकीब करनी पड़ेगी।"

हरलाल ने वेणु की बुद्धिमानी पर हँसते हुए कहा, "कैसी तरकीब।"

वेणु ने कहा, "मैं हैण्डनोट लिखकर रुपया उधार लूंगा। उधार देने वाले के मेरे नाम नालिश करने पर पिताजी बाध्य होकर रुपया चुका देंगे। उस रुपये से भागकर विलायत चला जाऊँगा। वहाँ चले जाने पर खर्च दिये बिना उनसे रहा नहीं जायगा।"

हरलाल ने कहा, "तुम्हें रुपया उधार देगा कौन ?"

वेणु ने कहा, "आप नहीं दे सकेंगे ?"

हरलाल ने आश्चर्य से कहा, "मैं !" उसके मुँह से और कोई बात नहीं निकली।

वेणु ने कहा, "क्यों, आपका दरबान तो तोड़ों में बहुत रुपया घर लाया है।"

हंसते हुए हरलाल ने कहा, "जैसे वह मेरा दरबान है, वैसे ही रुपया भी।"

यह कहते हुए उसने ऑफिस का रुपया किस काम के लिए था यह वेणु को समझा दिया "यह रुपया केवल एक रात के लिए ही दरिद्र के घर में आश्रय ग्रहण करता है, सवेरा होते ही दसों दिशाओं की ओर चला जाता है।"

वेणु ने कहा, "आपके साहब मुझे उधार नहीं दे सकेंगे? न हो तो मैं ज्यादा सूद दे दूंगा।"

हरलाल ने कहा, "तुम्हारे पिता यदि सिक्युरिटी दें तो मेरे अनुरोध करने पर शायद दे भी सकते हैं।"

वेणु ने कहा, "पिताजी यदि सिक्युरिटी ही देंगे तो रुपया क्यों नहीं देंगे।"

तर्क यहीं समाप्त हो गया। हरलाल मन-ही-मन सोचने लगा, 'मेरे पास यदि कुछ होता, तो घर-बार, ज़मीन-जायदाद सब बेच-बाचकर रुपया दे देता।' किन्तु मुश्किल तो यही है कि घर-बार, ज़मीन-जायदाद कुछ भी नहीं है।

: १० :

एक दिन शुक्रवार की रात को हरलाल के घर के सामने एक बग्घी आकर रुकी। वेणु के बग्घी से उतरते ही हरलाल के दफ्तर का दरबान उसको लम्बा सलाम करके घबराया हुआ ऊपर बाबू को समाचार देने चला गया। उस समय हरलाल अपने सोने के कमरे मे ज़मीन पर बैठा हुआ रुपया मिला रहा था। वेणु ने उसी कमरे मे प्रवेश किया। आज उसका बिलकुल दूसरा ही ठाट-बाट था। शौकीनी धोती-चादर के बदले सुडौल देह मे पारसी कोट और पतलून पहने सिर पर टोप लगाकर आया था। उसके दोनों हाथों की अँगुलियों में मोटी मणि-जड़ी अंगूठियाँ चमक रही थी। गले मे पड़ी हुई मोटी सोने की चैन में बंधी घड़ी सीने के पॉकेट में पड़ी थी। कोट की आस्तीन के भीतर से कुरते की आस्तीन में लगे हीरे के बटन दिख रहे थे।

रुपया गिनना बंद करके आश्चर्य से हरलाल ने कहा, "क्या बात है। इतनी रात गए इस वेश में क्यों?"

वेणु ने कहा, "परसों पिताजी का विवाह है। उन्होंने मुझसे यह छिपा रखा है, किन्तु मुझे खबर लग गई है। पिताजी से कहा कि मैं कुछ दिन के लिए अपने बैरकपुर के बाग मे जाऊँगा। यह सुनकर बहुत खुशी से वे राजी हो गए। अतः बाग मे जा रहा हूँ। इच्छा हो रही है, कि फिर न लौटूं। यदि साहस होता तो गंगा में डूब मरता।"

कहते-कहते वेणु रो पड़ा। हरलाल की छाती में जैसे छुरी चुभी। एक अपरिचित स्त्री के आकर वेणु की माँ के कमरे में, माँ की खाट के स्थान पर अधिकार कर लेने पर, वेणु का स्नेह-स्मृति-जड़ित घर उसके लिए कैसा कण्टकमय हो जायगा हरलाल ने सम्पूर्ण हृदय से इसकी अनुभूति की। मन-ही-मन सोचा, 'पृथ्वी पर गरीब होकर न जन्म लेने पर भी दुःख और अपमान का अन्त नहीं है।' वेणु को क्या कहकर सान्त्वना दे यह न समझ पाने के कारण उसने वेणु का हाथ अपने हाथ में ले लिया। हाथ पकड़ते ही उसके मन में एक विचार आया। उसने सोचा, 'विवाद के एक ऐसे अवसर पर वेणु से इतनी सजावट कैसे बन पड़ी।'

हरलाल को अपनी अँगूठी पर आँख गड़ाए हुए देखकर वेणु ने जैसे उसके मन का भाव ताड़ लिया। वह बोला, "ये अंगूठियाँ मेरी माँ की हैं।"

सुनकर हरलाल बड़ी मुश्किल से आँसू रोक पाया। कुछ देर बाद बोला, "वेणु, खा आए हो?"

वेणु ने कहा, "हाँ, आपका भोजन नहीं हुआ?"

हरलाल ने कहा, "रुपया गिनकर आयरन-चेस्ट में रखे बिना कमरे से बाहर नहीं निकल सकता।"

वेणु ने कहा, "आप खा आइए, आपसे बहुत बातें करनी हैं। मैं कमरे में रहूँगा। माँ आपका खाना लिये बैठी हैं।"

हरलाल ने कुछ इधर-उधर करके कहा, "मैं चटपट खाकर आता हूँ।"

हरलाल ने झटपट खाना समाप्त करके माँ के साथ कमरे में प्रवेश किया। वेणु ने उन्हें प्रणाम किया, उन्होंने वेणु की ठोड़ी छूकर चुम्बन लिया। हरलाल से सारा समाचार पाकर उनका हृदय जैसे फटा जा रहा था। अपना सारा स्नेह देकर भी वे वेणु के अभाव को पूरा नहीं कर सकतीं, उनको यही दुःख था।

चारों ओर बिखरे रुपयों के बीच बैठे हुए तीनों में वेणु के बचपन की बातें होने लगीं। मास्टर साहब के साथ जुड़ी हुई उसके कितने दिनों की कितनी घटनाएँ थीं। उसके बीच-बीच में उस असीम स्नेह-शालिनी माँ की बात भी होने लगती।

इस तरह बहुत रात बीत गई। सहसा एक बार घड़ी देखकर वेणु ने कहा, "अब बस! देरी करने पर गाड़ी निकल जाएगी।"

हरलाल की माँ ने कहा, "बेटा, आज रात यहीं रहो न! कल प्रातःकाल हरलाल के साथ एक संग ही निकलना!"

वेणु ने अनुरोधपूर्वक कहा, "नहीं माँ, ऐसा अनुरोध न करें। आज रात जैसे भी हो मुझे जाना ही होगा।"

हरलाल से कहा, "मास्टर साहब, ये अंगूठी घड़ी आदि बाग में ले जाना सुरक्षित नहीं है। आपके पास ही रखे जाता हूँ, और लौटकर ले जाऊँगा। अपने दरबान से कह दीजिए, मेरी गाड़ी से चमड़े का हैण्डबेग ला दे। उसीमें ये चीजें रख दूं!"

ऑफिस का दरबान गाड़ी से बैग ले आया। वेणु ने अपनी चेन, घड़ी, अंगूठी, बटन सब निकालकर बैग में भर दिए। सावधान हरलाल ने उस बैग को लेकर उसी समय लोहे की तिजोरी में रख दिया।

वेणु ने हरलाल की माँ के पैरों की धूल ली। उन्होंने रुद्ध कण्ठ से आशीर्वाद दिया, "माँ जगदम्बा माँ बनकर तेरी रक्षा करें।"

उसके पश्चात् वेणु ने हरलाल का चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। और किसी दिन उसने हरलाल को इस प्रकार प्रणाम नहीं किया था। हरलाल बिना कुछ कहे उसकी पीठ पर हाथ रखे हुए उसके साथ-साथ नीचे उतर आया। गाड़ी की लालटेन की बत्ती जल उठी। दोनों घोड़े अधीर हो उठे। कलकत्ता के गैस की बत्तियों के प्रकाश से आलोकित अर्ध-रात्रि में वेणु को लिए हुये गाड़ी अदृश्य हो गई।

हरलाल अपने कमरे में आकर बहुत देर तक चुपचाप बैठा रहा। उसके बाद एक लम्बी साँस लेकर रुपया गिन-गिनकर विभाजित करके अलग-अलग थैलियों में भरने लगा। पहले ही नोटों की गिनती करके थैली में बन्द कर लोहे के सन्दूक में रख दिया था।

: ११ :

लोहे के सन्दूक की चाबी तकिए के नीचे रखकर उस रुपये वाले कमरे में ही हरलाल बहुत रात गए सोने गया। अच्छी नींद नहीं आई। स्वप्न में देखा—वेणु की माँ पर्दे की ओट से ऊँचे स्वर में उसे फटकार रही थी, बात बिलकुल भी स्पष्ट सुनाई नहीं दे रही थी, केवल उस अनिर्दिष्ट कण्ठ-स्वर के साथ-साथ वेणु की माँ के मणि-पन्ना-हीरे के अलंकारों से लाल, हरी, सफ़ेद प्रखर किरणें काले परदे को भेदकर बाहर आकर आलोड़ित हो रही थीं। हरलाल प्राणपण से वेणु को पुकारने का प्रयत्न कर रहा था, किन्तु उसके गले से किसी भी प्रकार आवाज नहीं निकल रही थी। इसी बीच प्रचण्ड शब्द करता हुआ कुछ टूट कर परदे को फाड़कर गिरा—चौंककर आँखें मलकर हरलाल ने देखा, सघन अंधकार था। हठात् हवा का एक झोंका आया और एक आवाज के साथ जंगले को ठेलकर बत्ती को बुझा दिया। हरलाल का सारा शरीर

पसीने से भीग गया। झटपट उठकर दियासलाई से उसने बत्ती जलाई। घड़ी में देखा, चार बजे थे। सोने का अब समय नहीं था—रुपया लेकर मुफ-स्सिल जाने के लिए तैयार होना होगा।

हरलाल के मुँह धोकर लौटते समय माँ ने अपने कमरे से कहा, "क्या बेटा उठ गया है ?"

हरलाल ने प्रभात-काल में सबसे पहले माता का मंगलमुख देखने के लिए कमरे में प्रवेश किया। माँ ने उसका प्रणाम लेकर मन-ही-मन उसे आशी-र्वाद देते हुए कहा, "बेटा, मैंने अभी स्वप्न देखा था, तू बहू लेने जा रहा है। भोर का स्वप्न क्या मिथ्या होगा ?"

हँसते हुए हरलाल ने कमरे में प्रवेश किया। रुपये और नोटों की थैलियों को लोहे के संदूक से बाहर निकालकर पैक बॉक्स में बन्द करने का आयोजन कर रहा था। सहसा उसकी छाती धड़की, नोटों की दो-तीन थैली खाली थीं। लगा, जैसे स्वप्न देख रहा हो। थैलियों को सन्दूक पर जोर से पछाड़ा—उससे खाली थैलियों का खालीपन अप्रमाणित नहीं हुआ। तो भी व्यर्थ की आशा में थैलियों के बन्धनों को खोलकर अच्छी तरह से झाड़ा. एक थैली में से दो चिट्ठियाँ निकलीं। वेणु के हाथ की लिखावट थी—एक चिट्ठी उसके पिता के नाम थी, और एक हरलाल के नाम।

जल्दी से खोलकर पढ़ने लगा। जैसे आँखों से दीख न रहा हो। लगा जैसे प्रकाश यथेष्ट न हो। बार-बार बत्ती उकसाने लगा। जो पढ़ता था उसे अच्छी तरह नहीं समझ रहा था, जैसे बँगला भाषा भूल गया हो।

बात यह थी, वेणु तीन हजार रुपये के दस रुपये वाले नोट लेकर विला-यत यात्रा के लिए चल पड़ा। आज सुबह ही जहाज छूटने की बात थी। हरलाल जब खाने गया था उसी समय वेणु ने यह काण्ड किया था। लिखा था "पिता को चिट्ठी लिखी है, वे मेरा यह ऋण शोध कर देंगे। उसके अतिरिक्त बैग खोलकर देखेंगे, उसमें माँ का जो गहना है, उसका कितना मूल्य है ठीक नहीं जानता, शायद तीन हजार रुपये से अधिक होगा। माँ यदि जीवित रहती तो मुझे विलायत जाने के लिए पिता के रुपया न देने पर भी वे इन गहनों को देकर अवश्य मेरे लिए खर्चे की व्यवस्था कर देतीं। मेरी माँ का गहना पिता और किसी को दें यह मैं सहन नहीं कर सका। इसीलिए जैसे भी हो सका मैंने उसे ले लिया है। पिता यदि रुपया देने में देरी करें तो आप स्वयं इन गहनों को बेच-कर या गिरवी रखकर रुपया ले सकेंगे। यह मेरी माँ की चीज है—यह मेरी ही चीज़ है।" उसको छोड़ और भी अनेक बातें थीं—वे कोई काम की बातें

नहीं थीं।

कमरे में ताला लगा झट एक गाड़ी लेकर हरलाल गंगा के घाट की ओर दौड़ा। किस जहाज़ से वेणु रवाना हुआ है उसका नाम भी वह नहीं जानता था। मेटियाबुर्ज तक पहुँचने पर हरलाल को खबर मिली कि दो जहाज़ सवेरे रवाना हो गए हैं। दोनों ही इंग्लैंड जायेंगे। किस जहाज़ में वेणु है यह उसके अनुमान के बाहर की बात थी और उस जहाज़ को पकड़ने का क्या उपाय था यह भी वह नहीं सोच सका।

मेटियाबुर्ज से उसके घर की ओर जब गाड़ी लौटी तब सबेरे की धूप में कलकत्ता शहर जाग उठा था। हरलाल की आँखों को कुछ नहीं सूझ रहा था। उसका किंकर्तव्यविमूढ़ अन्तःकरण एक कलेवरहीन भयंकर प्रतिकूलता को जैसे बराबर प्राणपण से ठेल रहा हो—किन्तु उसे कहीं एक तिल-भर भी हिला न पा रहा हो। जिस घर में उसकी माँ रहती थीं, अब तक जिस घर में पैर रखते ही कर्म-क्षेत्र की सारी क्लान्ति और संघर्ष की वेदना क्षण-भर में ही उससे दूर हो जाती थी; उसी घर के सामने आकर गाड़ी रुकी—गाड़ीवान को किराया चुका-कर उसी घर में अपरिचित नैराश्य और भय के साथ उसने प्रवेश किया।

उद्विग्नता के साथ माँ बरामदे में खड़ी थीं। पूछा, "बेटा, कहाँ गए थे?"

हरलाल ने कहा, "माँ, तुम्हारे लिए बहू लेने गया था।" यह कह कर वह सूखे गले से हँसते-हँसते वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ा।

"भैया, यह क्या हो गया!"—कहती हुई माँ झटपट पानी लाकर उसके मुँह पर छींटे मारने लगीं।

कुछ देर बाद हरलाल आँखें खोल, शून्य दृष्टि से चारों ओर देखकर, उठ बैठा। हरलाल ने कहा, "माँ, तुम घबराना मत। मुझे थोड़ा अकेले में रहने दो।" यह कह कर उसने झटपट कमरे में घुसकर भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। माँ दरवाज़े के बाहर धरती पर बैठ गईं—फाल्गुन की धूप उनकी सारी देह पर आकर पड़ रही थी। वे बन्द दरवाज़े के ऊपर सिर रखकर, रह-रहकर बार-बार पुकारने लगीं, "हरलाल, बेटा हरलाल।"

हरलाल ने कहा, "माँ, थोड़ी ही देर में मैं बाहर निकलूँगा, अभी तुम जाओ।"

माँ धूप में वहीं बैठकर जप करने लगीं।

ऑफिस के दरबान ने आकर दरवाज़े पर धक्का देकर कहा, "बाबू, इस समय न निकले तो फिर गाड़ी नहीं मिल सकेगी।"

हरलाल ने भीतर से कहा, "आज सात बजे की गाड़ी से जाना नहीं हो

सकेगा।"

दरबान ने कहा, "तब कब चलेंगे ?"

हरलाल ने कहा, "यह मैं तुम्हें पीछे बताऊँगा।"

दरबान सिर हिलाकर हाथ मटकाते हुए नीचे चला गया।

हरलाल सोचने लगा, 'यह बात कहूँ किससे। यह चोरी है। वेणु को कौन जेल भेजेगा ?"

अचानक उसे गहने की बात याद आई। यह बात एकदम भूल गया था। लगा जैसे किनारा मिल गया हो। बैग खोलकर देखा, उसमें केवल अँगूठी, घड़ी, बटन, हार ही नहीं—ब्रेसलेट, चिक, सीमन्त, मोतियों की माला आदि और भी बहुत-से कीमती गहने थे। उनका मूल्य तीन हज़ार रुपये से कहीं ज्यादा था। किन्तु यह भी तो चोरी थी। यह भी तो वेणु का नहीं था। यह बैग जितनी देर उसके घर में रहेगा उतनी देर उसके लिए विपत्ति थी।

तब और देर न करके अधरलाल के लिए वह चिट्ठी और बैग लेकर हरलाल कमरे से बाहर निकला।

माँ ने पूछा, "बेटा, कहाँ जा रहे हो ?"

हरलाल ने कहा, "अधरबाबू के घर।"

माँ की छाती से हठात् अज्ञात भय का एक बड़ा बोझ उतर गया। उन्होंने सोचा, हरलाल ने कल जब से वेणु के पिता के विवाह की बात सुनी है, तब से बेचारे के मन में शान्ति नहीं है। अहा ! वेणु को कितना चाहता है !

माँ ने पूछा, "तो आज फिर तुम्हारा देहात जाना नहीं होगा ?"

हरलाल ने कहा, "नहीं।" और वह तुरत बाहर निकल गया।

अधरलाल के घर पहुँचने के पहले ही दूर से सुनाई दिया कि शहनाई ने अल्हैया विलावल रागिनी के करुण स्वर में आलाप छेड़ दी है, किन्तु हरलाल ने भीतर घुसते ही देखा, विवाह के घर में उत्सव के साथ जैसे अशान्ति के चिह्न मिले हुए हों। दरबानों का कड़ा पहरा था, घर से नौकर-चाकर कोई बाहर नहीं निकल सकता था—सभी के चेहरों पर भय और चिन्ता के भाव थे। हरलाल को खबर मिली, कल रात घर से बहुत मूल्यवान गहनों की चोरी हो गई। दो-तीन नौकरों पर विशेष रूप से सन्देह होने के कारण पुलिस को सौंप देने का प्रयत्न हो रहा था।

दोतल्ले पर बरामदे में जाकर हरलाल ने देखा, अधरबाबू आग-बबूला हुए बैठें थे और रतिकान्त तम्बाकू पी रहा था। हरलाल ने कहा, "आपसे अकेले में मुझे कुछ बात करनी है।"

अधरबाबू ने चिढ़कर कहा, "तुम्हारे साथ अकेले में बात करने का इस समय मेरे पास समय नहीं है—जो बात हो यहीं कह डालो !"

उन्होंने सोचा, 'हरलाल शायद इस समय उनके पास सहायता या उधार लेने आया है।'

रतिकान्त ने कहा, "मेरे सामने बाबू को कुछ बताने में यदि संकोच करें, न हो तो मैं उठ जाऊँ।"

अधर ने खीझकर कहा, "उँह, बैठो न।"

हरलाल ने कहा, "कल रात को वेणु मेरे घर यह बैग रख गया है।"

अधर—"बैग में क्या है ?"

हरलाल ने बैग खोलकर अधरबाबू के हाथ में दे दिया।

अधर—"मास्टर-छात्र ने मिलकर अच्छा कार-बार खोला है ! यह जानते हो कि यह चोरी का माल बेचने से पकड़े जाओगे इसीसे ले आए हो—सोचते होंगे, ईमानदारी के लिए बख्शीश पाओगे ?

तब हरलाल ने अधर के नाम का पत्र उनके हाथ में दे दिया। पढ़कर वे आग-बबूला हो उठे। बोले, ' में पुलिस को खबर दूँगा, मेरा लड़का अभी बालिग़ नहीं हुआ है—तुमने चोरी से उसको विलायत भेजा है। शायद पाँच सौ रुपया उधार देकर तीन हज़ार रुपया लिखवा लिया है। ऋण-शोध मैं नहीं करूँगा।"

हरलाल ने कहा, "मैंने उधार नहीं दिया।"

अधर बोले, "तो उसे रुपया मिला कहाँ से। तुम्हारा बक्स तोड़कर चोरी की है ?"

हरलाल ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। रतिकान्त चबा-चबाकर बोला, "इनसे पूछिए ना, तीन हज़ार रुपया तो क्या, इन्होंने क्या कभी पाँच सौ रुपया भी आँखों से देखा है !"

जो हो, गहनों की चोरी की तलाशी होने के बाद वेणु के विलायत भागने को लेकर घर में एक हलचल मच गई। हरलाल सारे अपराध का भार अपने सिर पर लेकर घर से बाहर आया।

जब वह बाहर सड़क पर आया तो उसका मन जैसे जड़ हो गया हो। उस समय उसमें भयभीत होने और सोचने की भी शक्ति नहीं रह गई थी। इस काण्ड का परिणाम क्या हो सकता था, मन में यह विचार भी नहीं लाना चाहता था।

गली में घुसते ही देखा उसके घर के सामने एक गाड़ी खड़ी थी। चौंक पड़ा। एकाएक आशा जगी, वेणु लौट आया है। अवश्य ही वेणु है। उसका

संकट संपूर्ण—निरुपाय रूप से चूड़ान्त हो उठेगा यह बात वह किसी भी प्रकार विश्वास नहीं कर सका।

जल्दी से गाड़ी के पास आकर देखा, गाड़ी के भीतर उसके ऑफिस के एक साहब बैठे थे। साहब ने हरलाल को देखते ही गाड़ी से उतरकर हाथ पकड़े हुए घर में प्रवेश किया। पूछा, "आज देहात क्यों नहीं गए ?"

ऑफिस के दरबान ने सन्देहवश बड़े साहब को खबर कर दी थी—उन्होंने उनको भेजा था।

हरलाल बोला, "तीन हजार रुपये के नोट नहीं मिल रहे है।"

साहब ने पूछा, "कहाँ गए ?"

हरलाल 'नहीं जानता' यह उत्तर भी नहीं दे सका, चुप रह गया।

साहब ने कहा, "रुपया कहाँ है, रुपया कहाँ है, चलो देखूं।"

हरलाल उसको ऊपर के कमरे में ले गया। साहब ने सब गिनकर चारों ओर ढूंढ़-खोजकर देखा। घर के सभी कमरों की छान-बीन करने लगे। यह सारा हाल देखकर माँ से और नहीं रहा गया—उन्होंने साहब के सामने ही बाहर निकलकर व्याकुल होकर पूछा, "अरे हरलाल, क्या हुआ रे !"

हरलाल ने कहा, "माँ, रुपया चोरी चला गया है।"

माँ ने कहा, "चोरी कैसे जा सकता है, हरलाल, यह सर्वनाश किसने किया !"

हरलाल ने कहा, "माँ, चुप रहो !"

तलाशी समाप्त करके साहब ने पूछा, "इस कमरे में रात को कौन था ?"

हरलाल ने कहा, "दरवाजा बन्द करके मैं अकेला सोया था—और कोई नहीं था।"

साहब ने रुपया गाड़ी में रखकर हरलाल से कहा, "अच्छा, बड़े साहब के पास चलो !"

हरलाल और साहब को साथ जाते देख माँ ने उनका रास्ता रोककर कहा, "साहब, मेरे लड़के को कहाँ ले जाओगे। भूखे रहकर इसको पाला है—मेरा लड़का कभी भी दूसरे के रुपयों को हाथ नहीं लगायगा।"

बंगला की बात बिलकुल भी न समझते हुए साहब ने कहा, "अच्छा, अच्छा।"

हरलाल ने कहा, "माँ, तुम क्यों घबरा रही हो। बड़े साहब से मिलकर मैं अभी आता हूँ।"

चिंतित होकर माँ ने कहा, "तूने सवेरे से कुछ नहीं खाया है।"

इस बात का कुछ भी उत्तर दिये बिना हरलाल गाड़ी में बैठकर चला गया। माँ ज़मीन पर लोटी पड़ी रहीं।

बड़े साहब ने हरलाल से कहा, "सच कहो, बात क्या है ?"

हरलाल ने कहा, "मैंने रुपया नहीं लिया है।"

बड़ा साहब—"इस बात का मैं पूरा विश्वास करता हूँ। किन्तु तुम यह अवश्य जानते हो किसने लिया है ?"

कोई उत्तर न देकर हरलाल मुँह नीचा किये बैठा रहा।

साहब—"तुम्हारे जानते यह रुपया किसी ने लिया है ?

हरलाल ने कहा, "मेरे प्राणों के रहते मेरे जानते कोई यह रुपया नहीं ले सकता था।"

बड़े साहब ने कहा, "देखो हरलाल मैंने तुम पर विश्वास करके बिना कोई ज़मानत लिये यह उत्तरदायित्वपूर्ण काम दिया था। ऑफिस के सब लोग विरोध में थे। तीन हज़ार रुपया कुछ भी ज़्यादा नहीं है। किन्तु तुम मेरी बड़ी बदनामी कराओगे। आज पूरे दिन का समय तुमको देता हूँ—जैसे भी हो रुपया इकट्ठा करके लाओ—तब इसे लेकर कोई चर्चा नहीं करूँगा, तुम जैसे काम कर रहे हो वैसे ही करते रहोगे।"

यह कहकर साहब उठ गए। उस समय ग्यारह बज गए थे। हरलाल जब सिर नीचा किये बाहर चला गया तब ऑफिस के बाबू लोग बहुत खुश होकर हरलाल के पतन की आलोचना करने लगे।

हरलाल को एक दिन का समय मिला। नैराश्य के अन्तिम तल के पंक को आलोड़ित करने के लिए मियाद में और भी एक लम्बा दिन बढ़ गया।

उपाय क्या है ? उपाय क्या है ? उपाय क्या है ?—यही सोचते-सोचते उस धूप में हरलाल सड़क पर चक्कर काटने लगा। उपाय है या नहीं, अन्त में यह चिंता समाप्त हो गई, किन्तु बिना कारण सड़क पर चक्कर काटना बंद नहीं हुआ। जो कलकत्ता हज़ारों लोगों का आश्रय स्थान है वही क्षण-भर में हरलाल के लिए एक विशाल चूहेदानी के समान हो उठा। उसमें किसी ओर से बाहर जाने का कोई रास्ता नहीं था। सम्पूर्ण जन-समाज इस अति क्षुद्र हरलाल को चारों ओर से रोके हुए खड़ा था। कोई उसे जानता भी नहीं, और उसके प्रति किसी के मन में कोई विद्वेष भी नहीं, किन्तु हर एक व्यक्ति उसका शत्रु था। किन्तु सड़क के लोग, उसकी देह से सटकर उसके पास से चले जा रहे थे; ऑफिस के बाबू लोग बाहर आकर दौने में जल-पान कर रहे थे, उसकी ओर कोई नहीं

देखता था; मैदान के किनारे थके हुए पथिक सिर के नीचे हाथ रखकर पैर के ऊपर पैर रखकर पेड़ के नीचे पड़े थे; घोड़ागाड़ी में बैठकर हिन्दुस्तानी (अबंगाली) लड़कियाँ कालीघाट जा रही थीं। एक चपरासी ने एक चिट्ठी हरलाल के सामने करके कहा, "बाबू, पता पढ़ दो"—जैसे उसमें तथा अन्य पथिकों में कोई भेद न हो; उसने भी ठिकाना पढ़कर उसे समझा दिया। क्रमशः ऑफिस बंद होने का समय हो गया। ऑफिस के भवनों से बाहर निकलकर विभिन्न सड़कों पर से होकर गाड़ियाँ घरो की ओर दौड़ पड़ीं। ऑफिस के बाबू लोग ट्राम में बैठकर थिएटर के विज्ञापनों को पढ़ते हुए घर को लौट चले। आज हरलाल का ऑफिस नहीं था; ऑफिस की छुट्टी भी नहीं थी, घर लौटने के लिए ट्राम पकड़ने की कोई जल्दी नहीं थी। शहर के समस्त क्रिया-कलाप, घर-बार, गाड़ी-घोड़ा, आना जाना हरलाल के लिए कभी अत्यंत भयानक सत्य के समान दाँत निकालकर खड़े हो जाते, कभी एकदम वस्तुहीन स्वप्न के समान छाया बन जाते। आहार नहीं, विश्राम नहीं, आश्रय नहीं, किस प्रकार हरलाल का दिन बीत गया यह वह भी न जान सका—रास्तों पर गैस का प्रकाश हो गया—मानो एक सावधान अंधकार चारों ओर से अपने हजारों क्रूर नेत्र खोले हुए शिकार-लुब्ध दानव के समान चुप बैठा हो। रात कितनी बीत गई थी इस बात की हरलाल ने चिंता भी नहीं की। उसके सिर की धमनियाँ धप-धप कर रही थीं; माथा जैसे फटा जा रहा हो, सारे शरीर में आग जल रही हो; पैर अब नहीं उठते। सारे दिन एक-एक करके दुःख के आवेग और अवसाद की जड़ता से केवल माँ की बात मन में आती रही थी—कलकत्ता की असंख्य जनसंख्या में से केवल मात्र वही एक नाम सूखे गले को भेदकर मुँह में आता रहा है—माँ, माँ, माँ। और कोई पुकारने के लिए नहीं था। सोचा, रात जब सघन हो जायेगी, कोई भी आदमी जब इस तुच्छ निरपराध हरलाल का अपमान करने के लिए जागता नहीं रहेगा, तब वह चुपके से अपनी माँ की गोद में जाकर सो जाएगा—उसके बाद मानो फिर नींद न टूटे! इस आशंका से कि कहीं उसकी माँ के सामने पुलिस के आदमी या और कोई उसका अपमान करने आवे वह घर नहीं जा पा रहा था। देह का भार जब वह और नहीं सँभाल पा रहा था तब किराए की एक गाड़ी को देखकर हरलाल ने उसे बुलाया। गाड़ीवान ने पूछा, "कहाँ जाना है।"

हरलाल ने कहा, "कहीं नहीं। इसी मैदान के रास्ते पर कुछ देर हवा खाता हुआ घूमूँगा।"

शंकित गाड़ीवान को चले जाने को तैयार देखकर हरलाल ने उसके हाथ में एक रुपया पेशगी भाड़ा दे दिया। तब वह गाड़ी हरलाल को लेकर मैदान के

रास्ते पर चक्कर काटती हुई घूमने लगी।

तब थके हरलाल ने अपने गर्म सिर को खुले जंगले के ऊपर रखकर आँखें मूंद लीं। धीरे-धीरे उसकी सारी वेदना जैसे दूर होने लगी। शरीर शीतल हो गया। मन में एक गम्भीर, निबिड़ आनन्दपूर्ण शान्ति सघन होने लगी। मानो किसी परम परित्राण ने उसका चारों ओर से आलिंगन कर लिया। उसने सारे दिन सोचा था, कि उसके लिए कहीं कोई रास्ता नहीं, सहारा नहीं, निष्कृति नहीं, उसके अपमान का अन्त नहीं, दुःख की सीमा नहीं, वह बात मानो एक क्षण में मिथ्या हो गई हो। अब लगा, वह तो केवल भय था, वह तो सत्य नहीं था। जिसने उसके जीवन को लोहे की मुट्ठी में दबाकर पीस डाला था, हरलाल ने उसे बिलकुल भी स्वीकार नहीं किया—मुक्ति ने अनन्त आकाश को भर दिया है, शान्ति की कहीं कोई सीमा नहीं। इस तुच्छ हरलाल को वेदना में, अपमान में, अन्याय में बंदी बनाकर रख सके ऐसी शक्ति विश्व-ब्रह्माण्ड के किसी राजा-महाराजा में भी नहीं थी। जिस आतंक में उसने अपने-आपको बाँध रखा था वह सब खुल गया। तब हरलाल अपने बन्धन-मुक्त हृदय के चारों ओर अनन्त आकाश में अनुभव करने लगा, मानो उसकी वह दरिद्र माँ देखते-देखते घर-घर में विराट् रूप धारण करके सम्पूर्ण अन्धकार को घेरती जा रही हों। वे कहीं समा नहीं रही थीं। कलकत्ता के रास्ते, घाट, घर-बार, दुकान-बाजार क्रमशः उस स्वरूप में समाकर विलीन होते जा रहे थे—वायु भर गई, आकाश भर उठा, एक-एक करके नक्षत्र उसमें विलीन हो गए—हरलाल के शरीर-मन की सारी वेदना, सारी चिंता, सारी चेतना उसमें थोड़ा-थोड़ा करके विलीन हो गई, चली गई, गर्म भाप का बुद्-बुद् एकदम फूट गया—अब तो अन्धकार भी नहीं, प्रकाश भी नहीं, केवल एक प्रगाढ़ परिपूर्णता रह गई।

गिरजे की घड़ी में एक बजा। गाड़ीवान ने अंधेरे मैदान में गाड़ी लेकर चक्कर काटते-काटते अन्त में खीझकर कहा, "बाबू, घोड़ा अब और नहीं चल सकता—बोलो कहाँ जाना है।"

कोई उत्तर नहीं मिला। कोचवान ने उतरकर हरलाल को हिलाकर फिर पूछा। कोई उत्तर नहीं। तब डरकर गाड़ीवान ने परीक्षा करके देखा, हरलाल का शरीर अकड़ा हुआ था, उसकी साँस नहीं चल रही थी।

'कहाँ जाना होगा' इस प्रश्न का हरलाल से और कोई उत्तर नहीं मिल सका।

गुप्त धन

: १ :

अमावस्या की आधी रात थी। मृत्युञ्जय तान्त्रिक मतानुसार अपना प्राचीन देवी जयकाली की पूजा करने बैठा। पूजा समाप्त करके जब उठा तो निकटस्थ आम के बगीचे से प्रातःकाल का पहला कौआ बोला।

मृत्युञ्जय ने पीछे घूमकर देखा, मन्दिर का द्वार बन्द था। तब उसने देवी के चरणों में एक बार माथा टेककर उनका आसन सरकाया। आसन के नीचे से कटहल के काठ का एक बक्स बाहर निकला। जनेऊ में चाबी बँधी थी। वही चाबी लगाकर मृत्युञ्जय ने बक्स खोला। खोलते ही चौंककर हाथ से माथा ठोका।

मृत्युञ्जय का अन्दर का बगीचा प्राचीर से घिरा हुआ था। उसी बाग के एक भाग में बड़े-बड़े पेड़ों की छाया के अन्धकार में यह छोटा-सा मन्दिर था। मन्दिर में जयकाली की मूर्ति को छोड़कर और कुछ न था। उसमें केवल एक प्रवेश-द्वार था। मृत्युञ्जय ने बक्स उठाकर बहुत देर तक हिला-डुलाकर देखा। मृत्युञ्जय के बक्स खोलने के पहले वह बन्द ही था—किसी ने उसको तोड़ा नहीं था। मृत्युञ्जय ने कई बार प्रतिमा के चारों ओर चक्कर लगाकर-टटोलकर देखा—कुछ भी नहीं मिला। उन्मत्त होकर मन्दिर का दरवाजा खोल दिया—उस समय प्रभात की किरणें फूट रही थीं। मन्दिर के चारों ओर मृत्युञ्जय घूम-घूमकर व्यर्थ की आशा में खोजते हुए चक्कर लगाने लगा।

प्रभातकालीन आलोक जब प्रस्फुटित हो उठा तब वह बाहर के चण्डी-मण्डप में आकर सिर पर हाथ रखे बैठकर सोचने लगा। सारी रात जागने के बाद श्रान्त-देह को थोड़ी-सी झपकी आ गई, इसी समय हठात् चौंक पड़ा। सुना, "जय हो बाबा।"

प्राङ्गण में सामने एक जटाजूटधारी संन्यासी खड़े थे। मृत्युञ्जय ने भक्ति-भाव से उनको प्रणाम किया। संन्यासी ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा, "बेटा, तुम मन में व्यर्थ शोक कर रहे हो।"

सुनकर मृत्युञ्जय को आश्चर्य हुआ। कहा, "आप अन्तर्यामी हैं, नहीं तो मेरा शोक किस प्रकार जाना। मैंने तो किसी से भी कुछ नहीं कहा।"

संन्यासी बोले, "वत्स, मैं कहता हूँ, तुम्हारा जो कुछ खो गया है उसके लिए तुम आनन्द मनाओ, शोक मत करो!"

मृत्युञ्जय ने उनके दोनों पैर पकड़कर कहा, "तब तो आप सभी-कुछ जान गए हैं—किस तरह खो गया है, कहाँ जाकर फिर मिलेगा, वह जब तक न बतायेंगे मैं आपके चरण नहीं छोड़ूँगा।"

संन्यासी ने कहा, "मैं यदि तुम्हारी अमङ्गल कामना करता तो बताता। किन्तु भगवती ने कृपा करके जो हर लिया है उसके लिए शोक न करना!"

संन्यासी को प्रसन्न करने के लिए मृत्युञ्जय ने सारे दिन विविध प्रकार से उनकी सेवा की। दूसरे दिन प्रातः अपनी गोशाला से लोटा-भर फेनयुक्त दूध दुहकर लाने पर देखा, संन्यासी नहीं थे।

: २ :

मृत्युञ्जय जब बच्चा था, जब उसके पितामह हरिहर एक दिन इसी चण्डी-मण्डप में बैठकर तम्बाकू पी रहे थे, तब इसी तरह एक संन्यासी 'जय हो बाबा' बोलते हुए इसी आँगन में आ खड़े हुए थे। हरिहर ने उस संन्यासी को कई दिन घर में रखकर विधिपूर्वक सेवा द्वारा सन्तुष्ट किया था।

विदा के समय संन्यासी ने जब यह प्रश्न किया, "वत्स, तुम क्या चाहते हो।" हरिहर ने कहा, "बाबा, यदि सन्तुष्ट हुए हों तो एक बार मेरी हालत सुनें। एक समय इस गाँव में हम सबसे समृद्ध थे। मेरे प्रपितामह ने दूर के एक कुलीन को बुलवाकर उससे अपनी एक कन्या का विवाह कर दिया था। उनके वह दौहित्रवंशज ही हमको धोखा देकर आजकल इस गाँव में बड़े आदमी बन बैठे हैं। इस समय हमारी अवस्था अच्छी नहीं है, इसी कारण इनका अहंकार सहन करते रहते हैं। किन्तु अब और नहीं सहा जाता। कैसे हमारा कुल फिर से बड़ा हो जाय यही उपाय बता दें, यही आशीर्वाद दें।"

संन्यासी ने थोड़ा हँसकर कहा, "बेटा, छोटे होकर सुख से रहो, बड़े होने के प्रयत्न में मुझे भलाई नहीं दिखती।"

किन्तु हरिहर ने फिर भी नहीं छोड़ा; वंश को बड़ा करने के लिए वह सब-कुछ स्वीकार करने के लिए राजी था।

तब संन्यासी ने अपनी झोली से कपड़े में लिपटा रुई से बने काग़ज पर लिखा एक लेख निकाला। काग़ज लम्बा था, जन्म-पत्र के समान लिपटा

था। संन्यासी ने उसको ज़मीन पर फैला दिया। हरिहर ने देखा, उसमें बने नाना प्रकार के चक्रों में अनेक प्रकार के सांकेतिक चिह्न अंकित थे, और सबके नीचे एक लम्बी तुकबंदी लिखी हुई थी जिसका आरम्भ इस प्रकार था :

पाये धरे साथा।
रा नाहि देय राथा॥
शेषे[1] दिल[2] रा,
पागोल छाड़ो पा॥
तेंतूल बटेर कोल[3],
दक्षिण याओ चले,
दक्षिण याओ[4] चले॥
ईशानकोणे ईशानी
कहे दिलाम[5] निशानी। इत्यादि

हरिहर ने कहा, "बाबा, कुछ भी तो नहीं समझा।"

संन्यासी बोले, "पास रख लो, देवी की पूजा करो। उनके प्रसाद से तुम्हारे वंश में कोई-न-कोई इस लिखावट को समझ सकेगा। उस समय वह इतना ऐश्वर्य पायगा जिसकी जगत् में तुलना नहीं।"

हरिहर ने मिन्नत करके कहा, "बाबा, क्या समझा देंगे नहीं ?"

संन्यासी ने कहा, "नहीं, साधना द्वारा समझना होगा।"

इसी समय हरिहर का छोटा भाई शंकर आ पहुँचा। उसको देखकर हरिहर ने चटपट लेख छिपाने की चेष्टा की। संन्यासी ने हँसकर कहा, "बड़े-होने के रास्ते का दुःख अभी से शुरू हो गया। किन्तु छिपाने की आवश्यकता नहीं है। कारण, इसका रहस्य केवल एक ही व्यक्ति जान सकेगा। हज़ार प्रयत्न करने पर भी और कोई उसको नहीं जान पायगा। तुममें से वह व्यक्ति कौन है, यह कोई नहीं जानता। अतएव इसे सबके सामने निर्भय खोलकर रख सकते हो।"

संन्यासी चले गए। किन्तु हरिहर उस कागज़ को छिपाकर रखे बिना न रह सका। कहीं और कोई इससे लाभान्वित न हो जाय, कहीं उसका छोटा भाई शंकर इसका फल-भोग न कर ले, इसी आशंका से हरिहर ने इस कागज़ को कटहल के काठ के एक बक्स में बंद करके अपनी आराध्य देवी जयकाली के आसन के नीचे छिपा दिया था। प्रत्येक अमावस्या की अर्धरात्रि को देवी की पूजा करके एक बार वह उस काग़ज़ को खोलकर देखता, काश देवी प्रसन्न

१. अंत में २. दिया, ३. वट की गोद में इमली, ४. जाओ, ५. कह दी।

होकर उसको अर्थ समझने की शक्ति दे दें।

कुछ दिन से शंकर हरिहर से विनती करने लगा था, "भैया, एक बार अच्छी तरह मुझे वह काग़ज़ देख लेने दो न !"

हरिहर ने कहा, "धत् पगले, वह काग़ज क्या अब धरा है। वह पाखण्डी संन्यासी काग़ज़ में कुछ चीलबिलौआ बनाकर झाँसा दे गया था—मैंने उसे जला डाला है।"

शंकर चुप रह गया। सहसा एक दिन शंकर घर में दिखाई नहीं दिया। उसके बाद से वह लापता रहा।

हरिहर का सारा काम-काज नष्ट हो गया—गुप्त ऐश्वर्य का ध्यान वह क्षण-भर के लिए भी न भूल सका।

मृत्यु-काल आ पहुँचने पर संन्यासी के दिये हुए उस काग़ज़ को वह अपने बड़े लड़के श्यामापद को दे गया।

यह काग़ज़ पाने पर श्यामापद ने नौकरी छोड़ दी। जयकाली की पूजा और एकाग्रचित्त से इस लेख के पाठ की चर्चा में उसका सम्पूर्ण जीवन कैसे बीत गया, इसका उसे पता भी न चला।

मृत्युञ्जय श्यामापद का बड़ा लड़का था। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह संन्यासी के दिये हुए इस गुप्त लेख का अधिकारी हुआ। उसकी अवस्था उत्तरोत्तर जितनी ही खराब होती जाती थी, उतने ही आग्रह से उस काग़ज़ के प्रति उसका सारा ध्यान एकाग्र होता जाता। तभी गत अमावस्या की रात को पूजा के पश्चात् वह लेख नहीं दिखाई पड़ा—संन्यासी भी कहीं अंतर्धान हो गया।

मृत्युञ्जय ने कहा, "उस संन्यासी को छोड़ने से काम न चलेगा। सारा पता उसीसे मिलेगा।"

यह कहकर वह घर छोड़कर संन्यासी की खोज में निकला। एक वर्ष रास्तों में घूमते ही बीत गया।

: ३ :

गाँव का नाम धारागोल था। वहाँ मोदी की दुकान पर बैठा मृत्युञ्जय तम्बाकू पी रहा था और अन्यमनस्क भाव से अनेक बातें सोच रहा था। कुछ दूर पर मैदान के बगल से एक संन्यासी जा रहा था। पहले तो मृत्युञ्जय का ध्यान उधर नहीं गया। थोड़ी देर बाद सहसा उसे लगा, जो आदमी जा रहा था, यह वही संन्यासी है। झटपट हुक्का रखकर मोदी को आश्चर्य में डाल, एक

दौड़ में वह दुकान से बाहर निकल गया। किन्तु, वह संन्यासी दिखाई नहीं दिया।

उस समय सन्ध्या का अँधेरा हो गया था। अपरिचित स्थान में वह संन्यासी की खोज करने कहाँ जाय, यह निश्चय न कर सका। लौटकर दुकान पर आकर मोदी से पूछा, "यह जो सघन वन दिख रहा है वहाँ क्या है?"

मोदी ने कहा, "किसी समय यह वन शहर था, किन्तु अगस्त्य मुनि के शाप से वहाँ के राजा-प्रजा सब महामारी में मर गए। कहा जाता है, वहाँ खोजने से आज भी बहुत धन-रत्न मिल सकता है; किन्तु दिन दोपहरी में भी कोई उस वन में जाने का साहस नहीं कर पाता। जो गया वह फिर नहीं लौटा।"

मृत्युञ्जय का मन चंचल हो उठा। सारी रात मोदी की दुकान में चटाई पर लेटा वह मच्छरों के मारे अपने अंगों को चपेटता रहा और उस वन की बात, संन्यासी की बात, उस खोए हुए लेख की बात सोचता रहा। बार-बार पढ़ने के कारण वह लेख मृत्युञ्जय को प्रायः कण्ठस्थ हो गया था, इसलिए अनिद्रा की इस अवस्था में उसके मस्तिष्क में बस यही घूम रहा था:—

पाये धरे साधा।
रा नहिं देय राधा॥
शेषे दिल रा।
पागोल छाड़ो पा॥

सिर भन्ना गया, इन पंक्तियों को वह किसी भी प्रकार अपने मन से न निकाल सका। अन्त में भोर बेला में जब उसे जरा झपकी आई तब स्वप्न में इन चार पंक्तियों का अर्थ उसे अत्यन्त सहज प्रतीत हुआ। 'रा नहिं देय राधा' अर्थात् 'राधा' का 'रा' न रहने से 'धा' रह गया—'शेषे दिल रा' अर्थात् 'धारा' हो गया—'पागोल छाड़ो पा', 'पागोल' का 'पा' छोड़ देने से 'गोल' बाकी रहा—अर्थात् सब मिलकर 'धारागोल' हुआ—इस जगह का नाम तो 'धारागोल' ही था।

सपना देखते-देखते मृत्युञ्जय उछल उठा।

: ४ :

दिन-भर बन में घूमकर बड़े कष्ट से रास्ता खोजकर बिना कुछ खाए सन्ध्या-समय मृत्युप्राय: अवस्था में मृतञ्जय गाँव को लौटा।

दूसरे दिन चादर में चिवड़ा बाँधकर फिर उसने वन की यात्रा की। अपराह्न में वह एक बावड़ी के पास जा पहुँचा।

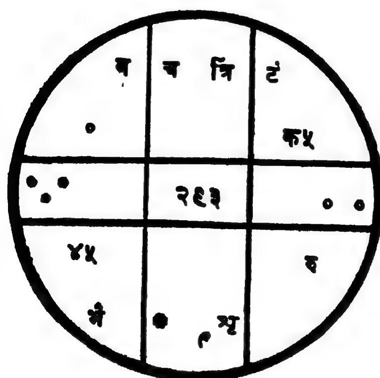
बावड़ी के पश्चिमी किनारे पर मृत्युञ्जय अचानक चौंककर खड़ा हो गया। देखा, इमली के एक पेड़ को घेर कर एक विशाल वट वृक्ष खड़ा था। तत्क्षण उसे याद आयाः—

तेंतुल बटेर कोले (वट की गोद में इमली)
दक्षिणे याओ चले (दक्षिण दिशा में चले जाओ)

कुछ दूर दक्षिण दिशा की ओर जाने पर वह घने जंगल में आ पहुँचा। वहाँ बेंत की झाड़ियों को पार करके चलना उसके लिए एकदम असम्भव हो गया। जो हो, मृत्युञ्जय ने तय किया, इस वृक्ष को खो देने से किसी भी प्रकार काम नहीं चलेगा।

इस पेड़ के पास लौटकर आते हुए वृक्ष के बीच में से पास ही एक मन्दिर का शिखर दिखाई पड़ा। उसी दिशा की ओर लक्ष्य करके चलता हुआ मृत्युञ्जय एक टूटे मन्दिर के पास आ पहुँचा। उसने देखा, पास ही एक छोटा चूल्हा, जली लकड़ी और राख पड़ी थी। खूब सावधानी से मृत्युञ्जय ने मन्दिर के टूटे दरवाजे में झाँका। वहाँ कोई आदमी नहीं था, प्रतिमा नहीं थी, केवल एक कम्बल, कमण्डलु और गेरुआ उत्तरीय पड़ा था।

उस समय सन्ध्या हो चली थी; गाँव बहुत दूर था, अँधेरे में वन में रास्ता ढूंढ़ा जा सकेगा या नहीं, अतः इस मन्दिर में मनुष्य के बसने का लक्षण देखकर मृत्युञ्जय खुश हुआ। मन्दिर का एक बहुत बड़ा पत्थर का टुकड़ा टूटकर द्वार के पास पड़ा हुआ था; उस पत्थर के ऊपर बैठकर नीचा सिर किये सोचते-सोचते मृत्युञ्जय ने अचानक पत्थर पर जाने क्या खुदा हुआ देखा। झुककर देखा, एक चक्र अंकित था, उसमें कुछ स्पष्ट कुछ लुप्तप्रायः ढंग से निम्नलिखित सांकेतिक अक्षर खुदे हुए थेः—



यह मृत्युञ्जय का सुपरिचित चक्र था। अमावस्या की कितनी रातें उसने सुगंधित धूप के धुएँ और घी के दिये से प्रकाशित पूजा-गृह में रुई के कागज़ पर अंकित हुए चक्र-चिह्न पर झुककर रहस्य जानने के लिए एकाग्रचित्त से देवी की कृपा की याचना की थी। अभीष्ट सिद्धि के अत्यंत पास आ पहुँचने पर आज उसका सर्वाङ्ग जैसे काँपने लगा। कहीं किनारे आकर नौका न डूब जाय, कहीं किसी एक साधारण भूल के कारण उसका सब-कुछ नष्ट न हो जाय, कहीं वह संन्यासी पहले ही आकर सब-कुछ ढूँढ़कर न ले जा चुका हो, इसी आशंका से उसके हृदय में उथल-पुथल मच गई, उस समय उसका क्या कर्तव्य है यह वह न सोच सका। उसे लगा वह कदाचित् ऐश्वर्य-भण्डार के बिलकुल ऊपर बैठा है, फिर भी कुछ जान नहीं पा रहा है।

बैठे-बैठे वह काली का नाम जपने लगा; संध्या का अंधकार घना हो आया; झिल्ली की झनकार से वनभूमि मुखरित हो उठी।

: ५ :

तभी कुछ दूर पर घने जंगल में आग की चमक दिखाई पड़ी। मृत्युञ्जय अपना पत्थर का आसन छोड़कर उठा, और उस अग्नि-शिखा को लक्ष्य करके चलने लगा।

अत्यन्त कठिनाई से कुछ दूर जाकर पीपल के तने की ओट से स्पष्ट देखा, उसका वही परिचित संन्यासी अग्नि के प्रकाश में वह रुई का कागज़ लेख फैलाकर एक सींक से राख के ऊपर एकाग्र मन से सवाल लगा रहा था।

मृत्युञ्जय के घर के उस पैतृक लेख की लिखावट! अरे पाखण्डी चोर! इसी कारण उसने मृत्युञ्जय को शोक न करने को कहा था।

संन्यासी बार-बार सवाल लगाता, और एक छड़ी लेकर ज़मीन नापता थोड़ी दूर नापकर हताश होकर गर्दन हिलाकर फिर आकर सवाल लगाने में जुट जाता।

इस तरह करते हुए रात जब समाप्त होने को आई, जब रात के अंत की शीतल वायु से वनस्पतियों की चोटियों के पत्ते मर्मरित हो उठे, तब संन्यासी वह लेखपत्र लपेटकर चला गया।

मृत्युञ्जय यह नहीं समझ सका कि क्या करे। वह यह भली भाँति समझ गया कि संन्यासी की सहायता के बिना इस लिखावट का रहस्य-भेद करना उसके लिए संभव नहीं था। और यह भी निश्चित था कि लुब्ध संन्यासी मृत्युञ्जय की सहायता नहीं करेगा। अतः छिपकर संन्यासी के ऊपर निगाह रखने के

अतिरिक्त और कोई उपाय न था। किन्तु, दिन में गाँव में बिना गए उसे भोजन नहीं मिलेगा; अतएव कम-से-कम कल सवेरे एक बार गाँव में जाना आवश्यक था।

भोर की तरफ अंधकार के तनिक फीका पड़ते ही वह पेड़ से नीचे उतर आया। जहाँ संन्यासी राख पर सवाल लगा रहा था, वहाँ अच्छी तरह देखा कुछ समझ न सका। चारों ओर घूमकर देखा, जंगल में कोई खास बात न थी।

वन-प्रान्त का अंधकार धीरे-धीरे जब क्षीण हो आया, तब बड़ी सावधानी से चारों ओर देखता हुआ मृत्युञ्जय गाँव की ओर चला। उसे डर था कि कहीं संन्यासी उसे देख न ले।

जिस दुकान में मृत्युञ्जय ने आश्रय ग्रहण किया था, उसके पास एक कायस्थ गृहिणी व्रत के उपलक्ष्य में उस दिन ब्राह्मण-भोजन कराने की तैयारी कर रही थी। वहीं अब मृत्युञ्जय को भोजन मिल गया। कई दिन के भोजन के कष्ट के पश्चात् आज उसका भोजन भारी हो गया। इस भारी भोजन के बाद उसने जैसे ही तम्बाकू पीकर दुकान की चटाई पर ज़रा लेटने की इच्छा की वैसे ही गत रात्रि को न सो सकने के कारण मृत्युञ्जय को गहरी नींद आ गई।

मृत्युञ्जय ने सोचा था कि आज जल्दी ही भोजनादि करके काफ़ी दिन रहते बाहर निकलेगा। ठीक इसका उलटा हुआ। जब उसकी नींद टूटी तब सूर्य अस्त हो चुका था। तो भी मृत्युञ्जय निरुत्साहित नहीं हुआ। अँधेरे में ही उसने वन में प्रवेश किया।

देखते-देखते रात घनीभूत हो आई। पेड़ों की छाया में निगाह काम नहीं देती थी, जंगल में रास्ता रुक जाता। मृत्युञ्जय किस ओर कहाँ जा रहा था उसका उसे कोई पता नहीं चला। जब रात बीत गई तब देखा कि सारी रात वह वन के किनारे एक ही जगह चक्कर काटता रहा था।

कौओं का झुण्ड काँव-काँव करता हुआ गाँव की ओर उड़ चला। यह शब्द मृत्युञ्जय के कानों को व्यंग्यपूर्ण धिक्कार-वाक्य-जैसा लगा।

: ६ :

गणना करने में बार-बार भूल होती रही थी, वही भूल ठीक करते-करते अंत में संन्यासी ने सुरंग का रास्ता ढूंढ लिया। मशाल लेकर वे सुरंग में घुसे। पक्की भीत पर काई जमी थी। बीच-बीच में किसी-किसी जगह से जल टपक रहा था। जगह-जगह अनेक मेंढक एक-दूसरे से सटे हुए स्तूपाकार होकर सो रहे थे। इस रपटीले रास्ते से कुछ दूर जाते ही संन्यासी ने देखा, सामने दीवार खड़ी थी।

राह अवरुद्ध थी। कुछ भी न समझ सके। हर जगह दीवाल में लोहे के डंडे से ठोककर देखा, कहीं से पोली होने की आवाज न आई, कहीं रन्ध्र नहीं। इसमें सन्देह नहीं रहा कि वह रास्ता यहीं समाप्त हो गया था।

फिर वही कागज खोले। सिर पर हाथ धरकर बैठे सोचने लगे। वह रात इसी तरह कट गई।

दूसरे दिन गणना पूरी करके फिर सुरंग में प्रवेश किया। उस दिन गुप्त संकेत का अनुसरण करते हुए एक स्थान विशेष से पत्थर सरकाकर दूसरे रास्ते की खोज की उस रास्ते पर चलते-चलते फिर एक जगह रास्ता बन्द हो गया।

अंत में पाँचवीं रात सुरंग में प्रवेश करके संन्यासी बोल उठे, "आज मुझे रास्ता मिल गया है, अब आज मुझसे कोई भूल नहीं होगी।"

रास्ता अत्यंत जटिल था; उसकी शाखा-प्रशाखाओं का अन्त न था—कहीं ऐसा सँकरा कि घुटनों के बल चलना पड़ता, बहुत सावधानी से मशाल लिये चलते हुए संन्यासी गोलाकार कमरे-जैसी एक जगह में जा पहुँचे। कमरे के बीच में एक बड़ा कुआ था। मशाल की रोशनी में संन्यासी उसका तला न देख सके। कमरे की छत से मोटी लोहे की एक विशाल जंजीर कुए में लटक रही थी। संन्यासी के प्राणपण से बलपूर्वक ठेलते ही इस जंजीर के थोड़ा-सा हिलने-मात्र से झन् करके एक शब्द कुए के गह्वर से उठा और सारा कमरा प्रतिध्वनित होने लगा। सन्यासी उच्च स्वर से चीख उठे 'मिल गया।"

उनके चीखने के साथ ही कमरे की टूटी हुई दीवार से एक पत्थर खिसक कर गिरा और उसीके साथ-साथ एक और कोई जीवित पदार्थ धम्म से गिरकर चीख उठा। संन्यासी इस आकस्मिक आवाज से चौंक पड़े और उनके हाथ से मशाल गिरकर बुझ गई।

: ७ :

संन्यासी ने पूछा, "तुम कौन हो?" कोई उत्तर नहीं मिला। इस पर अँधेरे में टटोलकर देखने से उनका हाथ एक आदमी की देह से टकराया। उसको हिलाकर पूछा, "तुम कौन?"

कोई उत्तर नहीं मिला। आदमी मूर्छित हो गया था।

तब चकमक रगड़-रगड़कर संन्यासी ने बड़ी मुश्किल से मशाल जलाई। इस बीच वह आदमी भी सचेत हो गया था, और उठने का प्रयत्न करते हुए पीड़ा से आर्त्तनाद कर उठा।

संन्यासी ने कहा, "अरे यह तो मृत्युञ्जय है। तुम्हारी ऐसी मति क्यों

हुई।"

मृत्युञ्जय बोला, "बाबा, माफ़ करो! भगवान् ने मुझे दण्ड दिया है। पत्थर फेंककर तुम्हें मारने जा रहा था, सँभल नहीं सका—फिसलकर पत्थर-सहित मैं गिर पड़ा। पैर अवश्य ही टूट गया होगा।"

संन्यासी ने कहा, "मुझे मारने से तुम्हें क्या लाभ होता।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "तुम लाभ की बात पूछ रहे हो। तुम लोभ से मेरे पूजा-घर से लेख़ चुराकर इस सुरंग में घूमते फिर रहे हो। तुम चोर हो, तुम पाखंडी हो! मेरे पितामह को जिन संन्यासी ने यह लेख दिया था उन्होंने कहा था कि हमारे ही वंश का कोई इस लेख के संकेत को समझ पायगा। यह गुप्त ऐश्वर्य हमारे ही वंश का प्राप्य है। इसलिए मैं कई दिन से, बिना खाए, बिना सोए छाया के समान तुम्हारे पीछे घूमता रहा। आज जिस समय तुम चिल्लाए 'मिल गया' तो मुझसे और नहीं रहा गया। मैं तुम्हारे पीछे आकर इस गड्ढे में छिपा बैठा था। वहाँ से एक पत्थर सरकाकर तुमको मारने चला था, किन्तु शरीर दुर्बल था, जगह बहुत रपटीली थी—इसी से गिर पड़ा—इस समय तुम मुझे मार डालो तो वह भी अच्छा है—मैं यक्ष होकर इस धन की रक्षा करूँगा—किन्तु तुम इसे ले नहीं पाओगे—किसी भी प्रकार नहीं। यदि लेने का यत्न करोगे, मैं ब्राह्मण हूँ, तुम्हें अभिशाप देकर इस कुएं में कूदकर आत्म-हत्या कर लूंगा। यह धन तुम्हारे लिए ब्राह्मण, गौ के रक्त के समान होगा—इस धन का तुम कभी भी सुख से भोग नहीं कर सकोगे। हमारे पिता—पितामह इस धन के ऊपर पूर्ण ममता रखकर मरे हैं—इस धन का ध्यान करते-करते हम दरिद्र हो गए हैं—इस धन की खोज में मैं घर में अनाथा स्त्री और छोटे बच्चे छोड़कर, आहार-निद्रा त्यागकर अभागे पागल के समान घाट-मैदानों में घूमता फिर रहा हूँ—इस धन को तुम मेरे देखते कभी नहीं ले सकोगे।"

: ८ :

संन्यासी बोले, "मृत्युञ्जय, तो फिर सुनो! तुम्हें सारी बात सुनाता हूँ। —तुम जानते हो, तुम्हारे पितामह का एक छोटा सहोदर भाई था, उसका नाम था शंकर।"

मृत्युञ्जय ने कहा, "हाँ, वे घर से लापता हो गए थे।"

संन्यासी ने कहा, "मैं वही शंकर हूँ।"

मृत्युञ्जय ने हताश होकर दीर्घ निश्वास छोड़ी। इतने दिन तक वह यह निश्चय किये बैठा था कि इस गुप्त धन के ऊपर एक-मात्र उसीका अधिकार है,

उसीके वंश के आत्मीय ने आकर यह अधिकार नष्ट कर दिया।

शंकर ने कहा, "संन्यासी से लेख पाने के बाद से भैया ने मुझसे उसे छिपाने का पूरा यत्न किया था। किन्तु वे जितना ही छिपाने लगे उतनी ही मेरी उत्सुकता बढ़ने लगी। देवी के आसन के नीचे बक्स में उन्होंने इस लेख को छिपाकर रखा था, मुझे उसका पता लग गया, और दूसरी चाबी बनवाकर प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा करके लेख की प्रतिलिपि करने लगा। जिस दिन नकल समाप्त कर ली, उसी दिन मैं इस धन की खोज में घर छोड़कर बाहर निकल पड़ा। मेरे भी घर में अनाथा स्त्री और एक बच्चा था। आज उनमें से कोई नहीं बचा है।

"कितने देश-देशान्तरों में भ्रमण किया है उसका विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। संन्यासी के दिये हुए इस लेख को कोई संन्यासी मुझे अवश्य समझा देगा, यह समझकर मैंने अनेक संन्यासियों की सेवा की। अनेक पाखण्डी संन्यासियों ने मेरे इस काग़ज़ का पता लगाकर इसे चुराने की भी कोशिश की। इस प्रकार एक के बाद एक कितने ही वर्ष बीत गए, मेरे मन को क्षण-भर के लिए भी सुख नहीं मिला, शान्ति नहीं मिली।

"अन्त में पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य के प्रभाव से कुमायूँ-पर्वतों में बाबा स्वरूपानन्द स्वामी का संग मिला। उन्होंने मुझसे कहा, "बेटा, तृष्णा दूर करो, तभी विश्व-व्यापी अक्षय सम्पद अपने-आप तुम्हें प्राप्त होगी।"

"उन्होंने मेरे मन के ताप को शीतल कर दिया। उनकी कृपा से आकांक्षा का आलोक और धरती की श्यामलता मेरे लिए राजसम्पदा हो गई। एक दिन पर्वत की शिला के नीचे शीतकाल की सन्ध्या के दिन परमहंस बाबा की धूनी में आग जल रही थी—उसी आग में अपना काग़ज़ समर्पित कर दिया। बाबा थोड़ा मुस्कराए। उस हँसी का अर्थ उस समय नहीं समझा था, आज समझा हूँ। उन्होंने अवश्य मन-ही-मन कहा होगा कि काग़ज़ को राख कर डालना आसान है, किन्तु वासना इतनी जल्दी भस्मसात् नहीं होती।

"काग़ज़ का जब कोई चिह्न शेष नहीं रहा तब मेरे मन के चारों ओर से जैसे एक नागपाश-बन्धन पूर्ण रूप से खुल गया हो। मुक्ति के अपूर्व आनन्द से मेरा चित्त परिपूर्ण हो उठा। मैंने सोचा 'अब मुझे और कोई भय नहीं—जगत् में मैं और कुछ नहीं चाहता।'

"उसके कुछ समय बाद परमहंस बाबा का साथ छूट गया। उनको बहुत ढूँढ़ा, कहीं भी उन्हें न देख सका।

"अब मैं संन्यासी होकर निरासक्त मन से विचरने लगा। अनेक वर्ष

बीत गए—उस लेख की बात प्रायः भूल ही गया था।

"इसी बीच एक दिन धारागोल के इस जंगल में प्रवेश करके एक टूटे मन्दिर में आश्रय ग्रहण किया। दो-एक दिन रहते-रहते देखा, मन्दिर की भीत पर स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार के चिह्न बने हुए हैं। यह चिह्न मेरे पूर्व परिचित थे।

"कभी बहुत दिनों तक जिसकी खोज में फिरा था उसका सुराग मिल गया, इसमें मुझे सन्देह न रहा। मैंने कहा, 'यहाँ अब रहना नहीं होगा, यह वन छोड़ चलूँ।'

"किन्तु छोड़कर जाना सम्भव नहीं हुआ। सोचा, 'देख ही क्यों न लिया जाय, क्या है—कौतूहल को बिलकुल शांत कर देना ही अच्छा है।' चिह्नों को लेकर काफ़ी विचार किया; कोई फल न निकला। बार-बार लगने लगा कि वह कागज़ क्यों जला डाला—उसको रखे रहने में ही क्या क्षति थी?

"तब मैं फिर अपने जन्म-स्थान गया। अपने पैतृक घर की अत्यन्त दुरवस्था देखकर सोचा, 'मैं संन्यासी हूँ, मुझे धन-रत्नों से क्या प्रयोजन, किन्तु ये गरीब लोग तो गृहस्थ हैं, उस गुप्त सम्पत्ति का इनके लिए उद्धार करने में कोई दोष नहीं है।'

"मुझे पता था कि वह लेख कहाँ है, उसे प्राप्त करना मेरे लिए तनिक भी कठिन नहीं हुआ।

"उसके बाद एक वर्ष से यह कागज़ लिये मैंने इस निर्जन वन में गणना की है और खोज की है। मन में और कोई चिन्ता न थी। बार-बार जितनी बाधाएँ आती थीं उत्तरोत्तर उतना ही आग्रह बढ़ता जाता था—उन्मत्त की भाँति रात-दिन उस एक ही अध्यवसाय में रत रहा।

"इस बीच में कब तुमने मेरा पीछा किया मैं नहीं जान सका। मैं अपनी सहज अवस्था में रहता तो तुम अपने को मुझसे कभी छिपाकर न रख पाते, किन्तु मैं तन्मय था, बाहर की घटनाएँ मेरी दृष्टि आकर्षित नहीं करती थीं।

"उसके बाद, जो खोज रहा था वह आज अभी मिला है। यहाँ जितना है, पृथ्वी पर किसी राजराजेश्वर के भण्डार में भी उतना धन नहीं है। बस केवल एक संकेत का रहस्य समझते ही वह धन मिल जायगा।

"यह संकेत ही सबसे कठिन है। किन्तु वह संकेत भी मैंने मन-ही-मन जान लिया है। इसीलिए 'मिल गया' कहकर मन के उल्लास में चीख उठा। यदि चाहूँ तो क्षण-भर में उस सोने और माणिकों के भण्डार के बीच खड़ा हो सकता हूँ।"

मृत्युञ्जय ने शंकर के पैर पकड़कर कहा, "तुम संन्यासी हो, तुम्हें धन की कोई जरूरत नही है—मुझे उस भण्डार मे ले चलो। मुझे वंचित मत करो!"

शंकर ने कहा, "आज मेरा अन्तिम बंधन खुल गया है। तुम जो पत्थर फेंककर मुझे मारने के लिए तैयार हुए थे उसकी चोट तो मेरे शरीर मे नही लगी, किन्तु उसने मेरे मोहावरण को भेद डाला है। आज मैने तृष्णा की कराल मूर्ति देख ली। मेरे गुरु परमहंसदेव की गूढ़ प्रशान्त हँसी ने इतने दिनों के बाद मेरे हृदय मे कल्याण दीप की सदा जलने वाली आलोक-शिखा जला दी है।"

मृत्युञ्जय ने शंकर के पैर पकड़कर फिर कातर स्वर मे कहा, "तुम मुक्त पुरुष हो, मैं मुक्त नही, मैं मुक्ति नही चाहता, मुझे इस ऐश्वर्य से वंचित नहीं कर पाओगे।"

संन्यासी ने कहा, "वत्स, तब तुम अपना यह लेख लो। यदि धन ढूंढ़ सको तो ढूंढ लो!"

इतना कहकर अपना डण्डा और लेख मृत्युञ्जय के पास रखकर संन्यासी चले गए। मृत्युञ्जय ने कहा, "मुझ पर दया करो, मुझे छोड़कर मत जाओ—मुझे दिखा दो!"

कोई उत्तर नहीं मिला।

तब मृत्युञ्जय ने लाठी का सहारा लेकर हाथ से टटोलते हुए सुरंग से बाहर निकलने की चेष्टा की। किन्तु रास्ता अत्यन्त जटिल था, गोरखधन्धे के समान बार-बार रुकावटें आने लगीं। अन्त मे घूमते-घूमते थक कर एक जगह लेट गया और नीद आने देर नही हुई।

नीद से जब जगा तब रात थी या दिन, या कितना समय था, यह जानने का कोई उपाय नही था। खूब भूख लगने पर मृत्युञ्जय ने चादर के कोने में बँधा चिवड़ा खोलकर खा लिया। उसके बाद फिर एक बार हाथ से टटोलकर सुरंग से बाहर निकलने का रास्ता खोजने लगा। अनेक जगह रुकावटें मिलने के कारण बैठ गया। तब चिल्लाकर पुकारा, "हे संन्यासी, तुम कहाँ हो।"

उसकी वह पुकार सुरंग की समस्त शाखा-प्रशाखाओं से बार-बार प्रतिध्वनित होने लगी। थोडी दूर से उत्तर आया, "मैं तुम्हारे पास ही हूँ—क्या चाहते हो, बोलो!"

मृत्युञ्जय ने दीन स्वर में कहा, "धन कहाँ है, दया करके मुझे दिखा दो!"

फिर कोई उत्तर नही मिला। मृत्युञ्जय ने बारम्बार पुकारा। कोई

उत्तर नहीं मिला। दण्ड पहरों द्वारा अविभक्त पृथ्वी की इस चिररात्रि में मृत्युञ्जय और एक बार सो लिया। नींद से फिर उसी अन्धकार में वह जागा। चिल्लाकर पुकारा "अजी हो क्या ?"

पास से ही उत्तर मिला, "यहीं हूँ। क्या चाहते हो ?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "मैं और कुछ नहीं चाहता—इस सुरंग से मेरा उद्धार करके ले चलो !"

संन्यासी ने प्रश्न किया, "तुम धन नहीं चाहते ?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "नहीं, नहीं चाहता।"

तभी चकमक रगड़ने का शब्द हुआ और कुछ देर बाद बत्ती जल गई।

संन्यासी ने कहा, "तो फिर आओ-मृत्युञ्जय, इस सुरंग से बाहर चलें।"

मृत्युञ्जय ने दयनीय स्वर में कहा, "बाबा, क्या सब-कुछ बिलकुल व्यर्थ जायगा। इतने कष्ट के बाद भी क्या धन नहीं मिलेगा।"

उसी क्षण बत्ती बुझ गई। मृत्युञ्जय बोला, "तुम कितने निष्ठुर हो !" और यह कहकर वहीं बैठकर सोचने लगा। समय का कोई हिसाब नहीं था, अन्धकार का कोई अन्त नहीं था। मृत्युञ्जय को इच्छा हुई कि अपने तन-मन के सारे बल से इस अन्धकार को फोड़कर चूर्ण कर डाले। प्रकाश आकाश और विश्व-सौंदर्य की विचित्रता के लिए उसके प्राण व्याकुल हो उठे, बोला, "हे संन्यासी ! निष्ठुर संन्यासी ! मैं धन नहीं चाहता, मेरा उद्धार करो !"

संन्यासी ने कहा, "धन नही चाहते ? तो फिर मेरा हाथ पकड़ो। मेरे साथ चलो !"

इस बार बत्ती नहीं जली। एक हाथ में लाठी और एक हाथ में संन्यासी का उत्तरीय पकड़कर मृत्युञ्जय धीरे-धीरे चलने लगा। बहुत देर तक कई टेढ़े-मेढ़े रास्तों में खूब घूम-फिरकर एक जगह आकर संन्यासी ने कहा, "खड़े रहो !"

मृत्युञ्जय खड़ा रहा। उसके पश्चात् मोरचा लगे लोहे के एक दरवाज़े के खुलने का भयंकर शब्द सुनाई दिया। संन्यासी ने मृत्युञ्जय का हाथ पकड़कर कहा, "आओ !"

मृत्युञ्जय ने आगे बढ़कर जैसे किसी कमरे में प्रवेश किया। तब फिर चकमक रगड़ने का शब्द सुनाई दिया। कुछ देर बाद जब मशाल जल गई तब यह कैसा अद्भुत दृश्य ! चारों ओर दीवारों पर पृथ्वी के गर्भ में रुद्ध प्रखर सूर्यालोक-पुञ्ज के समान सोने का मोटा-मोटा पत्तर तह पर तह मढा हुआ था। मृत्युञ्जय की दोनों आँखें चमकने लगीं। वह पागल की भाँति बोल उठा,

"वह सोना मेरा है—इसे मैं किसी भी प्रकार छोड़कर नहीं जा सकता।"

संन्यासी ने कहा, "अच्छा छोड़कर मत जाना, यह मशाल रही—और यह सत्तू चिवड़ा और एक बड़े लोटे में जल रखे जाता हूँ।"

देखते-देखते संन्यासी बाहर चले गए, और उस स्वर्ण-भण्डार के लोहे के दरवाजे के किवाड़ बन्द हो गए।

मृत्युञ्जय बार-बार इस स्वर्ण-पुंज का स्पर्श करता हुआ सारे कमरे में चक्कर लगाने लगा। सोने के छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर जमीन के ऊपर फेंकने लगा, गोद में बटोरने लगा, एक से दूसरे को टकराकर शब्द करने लगा और सारे शरीर पर फेरकर उसका स्पर्श लेने लगा। अन्त में थककर सोने का पत्तर बिछाकर उसके ऊपर लेटकर सो गया।

जगकर देखा, चारों ओर सोना झिलमिला रहा था। सोने के अलावा और कुछ न था। मृत्युञ्जय सोचने लगा, 'धरती पर शायद अब तक प्रभात हो गया होगा, समस्त जीव-जन्तु आनन्द से जाग उठे होंगे।' उसके घर में तालाब के किनारे के बाग से प्रातःकाल जो स्निग्ध सुगंध आती थी वही मानो उसकी कल्पना में उसकी नाक में प्रवेश करने लगी। उसे मानो स्पष्ट दिखाई दिया कि छोटी-छोटी बत्तखें झूमती-झूमती कलरव करती हुई प्रातःकाल आकर तालाब में तैर रही हों। और घर की नौकरानी बामा कमर में आँचल लपेटे ऊपर उठे दाहिने हाथ में पीतल-काँसे की थाली कटोरियों का ढेर लिये घाट पर जमा कर रही है।

दरवाज़ा पीटकर मृत्युञ्जय पुकारने लगा, "ओ संन्यासी महाराज, हो क्या ?"

द्वार खुल गया। संन्यासी ने कहा, "क्या चाहते हो ?"

मृत्युञ्जय बोला, "मैं बाहर जाना चाहता हूँ—किन्तु क्या सोने के दो-एक पत्तर भी साथ नहीं ले जा सकूँगा।"

उसका कोई उत्तर दिये बिना संन्यासी ने फिर मशाल जलाई—एक भरा हुआ कमण्डल रख दिया और उत्तरीय से कई मुट्ठी चिवड़ा जमीन पर रखकर बाहर चले गए। द्वार बन्द हो गया।

मृत्युञ्जय ने सोने का एक पतला पत्तर लेकर उसे मोड़कर टुकड़े-टुकड़े करके तोड़ डाला। उस टूटे हुए सोने को लेकर कमरे के चारों ओर मिट्टी के ढेले के समान बिखेरने लगा। कभी दाँतों से काटकर सोने के पत्तर में दाग करता। कभी सोने के किसी पत्तर को जमीन पर फेंककर उसके ऊपर बार-बार पदाघात करता। मन-ही-मन कह उठता, 'पृथ्वी पर ऐसे सम्राट् कितने हैं जो सोने को

इस प्रकार इधर-उधर बिखेर सकते हैं।' मृत्युञ्जय पर मानो एक प्रलय की सनक सवार हो गई। उसकी इच्छा होने लगी कि वह उस स्वर्ण-राशि को चूर्ण करके धूल के समान झाड़-झाड़कर उड़ा दे—और इस प्रकार से पृथ्वी के सारे स्वर्ण-लुब्ध राजा महाराजाओं का तिरस्कार करे।

इस तरह जितनी देर हो सका मृत्युञ्जय ने सोने को लेकर खींच-तान की और फिर थककर सो गया। नींद खुलने पर वह अपने चारों ओर फिर वही स्वर्ण-राशि देखने लगा। तब दरवाज़े को पीटकर वह चिल्लाकर बोल उठा, "ओ संन्यासी, मैं यह सोना नहीं चाहता—सोना नहीं चाहता!"

किन्तु, द्वार नहीं खुला। चिल्लाते चिल्लाते मृत्युञ्जय का गला बैठ गया, किन्तु द्वार नहीं खुला। सोने के एक-एक पिंड को लेकर वह फेंककर दरवाज़े के ऊपर मारने लगा, किन्तु कोई परिणाम न निकला। मृत्युञ्जय का हृदय बैठने लगा—'तब क्या संन्यासी नहीं आयेंगे। इस स्वर्ण-कारागार में तिल-तिल पल-पल करके सूखकर मर जाना होगा!'

तब सोना देखकर उसे डर लगने लगा। विभीषिका के मौन कठोर हास्य के समान सोने का वह स्तूप चारों ओर स्थिर होकर खड़ा था—उसमें स्पंदन नहीं था, परिवर्तन नहीं—मृत्युञ्जय का हृदय अब काँपने लगा, व्याकुल होने लगा, इसके साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं था, वेदना का कोई सम्बन्ध नहीं था। सोने के ये पिंड न प्रकाश चाहते थे, न आकाश, न वायु, न प्राण, न मुक्ति, ये इस चिर अन्धकार में चिरकाल से उज्ज्वल रहकर, कठोर होकर, स्थिर होकर पड़े थे।

पृथ्वी पर अब गोधूलि बेला होगी! अहा! गोधूलि का वह सुनहलापन क्षण-भर के लिए आँखों को शीतल करके अन्धकार-प्रान्त में रोकर विदा ले लेता है। उसके पश्चात् कुटिया के आँगन में सन्ध्या-तारा निर्निमेष दृष्टि से देखने लगता है। गोशाला में दीपक जलाकर बहू घर के कोने में सन्ध्या-दीप रखती है। मन्दिर की आरती का घण्टा बजने लगता है।

गाँव की, घर की अत्यन्त क्षुद्र और तुच्छ बातें आज मृत्युञ्जय की कल्पना-दृष्टि के आगे उज्ज्वल हो गईं। उनका वह भोला कुत्ता पूँछ, सिर एक करके आँगन के कोने में सन्ध्या के बाद सोता रहता, वह कल्पना भी जैसे उसको व्यथित करने लगी। धारागोल गाँव में कई दिन जिस मोदी की दुकान में उसने आश्रय लिया था वह इस समय रात में दीपक बुझाकर, दुकान बन्द करके धीरे-धीरे गाँव में घर की ओर भोजन करने जा रहा होगा, यह बात स्मरण करके उसको लगने लगा, मोदी कितना सुखी है! आज कौन दिन है क्या पता। यदि

रविवार होगा तो अब तक हाट से आदमी अपने-अपने घर लौट रहे होंगे, बिछुड़े हुए साथी को ऊँचे स्वर में बुला रहे होंगे, दल बनाकर पार जाने वाली नावों द्वारा पार हो रहे होंगे; मैदान के रास्ते, अनाज के खेतों की मेड़ पार करके, गाँव के सूखे बाँसों के पत्तों से ढके आँगन की बगल मे होकर किसान लोग हाथ में दो-एक मछली लटकाए सिर पर टोकरी लिये अंधेरे मे तारों से सारे आकाश के क्षीण प्रकाश में एक गाँव से दूसरे गाँव चले जा रहे होंगे।

पृथ्वी के ऊपरी तल की इस विचित्र वृहत चिर-चञ्चल जीवन-यात्रा में तुच्छतम, दीनतम होकर अपना जीवन मिला देने के लिए मिट्टी के सैकड़ों स्तर भेदता हुआ जगत् का आह्वान उसके पास पहुँचने लगा। वह जीवन, वह आकाश, पृथ्वी के सम्पूर्ण मणि-माणिक्यों से उसे अधिक मूल्यवान प्रतीत होने लगा। उसको लगने लगा, 'केवल क्षण-भर के लिए एक बार यदि अपनी उस श्यामा जननी धरित्री की धूल-भरी गोद में, उस उन्मुक्त आलोकित नील गगन के नीचे, घास-पात की गंध से बसी उस वायु से हृदय भरकर एक बार अन्तिम निःश्वास लेकर मर सकता तो जीवन सार्थक हो जाता।'

इसी समय द्वार खुल गया। कमरे में प्रवेश करके संन्यासी ने कहा, "मृत्युञ्जय क्या चाहते हो!"

वह बोल उठा, "मैं और कुछ नहीं चाहता—मैं इस सुरंग से, अन्धकार से, गोरख-धन्धे से, इस सोने के कारागार से बाहर निकलना चाहता हूँ। मैं प्रकाश चाहता हूँ, आकाश चाहता हूँ, मुक्ति चाहता हूँ।"

संन्यासी ने कहा, "इस सोने के भण्डार से भी अधिक मूल्यवान रत्न-भण्डार यहाँ हैं।"

"एक बार वहाँ नहीं चलोगे?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "नहीं, नहीं जाऊँगा।"

संन्यासी ने कहा, "एक बार देख आने की भी उत्सुकता नहीं है?"

मृत्युञ्जय ने कहा, "नहीं, मैं देखना भी नहीं चाहता। मुझे यदि कौपीन पहनकर भिक्षा माँगने घूमना पड़े तो भी मैं यहाँ क्षण-भर भी नहीं काटना चाहता।"

संन्यासी ने कहा, "अच्छा, तो फिर आओ।"

मृत्युञ्जय का हाथ पकड़कर संन्यासी उसे उस गहरे कुए के पास ले गए। उसके हाथ में वह लेख-पत्र देकर कहा, "इसे लेकर तुम क्या करोगे?"

मृत्युञ्जय ने उस पत्र को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करके कुए में फेंक दिया

रासमणि का बेटा

: १ :

रासमणि कालीपद की माँ थीं—किन्तु उन्हें बाध्य होकर पिता का पद ग्रहण करना पड़ा। माँ, अगर माँ-बाप दोनों बन जाय तो लड़के के लिए ठीक नहीं होता। उनके पति भवानीचरण पुत्र पर नियंत्रण रखने में बिलकुल असमर्थ थे। यह पूछने पर कि वे इतना ज्यादा लाड़ क्यों करते हैं, वे जो उत्तर देते, उसे समझने के लिए पूर्व-इतिहास जानना जरूरी है।

बात यह थी—भवानीचरण का जन्म शानियाड़ी के विख्यात सम्भ्रान्त धनी वंश में हुआ था। भवानीचरण के पिता अभयाचरण की पहली पत्नी के पुत्र थे श्यामाचरण। पत्नी-वियोग के पश्चात् अधिक आयु में अभयाचरण ने जब दूसरा विवाह किया तो उनके श्वसुर ने आलन्दि ताल्लुका विशेष रूप से अपनी कन्या के नाम लिखा लिया था। जामाता की आयु का हिसाब करके उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि यदि कन्या विधवा हो गई तो खाने-पहनने के लिए उसे सौतेले पुत्र के अधीन न रहना पड़े।

उन्होंने जो कल्पना की थी उसके प्रथम अंश को फलते देर नहीं लगी। अपने दौहित्र भवानीचरण के जन्म के कुछ ही समय बाद उनके जामाता की मृत्यु हो गई। उनकी पुत्री ने अपनी विशेष संपत्ति पर अधिकार कर लिया। अपनी आँखों यह देखकर वे भी परलोक-यात्रा के समय अपनी पुत्री के जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ निश्चिन्त हो गए।

श्यामाचरण उस समय वयस्क हो चुका था। यहाँ तक कि उसका बड़ा लड़का उस समय भवानी से एक साल बड़ा था। श्यामाचरण अपने पुत्र के साथ-ही-साथ भवानी का भी पालन-पोषण करने लगे। भवानीचरण की माता की सम्पत्ति में से कभी एक पैसा भी न लेते और प्रतिवर्ष हिसाब साफ़ करके अपनी विमाता को दिखाकर वे उसकी रसीद ले लेते, यह देखकर सभी उनकी साधुता पर मुग्ध थे।

वस्तुतः प्रायः सभी ने सोचा कि इतनी साधुता अनावश्यक है, यहाँ तक

कि यह मूर्खता का ही नामान्तर है। अविभाजित पैतृक सम्पत्ति का एक भाग दूसरे विवाह की स्त्री के हाथ में पड़ जाय, यह गाँव के किसी भी आदमी को अच्छा नहीं लगा। यदि श्यामाचरण धोखा देकर लिखित दस्तावेजों को किसी प्रकार अस्वीकार कर देते तो पड़ौसी उनके पौरुष को प्रशंसा ही करते, और जिस उपाय से वे भली प्रकार सफल हो सकने ऐसे परामर्शदाता निपुण व्यक्तियों का भी अभाव नहीं था। किन्तु, श्यामाचरण ने अपने पुश्तैनी पारिवारिक अधिकार को अङ्ग-भंग करके भी अपनी विमाता की सम्पत्ति को पूरी तरह स्वतन्त्र रखा।

इन्हीं कारणों से तथा सहज स्नेहशील स्वभाव के कारण विमाता व्रजसुन्दरी श्यामाचरण पर अपने पुत्र के समान स्नेह और विश्वास करती थीं। और उनकी सम्पत्ति को श्यामाचरण बिलकुल अलग समझते थे। इसलिए उन्होंने अनेक बार फटकारा भी था; वे कहती थीं, "बेटा, यह सब तो तुम ही लोगों का है, इस सम्पत्ति को साथ लेकर तो मैं स्वर्ग नहीं जाऊँगी, यह तुम्हीं लोगों की रहेगी; इतना हिसाब-किताब देखने की मुझे जरूरत क्या है!"

श्यामाचरण इस बात पर कान ही न देते।

श्यामाचरण अपने लड़कों पर कठोर नियंत्रण रखते थे। किन्तु भवानीचरण के ऊपर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। यह देखकर सभी एक स्वर से कहते, 'अपने लड़कों की अपेक्षा भवानी के ऊपर उनका अधिक स्नेह है।' इस तरह भवानी का पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं हुआ और रुपये-पैसे के मामले में हमेशा बच्चे के समान बने रहकर वे पूर्ण रूप से बड़े भाई पर निर्भर होकर दिन काटने लगे। धन-सम्पत्ति के विषय में उन्हें कभी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी—केवल बीच-बीच में एक-आध दिन हस्ताक्षर करने पड़ते। क्यों हस्ताक्षर करते, उसको समझने का प्रयत्न ही न करते, क्योंकि प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो सकते थे।

दूसरी ओर श्यामाचरण का बड़ा लड़का तारापद हर काम में पिता की सहायता करते रहने के कारण काम-काज में पक्का हो गया। श्यामाचरण की मृत्यु के बाद तारापद ने भवानीचरण से कहा, "काकाजी, हम लोगों का साथ रहना अब और नहीं चल सकता। क्या पता किस दिन किसी साधारण बात को लेकर मनो-मालिन्य हो जाय, तो फिर गृहस्थी नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी।"

अलग होकर किसी दिन अपनी संपत्ति की स्वयं देख-भाल करनी पड़ेगी, इस बात की भवानी ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। जिस गृहस्थी में बचपन से वे बड़े हुए थे उसको वे सम्पूर्ण, अखण्ड ही समझते थे—उसमें किसी एक स्थान पर जोड़ है और उस जोड़ की जगह से उसके दो हिस्से किये जा

सकते हैं, सहसा यह समाचार पाकर वे व्याकुल हो गए।

वंश की सम्मान-हानि और आत्मीयजनों की मनोवेदना जब तारापद को तनिक भी विचलित न कर सकी, तब संपत्ति का विभाजन किस प्रकार हो सकता है, इस असाध्य चिन्ता में भवानी को प्रवृत्त होना पड़ा। उनकी चिन्ता देखकर तारापद ने अत्यन्त विस्मित होकर कहा, "काकाजी, बात क्या है ? आप इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं, संपत्ति का बंटवारा तो हो ही चुका है। पितामह अपने सामने ही तो विभाजन कर गए थे।"

हतबुद्धि होकर भवानी ने कहा, "सच ! मैं तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानता।"

तारापद ने कहा, "कमाल है। जानते कैसे नहीं ! देश-भर के लोग जानते हैं, बाद में आपके साथ हमारा कोई झगड़ा न हो इसलिए आलन्दि-तालुका आपके हिस्से में लिखकर पितामह ने पहले से ही आपको अलग कर दिया है—इसी भाँति तो अब तक चलता आया है।"

भवानीचरण ने सोचा, 'सभी-कुछ सम्भव है।' प्रश्न किया, "यह घर ?"

तारापद ने कहा, "चाहें तो यह घर आप ही रख सकते हैं। सदर महकमे में कोठी है वह मिल जाय तो हमारा काम किसी-न-किसी तरह चल जायगा।"

तारापद को इस तरह अनायास ही पैतृक घर छोड़ने के लिए राजी होते देखकर वे उनकी उदारता पर विस्मित रह गए। सदर महकमे का अपना मकान उन्होंने कभी नहीं देखा था और उसके प्रति उनकी तनिक भी ममता नहीं थी।

भवानी ने जब अपनी माता ब्रजसुन्दरी को सारा वृत्तान्त बताया तो उन्होंने माथा ठोककर कहा, "मैया री, यह क्या बात हुई। आलन्दि तालुक्का तो अपने भरण-पोषण के लिए मुझे निजी संपत्ति के रूप में मिला था—उसकी आमदनी भी कोई ऐसी ज्यादा नहीं है। पैतृक सम्पत्ति में तुम्हारा जो हिस्सा है वह तुम्हें क्यों नहीं मिलेगा।"

भवानी ने कहा, "तारापद कहता है, पिता ने इस ताल्लुके के अलावा हमें और कुछ नहीं दिया था।"

ब्रजसुन्दरी ने कहा, "यह बात क्या मैं कहने से ही मान लूंगी। मालिक ने अपने हाथ से अपने वसीयतनामे की दो प्रतियाँ लिखी थीं—उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे सौंप दी थी। वह मेरे सन्दूक में ही है।"

सन्दूक खोला गया। उसमें आलन्दि ताल्लुके का दानपत्र तो था, किन्तु वसीयत नामा नहीं था। वसीयतनामे की चोरी हो गई थी।

परामर्शदाता को बुलाया गया। यह व्यक्ति उनके गुरु महाराज का पुत्र था, नाम था बगलाचरण। सब कहते थे, उसकी बुद्धि बहुत मँजी हुई है। उसका पिता गाँव का मन्त्रदाता था, और पुत्र मन्त्रणादाता। पिता-पुत्र ने गाँव के लोगों के परलोक और इहलोक का बँटवारा कर लिया था। दूसरों के लिए उसका फलाफल चाहे जैसा हो उनको अपने लिए कोई असुविधा नहीं हुई।

बगलाचरण ने कहा, "वसीयतनामा न मिला, न सही। पिता की सम्पत्ति में दो भाइयों का समान भाग तो रहेगा ही।"

इसी समय अपर पक्ष द्वारा एक वसीयतनामा पेश किया गया। उसमें भवानीचरण का कुछ भी हिस्सा नहीं लिखा था। सारी सम्पत्ति पौत्रों को दी गई थी। उस समय अभयाचरण के कोई पुत्र नहीं पैदा हुआ था।

बगला को कर्णधार बनाकर भवानी मुकद्दमे के महासमुद्र में उतर पड़े। बन्दर में आकर लोहे के संदूक की जब परीक्षा की तो मालूम हुआ कि लक्ष्मी के वाहन उल्लू का घोंसला बिलकुल सूना था। साधारण दो-एक सोने के पंख टूटे पड़े थे। पैतृक संपत्ति अपर पक्ष के हाथ में चली गई और आलन्दि ताल्लुके का जो भाग मुकद्दमे के खरचे से बच गया था उसके सहारे से किसी प्रकार गुजर तो हो सकती थी, किन्तु वंश-मर्यादा की रक्षा नहीं की जा सकती थी। पुराने घर के मिलने पर भवानीचरण ने सोचा, 'भारी जीत हुई है।' तारापद का दल सदर में चला गया। उभय पक्षों में अब कोई मेल-जोल न रहा।

: २ :

श्यामाचरण की विश्वासघातकता व्रजसुन्दरी को शूल के समान लगी। श्यामाचरण ने अन्यायपूर्वक मालिक का वसीयतनामा चुराकर भाई को धोखा दिया और पिता का विश्वास भङ्ग किया, इसको वे किसी भी तरह न भूल सकीं। वे जितने दिन जीवित रहीं, प्रतिदिन ही दीर्घ निःश्वास लेकर बार-बार कहतीं, "धर्म इसे कभी नहीं सह सकेगा।" भवानीचरण को प्रायः प्रतिदिन वे यह कहकर आश्वासन देती रहीं कि "मैं कानून-अदालत कुछ नहीं समझती; मैं तुमसे कहती हूँ, मालिक का वह वसीयतनामा बहुत दिनों तक कभी नहीं दबा रह सकता। वह तुमको वापस अवश्य मिलेगा।"

माता से बराबर यह बात सुनते-सुनते भवानीचरण के मन को दृढ़ भरोसा हो गया था। वे स्वयं अक्षम थे इस कारण ऐसे आश्वासनपूर्ण वचन उनके लिए अत्यन्त सान्त्वनाजनक थे। सती-साध्वी के वचन अवश्य पूरे होंगे, जो उनका है वह अपने-आप उनके पास अवश्य लौट आयगा, इस बात को वे निश्चित मान

बठे थे। माता की मृत्यु के पश्चात् उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया—क्योंकि मृत्यु के विच्छेद से माता का पुण्य तेज उनको और भी बड़ा प्रतीत होने लगा। दरिद्रता के सारे अभाव और कष्ट मानो उन्हें छू ही न पाते हों। उन्हें लगता, यह अन्न-वस्त्र का कष्ट, यह पहले के ठाठ-बाट में व्यतिक्रम, ये तो जैसे दो दिन के लिए एक अभिनय-मात्र हों—इनमें कोई सत्य ही न हो। इसीलिए जब ढाका की पुरानी धोती फट जाने पर उन्हें कम दामों की मोटी धोती खरीदनी पड़ी तो उन्हें हँसी आ गई। पूजा (दुर्गापूजा) के समय पहले के समान धूम-धाम न हो सकी; 'नमो नमः' करके काम चलाना पड़ा; अभ्यागतों ने यह दरिद्र आयोजन देखकर दीर्घ निःश्वास लेकर पुराने समय की बातों की चर्चा चलाई। भवानीचरण मन-ही-मन हँसे, उन्होंने सोचा, 'ये जानते नहीं—यह सब केवल थोड़े दिनों के लिए है—उसके बाद एक दिन ऐसी धूम से पूजा होगी कि इनकी आँखें खुल जाएँगी।' भविष्य के इस निश्चित समारोह को वे इस तरह प्रत्यक्ष की भाँति देखते कि वर्तमान का दैन्य उन्हें नजर ही न आता।

इस विषय पर उनके साथ चर्चा करने वाला प्रधान व्यक्ति था—उनका नौकर नोटो। न जाने कितनी बार पूजोत्सव की दरिद्रता के बीच बैठकर प्रभु और भृत्य इस पर विस्तार से चर्चा कर चुके थे कि भविष्य में अच्छे दिन आने पर किस प्रकार का आयोजन करना होगा। यहाँ तक कि किसे निमन्त्रित करना होगा, किसे नहीं, और कलकत्ता से यात्रा-दल लाने की आवश्यकता है या नहीं, इसको लेकर दोनों पक्षों में घोरतर मतान्तर और तर्क-वितर्क होता रहता था। स्वाभाविक अनौदार्यवश उस भविष्य-काल के लिए सूची बनाने में कृपणता दिखाने के लिए नटबिहारी (नोटो) को भवानीचरण द्वारा दी गई कड़ी फटकार भी सहनी पड़ती। ऐसी घटना प्रायः घटती रहती।

भवनीचरण के मन में मोटे तौर से सम्पत्ति विषयक किसी भी प्रकार की दुश्चिन्ता नहीं थी। उनकी चिन्ता का एकमात्र कारण था, उस धन का भोग कौन करेगा। अभी तक उनके सन्तान नहीं हुई थी। कन्याभारग्रस्त हितैषी उनसे जब एक और विवाह करने का अनुरोध करते तो कभी-कभी उनका मन चंचल हो उठता; उसका कारण यह नहीं था कि नव-वधू के लिए उन्हें कोई विशेष शौक था—वरन् सेवक और अन्न की भाँति स्त्री के पुरातनत्व को भी वे श्रेष्ठ गिनते थे—किन्तु जिसे सम्पत्ति की सम्भावना हो उसके लिए सन्तान की सम्भावना का न होना वे विषम विडम्बना ही मानते थे।

ऐसी अवस्था में जब उनके पुत्र का जन्म हुआ तब सभी ने कहा, 'अब इस घर का भाग्य पलटेगा, यह उसी का सूत्रपात हुआ है—स्वयं स्वर्गीय मालिक

अभयाचरण ने फिर इस घर में जन्म लिया है, ठीक उसी प्रकार की बड़ी आँखें।' बालक की जन्मकुण्डली में भी देखा गया, ग्रह-नक्षत्रों का इस प्रकार का योगा-योग हुआ था कि अपहृत सम्पत्ति का उद्धार हुए बिना रह ही नहीं सकता।

पुत्र-जन्म के बाद से भवानीचरण के व्यवहार में कुछ परिवर्तन दिखने लगा। इतने दिन तक उन्होंने दरिद्रता को एकदम हँसी-खेल की तरह अनायास ही वहन किया था, किन्तु पुत्र के मामले में वे उसकी रक्षा न कर सके। शानियाड़ी के विख्यात चौधुरी के घर में जन्मे हुए कुल-प्रदीप को उज्ज्वल करने के लिए आकाशव्यापी समस्त ग्रहनक्षत्रों की अनुकूलता के फलस्वरूप जो शिशु धराधाम पर अवतरित हुआ था उसके प्रति तो कुछ-न-कुछ उत्तरदायित्व था ही। पुरातन काल से आज तक इस परिवार में हर पुत्र को जन्म से ही जो आदर-सम्मान मिलता आया है, उससे भवानीचरण का ज्येष्ठ पुत्र ही पहले-पहल वंचित हुआ—इस दुःख को वे न भूल सके। 'इस वंश का जो चिरप्राप्य मुझे मिला वह मैं अपने पुत्र को नहीं दे पाया'—यह स्मरण करके उनको लगने लगा, 'मैंने ही इसे वंचित किया है।' इसलिए कालीपद के लिए वे जो अर्थ-व्यय न कर सके, अपने अत्यधिक लाड़-प्यार द्वारा उन्होंने उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की।

भवानी की पत्नी रासमणि भिन्न स्वभाव की स्त्री थी। उन्होंने शानियाड़ी के चौधुरियों के वंश-गौरव के सम्बन्ध में कभी उत्कण्ठा का अनुभव नहीं किया। भवानी यह जानते थे और इसको लेकर मन-ही-मन हँसते थे, सोचते थे, जैसे साधारण दरिद्र वैष्णव वंश में उनकी पत्नी का जन्म हुआ था उसे देखते उनकी यह भूल क्षमा करने योग्य थी—चौधरियों की मान-मर्यादा के सम्बन्ध में यह अनुमान करना उनके लिए असम्भव ही था।

रासमणि स्वयं भी इसको स्वीकार करती। कहती, "मैं ग़रीब की बेटी हूँ, मान-सम्मान की परवाह नहीं करती, मेरा कालीपद बना रहे, वही मेरा सबसे बड़ा ऐश्वर्य है।" वसीयतनामा फिर मिल जायगा और कालीपद के कल्याण के लिए इस वंश के विलुप्त सम्पत्ति जल-शून्य नदी-पथ में फिर जल की बाढ़ आयगी, इन सब बातों पर वे कान भी नहीं देती थीं। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसके साथ उनके पति खोए वसीयतनामे के विषय में चर्चा न करते हों। केवल अपनी पत्नी के साथ वे अपने मन की इस सबसे बड़ी बात की चर्चा नहीं करते थे। दो-एक बार उसके साथ चर्चा करने का प्रयत्न किया था, किन्तु कोई रस नहीं मिला। अतीत की महिमा, एवं भावी महिमा, इन दोनों पर उनकी पत्नी कोई ध्यान नहीं देती थीं; वर्तमान आवश्यकताओं ने ही उनके समस्त हृदय को आकर्षित कर रखा था।

ये आवश्यकताएँ भी कोई छोटी नहीं थी। नाना प्रयत्नों द्वारा गृहस्थी चलानी पड़ती। क्योंकि, लक्ष्मी चली जाने पर भी अपना थोड़ा-बहुत भार पीछे फेंक जाती हैं; ऐसी स्थिति में कोई उपाय नहीं रहता, किन्तु अपाय रह जाता है। इस परिवार का आश्रय प्रायः नष्ट हो गया था, किन्तु आश्रित दल अब उन्हें छुट्टी नहीं देना चाहता था। भवानीचरण भी ऐसे आदमी नहीं थे कि अभाव के भय से किसी को भी विदा कर दें।

इस भारग्रस्त भग्न गृहस्थी को चलाने का भार रासमणि के ऊपर था। किसी से उन्हें कोई विशेष सहायता भी नहीं मिलती थी। कारण, इस परिवार की अच्छी स्थिति के दिनों में सभी आश्रितजनों ने आराम और आलस्य में अपने दिन बिताये थे। चौधुरी-वंश के महावृक्ष के नीचे इन लोगों की सुख-शय्या के ऊपर अपने-आप छाया होती रही और पका फल अपने-आप इनके मुंह के पास आकर गिरता था—इसलिए इनमें से किसी को भी कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। आज इनसे किसी प्रकार के काम करने को कहने पर ये बड़े अपमान का अनुभव करते—और रसोईघर का धुआँ लगते ही इनके सिर में दर्द होने लगता; और चलने-फिरने में न जाने कहाँ से ऐसी निगोड़ी गठिया की बीमारी आकर अभिभूत कर देती कि वैद्य के बहुमूल्य तेल से भी रोग का उपशमन होने में न आता, इसके अतिरिक्त, भवानीचरण कहते रहते थे कि आश्रय के बदले में आश्रितों से काम लिया जाय तो वह तो चाकरी कराना हुआ—उससे तो आश्रयदान का मूल्य ही चला जाता है—चौधुरियों के परिवार में ऐसा नियम ही नहीं है।

अतएव सारा भार रासमणि के ही ऊपर था। दिन-रात अनेक युक्तियों और परिश्रम द्वारा इस परिवार के समस्त अभावों को चुपचाप मिटाकर चलना पड़ता। इसी तरह दिन-रात दैन्य के साथ संग्राम करके, खींचातानी करके, मोल-भाव करके काम चलाना मनुष्य को बहुत कठोर बना देता है—उसकी कमनीयता चली जाती है। जिनके लिए वह पग-पग पर मरता-खपता रहता है। वे ही उसे सहन नहीं कर पाते। रासमणि केवल रसोईघर में भोजन पकाती हों ऐसा नहीं था, भोजन-सामग्री को जुटाने का भार भी बहुत कुछ उन्हीं के ऊपर था—लेकिन उसी अन्न का सेवन करके मध्याह्न में जो सोते वे प्रतिदिन उस अन्न की भी निन्दा करते, और अन्नदाता की भी प्रशंसा नहीं करते थे।

केवल घर का ही काम नहीं, ताल्लुके की जो थोड़ी-बहुत मिल्कियत अभी बाकी थी उसका हिसाब-किताब देखना, लगान अदायगी की व्यवस्था करना, सब-कुछ रासमणि को करना पड़ता। वसूली आदि के सम्बन्ध में इतनी खींच-तान पहले कभी नहीं थी—भवानीचरण का रुपया अभिमन्यु से ठीक

उल्टा था, वह बाहर निकलना ही जानता था, प्रवेश करने की विद्या उसकी जानी नहीं थी। रुपये के लिए किसी से कभी भी तगादा करने में वे बिलकुल अक्षम थे। रासमणि अपने प्राप्य के सम्बन्ध में किसी से एक पाई की भी रियायत नहीं करती थी। इसलिए आसामी उनकी निन्दा करते; गुमाश्ते भी उनकी सावधानी के मारे बेचैन होकर उनकी वंशोचित क्षुद्रता की चर्चा करके उन्हें गाली दिये बिना न छोड़ते थे। यहाँ तक कि उनके पति भी उनकी कृपणता और उनकी कर्कशता को अपने विश्व-विख्यात परिवार के लिए अपमानजनक कह-कर कभी-कभी मृदु स्वर में आपत्ति करते थे। इस समस्त निन्दा और तिरस्कार की पूर्ण रूप से उपेक्षा करके वे अपने नियम के अनुसार काम करती चलतीं, सारे दोष अपने ऊपर ले लेती; वे गरीब घर की बेटी हैं, बड़े आदमियों की बातें उनकी समझ से बाहर हैं, इसे बार-बार स्वीकार करके, वे घर-बाहर के सब लोगों की अप्रिय होकर अंचल के छोर से कसकर कमर बाँधकर तूफानी वेग से काम करती रहतीं; कोई उन्हें बाधा देने का साहस न करता।

किसी काम के लिए उनका पति को बुलाना तो दूर रहा, मन-ही-मन उन्हें यह भय हमेशा बना रहता था कि भवानीचरण सहसा मालिक होने का दम भर-कर कहीं किसी काम में हस्तक्षेप न कर बैठें। 'तुम्हें कुछ चिन्ता नहीं करनी होगी, इस सबमें तुम्हारे रहने की आवश्यकता नहीं है' ऐसा कहकर हर बात के लिए पति को निरुद्यम बनाकर रखना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। पति भी जन्म से ही इस बात के भली भाँति अभ्यस्त थे इसलिए इस विषय में पत्नी को अधिक दुःख नहीं उठाना पड़ा। बहुत उमर बीत जाने तक रासमणि के कोई सन्तान नहीं हुई थी—इसलिए अपने अकर्मण्य सरल प्रकृति परमुखापेक्षी पति को लेकर ही उनका पत्नी-प्रेम और मातृ-स्नेह दोनों पूर्ण हो गए थे। भवानी को वे वयःप्राप्त बालक के रूप में ही देखती थीं। फलतः सास की मृत्यु के बाद से घर के मालिक और मालकिन दोनों का काम उनको अकेले ही करना पड़ता। गुरु महाराज के बेटे और अन्यान्य विपद् से पति की रक्षा करने के लिए वे ऐसे कठोर भाव से चलतीं कि उनके पति के मित्र उनसे बहुत डरते थे। प्रखरता को छिपाकर रख सकतीं, स्पष्ट बातों की धार को कुछ नर्म कर सकतीं और पुरुषमण्डली के साथ यथोचित संकोच की रक्षा करती हुई चल सकतीं, ऐसा नारीजनोचित संयोग उन्हें नहीं मिला।

अभी तक तो भवानीचरण आज्ञाकारी की ही भाँति चल रहे थे। किन्तु कालीपद के विषय में रासमणि को मानकर चलना उनके लिए कठिन हो उठा।

उसका कारण यह था कि रासमणि भवानी के पुत्र को भवानीचरण की

दृष्टि से नहीं देखती थीं। अपने पति के सम्बन्ध में वे सोचतीं, 'बेचारा क्या करे, उसका क्या दोष, वह बड़े आदमी के घर में जन्मा है—उसके लिए और उपाय ही क्या है।' इस कारण, उनके पति किसी प्रकार का कष्ट स्वीकार करें, इसकी वे आशा ही नहीं कर सकती थीं इसलिए हजारों अभावों के रहते हुए भी वे अपनी प्राणपण शक्ति से पति के लिए सारी आवश्यक वस्तुएँ यथासम्भव इकट्ठी कर देतीं। उनके घर में बाहरी आदमियों के लिए खूब कड़ा हिसाब था, किन्तु भवानीचरण के आहार-व्यवहार में भरसक पुराने नियमों में तनिक भी व्यतिक्रम न होने पाता। नितान्त खींचातानी के दिन यदि किसी चीज़ की कोई विशेष कमी रह जाती तो वह केवल अभाव के कारण ही हो गई है इस बात को वे किसी भी तरह पति को न जानने देतीं—कदाचित् कहतीं, "अरे! मरे कुत्ते ने भोजन में मुँह डालकर सब भ्रष्ट कर डाला!" और इस तरह अपनी कल्पित असावधानी को धिक्कारतीं। अथवा 'अभागे नोटो की ग़लती से नया खरीदा कपड़ा खो गया'—कहकर उसकी बुद्धि के प्रति घोर अश्रद्धा प्रकट करतीं—ऐसे अवसर पर भवानीचरण अपने प्रिय भृत्य का पक्ष लेकर गृहिणी के क्रोध से उसको बचाने के लिए व्यग्र हो उठते। यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि जो धोती न तो गृहिणी ने खरीदी और न भवानीचरण ने आँखों से देखी और जिस काल्पनिक धोती को खो देने के कारण नटबिहारी दोषी ठहराया गया—भवानीचरण ने प्रसन्नमुख से स्वीकार कर लिया है कि उस धोती को नोटो ने चुनिया कर दिया था। उन्होंने उसे पहना भी था और उसके बाद—उसके बाद क्या हुआ यह सहसा उनकी कल्पना-शक्ति में नहीं आया—उसको स्वयं पूरा करते हुए रासमणि ने कहा है—"निश्चय ही तुमने अपनी बाहरी बैठक में छोड़ दी होगी वहाँ जो चाहे आता-जाता है, किसी ने चुरा ली होगी।"

भवानीचरण के लिए इस प्रकार की व्यवस्था थी। किन्तु अपने पुत्र को वे किसी भी मात्रा में पति के समकक्ष नहीं समझती थीं। वह तो उन्हींके गर्भ की सन्तान थी—फिर उसके लिए बाबूपन कैसा! वह काम करने वाला मज़बूत आदमी बनेगा—अनायास ही दुःख सहन करेगा और परिश्रम करके खायगा। इसके बिना उसका काम नहीं चलेगा, ऐसा न हुआ तो उसे अपमान झेलना पड़ेगा, इस प्रकार की बात किसी प्रकार शोभा नहीं दे सकती। कालीपद के लिए रासमणि ने मोटा-झोटा खाना-पहनना निश्चित कर दिया था। फरवी और गुड़ देकर उसे जलपान करातीं और सिर-कान ढँककर रुई का सलूका पहनाकर उसके शीत निवारण की व्यवस्था करतीं। शिक्षक महोदय को स्वयं बुलवाकर उन्होंने कह दिया था कि विशेष ध्यान देकर अनुशासन में संयत रखकर शिक्षा दी जाय, जिससे

पढ़ाई-लिखाई में वह किसी तरह की शिथिलता न कर सके।

अब एक बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई। निरीह स्वभाव भवानीचरण बीच-बीच में विद्रोह के लक्षण प्रकट करने लगे, किन्तु रासमणि ने मानो उनको देखकर भी न देखा। प्रबल पक्ष से भवानी सदा ही हार मानते आ रहे थे, इस बार भी उनको बाध्य होकर हार माननी पड़ी, किन्तु मन से उनका विद्रोह-भाव नहीं मिटा। इस परिवार का लड़का दुलाई ओढ़े तथा फरवी खाय, ऐसा असंगत दृश्य कैसे देखा जा सकता है!

दुर्गा-पूजा के समय उन्हें याद आता, मालिकों के राज में नई सज-धज के साथ वे किस प्रकार उत्साह का अनुभव करते थे। दुर्गा-पूजा के दिन रासमणि ने कालीपद के लिए जिन सस्ते कपड़ों की व्यवस्था की थी बीते जमाने में उनके घर के नौकर भी उस पर आपत्ति करते। रासमणि पति को समझाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न करती कि "कालीपद को जो दिया जाता है उसीसे वह प्रसन्न होता है। वह पुराने दस्तूर की बात बिलकुल नहीं जानता—तुम क्यों व्यर्थ ही मन भारी करते हो।" किन्तु, भवानीचरण यह किसी प्रकार नहीं भूल पाते थे कि बेचारा कालीपद अपने वंश का गौरव नहीं जानता इसीस उसको ठगा जा रहा है। वस्तुतः मामूली उपहार पाकर जब गर्व और आनन्द से नाचता हुआ वह दौड़कर उनको दिखाने आता तो उससे भवानीचरण को मानो और भी आघात पहुँचता। वे इसे किसी भी तरह न देख पाते थे। उन्हें मुँह फेरकर चले जाना पड़ता।

भवानीचरण का मुकद्दमा शुरू होने के बाद से उनके गुरु महाराज के घर में बहुत-कुछ धन की प्राप्ति हुई है। इतने से ही सन्तुष्ट न रहकर गुरुपुत्र प्रतिवर्ष दुर्गा-पूजा के कुछ पहले कलकत्ता से नाना प्रकार की नेत्राकर्षक सस्ती शौकीनी चीजें मँगवाकर कई महीने तक व्यवसाय चलाते रहते। छिपी स्याही, बन्सी (मछली मारने का यंत्र), छड़ी-छातों का एकत्र संग्रह, चिट्ठी का सचित्र काग़ज, नीलाम में खरीदा अनेक रंगों का सड़ा रेशम और साटन का थान, कविता लिखी किनारी वाली साड़ी आदि के द्वारा वे गाँव के स्त्री-पुरुषों का मन चलायमान कर देते। कलकत्ता के बाबू लोगों के घरों में आजकल उन सारी चीज़ों के बिना शिष्टाचार की रक्षा नहीं होती—ऐसा सुनकर गाँव का उच्चा-भिलाषी हरेक आदमी अपने देहातीपन को मिटाने के लिए सामर्थ्य से बाहर खर्च किये बिना न रहता।

एक बार बगलाचरण एक बड़ी ही अद्‌भुत मेम की मूर्ति लाए थे। उसमें किसी एक जगह चाभी भरने से मेम कुरसी से उठकर खड़ी होकर तेजी से अपने ऊपर पंखा झलने लगती।

पंखा झलने में निपुण गरमी से भयभीत इस मेम की मूर्ति के प्रति कालीपद के मन में बड़ा लोभ पैदा हुआ। कालीपद अपनी माँ को अच्छी तरह जानता था, इसीलिए माँ से कुछ न कहकर उसने भवानीचरण के सम्मुख करुण-स्वर में आवेदन प्रस्तुत किया। तत्काल भवानीचरण ने उदारता के साथ उसे आश्वस्त किया, किन्तु उसका मूल्य सुनकर उनका मुँह सूख गया।

रासमणि ही रुपया-पैसा वसूल करती थीं, जमा भी उन्हींके पास रहता था, खर्च भी उन्हीं के हाथों होता था। भवानीचरण भिखारी की भाँति अपनी अन्नपूर्णा के दरवाजे पर जाकर उपस्थित हुए। शुरू में अप्रासंगिक बातों की विस्तार से चर्चा करके अन्त में एकाएक धाँय से अपने मन की इच्छा कह डाली।

रासमणि ने अत्यन्त संक्षेप में कहा, "पागल हुए हो।"

भवानीचरण चुप होकर कुछ देर सोचने लग गए। उसके बाद हठात् बोल उठे, "अच्छा देखो, रोज भात के साथ तुम मुझे जो घी और खीर देती हो, उसकी क्या जरूरत है!"

रासमणि बोली, "क्यों, जरूरत क्यों नहीं है।"

भवानीचरण ने कहा, "वैद्यजी कहते हैं, उससे पित्त बढ़ जाता है।"

उग्र भाव से सिर हिलाते हुए रासमणि ने कहा, "तुम्हारा वैद्य तो सब जानता है!"

भवानीचरण ने कहा, "मैं तो कहता हूँ, रात को मेरे लिए पूड़ियाँ बन्द करके भात की व्यवस्था कर दो तो अच्छा होगा। पूड़ियों से पेट भारी रहता है।"

रासमणि ने कहा, "पेट भारी होने से आज तक तो तुम्हें कोई नुकसान होते नहीं देखा। जन्म से पूड़ी खाकर ही तो तुम बड़े हुए हो।"

भवानीचरण सब प्रकार का त्याग स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत थे—किन्तु, उस ओर बड़ी कड़ाई थी। घी की दर बढ़ रही थी तो भी पूड़ियों की संख्या ठीक पहले-जैसी ही थी। मध्याह्न-भोजन में जब खीर रहती तो दही न देने से कोई क्षति न होती—किन्तु, अनावश्यक होने पर भी इस घर में बाबू लोग बराबर दही-खीर खाते आ रहे थे। एक भी दिन भवानीचरण के भोग में उस चिरन्तन दही का व्यतिक्रम देखना रासमणि किसी भी प्रकार सहन नहीं कर पाती थीं। अतएव देह पर पंखा झलती वह मेम की मूर्ति भवानीचरण के दही-खीर, घी-पूड़ी के किसी छिद्र-पथ से प्रवेश कर सके इसका कोई उपाय नहीं दिखा।

भवानीचरण एक दिन बिलकुल अकारण ही अपने गुरुपुत्र के निवास-स्थान पर गए और अनेक अप्रासंगिक बातचीत के बाद उन्होंने उस मेम की चर्चा

छोड़ दी। उनकी वर्तमान आर्थिक दुर्गति की बात बगलाचरण से छिपी रहने का कोई कारण नहीं था, यह वे जानते थे; तो भी आज उनके पास रुपया न होने के कारण यह एक साधारण खिलौना अपने लड़के के लिए नहीं खरीद सकते, इस बात का आभास देने में भी मानो उनका सिर कटा जा रहा हो। फिर भी विषम संकोच को दबाकर उन्होंने अपनी चादर में से कपड़े में लिपटा हुआ एक बूटेदार पुराना कीमती शाल बाहर निकाला। अवरुद्ध स्वर में कहा, "समय कुछ खराब आ गया है, नकद रुपया हाथ में बहुत नहीं है—इसलिए सोचा है कि इस शाल को तुम्हारे यहाँ गिरवी रखकर कालीपद के लिए वह गुड़िया ले जाऊंगा।"

उस शाल की अपेक्षा यदि कम कीमत की कोई वस्तु होती तो बगलाचरण हिचकता नहीं— किन्तु वह जानता था, इसे वह हजम नहीं कर सकेगा—गाँव के लोग तो निन्दा करेंगे ही, तिस पर रासमणि की रसना से जो बातें निकलेंगी वे भी सरस नहीं होंगी। शाल को दुबारा चादर में छिपाकर हताश होकर भवानीचरण को लौटना पड़ा।

कालीपद रोज पिता से पूछता, "पिताजी, मेरी उस मेम का क्या हुआ?"

भवानीचरण रोज ही हँसकर कहते, "ठहरो—जल्दी क्या है। पहले सप्तमी पूजा का दिन तो आवे।"

प्रतिदिन प्रयत्न करके मुंह पर हँसी लाना निरन्तर कठिन होने लगा।

उस दिन चतुर्थी थी। कोई बहाना बनाकर भवानीचरण असमय घर के अन्दर गए। सहसा मानो किसी बात के प्रसंग में रासमणि से बोल उठे, "देखो, मैं कई दिन से ध्यान से देख रहा हूँ, कालीपद की तबियत जैसे दिन-ब-दिन खराब होती जा रही हो।"

रासमणि ने कहा, "राम! राम! खराब क्यों होगी भला। उसकी तबियत में तो मुझे कोई गड़बड़ी नहीं दिखाई देती।"

भवानीचरण ने कहा, "देखते नहीं! चुपचाप बैठा रहता है। न जाने क्या सोचता रहता है।"

रासमणि ने कहा, "अगर वह एक पल भी चुप बैठ सकता तो मेरी तो जान बचती। वह और चिन्ता! कब क्या ऊधम करना होगा, वह यही बात सोचता रहता है।"

इस ओर से दुर्ग-प्राचीर में कोई दुर्बलता नहीं दिखी—पत्थरों पर गोले का दाग भी नहीं पड़ा। निश्वास छोड़कर सिर पर हाथ फेरते हुए भवानीचरण बाहर चले गए। कमरे के बरामदे में अकेले बैठकर खूब जमकर हुक्का पीने लगे।

पंचमी के दिन उनकी पत्तल में दही खीर यों ही पड़े रहे। सन्ध्या-समय केवल एक सन्देश खाकर पानी पी लिया, पूड़ी छू भी नहीं पाये। बोले, "भूख जरा भी नहीं है।"

इस बार दुर्ग के प्राचीर में एक बड़ा सूराख दिखा। षष्ठी के दिन रासमणि ने स्वयं कालीपद को अकेले में बुलाकर उसको स्नेह-सूचक नाम से पुकार-कर कहा, "भेंटू, तुम्हारी इतनी उमर हो गई, तो भी तुम्हारा बच्चों की तरह मचलना नहीं गया ! छि ! छि ! जिसे पाना संभव नहीं है उसके लिए लालच करना आधी चोरी करना है, यह जानते हो।"

कालीपद ने नकियाकर कहा, "मैं क्या जानूं। पिताजी ने ही कहा है कि वह मुझे देंगे।"

पिताजी के कथन का क्या अर्थ था रासमणि कालीपद को समझाने बैठीं। पिता की इस बात में कितना स्नेह और कितनी वेदना है फिर भी अगर यह चीज देनी पड़ी तो उनके दरिद्र घर की कितनी क्षति होगी, कितना दुःख होगा, यह विस्तार से समझाया। इस तरह रासमणि ने कालीपद को कभी भी कुछ नहीं समझाया था—वे जो करतीं, अत्यन्त संक्षेप में और जोर के साथ करतीं—किसी भी आदेश को नरम बनाने की उन्हें आवश्यकता ही न होती, इसलिए जब कालीपद को आज उन्होंने इतनी मिन्नत की, इतने विस्तार में बातें कीं तो वह चकित हो गया और माता के हृदय में कहीं एक स्थान पर कितनी संवेदना है बालक होने पर भी वह इसे एक तरह से समझ गया। किन्तु, मेम की ओर से एक क्षण के लिए भी मन को हटाना कितना कठिन था, यह प्रौढ़ पाठकों को समझने में कठि-नाई नहीं होगी। अतः कालीपद अत्यन्त गम्भीर मुँह बनाकर एक सींक लेकर जमीन पर लकीर खींचने लगा।

तब रासमणि फिर कठोर हो उठीं। कठोर स्वर में बोलीं, "तुम चाहे गुस्सा हो जाओ, चाहे रोओ-पीटो, जो मिलने का नहीं है वह किसी भी प्रकार नहीं मिलेगा।"

यह कहकर वे व्यर्थ में और समय नष्ट न करके तेजी से घर का काम करने चली गईं। कालीपद बाहर चला गया। उस समय भवानीचरण अकेले बैठे हुक्का पी रहे थे। कालीपद को दूर से देखते ही चटपट उठकर जैसे कोई विशेष काम हो, ऐसा दिखाकर वे कहीं चल दिए। कालीपद ने दौड़ते हुए आकर कहा, "पिताजी, मेरी वह मेम—"

आज भवानीचरण के मुँह पर हँसी नहीं दिखी; कालीपद को गले से लगाकर बोले "ठहरो बेटा, मुझे एक काम है—कर आऊं, फिर सारी बातें

होंगी।"—कहते हुए वे घर से बाहर निकल गए। कालीपद को लगा, जैसे चट-पट उन्होंने अपनी आँखों से आँसू पोंछ लिये हों। उस समय मुहल्ले के एक घर में उत्सव के लिए शहनाई की जाँच-परख करके बयाना दिया जा रहा था। शहनाई के प्रात:कालीन करुण स्वर से शरद ऋतु की नई धूप मानो प्रच्छन्न अश्रु-भार से व्यथित हो उठी थी। कालीपद अपने घर के दरवाजे के पास खड़ा होकर चुपचाप रास्ते की ओर देखता रहा। उसके पिता कहीं किसी काम से नहीं जा रहे थे—यह उनकी चाल से ही दिख रहा था—उनके पैर ऐसे पड़ते थे मानो नैराश्य का बोझ लादे चले जा रहे हों और उसे उतारने का कहीं स्थान न पा रहे हों, यह उनके पीछे से भी स्पष्ट दिख रहा था।

कालीपद ने अन्त:पुर में लौटकर कहा, "माँ, मुझे वह पंखा डुलाती हुई मेम नहीं चाहिए।"

माँ उस समय सरौता लेकर जल्दी-जल्दी सुपारी काट रही थीं। उनका मुख प्रसन्न हो उठा। वहीं बैठे-बैठे माँ और बेटे में क्या सलाह हो गई यह कोई भी नहीं जान पाया। सरौता रखकर डलिया-भर कटी-अनकटी सुपारियाँ छोड़कर रासमणि उसी समय बगलाचरण के घर चली गईं।

भवानीचरण को घर लौटने में आज बहुत देरी हुई। स्नान करके जब वे भोजन करने बैठे तो उनका मुँह देखकर लगा, आज भी दही-खीर की सद्गति नहीं होगी, यही नहीं आज मछली के पूरे-के-पूरे सिर से बिल्ली का भोग लगेगा। तभी रासमणि ने डोरी से बँधा कागज़ का एक डिब्बा अपने पति के सामने लाकर उप-स्थित किया। भोजन के पश्चात् भवानीचरण जब विश्राम करने जायँगे तभी इस रहस्य का वे उद्घाटन करेंगी, रासमणि की यही इच्छा थी, किन्तु दधि, खीर और मछली के सिर का अनादर दूर करने के लिए उसे उसी समय निकालना पड़ गया। डिब्बे के भीतर से मेम की वह मूर्ति बाहर निकलकर अविलम्ब प्रबल उत्साह से ग्रीष्म-ताप निवारण में लग गई। बिल्ली को आज हताश होकर लौटना पड़ा। भवानीचरण ने पत्नी से कहा, "आज भोजन बहुत उत्तम बना है। बहुत दिन से मछली का ऐसा झोल नहीं खाया। और, दही कितना बढ़िया जमा है, उसकी क्या तारीफ करूं।"

सप्तमी के दिन कालीपद ने बड़े दिनों की आकांक्षा का धन प्राप्त किया। उस दिन दिन-भर उसने मेम का पंखा डुलाना देख अपने समवयस्क बन्धु-बान्धवों को दिखाकर उनकी ईर्ष्या उकसाई। यदि कोई और स्थिति होती तो वह हर समय इस गुड़िया के निरन्तर समान रूप से पंखा डुलाते रहने से अवश्य ही एक ही दिन में ऊब जाता—किन्तु यह जानकर कि अष्टमी के ही दिन प्रतिमा का विसर्जन

कर देना पड़ेगा, उसका अनुराग अटल बना रहा। अपने गुरुपुत्र को दो रुपये नकद देकर रासमणि केवल एक दिन के लिए इस गुड़िया को भाड़े पर ले आई थीं। अष्टमी के दिन लम्बी साँस लेकर कालीपद अपने हाथ से डिब्बे समेत गुड़िया बगलाचरण को लौटा आया। इस एक दिन के मिलन की सुख-स्मृति उसके मन में बहुत दिनों तक जागरूक बनी रही; उसके कल्पना-जगत् में पंखा चलना कभी बन्द नहीं हुआ।

अब से कालीपद माता की मन्त्रणा का साथी हो गया और अब से प्रति-वर्ष भवानीचरण कालीपद को इतनी आसानी से पूजा का ऐसा मूल्यवान उपहार दे पाते कि वे स्वयं आश्चर्य-चकित हो जाते।

बिना मूल्य दिये संसार में कुछ भी नहीं मिलता और वह मूल्य दुःख का मूल्य है, माता का अन्तरंग बनकर यह बात कालीपद प्रतिदिन जितना ही समझ पाता, देखते-देखते वह मानो भीतर से उतना ही प्रौढ़ होने लगा। अब वह सभी कामों में अपनी माता का दाहिना हाथ हो गया था। संसार का भार वहन करना होगा, संसार का भार बढ़ाना नहीं चाहिए—यह बात बिना उपदेश-वचनों के ही उसके रक्त में समा गई।

जीवन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए उसको तैयार होना पड़ेगा, यह बात स्मरण करके कालीपद प्राणपण से पढ़ने लगा। छात्र-वृत्ति की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर जब उसे छात्रवृत्ति मिली तब भवानीचरण ने सोचा कि और ज्यादा पढ़ने-लिखने की जरूरत नहीं है, अब कालीपद को अपनी ज़मीन-जायदाद की देख-भाल में लगना चाहिए।

कालीपद ने आकर माँ से कहा, "कलकत्ता जाकर पढ़े-लिखे बिना मैं आदमी नहीं बन सकता।"

माँ ने कहा, "सो तो है ही बेटा, कलकत्ता तो जाना ही होगा।"

कालीपद ने कहा, "मेरे लिए कोई खर्च नहीं करना पड़ेगा। छात्र-वृत्ति से ही काम चला लूँगा—और भी कुछ काम-काज जुटा लूँगा।"

भवानीचरण को राज़ी कराने में बहुत कष्ट उठाना पड़ा। देख-भाल के लायक़ कुछ भी तो ज़मीन-जायदाद नहीं है, यह बात कहने पर भवानीचरण बहुत दुःख का अनुभव करते, इससे रासमणि को यह युक्ति दबा देनी पड़ी। उन्होंने कहा, "कालीपद को आदमी तो बनना है।" किन्तु वंश-परम्परानुसार शनियाड़ी के बाहर गए बिना ही तो चौधरी लोग इतने दिनों तक आदमी बनते आए थे। विदेश से वे यमपुरी की भाँति डरते थे। कालीपद-जैसे बालक को अकेला कलकत्ता भेजने का प्रस्ताव किसी के दिमाग में आ ही कैसे सकता

है, यह वे सोच भी न सके। अन्त में गाँव के सर्वप्रधान बुद्धिमान् व्यक्ति बगलाचरण तक ने रासमणि के पक्ष में मत दिया। उसने कहा, "कालीपद एक दिन वकील होकर उस वसीयतनामे की चोरी के धोखे का बदला चुकायगा, निश्चय ही यह उसके भाग्य में लिखा है—अतएव कलकत्ता आने से उसे कोई नहीं रोक सकता।

यह बात सुनकर भवानीचरण को बड़ी सान्त्वना मिली। गमछे में बँधे सारे पुराने कागज-पत्र निकालकर वसीयतनामे की चोरी के बारे में बार-बार कालीपद से चर्चा करने लगे। माता के मन्त्री का काम तो कालीपद अभी तक खूब चतुराई से चला रहा था, किन्तु पिता की मन्त्रणा-सभा में उसका जोर नहीं चला। क्योंकि, अपने परिवार के प्रति इस पुराने अन्याय के सम्बन्ध में उसके मन में पर्याप्त उत्तेजना नहीं थी। तो भी उसने पिता की बात का समर्थन किया। सीता का उद्धार करने के लिए वीरश्रेष्ठ राम ने जिस प्रकार लंका की यात्रा की थी, कालीपद की कलकत्ता-यात्रा को भी भवानीचरण ने उसी प्रकार खूब बड़ा करके देखा—वह केवल सामान्य परीक्षा उत्तीर्ण करने की बात नहीं थी—घर की लक्ष्मी को घर लौटाने का आयोजन था।

कलकत्ता जाने के पहले दिन रासमणि ने कालीपद के गले में एक रक्षा-कवच बाँध दिया, और उसके हाथ में पचास रुपये का नोट देते हुए कहा, "इस नोट को संभालकर रखना, आपद्-विपद् में आवश्यकता पड़ने पर काम आएगा। गृहस्थी के खर्च से बहुत कष्टपूर्वक जमा किये हुए इस नोट को कालीपद ने यथार्थ पवित्र कवच के समान मानकर ही ग्रहण किया—'माता के आशीर्वाद के समान इन नोटों की वह सदा रक्षा करेगा, कभी खर्च नहीं करेगा', मन-ही-मन उसने यह संकल्प किया।

: ३ :

भवानीचरण के मुँह से वसीयतनामे की चोरी की बात अब उतनी नहीं सुनाई पड़ती। अब उनकी आलोचना का एक-मात्र विषय था कालीपद। उसीकी बात कहने के लिए वे अब सारे मुहल्ले में घूमते-फिरते थे। उसकी चिट्ठी मिलने पर घर-घर उसे पढ़कर सुनाने की लालसा में नाक से चश्मा ही नहीं उतरना चाहता था। इसके पहले उनके वंश में कभी कोई कलकत्ता नहीं गया था इसलिए कलकत्ता के गौरव-बोध से उनकी कल्पना अत्यन्त उत्तेजित हो उठी। हमारा कालीपद कलकत्ता में पढ़ता है एवं कलकत्ता की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं है—यहाँ तक कि, हुगली के पास गंगा का एक और पुल बनाया जा

रहा है, ये सारी बड़ी-बड़ी खबरें उनके लिए बिलकुल घरेलू बातों-जैसी थीं। "सुना है, भाई! गंगा के ऊपर एक और पुल बनाया जा रहा है—आज ही कालीपद की एक चिट्ठी मिली है, उसमें पूरा समाचार लिखा है।" कहकर चश्मा खोलकर उसके कांच को अच्छी तरह पोंछकर बड़ी आहिस्ता-आहिस्ता चिट्ठी आद्योपान्त पढ़कर पड़ोसी को सुनाई। "देखा भैया! कालान्तर में न जाने क्या-क्या होने वाला है, कोई ठिकाना है। आखिर ऐसा भी दिन कभी आयगा जब धूल-भरे पैरों से गंगा के ऊपर से कुत्ते, सियार आदि भी पार हो जायेंगे, कलि-युग में बात यहाँ तक पहुँच गई जी।" गंगा के माहात्म्य को इस प्रकार कम करना निस्संदेह शोचनीय बात थी, किन्तु कालीपद ने कलिकाल की एक इतनी बड़ी जय-वार्त्ता लिपिबद्ध करके उनके पास भेजी थी और गाँव के अत्यन्त अनभिज्ञ लोग इस समाचार को उसीके कारण जान सके हैं, इस आनन्द में वे वर्तमान युग में जीवों की असीम दुर्गति की दुश्चिन्ता भी अनायास ही भूल गए। जिस को देखा उसीसे उन्होंने सिर हिलाकर कहा, "मैं कहे देता हूँ, गंगा और ज्यादा दिन नहीं रहने की। मन-ही-मन यह आशा कर रहे थे कि गंगा जब भी जाने की तैयारी करेंगी तभी उसका समाचार सबसे पहले कालीपद की चिट्ठी से ही मिलेगा।"

इधर कलकत्ता में कालीपद बड़े कष्ट से पराये घर में रहकर लड़कों को पढ़ाकर, रात को बहीखाते की नकल करके पढ़ाई चलाने लगा। किसी प्रकार एन्ट्रेंस परीक्षा पास करने पर उसे फिर से छात्र-वृत्ति मिल गई। इस अनोखी घटना के उपलक्ष्य में सारे गाँव के लोगों को एक बड़ा भोज देने के लिए भवानीचरण उद्विग्न हो उठे। उन्होंने सोचा कि नाव तो प्रायः किनारे आकर लग गई है—इस साहस के बल पर अब से मन खोलकर खर्च किया जा सकता है। रासमणि से कोई प्रोत्साहन न पाने के कारण भोज रुका रहा।

इस बार कालीपद ने कॉलेज के पास एक मेस में आश्रय पाया। मेस के अधिकारी ने उसे निचले तल्ले के एक काम में न आ सकने वाले कमरे में रहने की अनुमति दे दी। कालीपद घर पर उनके लड़के को पढ़ाकर दोनों समय भोजन पाता और मेस के उस सीले अँधेरे कमरे में उसका निवास था। कमरे की एक सबसे बड़ी सुविधा यह थी कि वहाँ कालीपद का कोई साझीदार नहीं था। अतएव, यद्यपि वहाँ हवा नहीं पहुँचती थी तो भी पढ़ाई-लिखाई निर्विघ्न चलती। जो भी हो, सुविधा-असुविधा का विचार करने लायक कालीपद की स्थिति नहीं थी।

इस मेस में जो लोग भाड़ा देकर रहते थे, विशेष करके जो दूसरी मंजिल

पर उच्चलोक में रहते थे उनके साथ कालीपद का कोई सम्पर्क नहीं था। किन्तु, सम्पर्क न रहने पर भी संघर्ष से बचा नहीं जा सकता। ऊँचे का वज्राघात नीचे वालों के लिए कितना प्राणघातक होता है, कालीपद को यह समझते देर न लगी।

इस मेस के उच्चलोक में जो इन्द्र के सिंहासन पर था, उसका परिचय आवश्यक है। उसका नाम था शैलेन्द्र। वह बड़े आदमी का लड़का था; कॉलेज में पढ़ते समय उसके लिए मेस में रहना अनावश्यक था—तो भी उसे मेस में ही रहना अच्छा लगता था।

उसके बृहत् परिवार में से कई स्त्री और पुरुष आत्मीय लोगों को कलकत्ता लाकर एक किराए के मकान में रहने के लिए घर से अनुरोध किया गया था—वह इसके लिए किसी भी प्रकार राजी नहीं हुआ।

उसने कारण बताया था कि घर के लोगों के साथ रहने पर उसकी पढ़ाई-लिखाई कुछ भी नहीं हो पायेगी। किन्तु असल कारण यह नहीं था। शैलेन्द्र को लोगों की संगत खूब अच्छी लगती; किन्तु आत्मीय लोगों से कठिनाई यह थी कि सिर्फ उनके साथ रह लेने से ही तो मुक्ति नहीं मिल सकती थी। उनकी तरह-तरह की जिम्मेदारियाँ भी ओढनी पड़तीं—अमुक के साथ यह नहीं करना चाहिए, अमुक के संबंध में वह न करना अत्यन्त बुरी बात होगी। इसी कारण शैलेन्द्र के लिए सबसे बढ़कर सुविधापूर्ण जगह थी मेस। वहाँ आदमी तो थे काफी, फिर भी उसके ऊपर उनका कोई भार नहीं था। वे आते-जाते थे, हँसते थे, बातें करते थे, वे नदी के जल के समान थे, जो बस बहता चला जाता है और कहीं भी लेश-मात्र छिद्र नहीं छोड़ता।

शैलेन्द्र की धारणा थी कि वह आदमी अच्छा है जिसको सहृदय कहते हैं। सभी जानते हैं कि इस धारणा की सबसे बड़ी सुविधा यह है कि इसे अपने साथ बनाए रखने के लिए भला आदमी होने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अहंकार नाम की चीज हाथी-घोड़े की भाँति नहीं होती; उसे बहुत ही थोड़े खरचे पर बिना खुराक के खूब मोटा करके रखा जा सकता है।

किन्तु, शैलेन्द्र में खर्च करने की सामर्थ्य भी थी और प्रवृत्ति भी—इसलिए वह अपने अहंकार को तनिक भी खर्च किये बिना चरकर खाने नहीं देता था—कीमती खुराक देकर उसे सुन्दर सुसज्जित करके रखता था।

वस्तुतः, शैलेन्द्र के मन में दया काफी थी। लोगों का दुःख दूर करना उसे वास्तव में अच्छा लगता था। किन्तु, इतना अच्छा लगता कि यदि कोई दुःख दूर कराने के लिए उसकी शरण में न आता तो वह उसे विधिपूर्वक दुःख दिये बिना नहीं छोड़ता था। उसकी दया जब निर्दय हो उठती तब बड़ा भीषण

रूप धारण कर लेती।

मेस के लोगों को थिएटर दिखाना, बकरे का मांस खिलाना, रुपया उधार देकर उसकी बात हमेशा याद न रखना— उसके द्वारा प्रायः ही घटित होता। नवपरिणीत मुग्ध युवक पूजा की छुट्टी में घर जाते समय कलकत्ता के निवास का व्यय पूरा चुकाकर जब धनहीन हो जाता तब वधू के मन को लुभाने में उपयोगी फैन्सी साबुन और एसेन्स, और उसीके साथ हाल में आई हुई नई विलायती छींट की एक-आध जाकेट जुटाने के लिए उसे बहुत अधिक दुश्चिंता में न पड़ना पड़ता। शैलेन्द्र की सुरुचि पर पूर्ण निर्भर होकर वह कहता, "पर भाई, पसन्द तुम्हींको करनी पड़ेगी।" दुकान पर उसे साथ लिये जब वह खुद अत्यन्त सस्ती और खराब चीज छाँटता; तब शैलेन्द्र उसे डाँटकर कहता, "अरे छिः-छिः तुम्हारी पसन्द भी कैसी है?"—और सबसे फैन्सी चीज उठा लेता। दुकान-दार आकर कहता, "हाँ, चीज तो यह पहचानते हैं।" मूल्य की बात की चर्चा से खरीददार के मुख पर चिंता आते ही शैलेन्द्र दाम चुकाने का अकिञ्चन भार स्वयं ले लेता—दूसरे पक्ष के बार-बार आपत्ति करने पर भी कान न देता।

इस प्रकार जहाँ शैलेन्द्र था वहाँ वह अपने चारों ओर के सभी लोगों का सभी बातों में अवलम्बस्वरूप बन गया था। यदि कोई उसका आश्रय स्वीकार न करता तो उसके उस औद्धत्य को वह किसी भी प्रकार सहन न कर पाता। लोगों का हित करने का उसे ऐसा ही प्रबल शौक था।

बेचारा कालीपद नीचे के सीले कमरे में फटी बनियान पहने मैली चटाई पर बैठा पुस्तकों के पन्नों पर आँखें गड़ाए झूम-झूमकर पाठ याद करता रहता। जैसे भी हो उसे स्कॉलरशिप पाना ही होगा।

कलकत्ता आने के पहले माता ने उसे अपने सिर की सौगंध देकर कहा था कि वह बड़े आदमियों के लड़कों के साथ हेल-मेल बढ़ाकर कहीं आमोद-प्रमोद में मतवाला न हो जाय। माता का आदेश होने के कारण ही नहीं, कालीपद को जो दैन्य स्वीकार करना पड़ा था उसकी रक्षा करते हुए बड़े आदमियों के लड़कों के साथ मिलना उसके लिए असम्भव था। वह कभी भी शैलेन्द्र के पास न फटकता—और यद्यपि वह जानता था कि शैलेन्द्र का मन जीतने पर उसकी प्रतिदिन की अनेक दुरूह समस्याएं क्षण-भर में आसान बन सकती हैं, फिर भी कभी किसी कठिन संकट में भी कालीपद उसके प्रसाद-लाभ के लोभ से आकर्षित नहीं हुआ। वह अपना अभाव सँजोए अपने दारिद्र्य के निभृत अंधकार में दुबका पड़ा रहता।

गरीब होकर भी दूर रहे, शैलेन इस अहंकार को किसी भी प्रकार सहन

नहीं कर सका। इसके अतिरिक्त, भोजन, वस्त्र में कालीपद का दारिद्रय इतना प्रत्यक्ष था कि वह आंखों को अत्यन्त अखरता था। जब भी दोतल्ले की सीढ़ी चढ़ते उसके अत्यन्त फटे-पुराने कपड़े-लत्ते और मसहरी-बिछौना निगाह में पड़ते तभी वह मानो एक अपराध की भांति मन में खटकता। इसके अतिरिक्त, उसके गले में तावीज लटकता रहता और वह दोनों समय यथाविधि संध्या-वंदन करता। उसकी यह सब विचित्र ग्राम्यता ऊपर के दल के लिए अत्यन्त हास्यप्रद थी। शैलेन्द्र के पक्ष के एक-दो व्यक्ति इस एकांतवासी निरीह आदमी के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए दो-चार दिन उसके कमरे में भी आये गए। किन्तु वे इस लज्जाशील आदमी का मुँह न खुलवा सके। उसके कमरे में ज्यादा देर बैठे रहना सुखकर तथा स्वास्थ्यकर तो था नहीं, इसलिए उठना पड़ जाता।

'यदि इस अकिंचन को एक दिन बकरे के मांस की दावत में बुलाया जाय तो वह अवश्य कृतार्थ होगा,' यह सोचकर कृपा करके उसे एक बार निमन्त्रण-पत्र भेजा गया। कालीपद ने कहला भेजा, भोज के भोज्य को सहना उसके लिए संभव नहीं है, उसका अभ्यास दूसरे प्रकार का है। इस प्रत्याख्यान से शैलेन्द्र और उसका दल अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।

कुछ दिनों तक उसके ठीक ऊपर के कमरे में ऐसा धमाधम शब्द और जोर से गाना-बजाना चलता रहा कि कालीपद के लिए पढ़ने में मन लगाना असंभव हो गया। दिन के समय जब भी संभव होता वह गोलदिघी में एक पेड़ के नीचे पुस्तक लेकर पढ़ा करता एवं रात रहते ही उठकर बड़े सवेरे एक दीपक जलाकर अध्ययन में लग जाता।

कलकत्ता के भोजन और निवास-स्थान के कष्ट तथा अति परिश्रम के कारण कालीपद को सिर-दर्द की बीमारी ने आ घेरा। कभी-कभी ऐसा होता कि तीन-चार दिन तक उसको पड़े रहना पड़ता। वह निश्चय पूर्वक जानता था, कि यह समाचार मिलने पर उसके पिता उसे कभी भी कलकत्ता में नहीं रहने देंगे और व्याकुल होकर शायद कलकत्ता तक दौड़े आयेंगे। भवानीचरण समझते थे कि कलकत्ता में कालीपद ऐसे सुख में हैं जिसकी गांव के लोगों के लिए कल्पना करना भी असंभव है। देहात में जिस प्रकार पेड़-पौधे, झाड़-झखाड़ अपने आप पैदा होते हैं कलकत्ता की हवा में सब तरह के आरामों के उपकरण मानो उसी तरह अपने-आप उत्पन्न होते हैं और सभी उनका फल भोग सकते हैं—ऐसी उनकी धारणा थी। कालीपद ने उनकी इस भ्रांति को किसी भी प्रकार नष्ट नहीं किया। अस्वस्थता के अत्यन्त कष्ट के समय भी उसने एक दिन भी पिता को पत्र लिखना बन्द नहीं किया। किन्तु, ऐसी पीड़ा के दिन शैलेन्द्र का दल जब ऊधम मचाकर

भूतों का तमाशा करने लगता तो कालीपद के कष्ट की सीमा न रहती। वह खाली करवटें बदलता रहता और निर्जन कमरे में पड़ा-पड़ा माता को पुकारता और पिता का स्मरण करता। इस तरह दरिद्रता का अपमान और दुःख वह जितना भुगतता उतनी ही इसके बन्धन से अपने पिता-माता को मुक्त करने की उसकी प्रतिज्ञा उसके मन में और भी दृढ़ होती जाती।

कालीपद ने अपने को समेटकर सबकी दृष्टि से बचाकर रखने की चेष्टा की, किन्तु उससे उत्पात तनिक भी कम न हुआ। एक दिन उसने देखा कि चीना बाज़ार से खरीदे गए उसके पुराने सस्ते जूतों की जोड़ी के एक जूते के बदले में एक अति सुन्दर विलायती जूता रखा था। इस प्रकार के अनमेल जूते पहनकर कॉलेज जाना असंभव ही था। उसने इस सम्बन्ध में कोई शिकायत न करके वह पराया जूता कमरे के बाहर रख दिया और जूतों की मरम्मत करने वाले मोची से कम दाम पर पुराना जूता खरीदकर काम चलाने लगा। एक दिन ऊपर से एक लड़के ने अचानक कालीपद के कमरे में आकर पूछा, "क्या आप भूल से मेरे कमरे से मेरा सिगरेट-केस ले आए हैं? मुझे कहीं मिल नहीं रहा है।" कालीपद ने खीझकर कहा, "मैं आप लोगों के कमरे में नहीं गया।" "अरे! यह लो, यहीं तो है"—कहते हुए वह लड़का कमरे के एक कोने से एक मूल्यवान सिगरेट-केस उठाकर बिना कुछ कहे ऊपर चला गया।

कालीपद ने मन-ही-मन निश्चय किया, 'अगर एफ० ए० की परीक्षा में अच्छी छात्र-वृत्ति पा जाऊं तो इस मेस को छोड़कर चला जाऊँगा।'

मेस के लड़के प्रतिवर्ष मिलकर धूम-धाम से सरस्वती-पूजा करते थे। उसके व्यय का प्रधान अंश शैलेन्द्र वहन करता, किन्तु चन्दा सभी लड़के देते। गतवर्ष अत्यन्त अवहेलना करके कालीपद के पास कोई चन्दा माँगने भी नहीं आया। इस वर्ष महज़ उसे तंग करने के ही लिए उसके सामने चन्दे की कॉपी लाकर रख दी। जिस दल से कालीपद ने कभी भी कुछ भी सहायता नहीं ली थी, जिनके प्रायः नित्य मनाए जाने वाले आमोद-प्रमोद में योग देने के सौभाग्य को उसने एकदम अस्वीकार कर दिया था, वे जब कालीपद के पास चन्दे की सहायता माँगने आए तो पता नहीं उसने क्या सोचकर पाँच रुपये दे डाले। पाँच रुपये शैलेन्द्र को अपने दल के किसी भी व्यक्ति से नहीं मिले थे।

कालीपद के दारिद्र्य की कृपणता की अभी तक तो सभी उपेक्षा करते आए थे, किन्तु आज उसका यह पाँच रुपये का दान उनके लिए बिलकुल असह्य हो गया। "इसकी अवस्था जैसी है वह तो हमसे छिपी नहीं है, तब इसका इतना दिखावा किसलिए। मालूम होता है, सब पर तुरप लगाना

चाहता है।"

सरस्वती-पूजा खूब धूमधाम से हुई—कालीपद ने जो पाँच रुपये दिये थे, ये न भी दिये होते तो भी कोई विशेष कमी न पड़ती। किन्तु कालीपद के पक्ष में यह बात नहीं कही जा सकती। उसे पराये घर भोजन करना पड़ता—हमेशा समयानुसार भोजन भी न मिलता। इसके अतिरिक्त, पाकशाला के भृत्य लोग ही उसके भाग्यविधाता थे, अतएव भले-बुरे, कम-ज्यादा के विषय में कोई अप्रिय चर्चा न करके जल-पान के लिए कुछ सम्बल उसे हाथ में रखना ही पड़ता। वही पूंजी गेंदे के फूलों के शुष्क स्तूप के साथ विसर्जित देवी प्रतिमा के पीछे अन्तर्धान हो गई।

कालीपद को सिर-दर्द की बीमारी बढ़ गई। इस बार की परीक्षा में वह फेल तो नहीं हुआ, किन्तु छात्र-वृत्ति न पा सका। इस कारण पढ़ने का समय कम करके उसे एक और टघूशन की व्यवस्था करनी पड़ी। और बहुत ज्यादा उपद्रव होने पर भी वह मुफ्त का निवास-स्थान न छोड़ सका।

ऊपर की मंजिल पर रहने वालों ने आशा की थी कि इस बार छुट्टियों के बाद निश्चित रूप से कालीपद इस मेस में लौटकर नहीं आयगा। किन्तु यथा-समय उसके उस नीचे के कमरे का ताला खुल गया। धोती के ऊपर वही अपना धारीदार पुराना चीनी कोट पहने कालीपद ने कोठरी में प्रवेश किया, एक एक मैले कपड़े में बँधी बड़ी पोटली के साथ टीन का बक्स उतारकर रखने के बाद सियालदह के कुली ने उसके कमरे के सामने उकड़ूँ बैठकर काफी झगड़ा करके भाड़ा चुकवाया। इस पोटली में बहुत-सी छोटी-बड़ी हाँडी-सकोरे, कुल्हड़ों मे कालीपद की माँ ने कच्चे आम, बेर, चालता आदि चीजों से बने अनेक प्रकार के मुखरोचक पदार्थ स्वयं तैयार करके रख दिए थे। कालीपद जानता था कि उसकी अनुपस्थिति में मजाक बनाने वाला ऊपरी मजिल का दल उसके कमरे में प्रवेश करता था। उसे और कोई आशंका नही थी, बस इसी बात का बड़ा संकोच था कि कहीं उसके पिता-माता के स्नेह की कोई निशानी इन हँसी उड़ाने वालों के हाथ में न पड़ जाय। उसकी माँ ने उसे खाने की जो चीजें दी थीं वे उसके लिए अमृत-तुल्य थीं—पर वे सभी उसके दरिद्र ग्रामीण-घर की स्नेह-सम्पत्ति ही थी। जिस पात्र में वे रखी थीं वह मैदा लगाकर चिपकाई सकोरे से ढँकी हाँडी थी उसमें भी शहर के वैभव का कोई चिह्न न था, न तो वह काँच का पात्र था, न चीनी मिट्टी का बरतन; किन्तु उन्हें कोई शहरी लड़का अवज्ञा भाव से देखे यह उसके लिए एकदम असह्य था। पहले वह अपनी इन सारी विशेष वस्तुओं को तखत के नीचे पुराने समाचार-पत्रादि से ढककर रखता था। इस बार ताले-चाभी का सहारा लिया। अगर वह पाँच मिनट के लिए भी कमरे से बाहर जाता तो कमरे में ताला बन्द

करके जाता।

यह बात सबकी आँखों में खटकी। शैलेन्द्र बोला, "बड़ी भारी धन-सम्पत्ति है न! जिस कमरे में घुसने पर चोर की आँखों में भी पानी आ जाय—उसी कमरे में बार-बार ताला लगता है—देखता हूँ, एकदम दूसरा 'बैंक आफ़ बंगाल' हो गया है। हम में से किसी पर भी विश्वास नहीं—कहीं उस पबना की छींट के चीनी कोट का लोभ न संवरण कर पायें। अरे राघू! उसको भले आदमियों के लायक एक नया कोट खरीदकर दिये बिना तो किसी भी तरह नहीं चलेगा। हमेशा उसका वही एक-मात्र कोट देखते-देखते मुझे ऊब हो गई है।"

शैलेन्द्र ने कालीपद के उस सीलन-भरे उखड़े चूने वाली दीवारों वाले अँधेरे कमरे में कभी प्रवेश नहीं किया था। सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते समय बाहर से देखते ही उसका सारा शरीर संकुचित हो उठता। विशेषकर जब वह सन्ध्या के समय देखता, एक टिमटिमाता दीपक लिये कालीपद उस घुटन वाले बन्द कमरे में नंगे-बदन अकेला बैठा पुस्तक के ऊपर झुका पढ़ाई कर रहा है, तब उसका दम घुटने लग जाता। दल के लोगों से शैलेन्द्र ने कहा, "इस बार कालीपद सात राजाओं का कौन-सा धन-वैभव हरकर ले आया है, ज़रा इसका पता चलाओ!"

इस कौतुक में सबने उत्साह प्रकट किया।

कालीपद के कमरे का ताला बहुत ही कम दामों वाला ताला था, उसकी रोक बहुत मज़बूत रोक नहीं थी; प्रायः सभी चाबियों से वह खुल जाता। एक दिन सन्ध्या समय जब कालीपद लड़कों को पढ़ाने गया था, उसी बीच में दो-तीन अत्यन्त आमोदप्रिय लड़कों ने हँसते-हँसते ताला खोलकर हाथ में एक लालटेन लिये उसके कमरे में प्रवेश किया। तख्त के नीचे से अचार, चटनी, अमावट आदि के बरतनों को खोज निकाला, किन्तु, ये चीजें बहुमूल्य गोपनीय सामग्री हों, ऐसा उन्हें नहीं लगा।

खोजते-खोजते तकिए के नीचे से छल्लेसहित एक चाबी मिली। उस चाबी से टीन का बक्स खोलते ही कुछ मैले कपड़े, किताबें, कॉपी, कैंची, छुरी, क़लम इत्यादि दिखे। बक्स बन्द करके वे जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि सारे कपड़े-लत्तों के नीचे रूमाल में लिपटी कोई एक चीज बाहर निकली। रूमाल खोजते ही फटे कपड़ों का एक पुलिंदा दिखाई पड़ा। उस पुलिंदे को खोलने के बाद एक के बाद एक लगभग तीन-चार काग़ज़ों के आवरण उतार डालने पर पचास रुपये का एक नोट निकला।

इस नोट को देखकर फिर कोई अपनी हँसी नहीं रोक सका। वे-हा-हा, करके उच्च स्वर में हँस पड़े। सब ने निश्चय किया कि इस नोट के लिए ही

कालीपद बार-बार कमरे में ताला लगाता है, दुनिया के किसी आदमी का विश्वास नहीं कर पाता। उसकी कृपणता और सन्देहशील प्रकृति पर शैलेन्द्र के प्रसाद-प्रत्याशी सहचरगण विस्मित हो उठे।

इसी समय सहसा लगा, मानो सड़क पर कालीपद-जैसी किसी की खांसी सुनाई पड़ी हो। तत्क्षण बक्स का ढक्कन बन्द करके नोट हाथ में लिये वे ऊपर भाग गए। एक ने झटपट दरवाज़े में ताला लगा दिया।

शैलेन्द्र उस नोट को देखकर खूब हंसा। पचास रुपये शैलेन्द्र के लिए कुछ भी नहीं थे, फिर भी इतना रुपया कालीपद के बक्स में है उसका व्यवहार देख-कर कोई इसका अनुमान नहीं कर सकता था। तिस पर इस नोट के लिए इतनी सावधानी! सबने तय किया, देखा जाय इन रुपयों के खो जाने पर यह विचित्र व्यक्ति क्या काण्ड करता है।

लड़के पढ़ाकर रात में नौ के बाद थके हुए कालीपद ने कमरे की अवस्था पर तनिक भी ध्यान न दिया। विशेषकर उसका सिर मानो फटा जाता हो। समझ गया कि अब कुछ दिन उसके सिर की पीड़ा चलेगी।

दूसरे दिन उसने कपड़े निकालने के लिए तखत के नीचे से टीन का बक्स खींचा तो देखा, बक्स खुला हुआ है। यद्यपि कालीपद स्वभावतः असावधान नहीं था फिर भी उसको लगा शायद वह ताला लगाना भूल गया होगा। कारण, यदि कमरे में चोर आता तो बाहर के दरवाज़े का ताला बन्द न रहता।

बक्स खोलकर देखा तो उसके कपड़े-लत्ते सब उलट-पुलट गए थे। उसका हृदय हताश हो गया। जल्दी से सारी चीज़ें बाहर करके देखीं, माता का दिया हुआ उसका वह नोट नहीं था। काग़ज़ और कपड़े के पुलिन्दे थे। कालीपद ने सारे कपड़ों को बार-बार ज़ोर-ज़ोर से झाड़ा, पर नोट नहीं निकला। उधर ऊपर की मंज़िल के लोग एक-एक दो-दो करके मानो अपने काम से सीढ़ियों से उतरकर उस कमरे की ओर दृष्टिपात करते हुए बार-बार चढ़ने-उतरने लगे। ऊपर अट्टहास का फ़व्वारा छूट रहा था।

जब नोट की कोई आशा न रही और जब सिर की पीड़ा के मारे सामान इधर-उधर करना उसके लिए और सम्भव नहीं रह गया, तब वह बिस्तर पर मृत-तुल्य औंधा लेट गया। वह उसकी माता की बड़ी तपस्या का नोट था—जीवन के न जाने कितने क्षणों को कठिन यंत्रणाओं में पीसकर दिन-पर-दिन धीरे-धीरे यह नोट संचित हुआ था। एक दिन था जब वह इस दुःख के इतिहास को बिलकुल भी नहीं जानता था, उस समय उसने अपनी माता के भार को केवल

बढ़ाया था, अन्त में जिस दिन माँ ने उसको अपने प्रतिदिन भुगते जाने वाले दुःख का साथी बना लिया उस दिन के-से गौरव का उसने अपने जीवन में फिर कभी अनुभव नहीं किया। कालीपद ने अपने जीवन में जो सबसे बड़ा सन्देश, जो महत्तम आशीर्वाद पाया था, वह इसी नोट में समाया हुआ था। अपनी माता के अतलस्पर्शी स्नेह-समुद्र-मन्थन से प्राप्त अमूल्य साधना के उस उपहार का चोरी चला जाना उसे एक पैशाचिक अभिशाप के समान प्रतीत हुआ। बगल के जीने पर आज पैरों की आहट बार-बार सुनाई पड़ रही थी। अकारण चढ़ने-उतरने का आज अन्त ही नहीं हो रहा था। गाँव आग में जलकर राख हुआ जा रहा हो, और ठीक उसके समीप ही आनन्दपूर्ण कल-कल शब्द करती नदी अविरत बही जा रही हो—यह भी ठीक वैसा ही था।

ऊपर के तल्ले का अट्टहास सुनकर सहसा एक बार कालीपद को लगा कि यह चोर का काम नहीं है। पलक मारते वह समझ गया कि शैलेन्द्र का दल मजाक में उसका वह नोट ले गया है। चोर के चुराने पर भी उसके मन को इतना कष्ट न होता। उसे लगने लगा मानो धन-मद-गर्वित युवकों ने उसकी माँ की देह पर हाथ उठाया हो। इतने दिन से कालीपद इस भेष में था, उसने एक भी दिन इन सीढ़ियों से होकर ऊपर के तल्ले पर पैर तक न रखा था। आज अपनी देह पर वही फटी बनियान लिये, खाली पैर मन के आवेग और सिर-दर्द की उत्तेजना से उसका मुँह लाल हो गया था—तेजी से वह ऊपर चढ़ गया।

आज रविवार था—कॉलेज जाने का कार्यक्रम नही था, लकड़ी की छत वाले बरामदे में मित्र लोग कोई कुरसी पर, कोई बेंत के मूढ़े पर बैठे हास्यालाप कर रहे थे। कालीपद दौड़कर उनके बीच जा धमका और क्रोध के मारे भर्राये गले से बोल उठा, "दीजिए, मेरा नोट दीजिए!"

यदि वह विनती के स्वर में बोलता तो वह सफल हो जाता, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, उसकी उन्मत्तवत् क्रुद्धमूर्ति देखकर शैलेन्द्र अत्यन्त क्रोधित हो उठा। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उसके घर का दरबान होता तो वह उससे इस असभ्य का कान पकड़कर दूर कर देता—सब खड़े होकर एक साथ गरज उठे, "क्या कह रहे हैं जनाब! कैसा नोट!"

कालीपद ने कहा, "आप लोग मेरे बक्से से नोट ले आए हैं।"

"इतनी बड़ी बात! हमें चोर बनाना चाहते हैं!"

यदि कालीपद के हाथ में कुछ होता तो वह उसी क्षण खून-खराबी कर डालता। उसका रुख देखकर चार-पाँच लोगों ने मिलकर उसके हाथ पकड़ लिए। वह जाल में फँसे बाघ की तरह दहाड़ने लगा।

इस अन्याय का प्रतिकार करने की उसमें कोई शक्ति न थी, कोई प्रमाण न था—सभी उसके सन्देह को पागलपन कहकर उड़ा देते। जिन्होंने उसको मृत्यु-बाण मारा था, वे उसके औद्धत्य को असह्य कहकर जोर-जोर से छाती फुलाने लगे।

वह रात कालीपद ने किस प्रकार बिताई, यह कोई नहीं जान सका। सौ रुपये का एक नोट निकालकर शैलेन्द्र ने कहा, "जाओ, उस उजड्ड को दे आओ!"

सहचरों ने कहा, "पागल हो गए हो! गर्व तो चूर होने दो—पहले हम सबको एक लिखित क्षमा-याचना दे, उसके बाद विचार किया जायगा।"

यथासमय सब सोने गए और नोट आते भी किसी को देर नहीं लगी। सुबह कालीपद की बात प्रायः सब भूल ही गए। सुबह किसी-किसी ने सीढ़ियों से नीचे उतरते समय उसके कमरे से बोलने की आवाज़ सुनी। सोचा, शायद वकील को बुलाकर परामर्श कर रहा हो। किवाड़ अन्दर से बन्द थे। बाहर से कान लगाकर जो सुना उससे कानून का कोई सम्पर्क नहीं था, बिलकुल असंबद्ध प्रलाप था।

ऊपर जाकर शैलेन्द्र को खबर दी। शैलेन्द्र उतरकर दरवाजे के बाहर आ खड़ा हुआ। कालीपद न जाने क्या बक रहा था, अच्छी तरह समझ में नहीं आ रहा था, केवल रह-रह कर 'पिताजी-पिताजी' पुकार उठता था।

भय हुआ, शायद नोट के शोक से पागल हो गया हो। बाहर से दो-तीन बार पुकारा, "कालीपद बाबू!" किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल वही बड़बड़ाहट चलती रही। शैलेन्द्र ने फिर उच्चस्वर में कहा, "कालीपद बाबू, दरवाजा खोलिए, आपका वह नोट मिल गया है।"

दरवाज़ा नहीं खुला, केवल बड़बड़ाने की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ी।

बात इतनी बढ़ जायगी इसकी शैलेन्द्र ने कल्पना भी नहीं की थी। उसने मुँह से अपने अनुयायियों के सामने पश्चात्ताप प्रदर्शित नहीं किया। किन्तु, उसके मन में काँटा चुभने लगा। वह बोला, "दरवाजा तोड़ना चाहिए।"

किसी-किसी ने सलाह दी, "पुलिस को बुला लाओ—क्या पता पागल होकर अगर अचानक कुछ कर बैठे—कल जिस तरह का हाल देखा है—साहस नहीं होता।"

शैलेन्द्र ने कहा, "नहीं, अभी जल्दी से कोई जाकर अनादि डॉक्टर को बुला लाओ!"

अनादि डॉक्टर घर के पास ही रहते थे। उन्होंने आकर दरवाज़े से

कान लगाकर कहा, "यह तो विकार ही मालूम पड़ता है।"

दरवाजा तोड़ने पर भीतर घुसकर देखा—तख्त पर बिछा अस्त-व्यस्त बिस्तर कुछ खिसककर ज़मीन पर लोट रहा था। कालीपद जमीन के ऊपर पड़ा था—वह चेतनाशून्य था। वह लोट लगा रहा था, रह-रह कर हाथ-पैर पटकता और प्रलाप करता था, उसकी लाल-लाल आँखें खुली हुई थीं और उसके चेहरे से मानो ख़ून फूटा पड़ रहा था।

डाक्टर ने उसके पास बैठकर बहुत देर तक परीक्षा करके शैलेन्द्र से पूछा, "इसका कोई सम्बन्धी है?"

शैलेन्द्र का मुँह विवर्ण हो गया। उसने डरकर प्रश्न किया, "क्यों, बात क्या है।"

डॉक्टर ने गम्भीर होकर कहा, "खबर कर देना अच्छा है, लक्षण अच्छे नहीं हैं।"

शैलेन्द्र ने कहा, "इनके साथ हमारा घनिष्ठ परिचय नहीं है—कुटुम्बियों का समाचार हम कुछ भी नहीं जानते। खोज करेंगे। किन्तु, इस बीच में क्या करना चाहिए?"

डॉक्टर ने कहा—"इस कमरे से रोगी को इसी वक्त दूसरे तल्ले के किसी अच्छे कमरे में ले जाना उचित होगा। दिन-रात सेवा-सुश्रूषा की व्यवस्था भी करनी चाहिए।"

शैलेन्द्र बीमार को स्वयं अपने कमरे में ले गया। अपने साथियों को भीड़ न करने के लिए कहकर कमरे से विदा कर दिया। कालीपद के सिर पर बरफ की थैली रखकर अपने हाथ से हवा करने लगा।

पहले ही कह चुका हूँ, इस कमरे की ऊपरी मंजिल पर रहने वाला दल कहीं किसी प्रकार का अपमान या परिहास न करे इसलिए अपने पिता-माता का पूरा परिचय कालीपद ने इनसे छिपा रखा था। स्वयं उनके नाम जो चिट्ठी लिखता उसे सावधानी से डाकघर में जाकर दे आता और डाकघर के पते से ही उसके नाम चिट्ठी आती—प्रतिदिन वह स्वयं जाकर ले आता।

कालीपद के घर का परिचय पाने के लिए एक बार फिर उसका बक्स खोलना पड़ा। उसके बक्स में चिट्ठियों के दो बण्डल थे। प्रत्येक बण्डल बड़े यत्न से फीते से बँधा हुआ था। एक बण्डल में उसकी माता की चिट्ठियाँ थीं और दूसरे में उसके पिता की। माता की चिट्ठियों की संख्या थोड़ी थी, पिता की चिट्ठियाँ ही अधिक थीं।

चिट्ठियों को हाथ में लेकर शैलेन्द्र ने दरवाजा बन्द कर दिया और रोगी

के बिस्तर के पास बैठकर आरम्भ किया। चिट्ठी में पता पढ़ते ही एकदम चौंक पड़ा। शानियाड़ी, चौधुरी का परिवार, छः आने के हिस्सेदार! नीचे नाम देखा, भवानीचरण देव शर्मा। भवानीचरण चौधुरी!

चिट्ठी रखकर स्तब्ध होकर बैठकर वह कालीपद के मुख की ओर देखता रहा। कुछ दिन पहले एक बार उसके सहचरों में से किसी ने कहा था कि उसके चेहरे से कालीपद का चेहरा बहुत मिलता है। यह बात सुनने में उसे अच्छी नहीं लगी थी और सबने उसे एकदम उड़ा दिया था। आज वह समझा कि बात निर्मूल नहीं थी। उसके पितामह दो भाई थे—श्यामाचरण और भवानीचरण, यह बात वह जानता था। उसके परवर्तीकाल के इतिहास की उसके घर में कभी चर्चा नहीं हुई। भवानीचरण के पुत्र है और उसका नाम कालीपद है, यह वह नहीं जानता था। यह कालीपद! यह उसका चाचा!

तब शैलेन को याद आने लगा, शैलेन की पितामही, श्यामाचरण की पत्नी जितने दिन जीवित रहीं, अन्त तक बड़े स्नेह से वे भवानीचरण के विषय में चर्चा करती रहीं। भवानीचरण का नाम लेते ही उनकी आँखों में आँसू भर आते। भवानीचरण उनके देवर थे, किन्तु अवस्था में उनके पुत्र की अपेक्षा छोटे थे, उनको उन्होंने अपने पुत्र के समान ही पाल-पोसकर बड़ा किया था। संपत्ति के झगड़े के कारण जब वे अलग हो गए तो भवानीचरण की थोड़ी-बहुत खबर पाने के लिए उनका हृदय लालायित रहता। उन्होंने बार-बार अपने लड़कों से से कहा था, "भवानीचरण को अत्यन्त सीधा भला आदमी समझकर जरूर तुमने उसको धोखा दिया है—मेरे ससुर उसे इतना प्यार करते थे कि मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकती कि वे उसको संपत्ति से वञ्चित कर जायँ।" उनके लड़के इन बातों पर बहुत खीझते और शैलेन्द्र को याद आया कि वह भी अपनी पितामही के ऊपर बहुत क्रोधित होता। यही नहीं, पितामही के उनका पक्ष लेने के कारण, भवानीचरण के ऊपर भी उसे बड़ा क्रोध आता। अब भवानीचरण की ऐसी दरिद्र अवस्था थी यह भी वह नहीं जानता था—कालीपद की स्थिति देखकर वह सब बात समझ गया और हजारों प्रलोभनों के रहते हुए भी इतने दिन तक कालीपद उसकी अनुचर-मण्डली में भर्ती नहीं हुआ इससे उसने बड़े गौरव का अनुभव किया। यदि दैववश कालीपद उसका अनुवर्ती होता तो आज उसकी लज्जा की सीमा न रहती।

: ४ :

शैलेन के दल के लोगों ने इतने दिन तक प्रायः प्रतिदिन ही कालीपद

को कष्ट दिया था और अपमानित किया था। शैलेन इस घर में उनके बीच काका को नहीं रख सका। डॉक्टरों का परामर्श लेकर बड़े यत्न से उसको एक अच्छे घर में स्थानान्तरित कर दिया।

शैलेन की चिट्ठी पाकर एक साथी का सहारा लिये भवानीचरण चट-पट कलकत्ता दौड़े आए। आते समय व्याकुल होकर रासमणि ने कष्ट से संचित अपने धन का अधिकांश अपने पति के हाथ में देते हुए कहा, "देखना कहीं देख-भाल में कमी न हो। यदि ठीक समझो तो ख़बर मिलते ही मैं आ जाऊंगी।" चौधुरी परिवार में वधू के लिए चट-से कलकत्ता जाने का प्रस्ताव बहुत ही असंगत था। अतः पहले समाचार के मिलते ही उनका जाना संभव नहीं हुआ। उन्होंने रक्षा काली देवी की मनौती की और ज्योतिषी को बुलाकर स्वस्त्ययन कराने की व्यवस्था करा दी।

कालीपद की अवस्था देखकर भवानीचरण हतबुद्धि हो गए। कालीपद को उस समय अच्छी तरह चेतना नहीं आई थी; उसने उनको मास्टर साहब कहकर पुकारा—इससे उनका हृदय विदीर्ण हो गया। प्रायः बीच-बीच में कालीपद प्रलाप करता हुआ 'पिताजी' 'पिताजी' पुकार उठता था—वे उसका हाथ पकड़कर उसके मुँह के पास मुँह ले जाकर ज़ोर से कहते, "मैं यह रहा बेटा, मैं आ गया हूँ।" किन्तु उसने इन्हें पहचाना हो, ऐसा भाव प्रकट नहीं किया।

डॉक्टर ने आकर कहा, "ज्वर पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गया है, अब शायद अच्छे की ही ओर चलेगा।" कालीपद अच्छे की ओर नहीं जायगा, यह बात भवानीचरण सोच ही नहीं सकते थे। विशेषकर उसके बचपन से सभी कहते चले आ रहे थे कि कालीपद बड़ा होकर कोई असाधारण कार्य करेगा—इसे भवानीचरण ने केवल-मात्र लोगों के मुँह की कही बात समझकर ग्रहण नहीं किया था—यह विश्वास उनके लिए बिलकुल संस्कारगत हो गया था। कालीपद को बचना ही होगा, यह उसके भाग्य का लेख है।

इसी कारण, डॉक्टर जितना अच्छा बताता वे उससे कहीं ज्यादा अच्छा सुन लेते और रासमणि को जो पत्र लिखते उसमें आशङ्का की कोई बात ही न रहती।

शैलेन्द्र के व्यवहार से भवानीचरण एकदम आश्चर्यान्वित हो गए। यह कौन कहेगा कि वह उनका परमात्मीय नहीं था। विशेषकर कलकत्ता का सुशिक्षित सभ्य लड़का होने पर भी वह उनके प्रति जिस प्रकार श्रद्धा-भक्ति रखता था ऐसा दिखता नहीं। उन्होंने सोचा कि कलकत्ता के लड़कों का शायद इसी तरह का स्वभाव होता है। मन-ही-मन विचारा, 'यह तो होने की ही बात है, अपने

देहाती लड़कों की शिक्षा ही क्या और सोहबत ही क्या।'

ज्वर कुछ-कुछ कम होने लगा और कालीपद ने धीरे-धीरे चेतनता प्राप्त की। पिता को चारपाई के पास देखकर वह चौंक पड़ा; सोचा, उसके कलकत्ता की स्थिति की बात अब उसके पिता को मालूम हो जायगी। उससे भी अधिक चिन्ता यह थी कि उसके ग्रामीण पिता शहर के लड़कों के परिहास के पात्र बन जायेंगे। चारों ओर देखकर वह समझ न पाया कि यह कौन-सा कमरा था। लगा, 'यह क्या स्वप्न देख रहा हूँ!'

उस समय अधिक सोचने की शक्ति उसमें नहीं थी। उसे लगा कि बीमारी का समाचार पाकर उसके पिता ने आकर एक अच्छे मकान में ला रखा है। कैसे लाए, उसका खर्च कहाँ से जुटा, इतना खरच करने के बाद कैसा संकट उपस्थित होगा, यह सब बातें सोचने का समय उसके पास नहीं था। इस समय तो उसे अच्छा होना ही होगा, मानो सारी दुनिया से वह यह माँग कर सकता हो।

एक बार जब उसके पिता कमरे में नहीं थे तब शैलेन एक बर्तन में कुछ फल लेकर उसके पास आकर उपस्थित हुआ। कालीपद अवाक् होकर उसके चेहरे की ओर देखता रहा। सोचने लगा, 'इसमें कोई परिहास है क्या।' पहली बात जो उसके मन में आई वह यही थी कि उसके हाथ से तो पिताजी की रक्षा करनी होगी।

फलों का पात्र टेबिल के ऊपर रखकर पैर पकड़कर शैलेन ने कालीपद को प्रणाम किया और कहा, "मैंने गुरुतर अपराध किया है, मुझे क्षमा करें।"

कालीपद हड़बड़ा गया। शैलेन का मुँह देखते ही वह समझ गया कि उसके मन में कोई कपट नहीं है। पहले जब कालीपद मेस में आया था, यौवन की दीप्ति से चमकती हुई इस सुन्दर मुखश्री को देखकर कितनी बार उसका मन कितना आकर्षित हुआ था, किन्तु वह अपनी दरिद्रता के संकोच के कारण कभी उसके निकट भी नहीं गया। यदि वह समकक्ष होता, यदि मित्र के समान उसके पास जाने का अधिकार उसके लिए सुलभ होता, तो वह कितना खुश होता—किन्तु एक-दूसरे के अत्यन्त पास रहते हुए भी दोनों के बीच रहने वाले अपार व्यवधान को पार करने का उपाय नहीं था। शैलेन जब जीने से ऊपर चढ़ता या नीचे उतरता तो उसकी बढ़िया चादर की सुगन्ध कालीपद के अँधेरे कमरे में पहुँच जाती—तब पढ़ाई छोड़कर इस हँसमुख चिन्ता-रेखाहीन तरुण मुख की ओर एक बार देखे बिना उससे न रहा जाता। तुरन्त क्षण-भर के लिए उसके उस सीले कोने वाले कमरे में दूर के सौन्दर्य-लोक के ऐश्वर्य की चमकती हुई रश्मि की छटा आ पड़ती। उसके बाद उसी शैलेन्द्र का निर्दय तारुण्य उसके

लिए कैसा प्राणघातक हुआ यह सभी को ज्ञात है। आज जब शैलेन ने बिस्तर पर उसके सामने फलों का पात्र लाकर उपस्थित किया तब कालीपद ने दीर्घ निश्वास लेकर उस सुन्दर मुँह की ओर फिर एक बार आँख उठाकर देखा। क्षमा की बात अपने मुँह से बिलकुल भी नहीं निकाली—धीरे-धीरे फल उठाकर खाने लगा—जो कहना था वह इसीके द्वारा कह दिया गया।

कालीपद प्रतिदिन आश्चर्य से देखने लगा कि उसके ग्रामीण पिता भवानीचरण के साथ शैलेन की मित्रता खूब जम गई है। शैलेन उनको दादा (पितामह) कहता, और एक-दूसरे के बीच निरन्तर हँसी-मज़ाक चलता रहता। उन दोनों के हँसी-मज़ाक का प्रधान लक्ष्य थीं अनुपस्थित दादी (पितामही)। इतने समय बाद हँसी-मजाक के इस दक्षिण-पवन के हिल्लोल से भवानीचरण के मन में मानो यौवन-स्मृति का पुलक संचरित होने लगा। दादी से अपने हाथों का तैयार किया हुआ अचार, अमावट आदि सारी चीज़ें शैलेन ने रोगी की अनवधानता के समय चुराकर खा डाली थीं, यह बात आज उसने निस्संकोच भाव से स्वीकार की। इस चोरी की खबर से कालीपद को बड़े ही गहरे आनन्द का अनुभव हुआ। अपनी माँ के हाथ की चीज़ें वह दुनिया के लोगों को बुलाकर खिलाना चाहता था यदि वे उसका मूल्य समझ सकें। कालीपद के लिए आज उसकी रोग-शय्या-आनंद सभा बन गई—ऐसा सुख उसे अपने जीवन में कम ही मिला था। उसे प्रतिक्षण लगने लगा, 'माँ होती तो कितना अच्छा होता! यहाँ होती तो उसकी माँ इस विनोदप्रिय सुन्दर युवक को कितना स्नेह करतीं'—इस बात की वह कल्पना करने लगा।

रोगी के कमरे की सभा में बातचीत का केवल एक विषय था जो कभी-कभी आनन्द-प्रवाह में बड़ी बाधा डाल देता। कालीपद के मन में मानो दारिद्र्य का एक अभिमान था—किसी समय उनके पास प्रचुर ऐश्वर्य था इस बात को लेकर व्यर्थ ही गर्व करने से उसको बड़ी लज्जा का अनुभव होता। 'हम ग़रीब हैं' इस बात को किसी 'किन्तु' से ढक देने के लिए वह तनिक भी राजी न था। भवानीचरण भी अपने ऐश्वर्य के दिनों की बात गर्व से चलाते हों, ऐसा नहीं था। किन्तु वे उनके सुख के दिन थे, उनके पूर्ण यौवन के दिन थे। विश्वास-घाती संसार का बीभत्स रूप तब तक उनके सामने नहीं आया था। विशेषकर श्यामाचरण की पत्नी उनकी अत्यन्त स्नेहमयी भाभी रमासुन्दरी जब उनके घर की मालकिन थीं तब उस लक्ष्मी के भरे भण्डार के दरवाज़े पर खड़े होकर उन्होंने कितना अजस्र स्नेह लूटा था—उन अस्तमित सुख के दिनों की स्मृति के आलोक से ही तो भवानीचरण के जीवन की संध्या स्वर्ण-मण्डित हो गई थी।

किन्तु, इस सम्पूर्ण सुखद स्मृति की बातचीत में घूम-फिरकर उस वसीयतनामे की चोरी की बात आ ही जाती। इस प्रसंग के आते ही भवानीचरण बड़े उत्तेजित हो जाते। अब भी वह वसीयतनामा मिल जायगा, इस सम्बन्ध में उनके मन में लेश-मात्र भी सन्देह न था—उनकी सती-साध्वी माँ की बात कभी व्यर्थ नहीं जायगी। यह बात चलते ही कालीपद मन-ही-मन अ· त हो उठता। वह जानता था कि यह उसके पिता का निरा पागलपन था। माता-पुत्र दोनों ने इस पागलपन को प्रश्रय भी दिया था, किन्तु शैलेन के सामने उसके पिता की यह दुर्बलता प्रकट हो यह उसको ज़रा भी अच्छा न लगा। कितनी बार उसने पिता से कहा है, "नहीं पिताजी, यह तुम्हारा मिथ्या सन्देह है।" किन्तु इस प्रकार के तर्क का परिणाम उलटा होता। यह प्रमाणित करने के लिए कि उनका सन्देह निर्मूल नहीं था वे सारी घटना का विस्तार से विश्लेषण करने लगते। तब कालीपद अनेक प्रयत्न करने पर भी किसी भी प्रकार उनको रोक न पाता।

विशेषकर शैलेन को यह प्रसंग बिलकुल भी अच्छा न लगता था। कालीपद ने यह स्पष्ट रूप से लक्ष्य किया था। यही नहीं वह भी कुछ विशेष उत्तेजित होकर मानो भवानीचरण की युक्तियों का खण्डन करने का प्रयत्न करता तो अन्य सब मामलों में भवानीचरण और सबका मत मान लेने को प्रस्तुत थे, किन्तु इस मामले में वे किसी से भी हार नहीं मान पाते थे। उनकी माँ पढ़ना-लिखना जानती थीं—उन्होंने स्वयं अपने हाथ से उनके पिता का वसीयतनामा और अन्य प्रमाण-पत्र बक्स में बंद करके लोहे के संदूक में रख दिए थे; फिर भी उनके सामने ही जब माँ ने बक्स खोला तो देखा कि अन्य प्रमाण-पत्र तो ज्यों-के-त्यों थे, किन्तु वसीयतनामा नहीं था, इसको चोरी न कहा जाय और क्या! कालीपद उनको ठण्डा करने के लिए कहता, "अच्छा तो है पिताजी, जो तुम्हारी संपत्ति का उपभोग कर रहे हैं वे भी तो तुम्हारे बेटे की ही तरह हैं, वे तुम्हारे भतीजे ही तो हैं। वह सम्पत्ति तुम्हारे पिता के वंश में ही रही—यही क्या कम खुशी की बात है।" शैलेन यह सब बातें बहुत देर तक नहीं सह पाता था, वह कमरे से उठकर चला जाता था। कालीपद मन-ही-मन दुखी होकर सोचता, शैलेन शायद उसके पिता को अपने मन में अर्थ लोलुप विषयी समझता है। उसके पिता में अर्थलोलुपता की गन्ध तक नहीं थी—अगर वह यह बात किसी प्रकार शैलेन को समझा पाता तो कालीपद को बड़ा आराम मिलता।

इतने दिनों में शैलेन कालीपद और भवानीचरण को अपना परिचय अवश्य दे देता। किन्तु, इस वसीयतनामे की चोरी की चर्चा ने ही उसमें बाधा

पहुँचाई। यह बात वह किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करना चाहता था कि उसके पिता तथा पितामह ने वसीयतनामे की चोरी की है। लेकिन इसके साथ यह बात भी वह किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सका कि पैतृक सम्पत्ति के न्याययुक्त अंश से वंचित रखने से भवानीचरण के प्रति एक निष्ठुर अन्याय हुआ है। अब इस प्रसंग में किसी प्रकार का तर्क करना उसने बन्द कर दिया— वह बिलकुल चुप रहता—और यदि कोई मौका पाता तो उठकर चला जाता।

अब भी शाम को कालीपद को थोड़ा ज्वर और सिरदर्द रहता था, किन्तु उसको वह बीमारी नहीं समझता था। पढ़ने के लिए उसका मन बेचैन हो उठा। एक बार वह छात्र-वृत्ति चूक गया, दुबारा तो इस तरह काम नहीं चलेगा। शैलेन से छिपकर उसने फिर पढ़ना शुरू कर दिया; इस विषय में डाक्टर का कड़ा निषेध है, यह जानते हुए भी उसने उसे अमान्य कर दिया।

भवानीचरण से कालीपद ने कहा, "पिताजी तुम घर लौट जाओ—वहाँ माँ अकेली हैं। मैं तो काफी अच्छा हो गया हूँ।"

शैलेन ने भी कहा, "अब आपके जाने से कोई हानि नहीं। अब तो चिन्ता की कोई बात मैं नहीं देखता। अब जो थोड़ा बहुत रह गया है वह दो दिन में सुधर जायगा। फिर हम लोग तो हैं ही।

भवानीचरण ने कहा, "यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूं; कालीपद के लिए चिन्ता करने की कोई बात नहीं। मेरे कलकत्ता आने की कोई आवश्यकता थी ही नहीं, फिर भी भाई मन कहीं मानता है। खासकर तुम्हारी दादी जब जिस पर अड़ जाती हैं उससे पीछा छुड़ाने का तो फिर कोई रास्ता ही नहीं रहता।"

शैलेन हँसकर बोला, "दादा, तुम्हींने तो दुलार करके दादी को इतना बिगाड़ा है।"

भवानीचरण ने हँसकर कहा, "अच्छा भाई, अच्छा, घर में जब पोते की बहू आएगी तब तुम्हारी शासन-प्रणाली कैसा कठोर रूप धारण करेगी, देखा जायगा।"

भवानीचरण पूर्ण रूप से रासमणि की सेवा में पले हुए जीव थे। कलकत्ता का अनेक प्रकार का सुविधापूर्ण आयोजन भी रासमणि की स्नेह और सेवा के अभाव को किसी भी प्रकार पूरा न कर सका। इस कारण घर जाने के लिए उनसे बहुत ज्यादा अनुरोध नहीं करना पड़ा।

सवेरे सामान बाँधकर तैयार हुए थे, तभी कालीपद के कमरे में जाकर देखा, उसका मुँह और आँखें अत्यन्त लाल हो गई थीं—उसका शरीर जैसे आग

के समान जल रहा था, कल आधी रात तक उसने लॉजिक कण्ठस्थ की थी, बाकी रात एक क्षण के लिए भी वह न सो सका।

कालीपद की दुर्बलता तो दूर नहीं हुई, उसके ऊपर रोग का और प्रबल आक्रमण देखकर डॉक्टर विशेष चिन्तित हुए। शैलेन को अलग ले जाकर बोले, "इस बार तो दशा अच्छी नहीं मालूम होती।"

शैलेन्द्र ने भवानीचरण से कहा, "देखो, दादा, तुमको भी कष्ट हो रहा है, रोगी की भी शायद भली-भाँति सेवा नहीं हो रही है, इससे मैं सोचता हूँ, और देरी न करके दादी को बुला लिया जाय।"

शैलेन ने कितना ही छिपाकर क्यों न कहा हो, एक भीषण डर ने भवानीचरण के मन को आकर अभिभूत कर लिया। उनके हाथ-पैर थर-थर काँपने लगे। वे बोले, "तुम जैसा ठीक समझो वही करो!"

रासमणि के पास चिट्ठी गई; वे फौरन बगलाचरण को साथ लेकर कलकत्ता आ गईं। सन्ध्या समय कलकत्ता पहुँचकर वे केवल कुछ घण्टों के लिए ही कालीपद को जीवित देख सकीं। ज्वर की अवस्था में उसने रह-रहकर माँ को पुकारा था—वही आवाज़ उनके हृदय में चुभी रह गई।

यह आघात सहकर भवानीचरण किस प्रकार बच सकेंगे इसी भय के कारण रासमणि अपने शोक को भली-भाँति प्रकट करने का फिर अवसर नहीं पा सकीं—उनका पुत्र फिर उनके पति में जाकर विलीन हो गया—फिर पति के रूप में दो व्यक्तियों का भार उन्होंने अपने व्यथित हृदय पर ले लिया। उनके प्राणों ने कहा, "अब अधिक मैं नहीं सह सकती।" फिर भी उन्हें सहना ही पड़ा।

: ५ :

उस समय रात बहुत थी। गहरे शोक की भारी थकावट से रासमणि केवल क्षण-भर के लिए अचेत होकर सो गई थीं, किन्तु भवानीचरण को नींद नहीं आ रही थी। कुछ देर बिस्तर पर करवटें बदलकर अन्त में लम्बी साँस के साथ 'दयामय हरि' कहकर उठ पड़े। कालीपद जब गाँव की पाठशाला में पढ़ता था, जब वह कलकत्ता नहीं गया था, तब वह कोने के जिस कमरे में बैठकर पढ़ता-लिखता था भवानीचरण ने काँपते हाथों में एक दीपक लिये हुए उसी निर्जन कमरे में प्रवेश किया। रासमणि के हाथ से चित्रित फटी हुई कथरी अब भी तख्त पर बिछी थी, उसमें अब भी कई जगह उस स्याही के दाग थे; मैली दीवाल के ऊपर कोयले से खिंची उस रेखागणित की रेखाएँ दिख रही थीं; तख्त के एक कोने में हाथ से बँधी मैले काग़जों की कई कॉपियों के साथ रॉयल रीडर के तीसरे

भाग के फटे पन्ने आज भी बिखरे पड़े थे। और—हाय, हाय!—उसके बचपन के छोटे पैरों में से एक पैर की चट्टी जिस कमरे के कोने में पड़ी थी, उसको इतने दिन किसी ने देखकर भी नहीं देखा था, आज वह आँखों को सबसे बड़ी होकर दिख रही थी—संसार में ऐसी कोई बड़ी चीज़ नहीं थी जो आज इस छोटी चट्टी को ढक सके।

ताक में दिया रखकर भवानीचरण आकर उस तख्त पर बैठ गए। उनके सूखे नेत्रों में जल नहीं आया, किन्तु उनके हृदय को न जाने कैसा लग रहा था—लम्बी साँस लेते हुए उनकी पसलियाँ मानो विदीर्ण हुई जा रही थीं। कमरे का पूर्व की ओर का दरवाज़ा खोलकर जँगले में से उन्होंने बाहर की ओर देखा।

अँधेरी रात थी, टप्-टप् करके वर्षा हो रही थी। सामने चहारदीवारी से घिरा घना जंगल था। उसमें पढ़ने के कमरे के ठीक सामने थोड़ी-सी ज़मीन में कालीपद ने बगीचा लगाने का प्रयत्न किया था। अब भी उसके अपने हाथ से लगाई हुई झूमका बेल बाँस के बेड़े के ऊपर खूब पल्लवित होकर हरिया रही थी—वह फूलों से लद गई थी।

आज बालक के उस यत्नपालित बगीचे की ओर देखकर उनके प्राण जैसे मुँह को आ गए हों। और कोई आशा नहीं रह गई थी; गर्मी के समय और पूजा के अवसर पर कॉलिज की छुट्टी होती; किन्तु जिसके लिए उनका दरिद्र घर खाली पड़ा था वह अब कभी किसी छुट्टी में लौटकर घर नहीं आयगा। "हाय! मेरे बेटे!" कहते हुए भवानीचरण वहीं ज़मीन पर बैठ गए। अपने पिता के दारिद्रय को दूर करने के लिए ही कालीपद कलकत्ता गया था, किन्तु वह इस वृद्ध को संसार में बिलकुल निस्सहाय छोड़कर चला गया।—बाहर वर्षा ने और भी ज़ोर पकड़ लिया।

इसी समय अँधेरे में घास-पत्तों में पैरों की आहट सुनाई पड़ी। भवानीचरण का हृदय धड़कने लगा। जिस बात की कोई भी आशा नहीं थी उसकी भी मानो वे आशा कर बैठे। उन्हें लगा, मानो कालीपद बगीचा देखने आया हो। किन्तु, मूसलाधार वर्षा जो पड़ रही थी—वह तो भीग जायगा, इस असम्भव उद्वेग के कारण जब उनका मन भीतर से चंचल हो उठा तब जंगले के बाहर उनके कमरे के सामने आकर कोई क्षण-भर के लिए खड़ा हो गया। चद्दर से वह सिर ढके हुए था—उसका चेहरा पहचानने का कोई उपाय नहीं था। किन्तु, उसका सिर कालीपद के समान ही रहा होगा। "आ गए बेटे!" कहते हुए भवानीचरण झटपट उठकर बाहर का दरवाज़ा खोलने गए। दरवाज़ा खोलकर बगीचे में आकर उसी कमरे के सामने उपस्थित हुए। वहाँ कोई नहीं था।

उस वर्षा में ही सारे बगीचे में घूमकर देखा, किसी को भी नहीं देख पाए। आधी रात के उस अन्धकार में खड़े होकर टूटे स्वर में एक बार 'कालीपद' कहकर जोर से पुकारा—कोई उत्तर नहीं मिला। उस पुकार से नट्टु नौकर गोशाला से निकल आया और बड़े यत्नपूर्वक वृद्ध को कमरे में ले गया।

दूसरे दिन सवेरे नट्टु ने कमरे में झाड़ू देते हुए देखा, जंगले के सामने ही कमरे के भीतर पोटली में बंधा कुछ पड़ा है। वह उसने लाकर भवानीचरण के हाथ में दे दिया। भवानीचरण ने खोलकर देखा, एक पुराना दस्तावेज-सा था। चश्मा निकालकर आँखों पर चढ़ाया। थोड़ा-सा पढ़ते ही वे चटपट दौड़कर रासमणि के सामने जा उपस्थित हुए और कागज उनके सामने खोलकर रख दिया।

रासमणि ने प्रश्न किया, "यह क्या है ?"

भवानीचरण बोले, "वही वसीयतनामा।"

रासमणि ने कहा, "किसने दिया।"

भवानीचरण ने कहा, "वह कल रात आया था, वही दे गया है।"

रासमणि ने प्रश्न किया, "इसका क्या होगा ?"

भवानीचरण ने कहा, "अब मुझे कोई जरूरत नहीं। कहकर उस वसीयतनामे के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

यह समाचार जब गाँव में फैला तब बगलाचरण ने सिर हिलाते हुए गर्व के साथ कहा, "मैंने कहा था न कि कालीपद के द्वारा ही वसीयतनामा मिल सकेगा ?"

रामचरण मोदी ने कहा, "किन्तु दादाजी, कल रात जब दस बजे की गाड़ी आकर स्टेशन पर पहुँची तब देखने में सुन्दर एक बाबू ने मेरी दुकान पर आकर चौधुरियों के घर का रास्ता पूछा था—मैंने उसको रास्ता दिखा दिया था। उसके हाथ में ऐसा ही कुछ देखा था।"

"अरे हट" कहते हुए बगलाचरण ने यह बात एकदम उड़ा दी

हालदार परिवार

इस परिवार में किसी प्रकार का झगड़ा होने का कोई संगत कारण नहीं था। अवस्था भी अच्छी थी, लोग भी अच्छे थे। पर फिर भी झगड़ा खड़ा हो गया। क्योंकि यदि संगत कारण होने पर भी मनुष्य का सब-कुछ घटित होता तब तो मानव-जगत् गणित की कॉपी के समान होता। जरा-सी सावधानी बरतते ही हिसाब में कहीं कोई भूल न होती; और यदि हो भी जाती तो उसे रबर से मिटाकर संशोधन करने से ही काम चल जाता।

किन्तु मनुष्य के भाग्यदेवता को रस का बोध है; पता नहीं गणितशास्त्र में उनका पाण्डित्य है या नहीं, किन्तु अनुराग नहीं है, मानव-जीवन की जोड़-बाकी का विशुद्ध परिणाम निकालने में वे मनोयोग प्रकट नहीं करते। इसीलिए अपनी व्यवस्था में उन्होंने एक वस्तु को जोड़ दिया है, वह है असंगति। जो हो सकता है उसे वह अचानक आकर अस्त-व्यस्त कर देती है। इसीसे नाट्य-लीला जम उठती है, संसार के दोनों कूलों को डुबाकर हास्य-रुदन का तूफान चलता रहता है।

इस प्रसंग में भी वही घटा—जहां कमल-वन था वहां मस्त हाथी आ उपस्थित हुआ। पङ्क के साथ पङ्कज का बेमेल सम्मिश्रण हो गया। ऐसा न होता तो इस कहानी की रचना न हो पाती।

जिस परिवार की कहानी प्रस्तुत की है उसमें निस्संदेह सबसे योग्य व्यक्ति बनवारीलाल था। इसे वह स्वयं भी अच्छी तरह जानता था और इसी बात ने उसे अशांत कर डाला था। इञ्जिन की स्टीम के समान योग्यता उसे भीतर से ठेलती थी; सामने यदि उसे रास्ता मिलता तो ठीक, यदि न मिलता तो जो आ जाता उसे ही धकेल देता।

उसके पिता मनोहरलाल का ढंग पुरानी परिपाटी के बड़े आदमियों-जसा था। अपने समाज के मस्तक पर आश्रय लेकर वे उसके शिरोभूषण होकर रहें, यही उनकी इच्छा थी। फलस्वरूप समाज के हाथ-पैरों के साथ वे कोई संपर्क नहीं रखते थे। साधारण व्यक्ति काम-काज करता है, चलता-फिरता है; वे काम-काज न करने और न चलने-फिरने के अनेक आयोजनों के केन्द्रस्थल में

भ्रू वत् विराजमान रहते ।

प्राय: देखा जाता है कि इस प्रकार के आदमी बिना प्रयत्न के अपने पास कम-से-कम दो-एक कड़े और खरे व्यक्तियों को चुम्बक के समान खींच लेते हैं। इसका और कोई कारण नहीं, धरती पर एक ऐसे वर्ग का भी जन्म होता है जिसका धर्म ही है सेवा करना। ये स्वयं प्रकृति की चरितार्थता के लिए ही ऐसे अक्षम मनुष्यों को चाहते हैं जो अपना सोलह आना भार उनके ऊपर छोड़ सकें। इन सहज सेवकों को अपने काम में कोई सुख नहीं मिलता; किन्तु और किसी व्यक्ति को निश्चिन्त करना, उसको पूरी तरह से आराम पहुँचाना, उसको सब प्रकार के संकटों से बचाकर ले चलना, लोक तथा समाज में उसके सम्मान की वृद्धि करना, इन्हीं बातों में उनको परम उत्साह मिलता है। ये मानो एक प्रकार के पुरुष-माँ हैं, सो भी अपने लड़कों के नहीं, पराये लड़कों के।

मनोहरलाल का जो नौकर था रामचरण, उसकी अपनी शरीर-रक्षा और स्वास्थ्य-हानि का एक-मात्र लक्ष्य था बाबू की देह की रक्षा करना। यदि उसके साँस लेने से बाबू के साँस लेने की मेहनत बच जाती तो वह दिन-रात लुहार की धौंकनी के समान हाँफने के लिए राजी था। बाहर के आदमी प्राय: सोचते कि मनोहरलाल अपने नौकर से व्यर्थ परिश्रम कराकर अन्यायपूर्वक कष्ट देते हैं। क्योंकि यदि हाथ से छूकर हुक्के की नगाली जमीन पर गिर पड़े तो उसे उठाना कठिन काम नहीं है फिर भी उसके लिए पुकारकर दूसरे कमरे से रामचरण को दौड़ाना अत्यन्त अनुचित-सा प्रतीत होता है, किन्तु, इन सब नितान्त अनावश्यक कामों में अपने को अत्यावश्यक समझवाने में ही रामचरण को अपार आनन्द मिलता था।

जिस प्रकार रामचरण था, उसी प्रकार उनका एक और अनुचर था नीलकण्ठ। धन-सम्पत्ति की रक्षा का भार इस नीलकंठ के ऊपर था। बाबू के प्रसाद से परिपुष्ट रामचरण खूब चिकना था, किन्तु नीलकंठ की देह के अस्थि-कंकाल के ऊपर किसी प्रकार की आब नहीं थी, यह कहना ही ठीक होगा। बाबू के ऐश्वर्यभण्डार के दरवाजे पर वह साक्षात् दुर्भिक्ष के समान पहरा देता था। सम्पत्ति तो थी मनोहरलाल की, किन्तु उसकी ममता थी सारी नीलकंठ की।

नीलकंठ के साथ बनवारीलाल की खट-पट बहुत दिनों से चल रही थी। मान लो, पिता के यहाँ दरबारदारी करके बनवारी ने बड़ी बहू के लिए एक नया गहना बनवाने का हुक्म प्राप्त किया। उसकी इच्छा थी कि वह रुपया लेकर अपनी रुचि के अनुसार चीज तैयार करावे। किन्तु ऐसा होने की गुंजायश नहीं थी। आय-व्यय का सारा काम नीलकंठ के हाथ से ही होना चाहिए। फल यह हुआ

कि गहना बना तो सही, किन्तु किसी के मन के माफिक नहीं बना। बनवारी को दृढ़ विश्वास हो गया कि सुनार के साथ नीलकंठ का हिस्सा-बँटवारा चलता है। खरे आदमियों के शत्रुओं की कमी नहीं होती। ढेरों लोगों से बनवारी यही बात सुनता आ रहा था कि नीलकंठ दूसरे लोगों को जिस मात्रा में वंचित रखता है उसके अपने घर में उतनी ही अधिक मात्रा में संचित होता जा रहा है। और इन दो पक्षों में यह जो इतना विरोध जम गया था वह मामूली दस-पाँच रुपये लेकर। नीलकंठ में व्यावहारिक बुद्धि का अभाव नहीं था—यह बात समझना उसके लिए कठिन नहीं था कि बनवारी के साथ मेल रखकर न चलने से किसी-न-किसी दिन उस पर संकट आने की सम्भावना हो सकती है। किन्तु मालिक के धन के सम्बन्ध में नीलकंठ को कृपणता का रोग था। जिस खर्च को वह अनुचित समझता था उसे मालिक का हुक्म पाने पर भी वह किसी भी प्रकार नहीं कर सकता था।

दूसरी ओर बनवारी को प्रायः अनुचित खर्चे की आवश्यकता पड़ती रहती। पुरुषों के अनेक अनुचित कार्यों के मूल में जो कारण रहता है वही कारण यहाँ भी पर्याप्त प्रबल भाव से उपस्थित था। बनवारी की पत्नी किरणलेखा के सौंदर्य के सम्बन्ध में नाना मत हो सकते थे, उसको लेकर आलोचना करना अनावश्यक है। उसमें जो मत बनवारी का था, प्रस्तुत प्रसंग में एकमात्र वही काम का है। वस्तुतः पत्नी के प्रति बनवारी के मन में जिस मात्रा में आकर्षण था उसे घर की अन्य स्त्रियाँ अति ही मानती थीं। अर्थात् वे अपने पति से जितना प्यार चाहतीं, किन्तु पाती नहीं थी, यह उतना था।

किरणलेखा की आयु जितनी भी रही हो, देखने में बच्ची-सी लगती थी। घर की बड़ी बहू की आकृति-प्रकृति जैसी मालकिन के ढंग की होनी चाहिए वैसी उसकी तनिक भी नहीं थी। सब मिलाकर वह जैसे बहुत थोड़ी हो।

बनवारी उसे प्यार से अणु कहता। जब इससे भी पूरा न पड़ता तो कहता परमाणु। रसायन-शास्त्र की जिनको जानकारी है वे जानते हैं कि विश्व के निर्माण में अणु-परमाणुओं की शक्ति ऐसी कम नहीं है।

किरण ने किसी भी दिन पति से किसी चीज की माँग नहीं की। उसका कुछ ऐसा उदासीन भाव था मानो उसे विशेष किसी से प्रयोजन न हो। घर में उसकी बहुत-सी छोटी-बड़ी ननदें थीं, उसका मन सदा उन्हींमें लगा रहता। नवयौवन के नवजाग्रत प्रेम में जो एक एकान्त तपस्या होती है, वह उसे उतनी आवश्यक प्रतीत नहीं होती थी। इसी कारण बनवारी के साथ उसके व्यवहार में कुछ विशेष आग्रह के लक्षण नहीं दिखते थे। बनवारी से जो कुछ उसे मिलता

उसे वह शान्तभाव से ग्रहण करती। आगे बढ़कर कुछ नहीं चाहती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पत्नी किस प्रकार खुश होगी यह बात बनवारी को स्वयं सोचकर ढूंढ़नी पड़ती। पत्नी जहाँ स्वयं अपने मुख से फर्माइश करती है वहाँ उसे तर्क द्वारा कुछ-न-कुछ कम करना संभव होता है, किन्तु स्वयं अपने साथ मोल-भाव नहीं चल सकता। ऐसे स्थल पर अयाचित दान में याचित दान की अपेक्षा खर्च अधिक पड़ जाता है।

फिर पति के प्रेम का उपहार पाकर किरण को कितनी खुशी हुई, उसे ठीक से समझने का कोई उपाय न था। इस सम्बन्ध में प्रश्न करने पर वह कहती —'बढ़िया है, अच्छा है!' किन्तु बनवारी के मन का खटका किसी भी तरह दूर नहीं होता। क्षण-क्षण में उसे लगता, शायद पसन्द नहीं आया। किरण पति को कुछ डाँटकर कहती, "तुम्हारा तो स्वभाव ही ऐसा है। न जाने नुक्ताचीनी क्यों करते रहते हो। क्यों, यह तो खूब अच्छा बना है।"

बनवारी ने पाठ्य-पुस्तक में पढ़ा था—सन्तोष गुण मनुष्य का महत् गुण है। किन्तु, पत्नी के स्वभाव में यह महत् गुण उसे कष्ट पहुँचाता था। उसकी पत्नी ने तो उसे केवल सन्तुष्ट ही नहीं किया था; अभिभूत भी किया था। वह भी पत्नी को अभिभूत करना चाहता था। उसकी पत्नी को तो कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था—यौवन का लावण्य अपने-आप उछला पड़ता था, सेवा का नैपुण्य स्वयं प्रकाशित हो जाता। किन्तु पुरुष को ऐसा सहज सुयोग प्राप्त नहीं है; पौरुष का परिचय देने के लिए उसे कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। उसमें कोई एक विशेष शक्ति है इसका प्रमाण दिये बिना पुरुष का प्रेम म्लान बना रहता है। और यदि कुछ न भी रहे; धन जो शक्ति का एक निदर्शन है, मोर के पंखों के समान पत्नी के समीप उस धन की सारी वर्णच्छटा प्रदर्शित कर सकने पर मन को सान्त्वना मिलती है। नीलकंठ ने बनवारी की प्रेमनाट्यलीला के इस आयोजन में बारंबार बाधा पहुँचाई। बनवारी घर का बड़ा लड़का था, तो भी उसकी किसी बात में नहीं चलती थी, मालिक का प्रश्रय पाकर भृत्य होते हुए भी नीलकंठ उस पर आधिपत्य जमाता—उससे बनवारी को जिस असुविधा और अपमान का अनुभव होता वह किसी कारण उतना नहीं होता था जितना कामदेव के तूणीर में मनोनुकूल बाण जुटाने की अक्षमता के कारण होता था।

एक दिन इस धन-संपत्ति पर उसीका तो अबाध अधिकार होगा। किन्तु, यौवन क्या चिर-काल रहेगा? वसन्त के रंगीन प्याले में फिर यह सुधा-रस अपने-आप इस प्रकार नहीं भर उठेगा; तब रुपया विषयी का धन होकर खूब कठोर होकर जम पायगा, गिरि-शिखर के हिम-संघात के समान—उसमें बाल-

बात में असावधान मन की अपव्यय की लहरें क्रीडा नहीं करेंगी। रुपये की जरूरत तो इसी समय है, जब आनन्द के लिए उसे खर्च करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है।

बनवारी के तीन खास शौक थे—कुश्ती, शिकार और संस्कृत-चर्चा। उसकी कापी संस्कृत की उद्भट कविताओं से लबालब भरी हुई थी। बादल के दिन, चाँदनी रात में, दक्षिण पवन के चलने पर वह बड़े काम आती थी। सुविधा यह थी कि नीलकंठ इन कविताओं की अलंकारबहुलता को कम नहीं कर सकता था। अतिशयोक्ति चाहे जितनी अतिशय हो, कोई मुनीम—सरिश्तेदार उसके लिए उत्तरदायी नहीं थे। किरण के कान के सोने मे कृपणता की जाती थी किन्तु उसके कान के समीप जो मन्दाक्रान्ता गुञ्जरित होता था उसके छन्द में एक भी मात्रा कम न होती और उसके भाव में कोई सीमा ही न रहती, ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी।

बनवारी का चेहरा पहलवान के समान लम्बा-चौड़ा था। जब वह क्रोधित होता तब उसके डर से लोग घबरा जाते। किन्तु इस जवान व्यक्ति का मन बहुत ही कोमल था। उसका छोटा भाई वंशीलाल जब छोटा था तब उसने उसे मातृ-स्नेह से पाला था। उसके हृदय में मानो प्यार-दुलार करने की भूख हो।

अपनी पत्नी को जो वह प्यार करता था उसके साथ यह चीज भी जुड़ी थी—प्यार-दुलार करने की यह इच्छा। किरणलेखा तरुच्छाया के नीचे पथ-भूली रश्मिरेखा के समान ही छोटी थी, छोटी होने के कारण ही उसने अपने पति के मन मे एक बड़ी भारी संवेदना जगा रखी थी; इस पत्नी को वस्त्राभूषणों से अनेक प्रकार से सजाकर देखने की उसकी बड़ी इच्छा थी। वह भोग करने का आनन्द नही, वह रचना करने का आनन्द था, वह एक को अनेक करने का आनन्द था, किरणलेखा को नाना वर्णों मे, नाना आवरणों मे, नाना प्रकार के रूपों मे देखने का आनन्द था।

किन्तु केवल संस्कृत के श्लोकों का पाठ करने से ही बनवारी का यह शौक किसी भी प्रकार पूरा नही हो पाता था। उसके अपने भीतर एक पुरुषोचित प्रभुशक्ति है यह भी वह प्रकट नही कर सका, और प्रेम की सामग्री को नाना उपकरणों से ऐश्वर्यपूर्ण बनाने की उसकी इच्छा भी पूरी नही होने पाती।

इस प्रकार धनी की यह सन्तान अपनी मान-मर्यादा, अपनी सुन्दरी पत्नी उसका भरा यौवन—साधारणतः लोग जिसकी अभिलाषा करते है वह सब-कुछ लिये हुए भी संसार मे एक दिन एक उत्पात के समान उठ खड़ा हुआ।

सुखदा मधुकैवर्त की पत्नी थी, जो मनोहरलाल का असामी था। वह

एक दिन घर के भीतर आकर किरणलेखा के पैर पकड़कर रोने लगी। बात यह थी—कुछ वर्ष पूर्व नदी में मछली पकड़ने का जाल फैलाने के काम के लिए हर बार की भाँति मछुओं ने एक साथ मिलकर कर्जनामा लिखकर मनोहरलाल की कचहरी से हजार रुपया उधार लिया था। अच्छी मछली मिलने पर असल रुपया ब्याज सहित चुका देने में कोई असुविधा नहीं होती, इसलिए ऊँची ब्याज-दर पर रुपया उधार लेने में ये लोग आगा-पीछा नहीं करते थे। उस वर्ष वैसी मछली नहीं मिली, और संयोग से एक के बाद एक तीन वर्ष तक नदी की धार में इतनी कम मछलियाँ आईं कि मछुओं का खर्च भी न निकल पाया; यहाँ तक कि वे उल्टे ऋण के जाल में फँस गए। जो मछुए अन्य इलाकों के थे वे तो फिर दिखाई ही नहीं दिए किन्तु मधुकैवर्त वहीं का आसामी था, जहाँ उसका पुश्तैनी मकान था। उसके भागने का उपाय न होने के कारण कर्ज चुकाने का सारा उत्तरदायित्व उसके ऊपर आ पड़ा। सर्वनाश से रक्षा पाने का अनुरोध लेकर वह किरण की शरण में आई थी। किरण की सास के पास जाने से कोई लाभ नहीं होता। इसे सभी जानते थे, क्योंकि नीलकण्ठ की व्यवस्था में कोई नुक्स निकाल सकता था इस बात की वे कल्पना भी नहीं कर सकती थीं। नीलकंठ के प्रति बनवारी के मन में खूब आक्रोश था यह जानकर ही मधुकैवर्त ने अपनी पत्नी को किरण के पास भेजा था।

बनवारी चाहे जितना क्रोध एवं चाहे जितनी आत्मश्लाघा करे, किरण निश्चयपूर्वक जानती थी कि नीलकंठ के काम मे हस्तक्षेप करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। इसलिए किरण ने सुखदा को बार-बार समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा, "बेटी, क्या करूँ बताओ। तुम जानती हो इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है। मालिक हैं, मधु से कहो, उनको जाकर पकड़े।"

वह प्रयत्न तो पहले ही किया जा चुका था। मनोहरलाल के पास किसी बात की फरियाद करते ही वे उसके विचार का भार नीलकंठ के ही ऊपर छोड़ देते थे, इसमें कभी कोई हेर-फेर नहीं होता था। इससे प्रार्थी की विपत्ति और भी बढ़ जाती थी। दूसरी बार यदि कोई उनके पास अपील करना चाहता तो मालिक क्रोध से आग-बबूला हो उठते थे। अगर जमीन-जायदाद का झंझट ही उन्हें उठाना पड़ गया तो फिर उसका भोग करने में सुख ही क्या रहा!

सुखदा जब किरण के पास रो-पीट रही थी उस समय बनवारी बगल के कमरे में बैठा हुआ अपनी बंदूक की नली में तेल लगा रहा था। बनवारी ने सारी बातें सुनी। किरण करुण स्वर में बार-बार कह रही थी कि हम इसका कोई भी प्रतिकार करने में असमर्थ हैं। वह बात बनवारी की छाती में

शूल के समान चुभ गई।

उस दिन माघी पूर्णिमा फाल्गुन के आरम्भ में आकर पड़ी थी। दिन के समय की ऊमस को मिटाकर संध्यासमय अचानक एक मतवाली हवा चल पड़ी थी। कोकिल कूक-कूककर अधीर हुई जा रही थी, बार बार एक ही सुर की चोट से वह न जाने कहाँ के किस औदासीन्य को विचलित करने की चेष्टा कर रही थी। और आकाश में फूलों की सुगन्धि का मेला लग गया था, जैसे खचाखच भीड़ हो, जंगले के बिलकुल पास अन्तःपुर के बगीचे से मुचकुन्द फूल की गन्ध ने वसंत के आकाश को नशे में बेसुध कर दिया था। किरण ने उस दिन लटकन[1] रंग की साड़ी तथा जूड़े में बेलाफूलों की माला पहन रखी थी। इस दम्पत्ति के प्रचलित नियमानुसार उस दिन बनवारी के लिए भी फाल्गुन-ऋतु उत्सव मनाने के योग्य एक लटकन रंग की चद्दर और बेला के फूलों का गजरा तैयार किया गया था। रात का पहला पहर बीत गया तो भी बनवारी नहीं दिखा। यौवन का भरा प्याला आज उसे किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगा। प्रेम के बैकुण्ठलोक में इतनी बड़ी कुण्ठा लेकर वह कैसे प्रवेश करता। मधुकैवर्त का दुःख दूर करने की क्षमता उसमें नहीं थी, वह क्षमता नीलकंठ में थी! ऐसे कापुरुष के गले में पहनाने के लिए माला किसने गूँथी थी।

पहले उसने अपने बाहर के कमरे में नीलकंठ को बुलवाया और कर्ज चुकाने के उत्तरदायित्व के लिए मधुकैवर्त को बर्बाद करने से मना किया। नीलकंठ ने कहा, मधु को यदि प्रश्रय दिया जायगा तो फिर इस तिमाही के आरम्भ में ढेरों रुपया बाकी रह जायगा; सभी उज्र करना शुरू कर देंगे।" बनवारी जब तर्क में न जीत सका तो जो मुँह में आया बकने लगा। बोला, "नीच।" नीलकंठ ने कहा, "नीच न होता तो बड़े आदमी की शरण क्यों लेता।" उसने कहा, "चोर।" नीलकंठ ने कहा, "सो तो है ही, भगवान् जिसे अपना कुछ नहीं देते, दूसरे के धन से ही तो वह प्राण बचाता है।" सारी गालियाँ उसने अपने सिर पर ले लीं; अन्त में कहा, "वकील बाबू बैठे हैं, उनके साथ काम की बात समाप्त कर लूँ। यदि आवश्यकता समझें तो फिर आऊँगा।"

बनवारी के छोटे भाई वंशी को अपने दल में खींचकर उसी समय पिता के पास जाने का निश्चय किया। वह जानता था, अकेले जाने से कोई फल नहीं होगा। क्योंकि, इस नीलकंठ को लेकर पिता के साथ उसकी पहले ही खटपट हो चुकी थी। पिता उसके ऊपर अप्रसन्न थे ही। एक दिन था जब सभी

१. लटकन वृक्ष के फल के बीज का लाल रंग।

सोचते थे कि मनोहरलाल अपने बड़े लड़के को सबसे अधिक चाहते हैं। किन्तु, अब लगता था, वंशी के ऊपर ही उनका पक्षपात था। इसीलिए बनवारी ने वंशी को भी अपनी नालिश में सम्मिलित करना चाहा।

वंशी अत्यन्त भला लड़का था। इस परिवार में अकेले उसीने दो परीक्षाएं पास की थी। इस बार वह कानून की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। दिन-रात जगकर पढ़ते-पढ़ते उसके अन्तर मे कुछ जमा हो रहा था या नहीं ये अन्तर्यामी ही जानें, किन्तु शारीरिक दृष्टि से खर्च के सिवा और कुछ भी नहीं था।

इस फाल्गुन की संध्या को उसके कमरे के जंगले बंद थे। ऋतु-परिवर्तन के समय से वह बहुत डरता था। हवा पर उसे तनिक भी श्रद्धा न थी। टेबिल पर केरोसीन का एक लैंप जल रहा था कुछ पुस्तकें जमीन पर तख्त की बगल में जमा थी, कुछ टेबिल पर; दीवाल के ताक पर औषधियों की कुछ शीशियाँ रखी थीं।

बनवारी के प्रस्ताव से वह किसी भी तरह सहमत नही हुआ। बनवारी क्रुद्ध होकर गरज उठा, "तू नीलकण्ठ से डरता है?" वंशी इसका कोई उत्तर न देकर चुप रह गया। वास्तव में उसकी चेष्टा सदा नीलकण्ठ को अनुकूल रखने के लिए रहती थी। वह प्राय सारा वर्ष कलकत्ता के घर में ही बिताता, वहाँ निर्धारित रुपये की अपेक्षा उसे ज्यादा की आवश्यकता पड़ ही जाती। इस सिलसिले मे नीलकण्ठ को प्रसन्न रखने का उसे अभ्यास हो गया था।

वंशी को भीरु, कापुरुष, नीलकण्ठ का चरण-चारण-चक्रवर्ती कहकर गालियों की बौछार करके बनवारी अकेला ही पिता के पास जा उपस्थित हुआ। मनोहरलाल अपने बाग की पुष्करिणी के घाट पर नंगे बदन आराम से हवा खा रहे थे। पार्षदगण पास बैठे कलकत्ता के बैरिस्टर की जिरह से जिला-कोर्ट में दूसरे गाँव के जमींदार अखिल मजुमदार किस प्रकार हैरान हो गए उसीकी कहानी श्रुतिमधुर बनाकर मालिक से कह रहे थे। उस दिन वसंत-संध्या की सुगन्धि के सहयोग से वह वृत्तान्त उनके लिए अत्यन्त रमणीय हो उठा था।

सहसा बनवारी ने बीच में आकर रस-भंग कर दिया। भूमिका बाँधकर अपनी बात को धीरे-धीरे प्रकट करने योग्य उसकी अवस्था नहीं थी। उसने गला चढ़ाकर एकदम शुरू कर दिया, नीलकंठ के द्वारा उनकी क्षति हो रही है। वह चोर है, मालिक का रुपया मारकर अपना पेट भरता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं था और वह सत्य भी नहीं था। नीलकंठ के द्वारा सम्पत्ति की वृद्धि हुई थी और वह चोरी भी नही करता था। बनवारी ने सोचा था, नील-कंठ के सत्स्वभाव के प्रति अटल विश्वास होने के कारण ही मालिक सब मामलों

में उसके ऊपर इस प्रकार आँख बंद करके निर्भर रहते हैं। यह उसका भ्रम था। मनोहरलाल के मन में दृढ़ धारणा थी कि नीलकंठ मौका लगने पर चोरी करता है। किन्तु, इस कारण उसके प्रति उनके मन में किसी प्रकार की अश्रद्धा नहीं थी। क्योंकि, अनादिकाल से इसी प्रकार संसार चला आ रहा है। अनुचरगण की चोरी की बचत से ही तो सदा बड़े घर पलते हैं। चोरी करने की चतुराई जिनमें नहीं है, मालिक़ की सम्पत्ति की रक्षा करने की बुद्धि ही उनमें कहाँ से आयगी। धर्मपुत्र युधिष्ठिर से तो ज़मींदारी का काम नही चल सकता। मनोहर ने अत्यन्त खीझकर कहा, "अच्छा, नीलकंठ क्या करता है या नहीं करता है इस बात की चिन्ता तुम्हें नहीं करनी होगी, साथ ही यह भी कहा, देखो न वंशी का तो कोई झंझट नहीं है। वह कैसा पढ़-लिख रहा है! वह लड़का फिर भी थोड़ा-बहुत आदमी सरीखा है।"

इसके पश्चात् अखिल मजुमदार की दुर्गति की कहानी में रस नहीं आया। परिणामस्वरूप, मनोहरलाल के लिए उस दिन वसन्त की वायु व्यर्थ ही चली और पुष्करिणी के काले जल के ऊपर चन्द्र-ज्योत्स्ना के झिलमिलाने की कोई उपयोगिता नहीं रही। उस दिन की संध्या व्यर्थ नहीं गई तो केवल वंशी और नीलकंठ के लिए। जंगला बंद करके वंशी बहुत रात तक पढ़ता रहा और वकील के साथ परामर्श करते हुए नीलकंठ ने आधी रात काट दी।

कमरे का दिया बुझाकर किरण जंगले के पास बैठी थी। काम-काज आज उसने बहुत जल्दी समाप्त कर लिया था। रात्रि का भोजन करना बाकी था, किन्तु अभी तक बनवारी ने खाना नहीं खाया था, इसीलिए वह प्रतीक्षा कर रही थी। मधुकैवर्त की बात उसे याद भी नहीं थी। बनवारी मधु के दुःख का कोई प्रतिकार नहीं कर सकता, इस सम्बन्ध में किरण के मन में लेश-मात्र भी क्षोभ नहीं था। अपने पति से कभी वह किसी विशेष क्षमता का परिचय पाने के लिए उत्सुक नहीं थी। परिवार के गौरव में ही उसके पति का गौरव था। उसका पति उसके ससुर का बड़ा लड़का था, उसे इससे भी ज्यादा बड़ा होना चाहिए, इस प्रकार की बात कभी उसके मन में भी नहीं आई। आखिर ये तो गोसाईंगंज के प्रसिद्ध हालदार के वंशज थे।

बनवारी बहुत रात तक बाहर के बरामदे में टहलने के बाद कमरे में आया। वह भूल गया था कि उसने भोजन नहीं किया है। किरण उसकी प्रतीक्षा में बिना खाए बैठी हुई थी—इस घटना ने उस दिन जैसे उसको विशेष रूप से चोट पहुँचाई हो। किरण के इस कष्ट स्वीकार करने के साथ उसकी अपनी अकर्मण्यता का मानो मेल न बैठ पाया हो। भोजन का कौर उसके गले मे

भटकने लग गया। बनवारी ने अत्यन्त उत्तेजना के साथ पत्नी से कहा, "जैसे भी होगा मधुकैवर्त की मैं रक्षा करूंगा।" किरण ने उसकी इस अनावश्यक उग्रता पर विस्मित होकर कहा, "लो और सुनो! तुम उसे किस तरह बचाओगे।"

मधु का ऋण बनवारी स्वयं शोध कर देगा, यही उसका प्रण था, किन्तु बनवारी के हाथ में कभी रुपया जमा नहीं रहता। उसने निश्चय किया कि अपनी तीन अच्छी बन्दूकों में से एक बन्दूक और एक कीमती हीरे की अंगूठी बेचकर वह धन इकट्ठा करेगा। किन्तु, गांव में इन सब चीजों का उचित मूल्य नहीं मिलेगा और बेचने का प्रयत्न करने पर चारों ओर लोग कानाफूसी करेंगे। इस कारण कोई-न-कोई बहाना करके बनवारी कलकत्ता चला गया। जाते समय मधु को बुलाकर आश्वासन दे गया कि उसके लिए भय की कोई बात नहीं है।

इधर बनवारी का शरणापन्न हुआ समझकर, नीलकंठ मधु पर क्रोध से आग बबूला हो उठा। चपरासियों के अत्याचार से कैवर्त मुहल्ले की इज्जत संकट में पड़ गई।

जिस दिन बनवारी कलकत्ता से लौटकर आया उसी दिन मधु का लड़का स्वरूप दौड़ता-हांफता हुआ आया और सहसा बनवारी के पैर पकड़कर 'हाय-हाय!' करके रोने लग गया। "क्या है रे, मामला क्या है?" स्वरूप ने कहा, "मेरे पिता को नीलकंठ ने कल रात से कचहरी में बन्द कर रखा है।" बनवारी का सारा शरीर क्रोध से कांपने लगा। कहा, "अभी जाकर थाने में खबर कर आ।"

'मर गए! थाने में खबर! नीलकंठ के विरुद्ध!' उसके पैर उठना नहीं चाहते थे। अन्त में बनवारी के धमकाने पर उसने थाने में जाकर खबर कर दी। पुलिस ने तुरत कचहरी में आकर मधु को बन्धन से छुड़ाया और नीलकंठ तथा कचहरी के कई चपरासियों को अभियुक्त बनाकर मजिस्ट्रेट के पास चालान कर दिया।

मनोहर बड़े परेशान हो उठे। उनके मुकद्दमे के मंत्री घूस के बहाने पुलिस के साथ मिलकर रुपया लूटने लगे। कलकत्ता से एक बैरिस्टर आया, वह बिलकुल कच्चा था, नया पासशुदा। सुविधा इतनी ही थी कि जितनी फीस उसके नाम खाते में लिखी जाती थी उतनी फीस उसकी जेब मे नहीं पहुंचती थी। दूसरी ओर मधुकैवर्त के पक्ष में जिला अदालत का एक कुशल वकील नियुक्त हुआ। उसका खर्च कौन दे रहा था पता नहीं चला। नीलकंठ को छै महीने की सजा हुई। हाईकोर्ट की अपील में भी वह बहाल रही।

घड़ी और बन्दूक का उचित मूल्य में बिकना व्यर्थ नहीं हुआ। परिणामस्वरूप मधु बच गया और नीलकंठ को जेल हो गई। किन्तु, इस घटना के बाद

मधु अपने घर में टिके कैसे। बनवारी ने उसको आश्वासन देकर कहा, "तू रह, तुझे कोई डर नहीं है।" किसके बल पर आश्वासन दिया था यह वही जाने—शायद, केवल अपने पौरुष के बल पर।

इस मामले के मूल में बनवारी था इसको छिपा रखने का विशेष प्रयत्न उसने नहीं किया। बात प्रकट भी हो गई, यहाँ तक कि, मालिक के कानों तक पहुँची। उन्होंने नौकर के द्वारा कहला भेजा, "बनवारी कभी मेरे सामने न आवे।" बनवारी ने पिता का आदेश अमान्य नहीं किया।

किरण अपने पति का व्यवहार देखकर अवाक् रह गई। यह क्या माजरा है! घर का बड़ा लड़का—पिता के साथ बातचीत बन्द! उसके ऊपर अपने कर्मचारियों को जेल में भेजकर दुनिया के लोगों के सामने अपने परिवार का सिर नीचा कर देना! वह भी इस एक साधारण मधुकैवर्त को लेकर!

विचित्र बात थी! इस वंश में कितने बड़े बाबू जन्मे एवं नीलकंठों का भी कभी अभाव नहीं रहा। नीलकंठ अर्थ-व्यवस्था का सारा भार स्वयं लेते रहे और बड़े बाबू पूरी तरह निश्चेष्ट भाव से वंश-गौरव की रक्षा करते रहे। ऐसी उलटी गंगा तो कभी नहीं बही।

आज इस परिवार के बड़े बाबू के पद की अवनति होने पर बड़ी बहू के सम्मान को धक्का लगा। इससे इतने दिन बाद आज पति के प्रति किरण की वास्तविक अश्रद्धा का कारण आ जुटा। इतने दिन बाद उसकी वसन्त काल की लटकन रंग की साड़ी एवं जूड़े की फूलों की बेल की माला लज्जा से म्लान हो गई।

किरण की उम्र हो गई थी फिर भी कोई सन्तान नहीं हुई थी। इस नीलकंठ ने ही एक दिन मालिक की अनुमति लेकर पात्री देखकर बनवारी का एक और विवाह प्रायः पक्का कर लिया था। बनवारी हालदारवंश का बड़ा लड़का था, सब बातों के पहले यह बात तो ध्यान में रखनी ही थी। वह पुत्रहीन रहेगा, यह तो हो ही नहीं सकता था। इस बात से किरण की छाती धक्-धक् करके काँप उठी। किन्तु, इसको मन-ही-मन बिना स्वीकार किये भी वह नहीं रह सकी कि बात संगत थी। तब भी उसने नीलकंठ के ऊपर तनिक भी क्रोध नहीं किया, उसने अपने भाग्य को ही दोषी ठहराया। उसका पति यदि क्रोधित होकर नीलकंठ को मारने न जाता एवं विवाह-संबंध तोड़कर पिता-माता के साथ लड़ाई-झगड़ा न करता तो किरण उसको अन्याय न मानती। यहाँ तक कि बनवारी ने अपने वंश की बात नहीं सोची, इससे अत्यन्त गोपन भाव से किरण के मन में बनवारी के पौरुष के प्रति कुछ अश्रद्धा हो गई। बड़े घर का उत्तरदायित्व क्या साधारण उत्तरदायित्व है? उसको निष्ठुर होने का अधिकार है। उसके समीप किसी

तरुणी स्त्री का अथवा किसी दुखी कैवर्त के सुख-दुःख का मूल्य ही कितना है।

साधारणतः जो घटित होता रहता है, कभी-कभी उसके घटित न होने पर कोई उसे क्षमा नही कर सकता, यह बात बनवारी किसी भी प्रकार नहीं समझ सका। उसके लिए पूर्ण रूप से घर का बड़ा बाबू होना ही उचित था, अन्य किसी प्रकार के उचित-अनुचित की चिन्ता करके यहाँ की धारावाहिकता नष्ट करना उसके लिए अकरणीय था, यह उसको छोड़कर सबके लिए अत्यन्त सुस्पष्ट था।

इसको लेकर किरण ने अपने देवर से कितना दुःख प्रकट किया था। वंशी बुद्धिमान् था; उसे खाना हजम नही होता और थोड़ी-सी हवा लगते ही वह जुकाम, खाँसी से व्याकुल हो जाता, किन्तु वह स्थिर, धीर और विचक्षण था। वह अपनी कानून की किताब का जो अध्याय पढ़ रहा था उसे टेबिल पर उलटकर रखते हुए उसने किरण से कहा, 'यह पागलपन के अलावा और कुछ नही है।" किरण ने अत्यन्त उद्वेग से सिर हिलाकर कहा, "जानते हो, देवरजी, तुम्हारे भैया जब तक ठीक रहते है तब तक ठीक हैं, किन्तु यदि एक बार बिगड़ जायँ तो फिर उन्हे कोई नही सँभाल पाता। मैं क्या करूँ बताओ तो।"

जब परिवार सब समझदार लोगो के साथ किरण का मत पूर्ण रूप से मिल गया तो बनवारी के मन मे यही बात सबसे अधिक खटकी। यह एक जरा-सी स्त्री, अधखिले चपा फूल के समान कोमल, इसके हृदय को अपनी वेदना के समीप खीच लाने मे पुरुष की समस्त शक्ति परास्त हो गई। आज के दिन किरण यदि बनवारी के साथ पूर्ण रूप से मिल सकती तो उसक हृदय-क्षत देखते-ही-देखते इस प्रकार बढ नही जाते।

मधु की रक्षा करनी होगी यह मामूली कर्त्तव्य की बात, चारो ओर की ताडना के कारण बनवारी के पक्ष मे वास्तव मे एक सनक बन गई। इसकी तुलना मे अन्य सब बातें उसके लिए तुच्छ हो गईं। दूसरी ओर जेल से नीलकठ ऐसे स्वस्थ भाव से लौट आया मानो वह जमाई षष्ठी[1] का निमंत्रण निभाने गया था। वह दुबारा यथारीति अम्लान मुख से अपने काम मे जुट गया।

मधु को गृह-विहीन किये बिना प्रजा के सामने नीलकण्ठ के मान की रक्षा नही थी। मान के लिए तो उसे अधिक चिन्ता नहीं थी, किन्तु आसामियो के उसे न मानने पर उसका काम नही चल सकता था, इसी कारण उसको सावधान होना पड़ा। अतः मधु को तिनके के समान उखाड़ने के लिए उसने अपने हँसिये

---

१ बंगाल में जेठ के महीने में षष्ठी के दिन दामाद को बुलाकर खूब आदर-सत्कार से खिला-पिलाकर पैसे-कपड़े आदि भेंट देते हैं।

पर शान चढ़ाना शुरू किया।

इस बार बनवारी छिपा नहीं रहा। उसने नीलकंठ को स्पष्ट बता दिया कि चाहे जो हो वह मधु को नष्ट नहीं होने देगा। पहले तो, मधु का जो कर्ज था वह उसने अपने पास से पूरा चुका दिया, उसके बाद और कोई उपाय न देख-कर वह स्वयं जाकर मजिस्ट्रेट को सूचना दे आया कि नीलकंठ अन्यायपूर्वक मधु को विपद् में डालने का उद्योग कर रहा है।

सभी हितैषियों ने बनवारी को समझाया, जिस प्रकार की घटनाएँ घट रही थीं, उनसे मनोहर किसी दिन उसको त्याग देगा। त्याग करने पर जो-जो कष्ट भुगतने होते हैं वे यदि न होते तो इतने दिनों में मनोहर ने उसको कब का विदा कर दिया होता। किन्तु, बनवारी की माँ मौजूद थीं एवं आत्मीय स्वजन नाना लोगों के नाना प्रकार के मत थे, उसे लेकर कोई समस्या खड़ी करने के वे एकदम अनिच्छुक थे, अतः अभी तक मनोहर चुप थे।

होते-होते एक दिन सुबह अचानक दिखाई पड़ा, मधु के घर में ताला लगा है। रात-ही-रात में वह कहाँ चला गया था इसका पता नहीं। मामला अत्यंत अशोभन होते देखकर नीलकंठ ने जमींदार-सरकार से रुपया देकर उसको सपरि-वार काशी भेज दिया था। पुलिस इसको जानती थी; इसलिए कोई हंगामा नहीं हुआ। नीलकंठ ने चतुराई से अफवाह उड़ा दी कि मधु को उसकी स्त्री-पुत्र-कन्या समेत अमावस्या की रात्रि को काली पर बलि चढ़ाकर मृत देहों को थैले में भर-कर गंगा की मँझधार में डुबा दिया गया है। भय से सबका शरीर सिहर उठा और नीलकंठ के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा मे बढ़ गई।

बनवारी जिस बात को लेकर मत्त था फिलहाल उसकी शान्ति हो गई; किन्तु संसार उसके लिए पहले-जैसा नहीं रहा।

एक दिन बनवारी वंशी को बहुत चाहता था, आज देखा, वंशी उसका कोई नहीं, वह हालदार परिवार का था। और, उसकी किरण, जिसके रूप के ध्यान ने यौवनारम्भ के पहले से ही क्रमशः उसके हृदय के लता-वितान को लपेट-लपेट-कर आच्छन्न कर रखा था, वह भी पूर्ण रूप से उसकी नहीं थी, वह भी हालदार परिवार की थी। एक दिन था, जब नीलकंठ की फरमाइश से बना गहना उसकी इस हृदयविहारिणी किरण के शरीर पर अच्छी तरह से शोभित न होने के कारण बनवारी असन्तोष प्रकट करता था। आज देखा, कालिदास से आरम्भ करके अमरु और चौर कवियों की जिन समस्त कविताओं के सुहाग से प्रेयसी को मण्डित करता आ रहा था वह हालदार परिवार की इस बड़ी बहू को किसी भी

प्रकार शोभा नही दे रहा था ।

हाय रे ! वसन्त की हवा अब भी बहती थी, रात मे श्रावण की वर्षा अब भी मुखरित हो उठती थी एवं अतृप्त प्रेम की वेदना शून्य हृदय के पथ-पथ पर रोती हुई फिर रही थी ।

प्रेम की गहनता की सभी को तो आवश्यकता नही है; संसार मे अधिकांश लोगों का काम थोड़े से निश्चित सबल से ही अच्छी तरह चल जाता है । उस नपी-तुली व्यवस्था से विशाल जगत् के क्रम मे कोई व्यतिक्रम नहीं घटता, किन्तु कई लोगों का इससे पूरा नहीं पड़ता । वे अजात पक्षीशावक के समान केवल अण्डे में प्राप्त अल्प खाद्य-रस को लेकर ही जीवित नहीं रहते, वे अण्डा फोड़कर बाहर निकल आते है, उन्हें अपनी शक्ति से खाद्य-संग्रह करने का विस्तृत क्षेत्र चाहिए । बनवारी वैसी ही भूख लेकर पैदा हुआ था, अपने प्रेम को अपने पौरुष द्वारा सार्थक करने के लिए उसका चित्त उत्सुक था, किन्तु वह जिस ओर दौड़ना चाहता था उसी ओर हालदार परिवार की पक्की दीवार थी; हिलते-डुलते ही उसका सिर टकरा जाता था ।

दिन फिर पहले की ही तरह बीतने लगे । पहले की अपेक्षा बनवारी शिकार मे अधिक मन लगाने लगा, इसके अतिरिक्त बाहर से उसके जीवन में और कोई विशेष परिवर्तन नही दिखता था । घर में वह भोजन करने जाता, भोजन के पश्चात् पत्नी के साथ काफी बातचीत भी होती थी । मधुकैवर्त को किरण ने आज भी क्षमा नहीं किया था, क्योंकि, इस परिवार मे उसके पति ने अपनी प्रतिष्ठा जो खो दी थी उसका मूल कारण था मधु । इसीलिए क्षण-क्षण मे न जाने क्यों उस मधु की बात अत्यन्त कटु होकर किरण के मुँह पर आ जाती । मधु की नस-नस में शैतानी भरी थी, वह शैतानों में अग्रगण्य था, और मधु पर दया करने का अर्थ था पूरी तरह ठगा जाना; इस बात को बार-बार विस्तार से कहने पर भी वह थकती नही थी । पहले दो-एक दिन बनवारी ने प्रतिवाद का प्रयत्न करके किरण की उत्तेजना को और बढा दिया था, उसके बाद से वह कोई प्रतिवाद नही करता था । इस प्रकार अपने नियमित गृहधर्म की रक्षा कर रहा था; किरण इसमे किसी अभाव या कमी का अनुभव नही करती, किन्तु भीतर-ही-भीतर बनवारी का जीवन विवर्ण, रसहीन एवं चिर-अभुक्त होता जा रहा था ।

इसी बीच पता लगा कि परिवार की छोटी बहू, वंशी की स्त्री गर्भवती है । सारा परिवार आशा से प्रफुल्लित हो उठा । इस महद्वंश के प्रति कर्तव्य-पालन में किरण से जो त्रुटि हो गई थी, इतने दिन बाद उसके पूरे होने की

संभावना लिखी; अब षष्ठी देवी की कृपा से कन्या न होकर पुत्र होने में ही कुशल थी।

पुत्र ही पैदा हुआ। छोटे बाबू कॉलेज की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, और वंश की परीक्षा में भी प्रथम स्थान पाया। उनका सम्मान उत्तरोत्तर बढ़ रहा था, अब उनके सम्मान की सीमा न रही।

सभी का ध्यान इस बच्चे पर केन्द्रित हो गया। किरण तो उसको क्षण भर के लिए भी गोद से नहीं उतारना चाहती थी। उसकी ऐसी दशा हो गई कि मधुकैवर्त के स्वभाव की कुटिलता की बात भी वह प्रायः भूल-सी गई थी।

बनवारी बच्चों को बहुत प्यार करता था। छोटों, असमर्थों, सुकुमारों के प्रति उसमें गंभीर स्नेह एवं करुणा के भाव थे। हर आदमी को विधाता कोई ऐसा गुण देते हैं जो उसकी प्रकृति के विरुद्ध होता है, यदि ऐसा न होता तो बनवारी पक्षियों का शिकार कैसे करता था, समझ में नहीं आता।

किरण की गोद में एक शिशु को देखने की इच्छा बनवारी के मन में बहुत समय से अतृप्त बनी हुई थी। इस कारण वंशी के लड़का होने पर पहले तो उसके मन में एक ईर्ष्याजनित वेदना उत्पन्न हुई, पर उसको दूर करने में उसे देर नहीं लगी। इस शिशु को बनवारी खूब स्नेह कर सकता था, किन्तु व्याघात का कारण यह हो गया कि जैसे-जैसे दिन बीतने लगे किरण उसको लेकर बहुत अधिक रत रहने लगी। पत्नी के साथ बनवारी के मिलन में बहुत व्यवधान पड़ने लगा। बनवारी स्पष्ट रूप से समझ गया कि इतने दिन बाद किरण को कुछ ऐसा मिल गया है जो उसके हृदय को वास्तव में पूर्ण कर सकता है। बनवारी जैसे अपनी पत्नी के हृदयहरम का एक किराएदार मात्र हो; जितने दिन घर का मालिक अनुपस्थित था उतने दिन सारे घर का वह उपभोग करता था, कोई बाधा नहीं देता था—अब घर का स्वामी आ गया था इससे किराए का आदमी बाकी सब छोड़कर केवल अपने कोने के कमरे पर ही दखल करने का अधिकारी था। किरण स्नेह में कहाँ तक तन्मय हो सकती थी, उसकी आत्म-विसर्जन की शक्ति कितनी प्रबल थी, यह बनवारी ने जब देखा तब उसका मन सिर हिलाकर बोला, 'इस हृदय को मैं जगा तो नहीं पाया किन्तु जितना मुझसे साध्य था उतना तो किया।'

केवल इतना ही नहीं, इस लड़के के माध्यम से वंशी का कमरा ही मानो किरण के लिए ज्यादा अपना हो गया। उसकी सारी मंत्रणा, आलोचना वंशी के साथ ही अच्छी तरह जमती। उस सूक्ष्म बुद्धि, सूक्ष्म शरीर, रसरक्त-हीन, क्षीणजीवी भीरु आदमी के प्रति बनवारी की अवज्ञा क्रमशः गम्भीरतर हो

रही थी। संसार के सब आदमी बनवारी की अपेक्षा उसीको सब मामलों में योग्य समझें यह तो बनवारी ने सहन किया, किन्तु आज जब उसने बार-बार देखा कि मनुष्य के रूप में उसकी पत्नी के लिए वंशी का मूल्य अधिक था, तब अपने भाग्य एवं जगत् के प्रति उसका मन प्रसन्न नही हुआ।

इसी बीच परीक्षा जब निकट थी कलकत्ता के घर से खबर आई कि वंशी ज्वर से पीड़ित है और डाक्टर रोग को असाध्य समझकर आशंका कर रहे है। बनवारी ने कलकत्ता जाकर दिन-रात जगकर वंशी की सेवा की, किन्तु उसको बचा नही पाया।

मृत्यु ने बनवारी की स्मृति मे से सारा कांटा निकाल लिया। वंशी उसका छोटा भाई था एवं शिशु अवस्था म मैया की गोद उसके स्नेह का आश्रय थी। यह बात उसके मन में आंसुओं से धुलकर उज्ज्वल हो गई।

इस बार लौटकर सम्पूर्ण मनोयोग देकर शिशु का पालन-पोषण करने के लिए वह कृतसंकल्प हुआ। किन्तु इस शिशु के सम्बन्ध में किरण का उसके प्रति विश्वास खो गया था। उसके प्रति अपने पति के विराग को उसने पहले से ही लक्ष्य किया था। पति के सम्बन्ध मे किरण के मन में न जाने कैसी एक धारणा बन गई थी कि दूसरे साधारण लोगो के लिए जो स्वाभाविक था अपने पति के पक्ष मे ठीक उसका उल्टा था। उनके वंश का यही तो एक-मात्र कुल-प्रदीप था, इसका मूल्य क्या था उसे सभी समझते थे, किन्तु इसीलिए उसके पति इसे नही समझते थे। किरण के मन मे हमेशा भय बना रहता था, कि कही बनवारी की विद्वेष-दृष्टि के कारण बच्चे का अमंगल हो। उसका देवर नही बचा, किरण के सन्तान होने की संभावना थी यह कोई आशा नहीं करता था, अतएव इस शिशु को किसी तरह सब प्रकार के अकल्याणों से बचाकर रख सकने में ही कुशल थी। इस कारण वंशी के पुत्र की देख-भाल करने का रास्ता बनवारी के लिए बहुत सुगम नही हुआ।

घर के सब लोगों के स्नेह के बीच लड़का बड़ा होने लगा। उसका नाम रखा गया हरिदास। इतने अधिक लाड-प्यार की छाया मे उसने जाने कैसा दुबला-पतला और नाजुक रूप पाया। तागा-तावीज-कवच से उसका सारा शरीर ढंका था, रक्षकों के दल से वह सदा घिरा रहता।

बीच-बीच में, समय-समय पर बनवारी के साथ उसकी भेंट होती। ताऊ के घोड़े को चाबुक मारना उसे बड़ा अच्छा लगता था। देखते ही कहता था, 'चाबु'। बनवारी कमरे से चाबुक लाकर हवा में सांय-सांय शब्द करता रहता, उसे बड़ा आनन्द आता। बनवारी कभी-कभी उसे अपने घोड़े पर बैठा देता,

इससे घर के सब लोग एकदम 'वाह-वाह' करके दौड़े आते। बनवारी कभी-कभी अपनी बंदूक लेकर उसके साथ खेलता, किरण देख पाती तो दौड़कर बालक को हटा ले जाती। किन्तु, इन सब निषिद्ध मनोरंजनों में ही हरिदास का सबसे अधिक अनुराग था। इससे सब प्रकार के विघ्न रहते हुए भी ताऊ के साथ उसकी खूब मित्रता हो गई।

दीर्घकालीन निर्विघ्नता के पश्चात् एक बार अचानक इस परिवार में मृत्यु का आगमन हुआ। पहले मनोहर की पत्नी की मृत्यु हुई। उसके बाद नीलकंठ जब मालिक के लिए विवाह की बात-चीत और पात्री की खोज कर रहा था तभी विवाह की लग्न के पहले ही मनोहर की मृत्यु हो गई। उस समय हरिदास की आयु आठ साल थी। मृत्यु के पहले मनोहर विशेष रूप से अपने इस छोटे वंशधर को किरण और नीलकंठ के हाथों में समर्पित कर गए थे, बनवारी से कोई बात ही नहीं की थी।

बक्स से जब वसीयतनामा बाहर निकला तब पता चला, मनोहर अपनी सारी सम्पत्ति हरिदास को दे गए थे। बनवारी यावज्जीवन दो सौ रुपये के हिसाब से मासिक वृत्ति पायेंगे। नीलकंठ वसीयतनामे का एक्जिक्यूटर था; उसके ऊपर यह भार था कि वह जितने दिन जीवित रहे, हालदार परिवार की सम्पत्ति एवं गृहस्थी की व्यवस्था वही करे।

बनवारी समझ गए कि इस परिवार मे उन्हें न कोई लड़का सौंपकर ही निश्चिन्त रह सकता है और न सम्पत्ति सौपकर ही। वे कुछ कर नहीं सकते, सब-कुछ नष्ट कर देते है, इस सम्बन्ध में इस परिवार में किसी का भी मतभेद नही था। अतएव, वे व्यवस्था के अनुसार भोजन करके कोने के कमरे में सोयेंगे, उनके लिए इसी तरह का विधान था।

उन्होंने किरण से कहा, "मैं नीलकंठ की पेंशन खाकर जीवित नहीं रहूँगा। यह घर छोड़कर मेरे साथ कलकत्ता चलो!"

"मैया री, यह भी कोई बात है! यह तो तुम्हारे ही बाप की सम्पत्ति है, और हरिदास तो तुम्हारे अपने ही लड़के के समान है। उसके नाम जायदाद लिख दी गई है इस पर तुम क्रोध क्यों करते हो।"

हाय, हाय! उसके पति का हृदय कैसा कठोर है! इस दुधमुँहे बच्चे के प्रति भी उनके मन में ईर्ष्या जगी है! उसके ससुर ने जो वसीयतनामा लिखा था किरण मन-ही-मन उसका पूर्ण समर्थन करती थी। उसका दृढ़ विश्वास था, कि बनवारी के हाथ में यदि जायदाद पड़ जाती तो राज्य के जितने छोटे आदमी थे जितने यदु, मधु, जितने कैवर्त एवं बागुरियों का दल था वह उनको ठगकर

कुछ भी बाकी न छोड़ता एवं हालदार वंश की वह भावी आशा एक दिन बीच में ही डूब जाती। ससुर के कुल में रोशनी करने के लिए दिया तो घर में आ गया था; अब उसका तैल-संचय नष्ट न हो इसके लिए नीलकंठ ही तो उपयुक्त प्रहरी था।

बनवारी ने देखा, नीलकठ अंत:पुर में आकर हर कमरे के सारे सामान की सूची बना रहा है और जहाँ जितने संदूक-बक्स हैं उनमें ताला लगा रहा है। अंत में किरण के सोने के कमरे में आकर वह बनवारी की नित्य व्यवहार में आने वाली सारी चीजों की सूची बनाने लगा। नीलकंठ का अंत:पुर में आना-जाना था इसलिए किरण उससे पर्दा नहीं करती थी। किरण ससुर के शोक में क्षण-क्षण में आँसू पोंछते हुए गले से विशेष रूप से सारी चीजें समझाने लगी।

बनवारी ने सिंह-गर्जना करते हुए नीलकंठ से कहा, "तुम इसी समय मेरे कमरे से बाहर निकल जाओ!"

नीलकंठ ने नम्र होकर कहा, "बड़े बाबू, मेरा तो कोई दोष नहीं है। मालिक के वसीयतनामे के अनुसार मुझे तो सब-कुछ समझ-बूझ लेना होगा। माल-असबाब सभी तो हरिदास का है।"

किरण ने मन-ही-मन कहा, 'देखो जरा इनका हाल। हरिदास क्या पराया है! अपने लड़के की जायदाद का उपभोग करने मे लज्जा कैसी! और, माल-असबाब आदमी के साथ जायगा क्या! आज नही तो कल बाल-बच्चे ही तो भोग करेंगे।'

इस घर की जमीन बनवारी के पैरों में काँटे के सामान चुभने लगी, इस घर की दीवाल उसके दोनों नेत्रों को मानो जलाने लगी। उसे दुःख किस बात का था यह पूछने वाला व्यक्ति भी इस बड़े परिवार मे कोई नही था।

इसी क्षण घर-बार सब छोड़कर बाहर चले जाने के लिए बनवारी का मन व्याकुल हो उठा। किन्तु उसके क्रोध की ज्वाला शान्त नहीं होना चाहती थी। वह चला जाये और नीलकंठ आराम से एकाधिपत्य करे, यह कल्पना वह सहन नहीं कर सका। इसी क्षण कोई गुरुतर अनिष्ट किये बिना उसका मन शान्त नहीं हो पा रहा था। वह बोला, "नीलकंठ कैसे सम्पत्ति की रक्षा करता है, मैं देखूंगा।"

बाहर अपने पिता के कमरे में जाकर देखा, उसमें कोई नहीं था। सभी अन्त:पुर के बरतन-बासन और गहने आदि की देख-भाल करने गए थे। अत्यन्त सावधान व्यक्तियों से भी सावधानी में त्रुटि रह जाती है। नीलकंठ को यह होश

नहीं था कि मालिक का बक्स खोलकर वसीयतनामा निकालने के बाद बक्स में ताला नहीं लगाया गया। उस बक्स में बण्डल में बंधी मूल्यवान समस्त दलीलें थीं। उन प्रमाणपत्रों के ऊपर ही इस हालदार वंश की सम्पत्ति भी प्रतिष्ठित थी।

बनवारी इन प्रमाणपत्रों का कुछ भी विवरण नहीं जानता था, किन्तु ये ऐसे काम थे और इनके अभाव में मामले-मुकद्दमे में पग-पग पर अटकना पड़ेगा यह वह समझता था। कागज-पत्र लेकर एक रूमाल में बांधकर वह अपने बाहर के बाग में चम्पा के नीचे बंधे हुए चबूतरे पर बैठकर बहुत देर तक सोचता रहा।

दूसरे दिन श्राद्ध के विषय में बातचीत करने के लिए नीलकंठ बनवारी के पास उपस्थित हुआ। नीलकंठ की देह की भंगिमा अत्यन्त विनम्र थी, किन्तु उसके चेहरे पर ऐसा भाव था, अथवा नहीं था, जिसे देखकर अथवा कल्पना करके बनवारी का सर्वांग जल उठा। उसे लगा, नीलकंठ नम्रता द्वारा उस पर व्यंग्य कर रहा है।

नीलकंठ बोला, "मालिक के श्राद्ध के सम्बन्ध में—"

बनवारी ने उसकी बात पूरी नहीं होने दी, बीच मे ही बोल उठा, "सो मैं क्या जानूं!"

नीलकठ ने कहा, "यह क्या कहते हैं! आप ही तो श्राद्धाधिकारी हैं।"

"क्या कहने हैं अधिकार के! श्राद्ध का अधिकार! संसार में केवल इतने ही के लिए मेरी जरूरत है—मै और किसी काम का ही नही हूँ।" बनवारी गर्ज उठा, "जाओ, जाओ! मुझे तंग मत करो!"

नीलकंठ चला गया, किन्तु उसे पीछे से देखकर बनवारी को लगा कि वह हँसता हुआ गया। बनवारी को लगा, घर के सब नौकर-चाकर इस अश्रद्धेय, परित्यक्त को लेकर आपस में हँसी-मजाक कर रहे हैं। जो व्यक्ति घर का होते हुए भी घर का नहीं होता उसके समान भाग्य द्वारा विडम्बित और कौन हो सकता है! रास्ते का भिखारी भी नही।

बनवारी प्रमाण-पत्रों का बण्डल लेकर बाहर निकला। हालदार-परिवार के प्रतिवेशी और प्रतिद्वन्द्वी जमींदार थे प्रतापपुर के बाँड़ुज्ये (बनर्जी) जमींदार। बनवारी ने निश्चय किया, 'इन प्रमाण-पत्र-दस्तावेजों को उनके हाथों में दे दूँगा, धन-सम्पत्ति सब खाक में मिल जाय।'

बाहर निकलते समय हरिदास ने ऊपरी मंजिल से अपने सुमधुर बालक-कंठ से पुकारते हुए कहा, "ताऊजी, तुम बाहर जा रहे हो, मैं भी तुम्हारे साथ बाहर

चलूँगा।"

बनवारी को लगा, बालक के अशुभ ग्रह यह बात उससे कहलवा रहे थे। "मैं तो सड़क पर निकल ही पड़ा हूँ, इसे भी अपने साथ निकाल ले चलूँ। आकाश, जायगा, सब खाक में मिल जायगा।"

बाहर बगीचे तक पहुंचते ही बनवारी को चोरों का शोर-गुल सुनाई दिया। पास ही हाट से लगी एक विधवा की कुटी में आग लग गई थी। अपने पुराने स्वभाव के अनुसार इस दृश्य को देखकर बनवारी चुप न रह सका। प्रमाण-पत्रों का अपना बण्डल चंपा के पेड़ के नीचे रखकर आग की ओर दौड़ा।

जब लौटकर आया तो देखा उसका वह कागज़ों का बण्डल नहीं था। क्षण-भर मे हृदय मे शूल-सा चुभा और यह बात मन में आई, 'नीलकंठ से फिर मेरी हार हुई। विधवा का घर जलकर राख हो जाने में क्या हानि थी।' उसे लगा, वह बण्डल दुबारा चालाक नीलकंठ के ही हाथ में पहुँच गया।

तूफान के समान वह एकदम आकर कचहरी के कमरे में उपस्थित हुआ। नीलकंठ ने तुरत बक्स बन्द करके सम्मान के साथ उठकर खड़े होकर बनवारी को प्रणाम किया। बनवारी को लगा, उस बक्स में ही उसने कागज़ छिपा लिये हैं। बिना कुछ कहे तुरन्त उस बक्स को खोलकर वह उसमे रखे कागज टटोलने लगा। उसमें हिसाब का खाता और उसीसे सम्बन्धित कागज़ नत्थी थे। बक्स को उलटा करके झाड़ दिया, कुछ नहीं मिला।

रुद्धप्राय स्वर से बनवारी ने कहा, "तुम चम्पा के नीचे गए थे?"

नीलकंठ बोला, "जी हाँ, गया क्यों नहीं था। देखा, आप घबराकर दौड़ रहे हैं, बात क्या है। यही जानने के लिए गया था।"

बनवारी—"रूमाल में बँधे मेरे कागज़ तुम्हींने लिये हैं।"

नीलकंठ ने अत्यंत भले आदमी के समान कहा, "जी नहीं।"

बनवारी—"झूठ बोल रहे हो। तुम्हारा भला नही होगा, अभी लौटा दो।"

बनवारी ने झूठ-मूठ झूठी डाँट-डपट की। उसकी क्या चीज़ खो गई थी सो भी वह नहीं बता सका और उस चोरी के माल के सम्बन्ध में अपना कोई ज़ोर नहीं था, यह जानकर वह असावधान मूढ़ मन-ही-मन जैसे अपने को ही धिक्कारने लगा।

कचहरी में इस प्रकार पागलपन करके वह फिर चंपा के नीचे ढूंढने लगा। मन-ही-मन माता की शपथ लेकर उसने प्रतिज्ञा की, 'जैसे भी हो मैं इन कागज़ों का फिर उद्धार करके ही रहूँगा।' किस प्रकार उद्धार करेगा यह सोचने की उसमें शक्ति नहीं थी, केवल क्रुद्ध बालक के समान बार-बार ज़मीन पर पैर पटकते

हुए बोला, "जरूर उद्धार करूँगा, जरूर करूँगा, जरूर करूँगा।"

थककर वह पेड़ के नीचे बैठ गया। कोई नहीं, उसका कोई नहीं था और उसका कुछ नहीं था। अब से निःसम्बल अपने भाग्य के साथ और संसार के साथ उसको जूझना पड़ेगा। उसके लिए मान-प्रतिष्ठा, शिष्टता, प्रेम, स्नेह, कुछ भी नहीं रह गया था। केवल मरने और मारने का काम शेष था।

इस प्रकार मन में छटपटाते हुए अत्यंत थकावट के कारण चबूतरे के ऊपर लेटते ही उसे न जाने कब नींद आ गई। जब जागा तो एकाएक समझ नहीं सका वह कहाँ है। अच्छी तरह सजग होकर उठकर देखा उसके सिरहाने हरिदास बैठा था। बनवारी को जगाते हुए देखकर हरिदास बोल उठा, "ताऊ, तुम्हारा क्या खो गया था, बताओ तो।"

बनवारी स्तब्ध रह गया। हरिदास के इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका।

हरिदास ने कहा, "अगर मैं ला दूँ तो मुझे क्या दोगे?"

बनवारी को लगा, शायद और कुछ था। उसने कहा, "मेरे पास जो-कुछ है सब तुझे दूँगा।"

यह बात उसने हँसी में कही थी, वह जानता था, उसका कुछ नही था।

तब हरिदास ने अपने कपड़ों के भीतर से बनवारी के रूमाल मे लिपटा-कागज का वह बण्डल निकाला। इस रंगीन रूमाल के ऊपर बाघ की तस्वीर बनी थी; वह तस्वीर उसके ताऊ ने उसे कई बार दिखाई थी। इस रूमाल के प्रति हरिदास का विशेष लोभ था। इसी कारण आग लगने के शोर-गुल में नौकर लोग जब बाहर दौड़ गए थे तभी बगीचे मे आकर हरिदास ने चंपा के नीचे दूर से ही इस रूमाल को देखकर पहचान लिया था।

बनवारी हरिदास को खींचकर छाती से लगाकर चुपचाप बैठा रहा; कुछ देर बाद—उसकी आँखों से टप-टप करके आँसू टपकने लगे। उसे याद आया, बहुत दिन पहले वह अपने एक नए खरीदे हुए कुत्ते को सजा देने के लिए बार-बार उसे चाबुक मारने के लिए बाध्य हुआ था। एक बार उसका चाबुक खो गया, कही मिलता ही न था। जब वह चाबुक की आशा छोड़ बैठा तभी देखा, वही कुत्ता कही से चाबुक मुँह में दबाकर मालिक के समाने बड़े आनंद से पूँछ हिला रहा है। इसके बाद वह फिर कभी कुत्ते को चाबुक नही मार पाया।

झटपट आँखों से आँसू पोंछकर बनवारी ने कहा, "हरिदास तू क्या चाहता है, मुझे बता!"

हरिदास ने कहा, 'ताऊजी, मैं वह तुम्हारा रूमाल चाहता हूँ।"

बनवारी बोला, "आ हरिदास, तुझे कंधे पर चढ़ाऊँ।"

हरिदास को कंधे पर चढाकर बनवारी सरकाए अंतःपुर में बढ़ा। शयन-कक्ष में जाकर देखा, किरण सारे दिन धूप में सुखाए गए कम्बल को बरामदे से उठाकर कमरे में जमीन पर बिछा रही थी। बनवारी के कंधे पर हरिदास को देखकर वह उद्विग्न होकर बोली, "उतार दो, उतार दो। तुम गिरा दोगे उसे।"

बनवारी ने किरण के चेहरे पर दृष्टि जमाते हुए कहा, "अब मुझसे मत डरना, मैं नहीं गिराऊँगा।"

यह कहकर हरिदास को कंधे से उतारकर किरण की गोद की ओर बढ़ा दिया। उसके बाद उन कागजों को लेकर किरण के हाथ में देकर कहा, "यह हरिदास की धन-संपत्ति के प्रमाणपत्र हैं। यत्न से रखना!"

किरण ने आश्चर्य से कहा, "तुम्हें कहाँ मिले?"

बनवारी ने कहा, "मैंने चोरी की थी।"

उसके बाद हरिदास को छाती से लगाकर कहा, "यह ले बेटा, अपने ताऊ-की जिस मूल्यवान सम्पत्ति के प्रति तुझे लोभ हुआ है, उसे ले!"

और यह कहते हुए रूमाल उसके हाथ में दे दिया।

उसके बाद फिर एक बार अच्छी तरह से किरण की ओर ताककर देखा। देखा, वह लम्बी अब लम्बी नहीं रह गई है, कब मोटी हो गई थी यह उसने लक्ष्य नहीं किया था। इसी बीच में हालदार परिवार की बडी बहू के उपयुक्त उसका चेहरा भर गया था। और अधिक क्या होगा, अब 'अमरुशतक' की कविताओं को भी अन्य सपूर्ण सम्पत्ति के साथ विसर्जित कर देना ही बनवारी के लिए अच्छा होगा।

उस रात के बाद बनवारी फिर नहीं दिखाई दिया। वह केवल एक पंक्ति की एक चिट्ठी लिख गया था कि वह नौकरी ढूंढने बाहर जा रहा है।

पिता के श्राद्ध की भी वह प्रतीक्षा नहीं कर सका! गाँव-भर के लोग इस बात पर उसे धिक्कारने लगे।

पत्नी का पत्र

श्री चरणकमलेषु,

आज हमारे विवाह को पन्द्रह वर्ष हो गए, लेकिन अभी तक मैंने कभी तुमको चिट्ठी नहीं लिखी। सदा तुम्हारे पास ही बनी रही—न जाने कितनी बातें कहती-सुनती रही, पर चिट्ठी लिखने लायक दूरी कभी नहीं मिली।

आज मैं श्री क्षेत्र में तीर्थ करने आई हूँ, तुम अपने आफिस के काम में लगे हुए हो। कलकत्ता के साथ तुम्हारा वही सम्बन्ध है जो घोंघे के साथ शंख का होता है। वह तुम्हारे तन-मन से चिपक गया है। इसलिए तुमने आफिस में छुट्टी की दरख्वास्त नहीं दी। विधाता की यही इच्छा थी; उन्होंने मेरी छुट्टी की दरख्वास्त मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घर की मझली बहू हूँ। पर आज पन्द्रह वर्ष बाद इस समुद्र के किनारे खड़े होकर मैं जान पाई हूँ कि अपने जगत् और जगदीश्वर के साथ मेरा एक सम्बन्ध और भी है। इसलिए आज साहस करके यह चिट्ठी लिख रही हूँ, इसे तुम अपने घर की ही मझली बहू की चिट्ठी मत समझना!

तुम लोगों के साथ मेरे सम्बन्ध की बात जिन्होंने मेरे भाग्य में लिखी थी उन्हें छोड़कर जब इस सम्भावना का और किसी को पता नहीं था, उसी शैशव काल में मैं और मेरा भाई एक साथ ही सन्निपात के ज्वर से पीड़ित हुए थे। भाई तो मारा गया, पर मैं बची रही। मोहल्ले की औरतें कहने लगीं "मृणाल लड़की है न, इसीलिए बच गई। लड़का होती तो क्या भला बच सकती थी।" चोरी की कला में यमराज निपुण हैं उनकी नजर कीमती चीज पर ही पड़ती है।

मेरे भाग्य में मौत नहीं है। यही बात अच्छी तरह से समझाने के लिए मैं यह चिट्ठी लिखने बैठी हूँ।

एक दिन जब दूर के रिश्ते में तुम्हारे मामा तुम्हारे मित्र नीरद को लेकर कन्या देखने आए थे तब मेरी आयु १२ वर्ष की थी। दुर्गम गाँव में मेरा घर था, जहाँ दिन में भी सियार बोलते रहते। स्टेशन से सात कोस तक छकड़ा गाड़ी में चलने के बाद बाकी तीन मील का कच्चा रास्ता पालकी में बैठकर पार

करने के बाद हमारे गाँव में पहुँचा जा सकता था। उस दिन तुम लोगों को कितनी हैरानी हुई। तिस पर हमारे पूर्वी बंगाल का भोजन—मामा उस भोजन की हँसी उड़ाना आज भी नहीं भूलते।

तुम्हारी माँ की एक ही जिद थी कि बड़ी बहू के रूप की कमी को, मझली बहू के द्वारा पूरी करें। नहीं तो भला इतना कष्ट करके तुम लोग हमारे गाँव क्यों जाते। पीलिया यकृत, अम्लशूल और दुलहिन के लिए बंगाल में खोज नहीं करनी पड़ती। वे स्वयं ही आकर घेर लेते हैं, छुड़ाये नहीं छूटते।

पिता की छाती धक्-धक् करने लगी। माँ दुर्गा का नाम जपने लगी। शहर के देवता को गाँव का पुजारी क्या देकर सन्तुष्ट करे। बेटी के रूप का भरोसा था; लेकिन बेटी में स्वयं उस रूप का कोई मान नहीं होता, देखने आया हुआ व्यक्ति उसका जो मूल्य दे, वही उसका मूल्य होता है। इसलिए जो हजार रूप-गुण होने पर भी लड़कियों का संकोच किसी भी तरह दूर नहीं होता।

सारे घर का, यही नहीं, सारे मोहल्ले का यह आतंक मेरी छाती पर पत्थर की तरह जमकर बैठ गया। आकाश का सारा उजाला और संसार की समस्त शक्ति उस दिन मानो इस बारह-वर्षीय ग्रामीण लड़की को दो परीक्षकों की दो जोड़ी आँखों के सामने कसकर पकड़ रखने के लिए चपरासगिरी कर रही थी—मुझे छिपने की कहीं जगह नहीं मिली।

अपने करुण स्वर से सम्पूर्ण आकाश को कँपाती हुई शहनाई बज उठी। मैं तुम लोगों के यहाँ आ पहुँची। मेरे सारे ऐबों का ब्योरेवार हिसाब लगाकर गृहिणियों को यह स्वीकार करना पड़ा कि सब-कुछ होते हुए भी मैं सुन्दरी जरूर हूँ। यह बात सुनते ही मेरी बड़ी जेठानी का चेहरा भारी हो गया। लेकिन सोचती हूँ, मुझे रूप की जरूरत ही क्या है। रूप नामक वस्तु को अगर किसी त्रिपुंडी पंडित ने गंगामिट्टी से गढ़ा हो तो उसका आदर हो, लेकिन उसे तो विधाता ने केवल अपने आनन्द से निर्मित किया है। इसलिए तुम्हारे धर्म के संसार में उसका कोई मूल्य नहीं। मैं रूपवती हूँ, इस बात को भूलने में तुम्हें बहुत दिन नहीं लगे। लेकिन मुझमें बुद्धि भी है, यह बात तुम लोगों को पग-पग पर याद करनी पड़ी। मेरी यह बुद्धि इतनी प्रकृत है कि तुम लोगों की घर-गृहस्थी में इतना समय काट देने पर भी वह आज भी टिकी हुई है। मेरी इस बुद्धि से माँ बड़ी चिन्तित रहती थी। नारी के लिए यह तो एक बला ही है। बाधाओं को मानकर चलना जिसका काम है वह यदि बुद्धि को मान कर चलना चाहे तो ठोकर खा-खाकर उसका सिर फूटेगा ही। लेकिन तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ। तुम लोगों के घर की बहू को जितनी बुद्धि की जरूरत है विधाता के

लापरवाही में मुझे उससे बहुत ज्यादा बुद्धि दे डाली है, अब मैं उसे लौटाऊँ भी तो किसको। तुम लोग मुझे पुरखिन कह कर दिन-रात गाली देते रहे। अक्षम्य को कड़ी बात कहने से ही सान्त्वना मिलती है, इसीलिए मैंने उसको क्षमा कर दिया।

मेरी एक बात तुम्हारी घर-गृहस्थी से बाहर थी जिसे तुममें से कोई नहीं जानता। मैं तुम सबसे छिपाकर कविता लिखा करती थी। वह भले हा कूड़ा-करकट क्यों न हो, उस पर तुम्हारे अन्तःपुर की दीवार न उठ सकी। वही मुझे मृत्यु मिलती थी, वहीं पर मैं मैं हो पाती थी। मेरे भीतर तुम लोगों की मझली बहू के अतिरिक्त जो कुछ था, उसे तुम लोगों ने कभी पसन्द नहीं किया। क्योंकि उसे तुम लोग पहचान भी न पाये। मैं कवि हूँ, यह बात पन्द्रह वर्ष में भी तुम लोगों की पकड़ में नहीं आई।

तुम लोगों के घर की प्रथम स्मृतियों में से मेरे मन में जो सबसे ज्यादा जगती रहती है वह है तुम लोगों की गोशाला। अन्तःपुर को जाने वाले जीने की बगल के कोठे में तुम लोगों की गौएँ रहती हैं, सामने के आँगन को छोड़कर उनके हिलने-डुलने के लिए और कोई जगह नहीं थी। आँगन के कोने मे गायों को भूसा देने के लिए काठ की नाँद थी, सवेरे नौकर को तरह-तरह के काम रहते इसलिए भूखी गायें नाँद के किनारों को चाट-चाटकर चबाचबाकर खुरच देतीं। मेरा मन रोने लगता। गाँव की बेटी होकर मैं जिस दिन तुम्हारे घर मे पहली बार आई उस दिन उस बड़े शहर के बीच मुझे वे दो गायें और तीन बछड़े चिर परिचित आत्मीय-जैसे जान पड़े। जितने दिन मैं रही, बहू रही, खुद न खाकर छिपा-छिपाकर मैं उन्हें खिलाती रही; जब बड़ी हुई तब गौओं के प्रति मेरी प्रत्यक्ष ममता को देखकर मेरे साथ हँसी-मजाक का सम्बन्ध रखने वाले लोग मेरे गोत्र के बारे में सन्देह प्रकट करते रहे।

मेरी बेटी जनमते ही मर गई। जाते समय उसने साथ चलने के लिए मुझे भी पुकारा था। अगर वह बची रहती तो मेरे जीवन में जो-कुछ महान् है, जो कुछ सत्य है, वह सब मुझे ला देती; तब मैं मझली बहू से एकदम माँ बन जाती। गृहस्थी में बंधी रहने पर भी माँ विश्व-भर की माँ होती है। पर मुझे माँ होने की वेदना ही मिली, मातृत्व की मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

मुझे याद है, अंग्रेज डॉक्टर को हमारे घर का भीतरी भाग देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था और जच्चाघर देखकर नाराज होकर उसने डाँट-फटकार भी लगाई थी। सदर में तो तुम लोगों का छोटा-सा बाग है। कमरे में भी साज-शृंगार की कोई कमी नहीं, पर भीतर का भाग मानो पश्मीने के काम की उलटी

परत हो। वहाँ न कोई लज्जा है, न सौन्दर्य, न शृंगार। उजाला वहाँ झिलमिलाता रहता है। हवा चोर की भाँति प्रवेश करती है, आँगन का कूड़ा-करकट हटने का नाम नहीं लेता। फ़र्श और दीवार पर कालिमा अक्षय बनकर विराजती है। लेकिन डॉक्टर ने एक भूल की थी। उसने सोचा था कि शायद इससे हमको रात-दिन दुःख होता होगा। बात बिलकुल उलटी है। अनादर नाम की चीज राख की तरह होती है। वह शायद भीतर-ही-भीतर आग को बनाये रहती है लेकिन ऊपर से उसके ताप को प्रकट नहीं होने देती। जब आत्म-सम्मान घट जाता है तब अनादर मे अन्याय भी नहीं दिखाई देता। इसीलिए उसकी पीड़ा नही होती। यही कारण है कि नारी दुःख का अनुभव करने में ही शरमा जाती है। इसीलिए मैं कहती हूँ, अगर तुम लोगों की व्यवस्था यही है कि नारी को दुःख पाना ही होगा तो फिर जहाँ तक सम्भव हो उसे अनादर में रखना ही ठीक है। आदर से दुःख की व्यथा और बढ़ जाती है।

तुम चाहे जैसे रखते रहे, मुझे दुःख है यह बात कभी मेरे ख़याल में भी नही आई। जच्चाघर मे जब सिर पर मौत मँडराने लगी थी, तब भी मुझे कोई डर नहीं लगा। हमारा जीवन ही क्या है कि मौत से डरना पड़े? जिनके प्राणों को आदर और यत्न से कसकर बाँध लिया गया हो, मरने मे उन्हींको कष्ट होता है। उस दिन अगर यमराज मुझे घसीटने लगते तो मैं उसी तरह उखड़ आती जिस तरह पोली ज़मीन से जड़-समेत घास बड़ी आसानी से खिच आती है। बगाल की बेटी तो बात-बात मे मरना चाहती है। लेकिन इस तरह मरने मे कौन-सी बहादुरी है। हम लोगों के लिए मरना इतना आसान है कि मरते लज्जा आती है।

मेरी बेटी सन्ध्या-तारा के समान क्षण-भर के लिए उदित होकर अस्त हो गई। मैं फिर से अपने दैनिक कामो मे और गाय-बछड़ों मे लग गई। इसी तरह मेरा जीवन आखिर जैसे-तैसे कट जाता; आज तुम्हें यह चिट्ठी लिखने की ज़रूरत न पड़ती, लेकिन, कभी-कभी हवा एक मामूली-सा बीज उड़ाकर ले जाती है और पक्के दालान मे पीपल का अंकुर फूट उठता है; और होते-होते उसीसे लकड़ी-पत्थर की छाती विदीर्ण होने लग जाती है। मेरी गृहस्थी की पक्की व्यवस्था मे भी जीवन का एक छोटा-सा कण न जाने कहाँ से उड़कर आ पड़ा; तभी से दरार शुरू हो गई।

जब विधवा माँ की मृत्यु के बाद मेरी बड़ी जेठानी की बहन बिन्दु ने अपने चचेरे भाइयों के अत्याचार के मारे एक दिन हमारे घर में अपनी दीदी के पास आश्रय लिया था, तब तुम लोगों ने सोचा था, यह कहाँ की बला आ

गई। आग लगे मेरे स्वभाव को, करती भी क्या—देखा, तुम लोग सब मन-ही-मन खीझ उठे हो, इसीलिए उस निराश्रिता लड़की को घेरकर मेरा सम्पूर्ण मन यकायक जैसे कमर बाँधकर खड़ा हो गया हो। पराये घर में, पराये लोगों की अनिच्छा होते हुए भी आश्रय लेना—कितना बड़ा अपमान है यह। यह अपमान भी जिसे विवश होकर स्वीकार करना पड़ा हो उसे क्या धक्का देकर एक कोने में डाल दिया जाता है।

बाद में मैंने अपनी बड़ी जेठानी की दशा देखी। उन्होंने अपनी गहरी समवेदना के कारण ही बहन को अपने पास बुलाया था, लेकिन जब उन्होंने देखा कि इसमें पति की इच्छा नहीं है, तो उन्होंने ऐसा भाव दिखाना शुरू किया मानो उन पर कोई बड़ी बला आ पड़ी हो, मानो अगर वह किसी तरह दूर हो सके तो जान बचे। उनमें इतना साहस नही हुआ कि वे अपनी अनाथ बहन के प्रति खुले मन से स्नेह प्रकट कर सकें। वे पतिव्रता थी।

उनका यह संकट देखकर मेरा मन और भी दुखी हो उठा। मैंने देखा, बड़ी जेठानी ने खास तौर से सबको दिखा-दिखाकर बिन्दु के खाने-पहनने की ऐसी रद्दी व्यवस्था की और उसे घर में इस तरह नौकरानियो के-से काम सौंप दिए कि मुझे दुःख ही नहीं, लज्जा भी हुई। मैं सबके सामने इस बात को प्रमाणित करने में लगी रहती थी कि हमारी गृहस्थी को बिन्दु बहुत सस्ते दामो मे मिल गई है। ढेरों काम करती है फिर भी खर्च की दृष्टि से बेहद सस्ती है।

मेरी बड़ी जेठानी के पितृ-वंश मे कुल के अलावा और कोई बड़ी चीज न थी, न रूप था, न धन। किस तरह मेरे ससुर के पैरो पड़ने के बाद तुम लोगों के घर में उनका ब्याह हुआ था, यह बात तुम अच्छी तरह जानते हो। वे सदा यही सोचती रही कि उनका विवाह तुम्हारे वंश के प्रति बड़ा भारी अपराध था। इसीलिए वे सब बातों में अपने-आपको भरसक दूर रखकर, अपने को छोटा मानकर तुम्हारे घर में बहुत ही थोड़ी जगह में सिमटकर रहती थी।

लेकिन उनके इस प्रशंसनीय उदाहरण से हम लोगो को बड़ी कठिनाई होती रही। मैं अपने-आपको हर तरफ़ से इतना बेहद छोटा नहीं बना पाती, मैं जिस बात को अच्छा समझती हूँ उसे किसी और की खातिर बुरा समझने को मैं उचित नहीं मानती—इस बात के तुम्हें भी बहुत-से प्रमाण मिल चुके हैं।

बिन्दु को मैं अपने कमरे में घसीट लाई। जीजी कहने लगी, "मझली बहू गरीब घर की बेटी का दिमाग खराब कर डालेगी।" वे सबसे मेरी इस ढंग से शिकायत करती फिरती थी मानो मैंने कोई भारी आफ़त ढा दी हो। लेकिन मैं अच्छी तरह जानती हूँ, वे मन-ही-मन सोचती थीं कि जान बची। अब अपराध

का बोझ मेरे सिर पर पड़ने लगा। वे अपनी बहन के प्रति खुद जो स्नेह नहीं दिखा पाती थीं वही मेरे द्वारा प्रकट करके उनका मन हल्का हो जाता। मेरी बड़ी जेठानी बिन्दु की उम्र में से दो-एक अंक कम कर देने की चेष्टा किया करती थीं, लेकिन अगर अकेले मे उनसे यह कहा जाता कि उसकी अवस्था चौदह से कम नही थी, तो ज्यादती न होती। तुम्हें तो मालूम है, देखने में वह इतनी कुरूप थी कि अगर वह फर्श पर गिरकर अपना सिर फोड़ लेती तो भी लोगों को घर के फर्श की ही चिन्ता होती। यही कारण है कि माता-पिता के न होने पर ऐसा कोई नहीं था जो उसके विवाह की सोचता, और ऐसे लोग भी भला कितने थे जिनके प्राणों में इतना बल हो कि उससे ब्याह कर सकें।

बिन्दु बहुत डरती-डरती मेरे पास आई। मानो अगर मेरी देह उससे छू जायगी तो मैं सह नही पाऊँगी। मानो संसार में उसको जन्म लेने का कोई अधिकार ही न था। इसीलिए वह हमेशा अलग हटकर आँख बचाकर चलती। उसके पिता के यहाँ उसके चचेरे भाई उसके लिए ऐसा एक भी कोना नहीं छोड़ना चाहते थे जिसमे वह फालतू चीज की तरह पड़ी रह सके। फालतू कूड़े को घर के आस-पास अनायास ही स्थान मिल जाता है क्योंकि मनुष्य उसको भूल जाता है; लेकिन अनावश्यक लड़की एक तो अनावश्यक होती है दूसरे उसको भूलना भी कठिन होता है। इसलिए उसके लिए घूरे पर भी जगह नही होती, फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसके चचेरे भाई ही संसार में परमावश्यक पदार्थ थे। जो हो, वे लोग थे खूब। यही कारण है कि जब मैं बिन्दु को अपने कमरे मे बुलाकर लाई तो उसकी छाती धक्-धक् करने लग गई। उसका डर देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरे कमरे मे उसके लिए थोडी-सी जगह है यह बात मैंने बड़े प्यार से उसे समझाई।

लेकिन मेरा कमरा एक मेरा ही कमरा तो था नही। इसलिए मेरा काम आसान नही हुआ। मेरे पास दो-चार दिन रहने पर ही उसके शरीर में न जाने लाल-लाल क्या निकल आया। शायद अम्होरी रही होंगी या ऐसा ही कुछ होगा; तुमने कहा शीतला। क्यों न हो, वह बिन्दु थी न। तुम्हारे मोहल्ले के एक अनाड़ी डॉक्टर ने आकर बताया, दो-एक दिन और देखे बिना ठीक से कुछ नही कहा जा सकता। लेकिन दो-एक दिन तक धीरज किसको होता। बिन्दु तो अपनी बीमारी की लज्जा से ही मरी जा रही थी। मैंने कहा, शीतला है तो हो, मैं उसे अपने जच्चा-घर में लिवा ले जाऊँगी, और किसी को कुछ करने की जरूरत नहीं। इस बात पर जब तुम लोग सब मेरे ऊपर भड़ककर क्रोध की मूर्त्ति बन गए, यह ही नही, जब बिन्दु की जीजी भी बड़ी परेशानी दिखाती हुई

उस अभागी लड़की को अस्पताल भेजने का प्रस्ताव करने लगीं, तभी उसके शरीर के वे सारे लाल-लाल दाग एकदम बिलीन हो गए। मैंने देखा कि इस बात से तुम लोग और भी व्यग्र हो उठे। कहने लगे अब तो वाकई शीतला बैठ गई है। क्यों न हो, वह बिन्दु थी न।

अनादर के पालन-पोषण में एक बड़ा गुण है। शरीर को वह एकदम अजर-अमर कर देता है। बीमारी आने का नाम नहीं लेती, मरने के सारे आम रास्ते बिलकुल बन्द हो जाते हैं। इसीलिए रोग उसके साथ मजाक करके चला गया, हुआ कुछ नहीं। लेकिन यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गई कि संसार में ज्यादा साधनहीन व्यक्ति को आश्रय देना ही सबसे कठिन है। आश्रय की आवश्यकता उसकी जितनी अधिक होती है आश्रय की बाधाएँ भी उसके लिए उतनी ही विषम होती हैं।

बिन्दु के मन में से जब मेरा डर जाता रहा तब उसको एक और कुग्रह ने पकड़ लिया। वह मुझे इतना प्यार करने लगी कि मुझे डर होने लगा। स्नेह की ऐसी मूर्ति तो संसार में पहले कभी देखी ही न थी। पुस्तकों में पढ़ा अवश्य था, पर वह भी स्त्री-पुरुष के बीच ही। बहुत दिनों से ऐसी कोई घटना नहीं हुई थी कि मुझे अपने रूप की बात याद आती। अब इतने दिनों बाद यह कुरूप लड़की मेरे उसी रूप के पीछे पड़ गई। रात-दिन मेरा मुँह देखते रहने पर भी उसकी आँखों की प्यास नहीं बुझती थी। कहती, जीजी तुम्हारा यह मुँह मेरे अलावा और कोई नहीं देख पाता। जिस दिन मैं स्वयं ही अपने केश बाँध लेती उस दिन वह बहुत रूठ जाती। अपने दोनों हाथों से मेरे केश-भार को हिलाने-डुलाने में उसे बड़ा आनन्द आता। कभी कहीं दावत में जाने के अतिरिक्त और कभी तो मुझे साज-शृंगार की आवश्यकता पड़ती ही न थी, लेकिन बिन्दु मुझे तंग कर-करके थोड़ा-बहुत सजाती रहती। वह लड़की मुझे लेकर बिलकुल पागल हो गई थी।

तुम्हारे घर के भीतरी हिस्से में कहीं रत्ती-भर भी मिट्टी नहीं थी। उत्तर की ओर की दीवार में नाली के किनारे न जाने कैसे एक गाब का पौधा निकला। जिस दिन देखती कि उस गाब के पौधे में नई लाल-लाल कोंपलें निकल आई हैं, उसी दिन जान पड़ता कि धरती पर वसन्त आ गया है, और जिस दिन मेरी घर-गृहस्थी में जुटी हुई इस अनादृत लड़की के मन का ओर-छोर किसी तरह रंग उठा उस दिन मैंने जाना कि हृदय के जगत् में भी वसन्त की हवा बहती है। वह किसी स्वर्ग से आती है, गली के मोड़ से नहीं।

बिन्दु के स्नेह के दुःसह वेग ने मुझे अधीर कर डाला था। मैं मानती हूँ

कि मुझे कभी-कभी उस पर क्रोध आ जाता; लेकिन उस स्नेह में मैंने अपना एक ऐसा रूप देखा जो जीवन में मैं पहले कभी नहीं देख पाई थी। वही मेरा मुक्त स्वरूप है।

इधर मैं बिन्दु-जैसी लड़की को जो इतना लाड़-प्यार करती थी, यह बात तुम लोगों को बड़ी ज्यादती लगी। इसे लेकर बराबर खट-पट होने लगी। जिस दिन मेरे कमरे से बाजूबन्द की चोरी हुई उस दिन इस बात का आभास देते हुए तुम लोगों को तनिक भी लज्जा नहीं आई कि उस चोरी में किसी-न-किसी रूप मे बिन्दु का हाथ है। जब स्वदेशी-आन्दोलनों में लोगों के घर की तलाशियाँ होने लगी तब तुम लोग अनायास ही यह सन्देह कर बैठे कि बिन्दु पुलिस द्वारा रखी गई स्त्री-गुप्तचर है। इसका और तो कोई प्रमाण नहीं था; प्रमाण बस इतना ही था कि वह बिन्दु थी। तुम लोगो के घर की दासियाँ उसका कोई भी काम करने से इन्कार कर देती थी—उनमें से किसी से अपने काम के लिए कहने मे वह लड़की भी संकोच के मारे जडवत् हो जाती थी। इन्हीं सब कारणों से उसके लिए मेरा खर्च बढ़ गया। मैंने खास तौर से अलग से एक दासी रख ली। यह बात तुम लोगों को अच्छी नही लगी। बिन्दु को पहनने के लिए मैं जो कपड़े देती थी, उन्हे देखकर तुम इतने क्रुद्ध हुए कि तुमने मेरे हाथ-खर्च के रुपये ही बन्द कर दिए। दूसरे ही दिन से मैंने सवा रुपये जोड़े की मोटी कोरी मिल की धोती पहननी शुरू कर दी। और जब मोती की माँ मेरी जूठी थाली उठाने के लिए आई तो मैंने उसको मना कर दिया। मैंने खुद जूठा भात बछड़े को खिलाने के बाद आँगन के नल पर जाकर बर्तन मल लिये। एक दिन एकाएक इस दृश्य को देखकर तुम प्रसन्न नही हो सके। मेरी खुशी के बिना तो काम चल सकता है, पर तुम लोगों की खुशी के बिना नहीं चल सकता—यह बात आज तक मेरी समझ मे नहीं आई। उधर ज्यों-ज्यों तुम लोगों का क्रोध बढ़ता जा रहा था त्यों-त्यों बिन्दु की आयु भी बढ़ती जा रही थी। इस स्वाभाविक बात पर तुम लोग अस्वाभाविक ढंग से परेशान हो उठे थे।

एक बात याद करके मुझे आश्चर्य होता रहा है कि तुम लोगों ने बिन्दु को जबरदस्ती अपने घर से विदा क्यों नही कर दिया? मैं अच्छी तरह समझती हूँ कि तुम लोग मन-ही-मन मुझसे डरते थे। विधाता ने मुझे बुद्धि दी है, भीतर-ही-भीतर इस बात की खातिर किये बिना तुम लोगों को चैन नहीं पड़ता था। अन्त में अपनी शक्ति से बिन्दु को विदा करने में असमर्थ होकर तुम लोगों ने प्रजापति देवता की शरण ली। बिन्दु का वर ठीक हुआ। बड़ी जेठानी बोलीं, जान बची। माँ काली ने अपने वंश की लाज रख ली। वर कैसा था, मैं नहीं जानती। तुम

लोगों से सुना था कि सब बातों में अच्छा है। बिन्दु मेरे पैरों से लिपटकर रोने लगी। बोली, जीजी मेरा ब्याह क्यों कर रही हो भला। मैंने उसको समझाते-बुझाते कहा, बिन्दु, डर मत, मैंने सुना है तेरा वर अच्छा है।

बिन्दु बोली—"अगर वर अच्छा है तो मुझमें भला ऐसा क्या है जो पसन्द आ सके उसे।" लेकिन वर-पक्ष वालों ने तो बिन्दु को देखने के लिए आने का नाम भी न लिया। बड़ी जीजी इससे बड़ी निश्चिन्त हो गईं।

लेकिन बिन्दु रात-दिन रोती रहती। चुप होने का नाम ही न लेती। उसको क्या कष्ट है यह मैं जानती थी। बिन्दु के लिए मैंने घर में बहुत बार झगड़ा किया था लेकिन उसका ब्याह रुक जाय यह बात कहने का साहस नहीं होता था। कहती भी किस बल पर। मैं अगर मर जाती तो उसकी क्या दशा होती।

एक तो लड़की तिस पर काली; किसके यहाँ जा रही है, वहाँ उसकी क्या दशा होगी, इन बातों की चिन्ता न करना ही अच्छा था। सोचती, तो प्राण काँप उठते।

बिन्दु ने कहा, "जीजी, ब्याह के अभी पाँच दिन और है। इस बीच क्या मुझे मौत नहीं आयगी।"

मैंने उसको खूब धमकाया। लेकिन अन्तर्यामी जानते हैं कि अगर किसी स्वाभाविक ढंग से बिन्दु की मृत्यु हो जाती तो मुझे चैन मिलती।

ब्याह के एक दिन पहले बिन्दु ने अपनी जीजी के पास जाकर कहा, जीजी, मैं तुम लोगों की गोशाला मे पड़ी रहूँगी, जो कहोगे वही करूँगी, मै तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह मत धकेलो।"

कुछ दिनों से जीजी की आँखों से चोरी-चोरी आँसू झर रहे थे। उस दिन भी झरने लगे। लेकिन सिर्फ हृदय ही तो नहीं होता। शास्त्र भी तो है। उन्होंने कहा, "बिन्दी, जानती नहीं, स्त्री की गति-मुक्ति सब-कुछ पति ही है। भाग्य में अगर दुःख लिखा है तो उसे कोई नहीं मिटा सकता।"

असली बात तो यह थी कि कहीं कोई रास्ता ही नहीं था—बिन्दु को ब्याह तो करना ही पड़ेगा। फिर जो हो सो हो। मैं चाहती थी कि विवाह हमारे घर से ही हो। लेकिन तुम लोग कह बैठे वर के ही घर में हो, उनके कुल की यही रीति है। मैं समझ गई, बिन्दु के ब्याह में अगर तुम लोगों को खर्च करना पड़ा तो तुम्हारे गृह-देवता उसे किसी भाँति नहीं सह सकेंगे। इसीलिए चुप रह जाना पड़ा। लेकिन एक बात तुममें से कोई नहीं जानता। जीजी को बताना चाहती थी, पर फिर बताई नहीं। नहीं तो वे डर से मर जातीं—मैंने अपने थोड़े-बहुत

गहने लेकर चुपचाप बिन्दु का शृंगार कर दिया था। सोचा था, जीजी की नजर मे तो जरूर ही पड़ जायगा। लेकिन उन्होंने जैसे देखकर भी नहीं देखा। दुहाई है धर्म की, इसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर देना।

जाते समय बिन्दु मुझसे लिपटकर बोली, "जीजी, तो क्या तुम लोगों ने मुझे एकदम त्याग दिया।" मैंने कहा, "नहीं बिन्दु, तुम चाहे-जैसी हालत में रहो, प्राण रहते मैं तुम्हें नहीं त्याग सकती।"

तीन दिन बीते। तुम्हारे ताल्लुके के आसामियों ने तुम्हें खाने के लिए जो भेड़ा दिया था उसे मैंने तुम्हारी जठराग्नि से बचाकर नीचे वाली कोयले की कोठरी के एक कोने मे बांध दिया था। सवेरे उठते ही मैं खुद जाकर उसको दाना खिला आती। दो-एक दिन तुम्हारे नौकरों पर भरोसा करके देखा उसे खिलाने की बजाय उनका झुकाव उसीको खा जाने की ओर अधिक था।

उस दिन सवेरे कोठरी मे गई तो देखा, बिन्दु एक कोने में गुड़-मुड़ होकर बैठी हुई है। मुझे देखते ही मेरे पैर पकड़कर वह चुपचाप रोने लगी।

बिन्दु का पति पागल था।

सच कह रही है बिन्दु।

तुम्हारे सामने क्या मै इतना बड़ा झूठ बोल सकती हूँ दीदी? वह पागल है। इस विवाह मे ससुर की सम्मति नही थी, लेकिन वे मेरी सास से यमराज की तरह डरते थे। ब्याह के पहले ही काशी चल दिए थे। सास ने ज़िद करके अपने लड़के का ब्याह कर लिया। मैं वही कोयले के ढेर पर बैठ गई। स्त्री पर स्त्री को दया नही आती। कहती है, कोई लड़की थोड़े ही है। लड़का पागल है तो हो, है तो पुरुष।

देखने मे बिन्दु का पति पागल नही लगता। लेकिन कभी-कभी उसे ऐसा उन्माद चढ़ता कि उसे कमरे मे ताला बन्द करके रखना पड़ता। ब्याह की रात वह ठीक था। लेकिन रात मे जगते रहने के कारण और इसी तरह के और झंझटो के कारण दूसरे दिन से उसका दिमाग़ बिलकुल खराब हो गया। बिन्दु दोपहर को पीतल की थाली मे भात खाने बैठी थी अचानक उसके पति ने भात समेत थाली उठाकर आँगन मे फेंक दी। न जाने क्यो अचानक उसको लगा, मानो बिन्दु रानी रासमणि हो। नौकर ने, हो न हो, चोरी से उसी के सोने के थाल में रानी के खाने के लिए भात दिया हो। इसलिए उसे क्रोध आ गया था। बिन्दु तो डर के मारे मरी जा रही थी। तीसरी रात को जब उसकी सास ने उससे अपने पति के कमरे मे सोने के लिए कहा तो बिन्दु के प्राण सूख गए। उसकी सास को जब क्रोध आता था तो होश में नहीं रहती थी। वह भी पागल ही थी, लेकिन पूरी

तरह से नहीं । इसलिए वह ज्यादा खतरनाक थी । बिन्दु को कमरे में आना ही पड़ा । उस रात उसके पति का मिजाज ठंडा था । लेकिन डर के मारे बिन्दु का शरीर पत्थर हो गया था । पति जब सो गए तब काफी रात बीतने पर वह किस तरह चतुराई से भागकर चली आई इसका विस्तृत विवरण लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

घृणा और क्रोध से मेरा शरीर जलने लगा । मैंने कहा, इस तरह धोखे के ब्याह को ब्याह नही कहा जा सकता । बिन्दु, तू जैसे रहती थी वैसे ही मेरे पास रह । देखूँ, तुझे कौन ले जाता है ।

तुम लोगों ने कहा, बिन्दु झूठ बोलती है ।

मैंने कहा, वह कभी झूठ नहीं बोलती ।

तुम लोगों ने कहा, तुम्हें कैसे मालूम ।

मैंने कहा, मैं अच्छी तरह जानती हूँ ।

तुम लोगों ने डर दिखाया, अगर बिन्दु के ससुराल वालों ने पुलिस-केस कर दिया तो आफत में पड़ जायेंगे ।

मैंने कहा, क्या अदालत यह बात न सुनेगी कि उसका ब्याह धोखे से पागल वर के साथ कर दिया गया है ।

तुम ने कहा, तो क्या इसके लिए अदालत जायेंगे । हमे ऐसी क्या गर्ज है ?

मैंने कहा, जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा, अपने गहने बेचकर करूंगी ।

तुम लोगों ने कहा, क्या वकील के घर तक दौड़ोगी ।

इस बात का क्या जवाब होता । सिर ठोकने के अलावा और कर भी क्या सकती थी ।

उधर बिन्दु की ससुराल से उसके जेठ ने आकर बाहर बड़ा हंगामा खड़ा कर दिया । कहने लगा, थाने में रिपोर्ट कर दूंगा ।

मैं नहीं जानती मुझमें क्या शक्ति थी—लेकिन जिस गाय ने अपने प्राणों के डर से कसाई के हाथों से छूटकर मेरा आश्रय लिया हो उसे पुलिस के डर से फिर उस कसाई को लौटाना पड़े यह बात मैं किसी भी प्रकार नही मान सकती थी । मैंने हिम्मत करके कहा, "करने दो थाने में रिपोर्ट ।"

इतना कहकर मैंने सोचा कि अब बिन्दु को अपने सोने के कमरे में ले जाकर कमरे में ताला लगाकर बैठ जाऊँ । लेकिन खोजा तो बिन्दु का कहीं पता नही । जिस समय तुम लोगों से मेरी बहस चल रही थी उसी समय बिन्दु ने स्वयं बाहर निकलकर अपने जेठ को आत्म-समर्पण कर दिया था । वह समझ गई थी कि अगर वह इस घर में रही तो मैं बड़ी आफत में पड़ जाऊँगी ।

बीच में भाग आने से बिन्दु ने अपना कसूर और भी बढ़ा लिया। उसकी सास का तर्क था कि उनका लड़का उसको खाये तो नहीं जा रहा था न। संसार में बुरे पति के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं। उनकी तुलना में तो उनका लड़का सोने का चाँद था।

मेरी बड़ी जेठानी ने कहा—जिसका भाग्य ही खराब हो उसके लिए रोने से क्या फायदा? पागल-बावला जो भी हो, है तो स्वामी ही न।

तुम लोगों के मन में लगातार उस सती-साध्वी का दृष्टांत याद आ रहा था जो अपने कोढ़ी पति को अपने कन्धों पर बिठाकर वेश्या के यहाँ ले गई थी। संसार-भर में कायरता के इस सबसे अधम आख्यान का प्रचार करते हुए तुम लोगों के पुरुष-मन को कभी तनिक भी संकोच नहीं हुआ। इसलिए मानव-जन्म पाकर भी तुम लोग बिन्दु के व्यवहार पर क्रोध कर सके, उससे तुम्हारा सिर नहीं झुका। बिन्दु के लिए मेरी छाती फटी जा रही थी, लेकिन तुम लोगों का व्यवहार देखकर मेरी लज्जा का अन्त न था। मैं तो गाँव की लड़की थी, तिस पर तुम लोगों के घर आ पड़ी, फिर भगवान् ने न जाने किस तरह मुझे ऐसी बुद्धि दे दी। धर्म-सम्बन्धी तुम लोगों की यह चर्चा मुझे किसी भी प्रकार सहन नहीं हुई।

मैं निश्चयपूर्वक जानती थी कि बिन्दु मर भी भले ही जाय, वह अब हमारे घर लौटकर नहीं आयेगी। लेकिन मैं तो उसे ब्याह के एक दिन पहले यह आशा दिला चुकी थी कि प्राण रहते उसे नहीं छोड़ूँगी। मेरा छोटा भाई शरद् कलकत्ता में कॉलिज में पढ़ता था। तुम तो जानते ही हो, तरह-तरह से वालंटियरी करना, प्लेग वाले मोहल्लों में चूहे मारना, दामोदर में बाढ़ आने की खबर सुनकर दौड़ पड़ना—इन सब बातों में उसका इतना उत्साह था कि एफ० ए० की परीक्षा में लगातार दो बार फेल होने पर भी उसके उत्साह में कोई कमी नहीं आई। मैंने उसे बुलाकर कहा, शरद्, "जैसे भी हो बिन्दु की खबर पाने का इंतजाम तुझे करना ही पड़ेगा। बिन्दु को मुझे चिट्ठी भेजने का साहस नहीं होगा, वह भेजे भी तो मुझे मिल नहीं सकेगी।"

इस काम की बजाय यदि मैं उससे डाका डालकर बिन्दु को लाने की बात कहती या उसके पागल स्वामी का सिर फोड़ देने के लिए कहती तो उसे ज्यादा खुशी होती।

शरद् के साथ बातचीत कर रही थी तभी तुमने कमरे में आकर कहा, तुम फिर यह क्या बखेड़ा कर रही हो।

मैंने कहा, वही जो शुरू से करती आई हूँ। जब से तुम्हारे घर आई

हूँ···लेकिन नहीं, वह तो तुम्हीं लोगों की कीर्ति है।

तुम ने पूछा, बिन्दु को लाकर फिर कहीं छिपा रखा है क्या ?

मैंने कहा, बिन्दु अगर आती तो मैं जरूर ही छिपाकर रख लेती, लेकिन वह अब नहीं आयेगी। तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है।

शरद् को मेरे पास देखकर तुम्हारा सन्देह और भी बढ़ गया। मैं जानती थी कि शरद् का हमारे यहाँ आना-जाना तुम लोगों को पसन्द नहीं है। तुम्हें डर था कि उस पर पुलिस की नजर है। अगर कभी किसी राजनीतिक मामले में फँस गया तो तुम्हें भी फँसा डालेगा। इसीलिए मैं भैया-दूज का तिलक भी आदमी के हाथों उसीके पास भिजवा देती थी, अपने घर नहीं बुलाती थी।

एक दिन तुमसे सुना कि बिन्दु फिर भाग गई है, इसलिए उसका जेठ हमारे घर उसे खोजने आया है। सुनते ही मेरी छाती में शूल चुभ गए। अभागिनी का असह्य कष्ट तो मैं समझ गई, पर फिर भी कुछ करने का कोई रास्ता नहीं था।

शरद् पता करने दौड़ा। शाम को लौटकर मुझसे बोला, बिन्दु अपने चचेरे भाइयों के यहाँ गई थी, लेकिन उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसी वक्त उसे फिर ससुराल पहुँचा दिया। इसके लिए उन्हें हरजाने का और गाड़ी के किराये का जो दण्ड भोगना पड़ा उसकी खार अब भी उनके मन से नहीं गई है।

श्रीक्षेत्र की तीर्थ-यात्रा करने के लिए तुम लोगों की काकी तुम्हारे यहाँ आकर ठहरीं। मैंने तुमसे कहा, मैं भी जाऊँगी।

अचानक मेरे मन में धर्म के प्रति यह श्रद्धा देखकर तुम इतने खुश हुए कि तुमने तनिक भी आपत्ति नहीं की। तुम्हें इस बात का भी ध्यान था कि अगर मैं कलकत्ता में रही तो फिर किसी-न-किसी दिन बिन्दु को लेकर झगड़ा कर बैठूँगी। मेरे मारे तुम्हें बड़ी परेशानी थी। मुझे बुधवार को चलना था, रविवार को ही सब ठीक-ठाक हो गया। मैंने शरद् को बुलाकर कहा, जैसे भी हो बुधवार को पुरी जाने वाली गाड़ी में तुझे बिन्दु को चढ़ा हीं देना पड़ेगा।

शरद् का चेहरा खिल उठा। वह बोला, डर की कोई बात नहीं जीजी, मैं उसे गाड़ी में बिठाकर पुरी तक चला चलूंगा। इसी बहाने जगन्नाथजी के दर्शन भी हो जायेंगे।

उसी दिन शाम को शरद् फिर आया। उसका मुँह देखते ही मेरा दिल बैठ गया। मैंने पूछा, क्या बात है शरद् ! शायद कोई रास्ता नहीं निकला।

वह बोला, नहीं।

मैंने पूछा, क्या उसे राजी नहीं कर पाए।

उसने कहा, "अब जरूरत भी नहीं है। कल रात अपने कपड़ों में आग लगाकर वह आत्म-हत्या करके मर गई। उस घर के जिस भतीजे से मैंने मेल बढ़ा लिया था उसीसे खबर मिली कि तुम्हारे नाम वह एक चिट्ठी रख गई थी, लेकिन वह चिट्ठी उन लोगों ने नष्ट कर दी।"

"चलो, छुट्टी हुई।"

गाँव-भर के लोग चीख उठे। कहने लगे, "लड़कियों का कपड़ों में आग लगाकर मर जाना तो अब एक फ़ैशन हो गया है।"

तुम लोगों ने कहा, "अच्छा नाटक है : हुआ करे, लेकिन नाटक का तमाशा सिर्फ बंगाली लड़कियों की साड़ी पर ही क्यों होता है, बंगाली वीर पुरुषों की धोती की चुन्नटों पर क्यों नहीं होता, यह भी तो सोचकर देखना चाहिए।"

"ऐसा ही था बिन्दी का दुर्भाग्य। जितने दिन जीवित रही, तनिक भी यश नहीं मिल सका। न रूप का, न गुण का—मरते वक्त भी यह नहीं हुआ कि सोच-समझकर कुछ ऐसे नये ढंग से मरती कि दुनिया-भर के लोग खुशी से ताली बजा उठते। मरकर भी उसने लोगों को नाराज ही किया।"

जीजी कमरे में जाकर चुपचाप रोने लगीं, लेकिन उस रोने में जैसे एक सान्त्वना थी। कुछ भी सही, जान तो बची, मर गई, यही क्या कम है। अगर बची रहती तो न जाने क्या हो जाता।

मैं तीर्थ में आ पहुँची हूँ। बिन्दु के आने की तो जरूरत ही न रही। लेकिन मुझे जरूरत थी।

लोग जिसे दुःख मानते हैं वह तुम्हारी गृहस्थी में मुझे कभी नहीं मिला। तुम्हारे यहाँ खाने-पहनने की कोई कमी नहीं। तुम्हारे बड़े भाई का चरित्र चाहे जैसा हो, तुम्हारे चरित्र में ऐसा कोई दोष नहीं जिसके लिए विधाता को बुरा कह सकूँ। वैसे अगर तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे बड़े भाई की तरह भी होता तो भी शायद मेरे दिन करीब-करीब ऐसे ही कट जाते और मैं अपनी सती-साध्वी बड़ी जेठानी की तरह पति देवता को दोष देने की बजाय विश्व-देवता को ही दोष देने की चेष्टा करती। अतएव, मैं तुमसे कोई शिकायत नहीं करना चाहती— मेरी चिट्ठी का कारण यह नहीं है।

लेकिन मैं अब माखन बड़ाल की गली के तुम्हारे उस सताईस नम्बर वाले घर में लौटकर नहीं आऊँगी। मैं बिन्दु को देख चुकी हूँ। इस संसार में नारी का सच्चा परिचय क्या है, यह मैं पा चुकी हूँ। अब तुम्हारी कोई जरूरत नहीं।

और फिर मैंने यह भी देखा है कि वह लड़की ही क्यों न हो, भगवान् ने उसका त्याग नहीं किया। उस पर तुम लोगों का चाहे कितना ही जोर क्यों न

रहा हो, वह उसका अन्त नहीं था। वह अपने अभागे मानव-जीवन से बड़ी थी। तुम लोगों के पैर इतने लम्बे नहीं थे कि तुम मनमाने ढंग से अपने हिसाब से उसके जीवन को सदा के लिए उनसे दबाकर रख सकते, मृत्यु तुम लोगों से भी बड़ी है। अपनी मृत्यु में वह महान् है—वहाँ बिन्दु केवल बंगाली परिवार की लड़की नहीं है, केवल चचेरे भाइयों की बहन नहीं है, केवल किसी अपरिचित पागल पति की प्रवंचिता पत्नी नहीं है। वहाँ वह अनन्त है।

मृत्यु की उस वंशी का स्वर उस बालिका के भग्न-हृदय से निकलकर जब मेरे जीवन की यमुना के पास बजने लगा तो पहले-पहल मानो मेरी छाती में कोई बाण बिंध गया हो। मैंने विधाता से प्रश्न किया, 'इस संसार में जो-कुछ सबसे अधिक तुच्छ है वही सबसे अधिक कठिन क्यों है?' इस गली में चारदीवारी से घिरे इस निरानन्द स्थान में यह जो तुच्छतम बुदबुद है, वह इतनी भयंकर बाधा कैसे बन गया? तुम्हारा संसार अपनी शठ नीतियों से क्षुधा-पात्र को सँभाले कितना ही क्यों न पुकारे, मैं उस अन्तःपुर की ज़रा-सी चौखट को क्षण-भर के लिए भी पार क्यों नही कर सकी? ऐसे संसार में ऐसा जीवन लेकर मुझे इस अत्यन्त तुच्छ काठ-पत्थर की आड़ में ही तिल-तिलकर क्यों मरना होगा? कितनी तुच्छ है यह मेरी प्रतिदिन की जीवन-यात्रा। इसके बँधे नियम, बँधे अभ्यास, बँधी हुई बोली, बँधी हुई मार, सब कितनी तुच्छ है—फिर भी क्या अन्त में दीनता के उस नाग-पाश बन्धन की ही जीत होगी, और तुम्हारे अपने इस आनन्द-लोक की, इस सृष्टि की हार?

लेकिन, मृत्यु की वंशी बजने लगी—कहाँ गई राज-मिस्त्रियों की बनाई हुई वह दीवार, कहाँ गया तुम्हारे घोर नियमों से बँधा वह काँटों का घेरा। कौन-सा है वह दुःख, कौनसा है वह अपमान जो मनुष्य को बंदी बनाकर रख सकता है। यह लो, मृत्यु के हाथ में जीवन की जय-पताका उड़ रही है। अरी मझली बहू, तुझे डरने की अब कोई ज़रूरत नहीं। मझली बहू के इस तेरे खोल को छिन्न होते एक निमेष भी नहीं लगा।

तुम्हारी गली का मुझे कोई डर नहीं। आज मेरे सामने नीला समुद्र है, मेरे सिर पर आषाढ़ के बादल।

तुम लोगों की रीति-नीति के अँधेरे ने मुझे अब तक ढक रखा था। बिन्दु ने आकर क्षण-भर के लिए उस आवरण के छेद में से मुझे देख लिया। वही लड़की अपनी मृत्यु द्वारा सिर से पैर तक मेरा वह आवरण उघाड़ गई है। आज बाहर आकर देखती हूँ, अपना गौरव रखने के लिए कहीं जगह ही नहीं है। मेरा यह अनादृत रूप जिनकी आँखों को भाया है वे सुन्दर आज सम्पूर्ण आकाश से

मुझे निहार रहे हैं। अब मझली बहू की खैर नहीं।

तुम सोच रहे होगे, मैं मरने जा रही हूँ—डरने की कोई बात नहीं। तुम लोगों के साथ मैं ऐसा पुराना मजाक नहीं करूंगी। मीराबाई भी तो मेरे ही समान नारी थी। उनकी जंजीरें भी तो कम भारी नहीं थीं, बचने के लिए उनको तो मरना नहीं पड़ा। मीराबाई ने अपने गीत में कहा था, 'बाप छोड़े माँ छोड़े, जहाँ कहीं जो भी हैं, सब छोड़ दें, लेकिन मीरा की लगन वही रहेगी प्रभु, अब जो होना है सो हो।'

यह लगन ही तो जीवन है।

मैं अभी जीवित रहूँगी। मैं बच गई।

तुम लोगों के चरणों के आश्रय से छूटी हुई

मृणाल

अपरिचिता

: १ :

आज मेरी आयु केवल सत्ताईस साल की है। यह जीवन न दीर्घता के हिसाब से बड़ा है, न गुण के हिसाब से। तो भी इसका एक विशेष मूल्य है। यह उस फूल के समान है जिसके वक्ष पर भ्रमर आ बैठा हो और उसी पदक्षेप के इतिहास ने उसके जीवन के फल में गुठली का-सा रूप धारण कर लिया हो।

वह इतिहास आकार में छोटा है, उसे छोटा करके ही लिखूंगा। जो छोटे को साधारण समझने की भूल नही करेंगे वे इसका रस समझेंगे।

कॉलेज मे पास करने के लिए जितनी परीक्षाएँ थी सब मैंने खत्म कर ली हैं। बचपन में मेरे सुन्दर चेहरे को लेकर पण्डितजी को सेमर के फूल तथा माकाल फल[1] के साथ मेरी तुलना करके हँसी उड़ाने का मौका मिला था तब मुझे उससे बड़ी लज्जा लगती थी; किन्तु बड़े होने पर सोचता रहा हूँ कि यदि पुनर्जन्म हो तो मेरे मुख पर सुरूप और पण्डितजी के मुख पर विद्रूप इसी प्रकार प्रकट हो। एक दिन था जब मेरे पिता ग़रीब थे। वकालत करके उन्होंने बहुत-सा रुपया कमाया, भोग करने का उन्हे पल भर भी समय नहीं मिला। मृत्यु के समय उन्होंने जो लम्बी साँस ली थी वही उनका पहला अवकाश था।

उस समय मेरी अवस्था कम थी। माँ के हाथों ही मेरा लालन-पालन हुआ। माँ ग़रीब घर की बेटी थी; अत. हम धनी थे यह बात न तो वे भूलतीं, और न मुझे भूलने देतीं। बचपन में मैं सदा गोद में ही रहा, शायद इसीलिए मैं अन्त तक पूरी तौर पर वयस्क ही नही हुआ। आज भी मुझे देखने पर लगेगा, जैसे मैं अन्नपूर्णा की गोद में गजानन का छोटा भाई होऊँ।

मेरे असली अभिभावक थे मेरे मामा। वे मुझसे मुश्किल से छः वर्ष बड़े होंगे। किन्तु, फल्गु की रेती की तरह उन्होंने हमारे सारे परिवार को अपने हृदय में सोख लिया था। उन्हें खोदे बिना इस परिवार का एक भी बूंद रस पाने का

---

१. बाहर से देखने में सुन्दर तथा भीतर से दुर्गन्धयुक्त और अखाद्य गूदे वाला एक फल।

कोई उपाय नहीं। इसी कारण मुझे किसी भी वस्तु के लिए कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

हर कन्या के पिता स्वीकार करेंगे कि मैं सत्पात्र हूँ। हुक्का तक नहीं पीता। भला आदमी होने में कोई झंझट नहीं है, अतः मैं नितान्त भला मानस हूँ। माता का आदेश मानकर चलने की क्षमता मुझमें है—वस्तुतः न मानने की क्षमता मुझमें नहीं है। मैं अपने को अन्तःपुर के शासनानुसार चलने के योग्य ही बना सका हूँ, यदि कोई कन्या स्वयंवरा हों तो इन सुलक्षणों को याद रखें।

बड़े-बड़े घरों से मेरे विवाह के प्रस्ताव आए थे। किन्तु मेरे मामा का, जो धरती पर मेरे भाग्य देवता के प्रधान एजेण्ट थे, विवाह के सम्बन्ध में एक विशेष मत था। अमीर की कन्या उन्हें पसन्द नहीं थी। हमारे घर जो लड़की आये वह सिर झुकाए हुए आये, वे यही चाहते थे। फिर भी रुपये के प्रति उनकी नस-नस में आसक्ति समाई हुई थी। वे ऐसा समधी चाहते थे जिसके पास धन तो न हो, पर जो धन देने में त्रुटि न करे। जिसका शोषण तो कर लिया जाय, पर जिसे घर आने पर गुड़गुड़ी के बदले बँधे हुक्के में[1] तम्बाकू देने पर जिसकी शिकायत न सुननी पड़े।

मेरा मित्र हरीश कानपुर में काम करता था। छुट्टियों में उसने कलकत्ता आकर मेरा मन चंचल कर दिया। बोला, "सुनो जी अगर लड़की की बात हो तो एक अच्छी-खासी लड़की है।"

कुछ दिन पहले ही एम० ए० पास किया था। सामने जितनी दूर तक दृष्टि जाती छुट्टी धू-धू कर रही थी; परीक्षा नहीं है, उम्मीदवारी नहीं, नौकरी नहीं; अपनी जायदाद देखने की चिन्ता भी नहीं, शिक्षा भी नहीं, इच्छा भी नहीं—होने में भीतर माँ थी और बाहर मामा।

इस अवकाश की मरुभूमि में मेरा हृदय उस समय विश्व-व्यापी नारी-रूप की मरीचिका देख रहा था—आकाश में उसकी दृष्टि थी, वायु में उसका निश्वास, तरु-मर्मर में उसकी रहस्यमयी बातें।

ऐसे में ही हरीश आकर बोला, "अगर लड़की की बात हो तो।" मेरा तन-मन वसन्त-वायु से दोलायित वकुल-वन की नवपल्लव-राशि की भाँति धूप-छाँह का पट बुनने लगा। हरीश आदमी था रसिक, रस देकर वर्णन करने की उसमें शक्ति थी, और मेरा मन था तृषार्त्त।

मैंने हरीश से कहा, "एक बार मामा से बात चलाकर देखो!"

---

१. गुड़गुड़ी हुक्का अधिक सम्मान-सूचक समझा जाता है, बँधा हुक्का मामूली हुक्का होता है।

बैठक जमाने में हरीश अद्वितीय था। इससे सर्वत्र उसकी खातिर होती थी। मामा भी उसे पाकर छोड़ना नहीं चाहते थे। बात उनकी बैठक में चली। लड़की की अपेक्षा लड़की के पिता की जानकारी ही उनके लिए महत्त्वपूर्ण थी। पिता की अवस्था वे जैसी चाहते थे वैसी ही थी। किसी जमाने में उनके वंश में लक्ष्मी का मंगल-घट भरा रहता था। इस समय उसे शून्य ही समझो फिर भी तले में थोड़ा बहुत बाकी था। अपने प्रान्त में वंश-मर्यादा की रक्षा करके चलना सहज न समझकर वे पश्चिम में जाकर वास कर रहे थे। वहाँ ग़रीब गृहस्थ की ही भाँति रहते थे। एक लड़की को छोड़कर उनके और कोई नहीं था। अतएव उसी के पीछे लक्ष्मी के घट को एकदम औंधा कर देने में हिचकिचाहट नहीं होगी।

यह सब तो सुन्दर था। किन्तु, लड़की की आयु पन्द्रह की है यह सुनकर मामा का मन भारी हो गया। वंश में तो कोई दोष नहीं है? नहीं कोई दोष नहीं—पिता अपनी कन्या के योग्य वर कहीं भी नहीं खोज पाए। एक तो वर की हाट में मँहगाई थी, तिस पर धनुष-भंग की शर्त अतः बाप सब्र किये बैठे हैं,—किन्तु कन्या की आयु सब्र नहीं करती।

जो हो, हरीश की सरस रसना में गुण था। मामा का मन नरम पड़ गया। विवाह का भूमिका-भाग निर्विघ्न पूरा हो गया। कलकत्ता के बाहर बाकी जितनी दुनिया है, सबको मामा अण्डमान द्वीप के अंतर्गत ही समझते थे। जीवन में एक बार विशेष काम से वे कोन्नगर तक गये थे। मामा यदि मनु होते तो वे अपनी संहिता में हावड़ा के पुल को पार करने का एकदम निषेध कर देते। मन में इच्छा थी, खुद जाकर लड़की देख आऊं। पर प्रस्ताव करने का साहस नहीं कर सका।

कन्या को आशीर्वाद देने[1] जिनको भेजा गया वे हमारे विनु दादा थे, मेरे फुफेरे भाई। उनके मत, रुचि एवं दक्षता पर मैं सोलह आने निर्भर कर सकता था। लौटकर विनु दादा ने कहा, "बुरा नहीं है जी! असली सोना है।"

विनु दादा की भाषा अत्यन्त संयत थी। जहाँ हम कहते थे 'अपूर्व', वहाँ वे कहते 'कामचलाऊ'। अतएव मैं समझा, मेरे भाग्य में प्रजापति से पंचशर का कोई विरोध नहीं था।

: २ :

कहना व्यर्थ है, विवाह के उपलक्ष्य में कन्यापक्ष को ही कलकत्ता आना

१. बंगालियों में विवाह पक्का करने के लिए एक रस्म होती है—जिसमें वरपक्ष के लोग कन्या को और कन्या-पक्ष के लोग वर को आशीर्वाद देकर कोई आभूषण दे जाते हैं।

पड़ा। कन्या के पिता शम्भूनाथ बाबू हरीश पर कितना विश्वास करते थे, उसका प्रमाण यह था कि विवाह के तीन दिन पहले उन्होंने मुझे पहली बार देखा और आशीर्वाद की रस्म पूरी कर गए। उनकी अवस्था चालीस के ही आस-पास होगी। बाल काले थे, मूँछों का पकना अभी प्रारम्भ ही हुआ था। रूपवान थे, भीड़ में देखने पर सबसे पहले उन्हीं पर नजर पड़ने लायक चेहरा था।

आशा करता हूँ कि मुझे देखकर वे खुश हुए थे। समझना कठिन था, क्योंकि वे अल्पभाषी थे। जो एकाध बात कहते भी थे उसे मानो पूरा ज़ोर देकर नहीं कहते थे। इस बीच मामा का मुँह अबाध गति से चल रहा था—धन में, मान में हमारा स्थान शहर में किसी से कम नहीं था, इसीका वे नाना प्रकार से प्रचार कर रहे थे। शम्भूनाथ बाबू ने इस बात मे बिलकुल योग नहीं दिया—किसी भी प्रसंग में कोई 'हाँ' या 'हूँ' तक नही सुनाई दिया। मैं होता तो निरुत्साहित हो जाता, किन्तु मामा को हतोत्साहित करना कठिन था। उन्होंने शम्भूनाथ बाबू का शान्त स्वभाव देखकर सोचा कि आदमी बिलकुल निर्जीव है, तनिक भी तेज नहीं। समधियों में और कुछ भी जो हो, तेज होना पाप है, अतएव मन-ही-मन मामा खुश हुए। शम्भूनाथ बाबू जब उठे तो मामा ने संक्षेप में ऊपर से ही उनको विदा कर दिया, गाड़ी में बिठाने नहीं गये।

दहेज के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में बात पक्की हो गई थी। मामा अपने को असाधारण चतुर समझकर गर्व करते थे। बातचीत में वे कहीं भी कोई छिद्र न छोड़ते। रुपये की संख्या तो निश्चित थी ही, ऊपर से गहना कितने भर एवं सोना किस दर का होगा, यह भी एकदम तय हो गया था। मैं स्वयं इन बातों में नहीं था; न जानता था कि क्या लेन-देन निश्चित हुआ है। मैं जानता था कि यह स्थूल भाग भी विवाह का एक प्रधान अंग है; एवं उस अंश का भार जिनके ऊपर है वे एक कौड़ी भी नहीं ठगायेंगे। वस्तुतः अत्यन्त चतुर व्यक्ति के रूप में मामा हमारे सारे परिवार में गर्व की प्रधान वस्तु थे। जहाँ कहीं भी हमारा कोई सम्बन्ध हो उन सभी जगहों में वे बुद्धि की लड़ाई में जीतेंगे, यह बिलकुल पक्की बात थी। इसलिए हमारे यहाँ कमी न रहने पर भी एवं दूसरे पक्ष में कठिन अभाव होते हुए भी हम जीतेंगे, हमारे परिवार की यह ज़िद थी—इसमें चाहे कोई बचे या मरे।

हल्दी चढ़ाने की रस्म बड़ी धूमधाम से हुई। ढोने वाले इतने थे कि उनकी संख्या का हिसाब रखने के लिए क्लर्क रखना पड़ता। उनको विदा करने में अपर पक्ष का जो नाकों-दम होगा उसका स्मरण करके मामा के साथ स्वर मिलाकर माँ खूब हँसीं।

बैण्ड, शहनाई, फैन्सी कन्सर्ट आदि जहाँ जितने प्रकार की ज़ोरदार

आवाजें थीं, सबको एक साथ मिलाकर बर्बर कोलाहल रूपी मस्त हाथी द्वारा संगीत-सरस्वती के पद्मवन को दलित-विदलित करता हुआ मैं विवाह के घर में जा पहुँचा। अँगूठी, हार, ज़री, जवाहरात से मेरा शरीर ऐसा लग रहा था जैसे गहने की दुकान नीलाम पर चढ़ी हो। उनके भावी जामाता का मूल्य कितना था यह जैसे कुछ मात्रा में सर्वाङ्ग में स्पष्ट रूप से लिखकर भावी ससुर के साथ मुकाबिला करने चला था।

मामा विवाह के घर पहुँचकर प्रसन्न नहीं हुए। एक तो आँगन में बरातियों के बैठने के लायक जगह नहीं थी, तिस पर सम्पूर्ण आयोजन एकदम साधारण ढंग का था। ऊपर से शम्भूनाथ बाबू का व्यवहार भी निहायत ठण्डा था। उनकी विनय अजस्र नहीं थी। मुँह में शब्द ही न थे। बैठे गले, गंजी खोपड़ी, कृष्णवर्ण एवं स्थूल शरीर वाले उनके एक वकील मित्र यदि कमर में चादर बाँधे, बराबर हाथ जोड़े, सिर हिलाते हुए, नम्रतापूर्ण स्मितहास्य और गद्‌गद् वचनों से कन्सर्ट पार्टी के करताल बजाने वाले से लेकर वरकर्ता तक प्रत्येक को बार-बार प्रचुर मात्रा में अभिषिक्त न कर देते तो शुरू में ही मामला इस पार या उस पार हो जाता।

मेरे सभा में बैठने के कुछ देर बाद ही मामा शम्भूनाथ बाबू को बगल के कमरे में बुला ले गए। पता नहीं, क्या बातें हुईं। कुछ देर बाद ही शम्भूनाथ बाबू ने आकर मुझसे कहा, "लालाजी, जरा इधर तो आइए!'

मामला यह था—सभी का न हो, किन्तु किसी-किसी मनुष्य का जीवन में कोई एक लक्ष्य रहता है। मामा का एक-मात्र लक्ष्य था—वे किसी भी प्रकार किसी से ठगे नहीं जायेंगे। उन्हें डर था कि उनके समधी उन्हें गहनों में धोखा दे सकते हैं—विवाह-कार्य समाप्त हो जाने पर उस धोखे का कोई प्रतिकार नहीं हो सकेगा। घर-किराया, सौगात, लोगों की विदाई आदि के विषय में जिस प्रकार की खींचातानी का परिचय मिला उससे मामा ने निश्चय किया था—लेने-देने के संबंध में इस आदमी की केवल जबानी बात पर निर्भर रहने से काम नहीं चलेगा। इसी कारण घर के सुनार तक को साथ लाए थे। बगल के कमरे में जाकर देखा, मामा एक चौकी पर बैठे थे। एक सुनार अपनी तराजू, बाट और कसौटी आदि लिये जमीन पर।

शम्भूनाथ बाबू ने मुझसे कहा, "तुम्हारे मामा कहते हैं कि विवाह कार्य शुरू होने के पहले ही वे कन्या के सारे गहने जँचवाकर देखेंगे, इसमें तुम्हारी क्या राय है?"

मैं सिर नीचा किये चुप रहा।

मामा बोले, "वह क्या कहेगा। मैं जो कहूँगा, वही होगा।"

शम्भूनाथ बाबू ने मेरी ओर देखकर कहा, "तो फिर तय रहा यही ? वे जो कहेंगे वही होगा ? इस संबंध में तुम्हें कुछ नहीं कहना है ?"

मैंने जरा गरदन हिलाकर इशारे से बताया, "इन सब बातों में मेरा बिलकुल भी अधिकार नहीं है।"

"अच्छा तो बैठो, लड़की के शरीर से सारा गहना उतारकर लाता हूँ।" यह कहते हुए वे उठे।

मामा बोले, "अनुपम यहाँ क्या करेगा ? वह सभा में जाकर बैठे।"

शम्भूनाथ बोले, "नहीं, सभा में नहीं, यहीं बैठना होगा।"

कुछ देर बाद उन्होंने एक अँगोछे में बँधे गहने लाकर चौकी के ऊपर बिछा दिए। सारे गहने उनकी पितामही के जमाने के थे, नये फैशन का बारीक काम नहीं था—जैसा मोटा था वैसा ही भारी था।

सुनार ने गहना हाथ में उठाकर कहा, "इसे क्या देखूं। इसमें मिलावट नहीं है—ऐसे सोने का आजकल व्यवहार ही नहीं होता।"

यह कहते हुए उसने मकर के मुँह वाला मोटा एक बाला कुछ दबाकर दिखाया, वह टेढ़ा हो जाता था।

मामा ने उसी समय नोट-बुक में गहनों की सूची बना ली—कहीं जो दिखाया गया था उसमें से कुछ कम न हो जाय। हिसाब करके देखा, गहना जिस मात्रा में देने की बात थी इनकी संख्या, दर एवं तोल उससे अधिक थी।

गहने में एक जोड़ा इयरिंग था। शम्भूनाथ ने उसको सुनार के हाथ में देकर कहा, "इसकी जरा परीक्षा करके देखो !"

सुनार ने कहा, "यह विलायती माल है, इसमें सोने का हिस्सा मामूली ही है।"

शम्भू बाबू ने इयरिंग जोड़ी मामा के हाथ में देते हुए कहा, "इसे आप ही रखें !"

मामा ने उसे हाथ में लेकर देखा, यही इयरिंग कन्या को देकर उन्होंने आशीर्वाद की रश्म पूरी की थी।

मामा का चेहरा लाल हो उठा, दरिद्र उनको ठगना चाहेगा, किन्तु वे ठगे नहीं जायँगे। इस आनन्द-प्राप्ति से वंचित रह गए एवं इसके अतिरिक्त कुछ ऊपरी प्राप्ति भी हुई। मुँह अत्यन्त भारी करके बोले, "अनुपम, जाओ, तुम सभा में जाकर बैठो !"

शम्भूनाथ बाबू बोले, "नहीं, अब सभा में नहीं बैठना होगा। चलिए, पहले

आप लोगों को खिला दूं।"

मामा बोले, "यह क्या कह रहे है ? लग्न—"

शम्भूनाथ बाबू ने कहा, "उसके लिए कुछ चिन्ता न करें—अभी उठिए!"

आदमी निहायत भलामानस था, किन्तु अन्दर से कुछ ज्यादा हठी प्रतीत हुआ। मामा को उठना पड़ा। बरातियों का भी भोजन हो गया। आयोजन में आडम्बर नहीं था। किन्तु रसोई अच्छी बनी थी और सब-कुछ साफ-सुथरा था। इससे सभी तृप्त हो गए।

बरातियों का भोजन समाप्त होने पर शम्भूनाथ बाबू ने मुझसे खाने को कहा। मामा ने कहा, "यह क्या कह रहे हैं ? विवाह के पहले वर कैसे भोजन करेगा ?"

इस सम्बन्ध में मामा के प्रकट किये मत की पूर्ण उपेक्षा करके मेरी ओर देखकर बोले, "तुम क्या कहते हो ? भोजन करने बैठने में कोई दोष है ?"

मूर्तिमती मातृ-आज्ञा-स्वरूप मामा उपस्थित थे, उनके विरुद्ध चलना मेरे लिए असम्भव था। मैं भोजन के लिए नही बैठ सका।

तब शम्भूनाथ बाबू ने मामा से कहा, "आप लोगों को बहुत कष्ट दिया है। हम लोग धनी नही है। आप लोगों के योग्य व्यवस्था नही कर सके, क्षमा करेंगे। रात हो गई है, आप लोगो का कष्ट और नही बढ़ाना चाहता। तो फिर इस समय—"

मामा बोले, "तो, सभा में चलिए, हम तो तैयार है।"

शम्भूनाथ बोले, "तब आपकी गाड़ी बुलवा दूं ?"

मामा ने आश्चर्य से कहा, "मजाक कर रहे है क्या ?"

शम्भूनाथ ने कहा, "मजाक तो आप ही कर चुके है। मजाक के सम्पर्क को स्थायी करने की मेरी इच्छा नहीं है।"

मामा दोनों आँखों को विस्फारित किये हुए अवाक् रह गए।

शम्भूनाथ ने कहा, "अपनी कन्या का गहना मैं चुरा लूंगा, जो यह बात सोचता है उसके हाथों में मैं कन्या नही दे सकता।"

मुझसे एक शब्द कहना भी उन्होंने आवश्यक नहीं समझा। कारण, प्रमाणित हो गया था, मैं कुछ भी नही था।

उसके बाद जो हुआ उसे कहने की इच्छा नहीं होती। झाड़-फानूस तोड़-फोड़कर चीज-वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करके बरातियों का दल दक्ष-यज्ञ का नाटक पूरा करके बाहर चला आया।

घर लौटने पर बैण्ड, शहनाई और कन्सर्ट सब साथ नहीं बजे एवं अभ्रक के झाड़ों ने आकाश के तारों के ऊपर अपने कर्तव्य का निर्वाह करके कहाँ महा-निर्वाण प्राप्त किया, पता नहीं चला।

: ३ :

घर के सब लोग क्रोध से आग-बबूला हो गए। कन्या के पिता को इतना घमंड! कलियुग पूर्ण रूप से आ गया है!

सब बोले, "देखें, लड़की का विवाह कैसे करते हैं।" किन्तु, लड़की का विवाह नहीं होगा, यह भय जिसके मन में न हो उसको दंड देने का उपाय क्या है?

बंगाल-भर मे मैं ही एक-मात्र पुरुष था जिसको स्वयं कन्या के पिता ने जनवासे में से लौटा दिया था। इतने बड़े सत्पात्र के माथे पर कलङ्क का इतना बड़ा दाग किस दुष्ट ग्रह ने इतना प्रचार करके गाजे-बाजे से समारोह करके आँक दिया? बराती यह कहते हुए माथा पीटने लगे कि "विवाह हुआ नहीं, लेकिन हमको धोखा देकर खिला दिया—पक्वाशय को सम्पूर्ण अन्न सहित निकालकर वहाँ फेंक आने से अफसोस मिट जाता।"

"विवाह के वचन-भग का और मान-हानि का दावा करूँगा" कहकर मामा घूम-घूमकर खूब शोर मचाने लगे। हितैषियों ने समझा दिया कि ऐसा करने से जो तमाशा बाकी रह गया है वह भी पूरा हो जायगा।

कहना व्यर्थ है, मैं भी खूब क्रोधित हुआ था। 'किसी प्रकार शम्भूनाथ बुरी तरह हारकर मेरे पैरों पर आ गिरें,' मूँछों की रेखा पर ताव देते-देते केवल यही कामना करने लगा।

किन्तु, इस आक्रोश की काली धारा के समीप एक और स्रोत बह रहा था, जिसका रंग बिलकुल भी काला नहीं था। सम्पूर्ण मन उस अपरिचिता की ओर दौड़ गया। अभी तक उसको किसी प्रकार भी खींचकर लौटा नहीं सका। केवल दीवार भर की आड़ रह गई। उसके माथे पर चन्दन चर्चित था, देह पर लाल साड़ी, चेहरे पर लज्जा की ललाई, हृदय में क्या था यह कैसे कह सकता हूँ! मेरे कल्पलोक की कल्पलता वसंत के समस्त फूलों का भार मुझे निवेदित कर देने के लिए झुक पड़ी थी। हवा आ रही थी, सुगन्ध मिल रही थी, पत्तों का शब्द सुन रहा था—केवल एक पग बढ़ाने की देर थी—इसी बीच वह पग-भर की दूरी क्षण-भर में असीम हो गई।

इतने दिन तक रोज शाम को मैंने विनु दादा के घर जाकर उनको परेशान

कर डाला था। विनु दादा की वर्णन-शैली की अत्यन्त सघन संक्षिप्तता के कारण उनकी प्रत्येक बात ने स्फुलिंग के समान मेरे मन में आग लगा दी थी। मैंने समझा था कि लड़की का रूप बड़ा अपूर्व था; किन्तु उसको न तो आँखों से देखा और न उसका चित्र देखा, सब-कुछ अस्पष्ट रह गया। बाहर तो उसने पकड़ दी ही नहीं, उसे मन में भी नहीं ला सका—इसी कारण मन उस दिन की उस विवाह-सभा की दीवार के बाहर भूत के समान दीर्घ निश्वास लेकर चक्कर काटने लगा।

हरीश से सुना, लड़की को मेरा फोटोग्राफ दिखाया गया था। पसन्द अवश्य किया होगा। न करने का तो कोई कारण ही न था। मेरा मन कहता है, वह चित्र उसके किसी बक्स में छिपा रखा है। कमरे का दरवाजा बन्द करके अकेली किसी-किसी निर्जन दोपहरी में क्या वह उसे खोलकर नहीं देखती होगी, जब झुककर देखती होगी तब चित्र के ऊपर क्या उसके मुख के दोनों ओर से खुले बाल आकर नहीं पड़ते होंगे? अकस्मात् बाहर किसी के पैर की आहट पाते ही क्या वह झटपट अपने सुगन्धित अंचल में चित्र को छिपा नहीं लेती होगी?

दिन बीत जाते हैं। एक वर्ष बीत गया। मामा तो लज्जा के मारे विवाह-सम्बन्ध की बात ही नहीं छेड़ पाते। माँ की इच्छा थी, मेरे अपमान की बात जब समाज के लोग भूल जायँगे तब विवाह का प्रयत्न करेंगी।

दूसरी ओर मैंने सुना कि शायद उस लड़की को अच्छा वर मिल गया था, किन्तु उसने प्रण किया है कि विवाह नहीं करेगी। सुनकर मेरा मन आनन्द के आवेश से भर गया। मैं कल्पना में देखने लगा, वह अच्छी तरह खाती नहीं; सन्ध्या हो जाती है, वह बाल बाँधना भूल जाती है। उसके पिता उसके मुँह की ओर देखते हैं और सोचते हैं, 'मेरी लड़की दिनों-दिन ऐसी क्यों होती जा रही है?' अकस्मात् किसी दिन उसके कमरे में आकर देखते हैं, लड़की के दोनों नेत्र आँसुओं से भरे हैं। पूछते हैं, "बेटी, तुझे क्या हो गया है, मुझे बता?" लड़की झटपट आँसू पोंछकर कहती है, 'कहाँ, कुछ भी तो नहीं हुआ, पिताजी!' बाप की इकलौती लड़की है न—बड़ी लाड़ली लड़की है। अनावृष्टि के दिनों में फूल की कली के समान जब लड़की एकदम मुरझा गई तो पिता के प्राण और अधिक सहन नहीं कर सके। मान त्यागकर वे दौड़कर हमारे दरवाजे पर आये। उसके बाद? उसके बाद मन में जो काले रंग की धारा बह रही थी वह मानो काले साँप के समान रूप धरकर फुफकार उठी। उसने कहा, "अच्छा है, फिर एक बार विवाह का साज सजाया जाय, रोशनी जले, देश-विदेश के लोगों को

निमन्त्रण दिया जाय, उसके बाद तुम वर के मौर को पैरों से कुचलकर दल-बल लेकर सभा से उठकर चले आओ !" किन्तु जो धारा अश्रु-जल के समान शुभ्र थी, वह राजहंस का रूप धारण करके बोली, "जिस प्रकार मैं एक दिन दमयन्ती के पुष्पवन में गई थी उसी प्रकार मुझे एक बार उड़कर जाने दो—मैं विरहिणी के कानों में एक बार सुख-सन्देश दे आऊँ।" उसके बाद ? उसके बाद दुःख की रात बीत गई, नव वर्षा का जल बरसा, म्लान फूल ने मुँह उठाया—इस बार उस दीवार के बाहर सारी दुनिया की ओर सब लोग रह गए, केवल एक व्यक्ति ने भीतर प्रवेश किया। फिर ? फिर मेरी कहानी खतम हो गई।

४

लेकिन कहानी ऐसे खतम नहीं हुई। जहाँ पहुँचकर वह अनन्त हो गई है वहाँ का थोड़ा-सा विवरण बताकर अपना यह लेख समाप्त करूँ।

माँ को लेकर तीर्थ करने जा रहा था। भार मेरे ही ऊपर था, क्योंकि मामा इस बार भी हावड़ा के पुल के पार नहीं हुए। रेलगाड़ी में सो रहा था। झोंके खाते-खाते दिमाग मे नाना प्रकार के बिखरे स्वप्नों का झुनझुना बज रहा था। अकस्मात् किसी एक स्टेशन पर जाग पड़ा, वह भी प्रकाश-अंधकार-मिश्रित एक स्वप्न था। केवल आकाश के तारागण चिरपरिचित थे—और सब अपरिचित अस्पष्ट था; स्टेशन की कई बत्तियाँ सीधी खड़ी होकर प्रकाश द्वारा यह धरती कितनी अपरिचित है एवं जो चारों ओर है वह कितना अधिक दूर है, यही दिखा रही थीं। गाड़ी में माँ सो रही थी; बत्ती के नीचे हरा पर्दा टँगा था, ट्रंक, बक्स, सामान सब एक-दूसरे के ऊपर तितर-बितर पड़े थे। वह मानो स्वप्न-लोक का उलटा-पुलटा सामान हो, जो संध्या की हरी बत्ती के टिमटिमाते प्रकाश में होने और न होने के बीच में न जाने किस ढंग से पड़ा था।

इस बीच उस विचित्र जगत् की अद्भुत रात में कोई बोल उठा, "जल्दी से आ जाओ, इस डिब्बे में जगह है।"

लगा, जैसे गीत सुना हो। बंगाली लड़की के मुख से बंगला बात कितनी मधुर लगती है इसका पूरा-पूरा अनुमान ऐसे असमय मे, ऐसे अनुपयुक्त स्थान पर अचानक सुनने पर ही किया जा सकता है। किन्तु, इस स्वर को निरी एक लड़की का स्वर कहकर श्रेणी-भुक्त कर देने से ही काम नहीं चलेगा। यह केवल एक व्यक्ति का स्वर था, सुनते ही मन कह उठता है, 'ऐसा तो पहले कभी नहीं सुना।'

गले का स्वर मेरे लिए सदा ही बड़ा सत्य रहा है। रूप भी कम बड़ी

वस्तु नहीं है, किन्तु मनुष्य में जो अन्तरतम और अनिर्वचनीय है, मुझे लगता है, जैसे कण्ठ-स्वर उसीकी आकृति हो। झटपट जंगला खोलकर मैंने मुंह बाहर निकाला, कुछ भी नहीं दिखा। प्लेटफार्म पर अंधेरे में खड़े गार्ड ने अपनी एक आंख वाली लालटेन हिलाई, गाड़ी चल दी; मैं जंगले के पास बैठा रहा। मेरी आंखों के सामने कोई मूर्ति नहीं थी, किन्तु हृदय में मैं एक हृदय का रूप देखने लगा। वह जैसे इस तारामयी रात्रि के समान हो, जो आवृत्त कर लेती है, किन्तु उसे पकड़ा नहीं जा सकता। ओ स्वर! अपरिचित कण्ठ के स्वर! क्षण-भर में तुम मेरे चिरपरिचित के आसन पर आकर बैठ गए हो। तुम कैसे अद्भुत हो—चञ्चल काल के क्षुब्ध हृदय के ऊपर फूल के समान खिले हो, किन्तु उसकी लहरों के आन्दोलन से कोई पंखुड़ी तक नहीं हिलती, अपरिमेय कोमलता में जरा भी दाग नहीं पड़ता।

गाड़ी लोहे के मृदङ्ग पर ताल देती हुई चली। मैं मन में गाना सुनते-सुनते जा रहा था। उसकी एक ही टेक थी—'डिब्बे में जगह है।' है क्या, जगह है क्या? जगह मिले कैसे, कोई किसी को नहीं पहचानता। साथ ही यह न पहचानना-मात्र कोहरा है, माया है, उसके छिन्न होते ही फिर परिचय का अन्त नहीं होता। ओ सुधामय स्वर! जिस हृदय के तुम अद्भुत रूप हो, वह क्या मेरा चिर-परिचित नहीं हैं? जगत् है, है, जल्दी बुलाया था, जल्दी ही आया हूँ, क्षण-भर की भी देर नहीं की है।

रात में ठीक से नींद नहीं आई। प्रायः हर स्टेशन पर एक बार मुंह निकालकर देखता, भय होने लगा कि जिसको देख नहीं पाया वह कहीं रात में ही न उतर जाय।

दूसरे दिन सुबह एक बड़े स्टेशन पर गाड़ी बदलनी पड़ेगी। हमारे टिकिट फर्स्ट क्लास के थे—आशा थी, भीड़ नहीं होगी। उतरकर देखा, प्लेटफार्म पर साहबों के अर्दलियों का दल सामान लिये गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा था। फौज के कोई एक बड़े जनरल साहब भ्रमण के लिए निकले थे। दो-तीन मिनिट के बाद ही गाड़ी आ गई। समझा, फर्स्ट क्लास की आशा छोड़नी पड़ेगी। मां को लेकर किसी डब्बे में चढ़ूं, इस बारे में बड़ी चिंता में पड़ गया। पूरी गाड़ी में भीड़ थी। दरवाजे-दरवाजे झांकता हुआ घूमने लगा। इसी बीच सैकण्ड क्लास के डिब्बे से एक लड़की ने मेरी मां को लक्ष्य करके कहा, "आप हमारे डिब्बे में आइए न, यहां जगह है।"

मैं तो चौंक पड़ा। वही अद्भुत मधुर स्वर और वही गीत की टेक 'जगह है'। क्षण-भर की भी देर न कर मां को लेकर डिब्बे में चढ़ गया।

सामान चढ़ाने का समय प्रायः नहीं था। मेरे-जैसा असमर्थ दुनिया में कोई न होगा। उस लड़की ने ही कुलियों के हाथ से झटपट चलती गाड़ी में हमारे बिस्तरादि खींच लिए। फोटो खींचने का मेरा एक कैमरा स्टेशन पर ही छूट गया—ध्यान ही न रहा।

उसके बाद—क्या लिखूं, नहीं जानता। मेरे मन में एक अखण्ड आनन्द की तस्वीर है—उसे कहाँ से शुरू करूँ, कहाँ समाप्त करूँ? बैठे-बैठे एक वाक्य के बाद दूसरे वाक्य की योजना करने की इच्छा नहीं होती।

इस बार उसी स्वर को आँखों से देखा। इस समय भी वह स्वर ही जान पड़ा। माँ के मुँह की ओर ताका; देखा कि उनकी आँखों के पलक नहीं गिर रहे थे। लड़की की अवस्था सोलह या सत्रह की होगी, किन्तु नवयौवन ने उसके देह, मन पर कहीं भी जैसे जरा भी भार न डाला हो। उसकी गति सहज, दीप्ति निर्मल, सौंदर्य की शुचिता अपूर्व थी, उसमें कहीं कोई जड़ता न थी।

मैं देख रहा हूँ, विस्तार से कुछ भी कहना मेरे लिए असम्भव है। यही नहीं, वह किस रंग की साड़ी किस प्रकार पहने हुए थी, यह भी ठीक से नहीं कह सकता। यह बिलकुल सत्य है कि उसकी वेश-भूषा में ऐसा कुछ नहीं था जो उसे छोड़कर विशेष रूप से आँखों को आकर्षित करे। वह अपने चारों ओर की चीजों से बढ़कर थी—रजनीगंधा की शुभ्र मंजरी के समान सरल वृन्त के ऊपर स्थित, जिस वृक्ष पर खिली थी उसका एकदम अतिक्रमण कर गई थी। साथ में दो-तीन छोटी-छोटी लड़कियाँ थीं, उनके साथ उसकी हँसी और बातचीत का अन्त नहीं था। मैं हाथ में एक पुस्तक लेकर उस ओर कान लगाए हुए था। जो कुछ कान में पड़ रहा था वह सब तो बच्चों के साथ बचपने की बातें थीं। उसका विशेषत्व यह था कि उसमें अवस्था का अन्तर बिलकुल भी नहीं था—छोटों के साथ वह अनायास और आनन्दपूर्वक छोटी हो गई थी। साथ में बच्चों की कहानियों की सचित्र पुस्तकें थीं—उसीकी कोई कहानी सुनाने के लिए लड़कियों ने उसे घेर लिया था, यह कहानी अवश्य ही उन्होंने बीस पच्चीस-बार सुनी होगी। लड़कियों का इतना आग्रह क्यों था यह मैं समझ गया। उस सुधा-कण्ठ के सोने की छड़ी से सारी कहानी सोना हो जाती थी। लड़की का सम्पूर्ण शरीर, मन पूरी तरह प्राणों से भरा था, उसकी सारी चाल ढाल, स्पर्श में प्राण उमड़ रहा था। अतः लड़कियाँ जब उसके मुँह से कहानी सुनतीं तब, कहानी नहीं, उसी को सुनतीं; उनके हृदय पर प्राणों का झरना झर पड़ता। उसके उस उद्भासित प्राण ने मेरी उस दिन की सारी सूर्य-किरणों को सजीव कर दिया; मुझे लगा, मुझे जिस प्रकृति ने अपने आकाश से वेष्टित कर रखा था वह उस तरुणी

के ही अक्लान्त, अम्लान प्राणों का विश्व-व्यापी विस्तार था।—दूसरे स्टेशन पर पहुँचते ही खोंमचे वाले को बुलाकर उसने काफ़ी-सी दाल-मोठ ख़रीदी, और लड़कियों के साथ मिलकर बिलकुल बच्चों के समान कलहास्य करते हुए निस्संकोच भाव से खाने लगी। मेरी प्रकृति तो जाल से घिरी हुई थी—क्यों मैं अत्यन्त सहज भाव से, उस हँसमुख लड़की से एक मुट्ठी दाल-मोंठ न माँग सका ? हाथ बढ़ाकर अपना लोभ क्यों नहीं स्वीकार किया।

माँ अच्छा तथा बुरा लगने के बीच दुचित्ती हो रही थीं। डिब्बे में मैं था पुरुष, तो भी उसे कोई संकोच नहीं था, खासकर वह ऐसी लोभी की तरह खा रही थी, यह बात उनको पसन्द नही आ रही थी; और उसे बेहया कहने में भी उनको हिचक नहीं हुई। उन्हें लगा, इस लड़की की अवस्था हो गई है, किन्तु शिक्षा नहीं मिली। माँ एकाएक किसी से बातचीत नही कर पातीं। लोगों के साथ दूर-दूर रहने का ही उनको अभ्यास था। इस लड़की का परिचय प्राप्त करने की उनको बड़ी इच्छा थी, किन्तु स्वाभाविक बाधा नहीं मिटा पा रही थीं।

इसी समय गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर आकर रुक गई। उन जनरल साहब के साथियों का एक दल इस स्टेशन से चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था। गाड़ी में कहीं जगह नहीं थी। कई बार वे हमारे डिब्बे के सामने से होकर निकले। माँ तो भय के मारे जड़ हो गईं, मैं भी मन में शान्ति का अनुभव नहीं कर रहा था।

गाड़ी छूटने के थोड़ी देर पहले एक देशी रेल-कर्मचारी ने नाम लिखे हुए दो टिकिट डिब्बों की दो बेञ्चों के सिरों पर लटकाकर मुझसे कहा "इस, डिब्बे की ये दो बैंचें पहले से ही दो साहबों ने रिज़र्व करा रखी हैं, आप लोगों को दूसरे डिब्बे में जाना होगा।"

मैं तो झटपट घबराकर खड़ा हो गया। लड़की हिन्दी में बोली, "नहीं हम डिब्बा नहीं छोड़ेंगे।"

उस आदमी ने ज़िद करते हुए कहा, "बिना छोड़े चारा नहीं है।"

किन्तु, लड़की के उतरने की इच्छा का कोई लक्षण न देखकर वह उतर-कर अँग्रेज़ स्टेशन मास्टर को बुला लाया। उसने आकर मुझसे कहा, "मुझे खेद है, किन्तु—"

सुनकर मैंने 'कुली-कुली' की पुकार लगाई। लड़की ने उठकर दोनों आँखों से आग बरसाते हुए कहा, "नहीं, आप नहीं जा सकते, जैसे हैं बैठे रहिए !"

यह कहकर उसने दरवाजे के पास खड़े होकर स्टेशन-मास्टर से अंग्रेजी

में कहा, "यह डिब्बा पहले से रिज़र्व है, यह बात झूठ है।"

यह कहकर उसने नाम लिखे टिकटों को खोलकर प्लेटफार्म पर फेंक दिया।

इस बीच में अर्दली के साथ वर्दी पहने साहब दरवाज़े के पास आकर खड़ा हो गया था। डिब्बे में अपना सामान चढ़ाने के लिए पहले उसने अर्दली को इशारा किया था। उसके पश्चात् लड़की के मुँह की ओर देखकर, उसकी बात सुनकर, मुखमुद्रा देखकर स्टेशन मास्टर को थोड़ा छूआ और उसको ओट में ले जाकर, पता नहीं क्या कहा। देखा गया, गाड़ी छूटने का समय बीत जाने पर भी और एक डिब्बा जोड़ा गया, तब कहीं ट्रेन छूटी। लड़की ने अपना दल-बल लेकर फिर दुबारा दाल-मोठ खाना शुरू कर दिया, और मैं शर्म के मारे जंगले के बाहर मुँह निकालकर प्रकृति की शोभा देखने लगा।

गाड़ी कानपुर मे आकर रुकी। लड़की सामान बाँधकर तैयार थी—स्टेशन पर एक अबंगाली नौकर दौड़कर उनको उतारने का प्रयत्न करने लगा।

तब फिर माँ से नही रहा गया। पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है, बेटी?"

लड़की बोली, "मेरा नाम कल्याणी है।"

सुनकर माँ और मै दोनो ही चौंक पड़े।

"तुम्हारे पिता—"

"वे यहाँ डॉक्टर हैं, उनका नाम शम्भूनाथ सेन है।"

इसके बाद ही वे उतर गईं।

उपसंहार

मामा के निषेध को अमान्य कर के माता की आज्ञा ठुकराकर मैं अब कानपुर आ गया हूँ। कल्याणी के पिता और कल्याणी से भेंट हुई है। हाथ जोड़े हैं, सिर झुकाया है, शम्भूनाथ बाबू का हृदय पिघला है। कल्याणी कहती है, "मैं विवाह नहीं करूँगी।"

मैंने पूछा, "क्यों?"

उसने कहा, "मातृ-आज्ञा।"

गजब हो गया! इस ओर भी मातुल हैं क्या?

बाद में समझा, मातृ-भूमि है। वह सम्बन्ध टूट जाने के बाद से कल्याणी ने लड़कियों को शिक्षा देने का व्रत ग्रहण कर लिया है।

किन्तु, मैं आशा नहीं छोड़ सका। वह स्वर मेरे हृदय में आज भी गूँज रहा है—वह मानो कोई उस पार की वंशी हो—मेरी दुनिया के बाहर से आई थी, मुझे सारे जगत् से बाहर बुला रही थी। और, वह जो रात के अंधकार में

मेरे कान में पड़ा था, 'जगह है,' वह मेरे चिर-जीवन के संगीत की टेक बन गई। उस समय मेरी आयु थी तेईस, अब हो गई है सत्ताईस। अभी तक आशा नहीं छोड़ी है, किन्तु मातुल को छोड़ दिया है। इकलौता लड़का होने के कारण माँ मुझे नहीं छोड़ सकीं।

तुम सोच रहे होगे, मैं विवाह की आशा करता हूँ। नहीं, कभी नहीं। मुझे याद है, केवल उस एक रात के अपरिचित कण्ठ के मधुर स्वर की आशा —जगह है। अवश्य है। नहीं तो खड़ा कहाँ होऊँगा ? इसीसे वर्ष के बाद वर्ष बीतते जाते हैं—मैं यहीं हूँ। भेंट होती है, वही स्वर सुनता हूँ, जब अवसर मिलता है उसका काम कर देता हूँ—और मन कहता है—यही तो जगह मिली है, ओ री अपरिचिता ! तुम्हारा परिचय पूरा नहीं हुआ, पूरा होगा भी नहीं; किन्तु मेरा भाग्य अच्छा है, मुझे जगह मिल चुकी है।

पात्र और पात्री

इसके पूर्व तितली[1] कभी मेरे भाग्य पर तो नहीं बैठी, किन्तु एक बार मेरे मानस-कमल पर जरूर बैठी थी; उस समय मेरी आयु सोलह की थी। इसके बाद कच्ची नींद में सहसा जगा देने से जैसे फिर नींद नहीं आती, वही दशा मेरी हुई।

मेरे बन्धु-बान्धवों में से कोई-कोई नारी-परिग्रह के मामले में दूसरा, यही नहीं, तीसरा प्रमोशन तक पा चुके थे, पर मैं कौमार्य की आखिरी बेंच पर बैठा-बैठा सूने संसार की कड़ियाँ गिनते-गिनते जीवन बिताता रहा।

मैंने चौदह वर्ष की अवस्था में मैट्रिक पास किया था। उस समय विवाह अथवा एन्ट्रेंस परीक्षा में आयु का कोई विचार नहीं होता था। मैंने पाठ्य-पुस्तकें कभी नहीं घोटी, इसीलिए मुझे कभी भी शारीरिक या मानसिक अजीर्ण नहीं भोगना पड़ा। जैसे चूहा दाँत गड़ाने लायक चीज पाते ही उसे काट डालता है, चाहे वह खाद्य हो या अखाद्य हो, वैसे ही छपी पुस्तक देखते ही पढ़ डालना मेरा बचपन से ही स्वभाव था। संसार में पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा अपाठ्य पुस्तकों की संख्या बहुत ज्यादा है, इसीलिए मेरे पुस्तक-सौरजगत् में स्कूल-पाठ्य-पृथिवी की अपेक्षा स्कूलातीत पाठ्य-पुस्तकों का सूर्य चौदह लाख गुना बड़ा था। फिर भी, अपने संस्कृत के पण्डितजी की कठोर भविष्यवाणी के बावजूद मैं परीक्षा में पास हो गया।

मेरे पिता डिप्टी-मजिस्ट्रेट थे। उस समय हम सातक्षीरा अथवा जहानाबाद या ऐसे ही किसी स्थान में थे। प्रारम्भ में ही कह देना अच्छा है, देश, काल एवं पात्र के सम्बन्ध में मेरे इस इतिहास में जो भी स्पष्ट उल्लेख होंगे वे सभी स्पष्ट रूप से कल्पित होंगे, जिनके लिए रस बोध की अपेक्षा कौतूहल बड़ा है, वे ठगे जायेंगे। पिताजी उस समय तहकीकात के लिए बाहर गये हुए थे। माँ का कोई व्रत था; दक्षिणा तथा भोजन के लिए उन्हें ब्राह्मण की आवश्यकता

---

१. बंगालियों में तितली का शरीर के किसी अंग पर बैठना विवाह-सम्बन्ध होने की सूचना का परिचायक है।

थी। इस प्रकार के पारमार्थिक कार्यों के लिए हमारे पण्डितजी माँ के प्रधान सहायक थे। इसी कारण माँ उनके प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ थीं, यद्यपि पिता के मन का भाव इससे बिलकुल उल्टा था।

आज भोजनोपरान्त दान-दक्षिणा की जो व्यवस्था हुई थी उसकी तालिका में मुझे भी रखा गया था। उस सम्बन्ध में जो विचार-विमर्श हुआ था उसका सार यह है—मेरा तो कलकत्ता कॉलेज में जाने का समय आ गया। ऐसी स्थिति में पुत्र-विच्छेद-दुःख को दूर करने के लिए किसी सदुपाय का अवलंबन लेना आवश्यक था। यदि एक शिशु-वधू माँ की गोद के समीप रहे तो उसका पालन-पोषण करने, देख-भाल करने में उनके दिन कट सकते हैं। पण्डितजी की लड़की काशीश्वरी इस काम के लिए उपयुक्त थी—कारण, वह शिशु भी थी, सुशील भी थी, और कुल-शास्त्र के गणित में उसका और मेरा एक-एक अंक मिलता था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के कन्याभारमोचन का पारमार्थिक फल भी लोभ की चीज़ थी।

माँ का मन विचलित हो गया। लड़की को एक बार देखने की आवश्यकता का आभास देते ही पण्डितजी बोले, 'उनकी पत्नी कल रात को ही लड़की को लेकर घर आ गई हैं।' माँ को पसन्द आने में देर न लगी; क्योंकि रुचि के साथ पुण्य के बँटवारों का योग होने के कारण सहज में ही वजन भारी हो गया। माँ बोलीं, 'लड़की सुलक्षणा है,'—अर्थात्, पूर्ण रूप से सुन्दरी न होने पर भी सान्त्वना का कारण थी।

बात धीरे-धीरे मेरे कानों तक पहुँची। जिन पण्डितजी के धातुरूप से मैं बराबर डरता आया था उन्हींकी कन्या के साथ मेरा विवाह-संबंध—इसकी असंगति ने मेरे मन को सबसे पहले बड़े जोर से आकर्षित किया। काल्पनिक कहानी की भाँति सहसा सुवन्त-प्रकरण मानो अपने सारे अनुस्वार-विसर्ग झाड़कर एकाएक राजकन्या बन गया हो।

एक दिन शाम को माँ ने अपने कमरे में बुलाकर मुझसे कहा, "सनु, पण्डितजी के घर से आम और मिठाई आई है, खाकर देख!"

माँ जानती थीं, मुझे पच्चीस आम खाने के लिए देने पर पच्चीस और आमों द्वारा उसकी पादपूर्ति कर देने पर ही मेरा छन्द मिलता था। अतः उन्होंने रसना के सरस पथ द्वारा मेरे हृदय का आह्वान किया। काशीश्वरी उनकी गोद में बैठी थी। स्मृति बहुत-कुछ अस्पष्ट हो गई है, किन्तु याद है—उसके जूड़े में पन्नी लिपटी हुई थी और देह पर कलकत्ता की दुकान की एक साटिन की जाकिट थी—नीले और लाल रंग का, लेस और फीते का वह मानो प्रत्यक्ष प्रलाप था।

जहाँ तक याद है—रंग साँवला था, भौंहें खूब घनी थीं; और आँखें पालतू जानवर की तरह बिना संकोच के ताक रही थीं। चेहरे का बाकी अंश तनिक भी याद नहीं आ रहा है—शायद विधाता के कारखाने में उसका गढ़ना उस समय भी पूरा नहीं हुआ था, केवल उसका थोड़ा-सा हिस्सा ही तैयार हुआ था और जो हो, देखने में निहायत भलीमानस-जैसी लगती थी।

मेरी छाती भीतर-ही-भीतर फूल उठी। मन-ही-मन सोचा, यह पन्नी-जटित वेणी वाली जाकेट घिरी वस्तु सोलहों आने मेरी है—मैं इसका प्रभु हूँ, मैं इसका देवता हूँ। अन्य सभी दुर्लभ वस्तुओं के लिए साधना करनी पड़ती है, बस इसी एक वस्तु के लिए नहीं; अपनी कन्नी उँगली उठाने की देर थी, विधाता यह वर देने के लिए मेरी खुशामद करते फिर रहे थे। माँ को मैं बराबर देखता आ रहा था, स्त्री शब्द का क्या अर्थ है, यह मुझे इसी सूत्र से ज्ञात हुआ था। मैंने देखा था, पिता, अन्य सम्पूर्ण व्रतों से अप्रसन्न थे, किन्तु सावित्री-व्रत के समय वे मुँह से चाहे जो कहें, मन-ही-मन बड़े आनन्द का अनुभव करते। माँ उन्हें प्यार करती थीं, यह जानता हूँ। पर पिताजी न जाने किस बात पर रुष्ट हो जायँ, किस पर झल्ला उठें, माँ के मन में हमेशा जो डर सदा बना रहता, पिताजी अपने सारे पौरुष द्वारा इसीके रस का सबसे ज्यादा उपभोग करते। पूजा से देवताओं का तो शायद कुछ ज्यादा आता-जाता नहीं, क्योंकि वह उनका उचित प्राप्य है, पर शायद मनुष्य के लिए वह अवैध प्राप्य है, इसीलिए उसका लोभ उसे आपे से बाहर कर देता है। उस बालिका के रूप-गुण के आकर्षण ने उस दिन मुझे प्रभावित नहीं किया था, किन्तु पूजनीय हूँ, यह बात उस चौदह वर्ष की अवस्था में ही मेरे पुरुष-रक्त में समा गई। उस दिन बड़े गौरव के साथ आम खाए, यही नहीं, मैंने गर्व से तीन आम थाली में ही छोड़ दिए, जो मेरे जीवन में पहले कभी नहीं हुआ; और सारा अपराह्ण-काल उसीकी अनुशोचना में बीता।

उस दिन काशीश्वरी को पता नहीं चला कि मेरे साथ उसका सम्बन्ध किस कोटि का था, किन्तु घर जाते ही शायद जान गई थी। उसके बाद जब भी उससे भेंट होती उसे घबराहट के मारे छिपने की भी जगह नहीं मिलती थी। मुझे देखकर उसकी यह घबराहट मुझे बड़ी अच्छी लगती। मेरा आविर्भाव विश्व की किसी एक जगह में किसी एक रूप में बड़े प्रबल प्रभाव का संचार करता है, यह प्राणी-विषयक रासायनिक तथ्य मुझे बड़ा मनोरम लगता था। मुझे देखकर भी कोई भयभीत या लज्जित हो सकता है, या कुछ कर सकता है, यह बड़ा अपूर्व था। काशीश्वरी अपने पलायन द्वारा ही मुझे जता जाती कि वह संसार में विशेष रूप से, सम्पूर्ण रूप से एवं घनिष्ठ रूप से मेरी ही थी।

इतने समय की अकिंचनता के पश्चात् अचानक क्षण-भर में ऐसा महत्वपूर्ण गौरव का पद पा जाने के कारण कुछ दिन तक मेरे सिर में रक्त सनसनाता रहा। पिताजी जिस तरह कर्त्तव्य की या रसोई की या व्यवहार की त्रुटियों को लेकर सर्वदा माँ को परेशान किये रहते थे, मैं भी मन-ही-मन उसीके चित्र पर हाथ फेरने लगा। पिताजी की इच्छा के विरुद्ध कोई काम करते समय माँ जिस प्रकार सावधानी से नाना प्रकार की सुन्दर युक्तियों द्वारा कार्य सम्पन्न करतीं, अपनी कल्पना में मैंने काशीश्वरी को भी उसी पथ पर प्रवृत्त होते देखा। बीच-बीच में मन-ही-मन मैं उसको स्वच्छन्द भाव से अकस्मात् बड़ी संख्या वाले बैंक-नोटों से लेकर हीरों के गहने तक भेंट करने लगा। किसी-किसी दिन भोजन करने के लिए बैठने पर भी उसका खाना नहीं हुआ एवं जंगले के पास बैठकर आँचल के छोर से आँसू पोंछती रही। यह करुण दृश्य भी मैंने कल्पना की आँखों से देख लिया और यह मुझे अत्यन्त खेदजनक लगा था, यह नहीं कह सकता। छोटे बच्चों की आत्म-निर्भरता के सम्बन्ध में पिताजी बहुत सतर्क थे। अपना कमरा ठीक करना, अपने कपड़े आदि रखना, सब मुझे अपने हाथों करना पड़ता। किन्तु, मेरे मन में गृहस्थी के जो चित्र स्पष्ट खिंच गए थे, उनमें से एक नीचे लिखता हूँ। कहना व्यर्थ है, मेरे पूर्वजों के इतिहास में ठीक इसी प्रकार की घटना एक बार पहले भी घटित हुई थी; इस कल्पना में मेरी कोई ओरिजिनैलिटी नहीं है। चित्र यह है—रविवार को दोपहर के भोजन के पश्चात् मैं खाट पर तकिया लगाये, पैर फैलाए अधलेटी अवस्था में अखबार पढ़ रहा था। हाथ में हुक्के की नली थी। हल्के तंद्रावेश में नली नीचे गिर गई बरामदे में बैठी काशीश्वरी धोबी को कपड़े दे रही थी; मैंने उसे बुलाया; उसने झटपट आकर नली उठाकर मेरे हाथ में दे दी। मैंने उससे कहा, 'देखो, मेरे बैठने के कमरे में बाईं ओर की आलमारी के तीसरे खाने में नीली जिल्द वाली मोटी-सी अंग्रेज़ी की एक पुस्तक है, उसे ले तो आओ!' काशी नीले रंग की कोई किताब ले आई; मैं बोला, 'अरे, यह नहीं; वह इससे मोटी है, और उसकी पीठ पर सुनहरे अक्षरों में नाम लिखा है।' इस बार वह एक हरे रंग की किताब ले आई—मैं उसे धम से ज़मीन पर पटककर क्रोध से उठ खड़ा हुआ। यह देखकर काशी का मुँह उतर गया और उसकी आँखें छलछला आईं। मैंने जाकर देखा, पुस्तक तीसरे खाने में नहीं थी, पाँचवें खाने में थी। हाथ में पुस्तक लिये चुपचाप आकर बिछौने पर लेट गया, किन्तु काशी से अपनी भूल की कोई चर्चा नहीं की। वह सिर झुकाए उदास होकर धोबी को कपड़े देने लगी और मूर्खता के कारण पति के विश्राम में व्याघात डाला है, इस अपराध को किसी भी तरह नहीं भूल सकी।

पिताजी डकैती की तहकीकात कर रहे थे और मेरे दिन इस प्रकार बीत रहे थे। इधर मेरे सम्बन्ध में पण्डितजी का व्यवहार और वार्तालाप क्षण-भर में कर्तृवाच्य से भाववाच्य में आ पहुँचा एवं वह अत्यन्त सद्भाववाच्य था।

तभी डकैती की तहकीकात खतम हो गई, पिताजी घर लौट आए। मैं जानता हूँ, माँ ने तय किया था कि वे धीरे-धीरे मौका देखकर घुमा-फिराकर पिताजी की विशेष प्रिय तरकारी बनाने के साथ-साथ क्रमशः सह्य बनाते हुए, बात छेड़ेंगी। पिताजी पण्डितजी को अर्थलोलुप समझकर घृणा करते थे; माँ अवश्य ही पहले पण्डितजी की हल्की-सी निंदा, साथ ही उनकी पत्नी तथा कन्या की पर्याप्त प्रशंसा करके बात प्रारम्भ करती। किन्तु, दुर्भाग्य से पण्डितजी की उत्फुल्ल प्रगल्भता के कारण बात चारों ओर फैल चुकी थी। विवाह पक्का है, मुहूरत देखा जा रहा है, किसी को यह बात बताना उन्होंने बाकी नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि विवाह के दिनों में उनको कुछ दिनों के लिए सरिस्तेदार बाबू के पक्के दालान की जरूरत पड़ेगी, यथास्थान यह बात भी उन्होंने तय कर रखी थी। शुभकर्म में यथासाध्य सभी उनकी सहायता करने को राजी हो गए थे। पिताजी की अदालत में वकीलों का दल चंदा करके विवाह का खर्च वहन करने के लिए राजी था। स्थानीय इन्ट्रेंस स्कूल के सेक्रेटरी वीरेश्वर बाबू का तीसरा लड़का तीसरे दर्जे में पढ़ता था, उसने चाँद और कुमुद के रूपक का सहारा लेकर इसी बीच में विवाह के सम्बन्ध में त्रिपदी छंद में एक कविता लिख डाली। सेक्रेटरी साहब ने वह कविता, गली-कूचे में जहाँ जो मिला उसी को घेर-घेरकर सुनाई। लड़के के सम्बन्ध में गाँव के लोग खूब आशान्वित हो उठे थे।

अतएव, लौटने पर बाहर ही पिताजी ने यह शुभ संवाद सुन लिया। उसके बाद माँ का रोना-धोना और भोजन-त्याग, घर-भर की घबराहट, नौकरों पर अकारण जुर्माना, इजलास में बड़ी तेजी से मामले डिस-मिस करना और बड़ी कड़ाई से दंड देना, पण्डितजी की पद-च्युति एवं पन्नी-जटित वेणी समेत काशीश्वरी को लेकर उनका अन्तर्धान होना—और छुट्टी समाप्त होने के पहले ही मातृसंग से विच्छिन्न करके मेरा जबरदस्ती कलकत्ता निर्वासन। मेरा मन फटी फुटबाल के समान बैठ गया—आकाश में, हवा में उसकी उछल-कूद बिलकुल बन्द हो गई।

: २ :

मेरे परिणय-पथ में प्रारम्भ में ही यह विघ्न आ पड़ा—उसके बाद मेरे प्रति तितली का व्यर्थ पक्षपात बार-बार होता रहा है। उसका विस्तृत विवरण देने

की इच्छा नहीं है—अपने इस विफलता के इतिहास के एक-दो संक्षिप्त नोट छोड़ जाऊँगा। बीस वर्ष की अवस्था होने के पहले ही मैं पूर्ण रूप से एम० ए० परीक्षा पास करके आँखों पर चश्मा लगाकर और मूँछों की रेखा को ताव देने के योग्य बनाकर बाहर निकला था। पिताजी उस समय रामपुर हाट या नोआ-खाली या वारासत अथवा ऐसी ही किसी जगह में थे। इतने दिन तक तो शब्द-सागर का मन्थन करके डिग्री-रत्न प्राप्त किया; अब अर्थसागर-मन्थन की बारी आई। पिताजी ने अपने बड़े-बड़े पेट्रन साहब लोगों का स्मरण किया तो देखा, कि उनके जो सबसे बड़े सहायक थे वे परलोक में थे, उनसे जो कम थे वे पेन्शन लेकर विलायत चले गए थे, जो और भी कम थे उनकी पंजाब बदली हो गई थी, और जो बंगाल में बाकी रह गए थे उनमें से अधिकांश प्रार्थी को प्रारम्भ में आश्वासन देते, किन्तु उपसंहार के समय उसका संहरण कर लेते। मेरे पिता-मह जब डिप्टी थे तब पृष्ठपोषकों का बाज़ार ऐसा ठण्डा नहीं था, अतएव उस समय नौकरी से पेन्शन एवं पेंशन से नौकरी एक ही वंश में नदी के इस पार उस पार आने-जाने वाले खेल की तरह चलती रहती। अब दिन खराब थे। इसलिए पिताजी जब चिंतित होकर सोच रहे थे कि उनके वंशधर को गवर्नमेंट ऑफ़िस के उच्च आसन से सौदागरी के कार्यालयों के नीचे पलड़े पर उतरना चाहिए या नहीं, तभी एक धनी ब्राह्मण की एक-मात्र कन्या उनके ध्यान में आई। ब्राह्मण ठेकेदार था, उनके अर्थागम का पथ प्रत्यक्ष भूतल की अपेक्षा अदृश्य रसातल की ओर से ही प्रशस्त था। वे जिस समय बड़े दिन के उपलक्ष्य में नारंगियाँ तथा अन्य उपहार-सामग्री यथायोग्य पात्रों को वितरित करने में व्यस्त थे, उसी समय उनके मुहल्ले में मेरा पदार्पण हुआ। पिताजी का मकान उनके घर के सामने था, बीच में एक सड़क थी। कहना व्यर्थ है, डिप्टी का एम० ए० पास लड़का लड़की वाले पक्ष के लिए अत्यन्त 'प्रांशुलभ्य फल' था। इसलिए कन्ट्रेक्टर महाशय मेरे प्रति 'उद्‌बाहु' हो उठे। उनके बाहु आधूलि लंबे थे यह पहले ही बता दिया है—अन्ततः वे बाहु डिप्टी महाशय के हृदय तक अनायास ही पहुँच गए। किन्तु मेरा हृदय उस समय उससे भी काफ़ी ऊँचे पर था।

क्योंकि मेरी आयु उस समय बीस पार करने पर थी, उस समय खरे स्त्री-रत्न के अतिरिक्त अन्य किसी रत्न के प्रति मेरा लोभ नहीं था। केवल यही नहीं, उस समय भी भावुकता की दीप्ति मेरे मन में स्पष्ट थी। अर्थात्, सह-धर्मिणी शब्द का जो अर्थ मेरे मन में था वह अर्थ बाज़ार में प्रचलित नहीं था। वर्तमान समय में हमारे देश में संसार चारों ओर से संकुचित हो गया है; मनन,

साधन के अवसर पर मन को ज्ञान और भाव के उदार क्षेत्र में लगाए रखना और व्यवहार के समय उसको उस जगत् के अत्यन्त छोटे आकार के अनुरूप छोटा बनाना, यह मैं मन में भी सहन नहीं कर पाता था। जिस स्त्री को आइडियल के पथ की संगिनी बनाना चाहूँ वही स्त्री घर-गृहस्थी की कैद में पैरों की बेड़ी बन जाय एवं प्रत्येक पदक्षेप मे झंकार करके पीछे खींचती रहे, इस प्रकार के दुराग्रह को स्वीकार कर लेने के लिए मैं तैयार नहीं था। असल बात यह थी, हमारे देश के प्रहसन में आधुनिक कहकर जिस पर व्यंग करते हैं कॉलेज से हाल ही में निकलकर मैं उसी प्रकार का पूर्ण आधुनिक बन गया था। हमारे समय में इन आधुनिकों का दल आज की अपेक्षा बहुत बड़ा था। आश्चर्य यह है कि वे वास्तव में विश्वास करते थे कि समाज को मानकर चलना दुर्गति है और उसको घसीटे लिये चलना ही उन्नति।

सो यों मैं श्रीयुक्त सनत्कुमार, एक बलशाली कन्या-दाय-ग्रस्त व्यक्ति के रुपयों की खुली थैली के मुंह के सामने आ पड़ा। पिताजी बोले, 'शुभस्य शीघ्रम्'। मैं चुप लगाए रहा; सोचा, कि कुछ देख-सुन, सोच-समझ तो लूं। आंख, कान खुले रखे—थोड़ा-सा देखा और बहुत-सा सुना। लड़की गुड़िया के समान छोटी और सुन्दर थी—उसको देखकर यह नहीं लगता था कि वह स्वाभाविक नियमों द्वारा निर्मित है उसका एक-एक बाल सँभालकर उसकी भौंहें आंककर न जाने किसने उसे अपने हाथों से गढ़ा था। वह संस्कृत का गंगास्तव मुँहज़ुबानी सुना सकती थी। उसकी माँ पत्थर के कोयले तक को गंगा-जल से धोकर भोजन पकाती थी; जीवधात्री वसुन्धरा के नाना जातियों को धारण करने के कारण उसका स्पर्श करने में वे हमेशा संकोच करती थीं; वे अधिकांशतः जल का ही व्यवहार करती थीं; क्योंकि जलचर मत्स्यादि मुसलमान-वंशीय नहीं हैं और जल में प्याज नहीं होता। उनके जीवन का मुख्य काम अपनी देह, घर, कपड़े-लत्ते, हांडी-बटलोई, खाट-पलंग, बर्तनादि को साफ़ करना और मांजना था। सारा काम पूरा करने में लगभग ढाई बज जाते। अपनी लड़की को उन्होंने अपने हाथ से एड़ी से चोटी तक इस प्रकार परिमार्जित कर दिया था कि उसका अपना मन या अपनी इच्छा नाम की कोई बला नहीं रह गई थी। किसी व्यवस्था में कितनी भी असुविधा क्यों न हो, उसका पालन करना उसके लिए सहज होता, यदि उसका कोई संगत कारण उसको नहीं समझा दिया जाता। भोजन करते समय अच्छा कपड़ा नहीं पहनती कि कहीं सखरा न हो जाय; उसने छाया तक का विचार करना सीखा था। वह जिस प्रकार पालकी के भीतर बैठकर ही गंगा-स्नान करती थी, उसी प्रकार अठारह पुराणों से घिरी रहकर गृहस्थी में चलती-

फिरती। विधि-विधानों में मेरी माँ की भी पर्याप्त श्रद्धा थी, किन्तु उनसे भी अधिक श्रद्धा किसी और को हो और उसको लेकर वह मन-ही-मन घमण्ड करे यह वे नहीं सह सकती थीं। इसलिए जब मैंने उनसे कहा, "माँ, इस लड़की के योग्य पात्र मैं नहीं हूँ" तो उन्होंने हँसकर कहा, "ठीक है, कलियुग में ऐसा पात्र मिलना मुश्किल है!"

मैं बोला, "तो मैं विदा लूँ!"

माँ बोली, "यह क्या, सुनु, क्या तुझे पसन्द नहीं आई? क्यों, लड़की देखने में तो अच्छी है।"

मैंने कहा, "माँ, पत्नी केवल निहारने के लिए तो होती नहीं, उसमें बुद्धि भी तो होनी चाहिए।"

माँ बोलीं, "देखो जरा इसी बीच तुझे उसकी कम बुद्धि का ऐसा क्या परिचय मिल गया।"

मैंने कहा, "यदि बुद्धि होती तो मनुष्य दिन-रात ये निरर्थक काम लेकर रह ही नहीं पाता। घुट-घुटकर मर जाता।"

माँ का मुँह सूख गया। वे जानती थीं, उस विवाह के सम्बन्ध में पिताजी ने दूसरे पक्ष से प्रायः बात पक्की कर ली है। वे यह भी जानती थीं कि पिताजी प्रायः यह भूल जाते थे कि दूसरे व्यक्तियों में भी इच्छा नामक बला हो सकती है। वस्तुतः, पिताजी यदि बहुत ज्यादा क्रोध या जबर्दस्ती न करते तो शायद कालान्तर में उस पौराणिक गुड़िया के साथ विवाह करके मैं भी एक दिन प्रबल भक्ति-भाव से स्नान, दैनिक कर्म व्रत-उपवास करते-करते गंगा के किनारे सद्-गति-लाभ कर लेता। अर्थात्, माँ के ऊपर यदि यह विवाह करने का भार रहता तो वे हाथ में समय लेकर धैर्यपूर्वक सुयोगानुसार क्षण-क्षण कान में मंत्र देकर हर क्षण आँसू बहाकर कार्य सम्पन्न करा सकती थीं। पिताजी जब बार-बार डाटने-फटकारने लगे तो मैंने उनसे निराश होकर कहा, "आपने मुझे बचपन से ही खाने-पीने, चलने-फिरने में आत्म-निर्भरता का उपदेश दिया है, केवल विवाह के समय ही क्या आत्म-निर्भरता नहीं चलेगी। कॉलेज में लॉजिक में पास होने के अलावा न्याय-शास्त्र के बल पर किसी ने कभी सफलता प्राप्त की हो, यह मैंने नहीं देखा। संगत युक्ति कुतर्क की अग्नि के सामने कभी जल का कार्य नहीं करती, बल्कि तेल का ही काम करती है। पिताजी ने सोच रखा था कि उन्होंने दूसरे पक्ष को वचन दे दिया है। अतः विवाह के औचित्य के सम्बन्ध में इससे बड़ा प्रमाण और कुछ नहीं हो सकता और यदि मैं उनको स्मरण करा देता कि पण्डितजी को एक दिन माँ ने भी वचन दिया था फिर भी उसी बात के

कारण केवल मेरा विवाह ही भग नहीं हुआ साथ ही पण्डितजी की जीविका भी चली गई—तो इसको लेकर फौजदारी हो जाती। बुद्धि-विचार एवं रुचि की अपेक्षा शुचिता, मंत्र-तन्त्र, क्रिया-कर्म कहीं अधिक अच्छे हैं, उनका कवित्व गम्भीर और सुन्दर होता है, उनमें निष्ठा रखना बहुत श्रेष्ठ और उनका फल अति उत्तम होता है, सिम्बोलिज्म ही आइडियलिज्म है—आदि बातें पिताजी आजकल मुझे सुना-सुनाकर अवसर-कुअवसर आलोचना करते। मैंने जीभ रोक रखी थी, किन्तु मन को तो मौन नहीं रख सकता था। जो बात मुँह तक आकर लौट जाती थी वह यह थी कि 'यदि आप यह सब मानते हैं तो जब पालते हैं तो मुरगी क्यों पालते हैं, और भी एक बात मन में आती। पिता ने ही एक दिन दिन-मुहूर्त्त, व्रत-पर्व, विधि-निषेध, दान-दक्षिणा को लेकर अपनी असुविधा या क्षति होने पर माँ को कठोर भाषा में इन सब अनुष्ठानों की निरर्थकता को लेकर फटकारा था। माँ ने तब दीनता स्वीकार की थी, अबला-जाति को स्वभाव से ही नासमझ मान सिर झुकाकर खीझ के आघात को सहते हुए ब्राह्मण-भोजन के विस्तृत आयोजन में प्रवृत्त हुई थीं। किन्तु विश्वकर्मा ने जीव को लॉजिक के पक्के साँचे में ढालकर नहीं बनाया है। अतएव अमुक व्यक्ति की बात या कार्य में संगति नहीं है यह कहकर उसको वश में नहीं किया जा सकता, केवल अप्रसन्न किया जा सकता है। न्याय-शास्त्र की दुहाई देने से अन्याय की प्रचण्डता का वेग बढ़ जाता है— जो लोग पॉलिटिकल या गार्हस्थ्य एजिटेशन में श्रद्धा रखते हैं उनको यह बात याद रखनी चाहिए। जब घोड़ा अपने पीछे की गाड़ी को अन्याय समझकर उस पर दुलत्ती झाड़ता है तो अन्याय तो बना ही रहता है, ऊपर से उसके पैर भी जखमी हो जाते है। यौवन के आवेग में थोड़ा-सा तर्क करने पर मेरी भी वैसी ही दशा हुई। पौराणिकी लड़की के हाथों से मुक्ति तो अवश्य मिली, किन्तु पिता के आधुनिक युग के तहबील का आश्रय भी खो दिया। पिता ने कहा, "जाओ, तुम आत्मनिर्भर रहो!"

मैंने प्रणाम् करके कहा, "जो आज्ञा।"

माँ बैठी-बैठी रोने लगी।

पिता का दाहिना हाथ तो जरूर विमुख हो गया, किन्तु बीच में माँ होने के कारण कभी-कभी मनिऑर्डर के हरकारे के दर्शन हो जाते थे। बादलों ने वर्षा बन्द कर दी, किन्तु छिपे-छिपे स्निग्ध रात्रि में ओस-जल का अभिषेक चलने लगा। उसीके बल पर व्यवसाय शुरू कर दिया। ठीक उन्नासी रुपये से प्रारंभ किया था। अब उस कार-बार में जितना मूलधन लगा था वह ईर्ष्यापूर्ण जनश्रुति से बहुत कम होने पर भी बीस लाख रुपये से कम नहीं था।

तितली का प्यादा मेरे पीछे-पीछे फिरने लगा। पहले जो सब द्वार बन्द थे अब उनमें अर्गला नहीं रही। मुझे याद है, एक दिन यौवन की अदम्य दुराशा में एक षोडशी के प्रति (आयु का अंक अब के निष्ठावान् पाठकों के भय से कुछ सहनीय बनाकर कहा है) अपने हृदय को उन्मुख किया था, किन्तु पता लगा कि कन्या के मातृपक्ष की निगाह सिविलियनों की ओर थी—कम-से-कम बैरिस्टर के नीचे उनकी निगाह नहीं जाती थी। मैं उनके मनोयोग-मीटर के ज़ीरो प्वाइंट से भी नीचे था। किन्तु, बाद में उसी घर में एक दिन केवल चाय ही नहीं, लंच खाया, रात में डिनर के बाद लड़कियों के साथ ह्विस्ट[1] खेला, उनके मुँह से एकदम ठेठ विलायती अँग्रेज़ी में बातें सुनीं। मेरी कठिनाई यह थी कि मैंने रसेलस, डेज़र्टेड विलेज, एवं एडीसन स्टील पढ़कर अपनी अँग्रेज़ी पक्की की थी, इस लड़की से होड़ बदना मेरे वश का नहीं था। ओ माइ, ओ डियर, ओ डियर आदि शब्द मेरे मुँह से ठीक स्वर में निकलना ही नहीं चाहते थे। मेरा जितना ज्ञान था उससे मैं बिलकुल सरल अंग्रेज़ी भाषा में बड़ी कठिनाई से हाट-बाज़ार में खरीद-बिक्री कर सकता था, किन्तु बीसवीं शताब्दी की अँग्रेज़ी में प्रेमालाप करने की बात याद आते ही मेरा प्रेम ही भाग खड़ा होता। और उसके मुँह में बंगला भाषा का जिस प्रकार दुर्भिक्ष था उससे उसके साथ शुद्ध बंकिमी भाषा में मधुरालाप करने का प्रयत्न करने पर घाटा ही रहता। उससे पूरी मजूरी वसूल न होती। खैर जो हो, ऐसी विलायती मुलम्मेदार लड़की भी एक दिन मेरे लिए सुलभ थी। किन्तु बन्द दरवाज़े के छेद से जो मायानगरी देखी थी दरवाज़ा खुलने पर फिर उसका पता नहीं चला। उस समय मुझे बार-बार लगने लगा कि मेरी वह व्रतचारिणी निरर्थक नियमों की निरन्तर पुनरावृत्ति के चक्र में अहोरात्रि चक्कर लगाती हुई अपनी जिस जड़बुद्धि को तृप्त करती थी, ये लड़कियाँ भी ठीक वैसी ही बुद्धि से विलायती चाल-चलन, अदब-कायदों के सारे तुच्छातितुच्छ उपसर्गों की प्रदक्षिणा करके दिन-पर-दिन, वर्ष के बाद वर्ष अनायास से अक्लान्तचित्त से काट देती हैं। जिस प्रकार वह छूत स्नान की लेश-मात्र त्रुटि देखते ही अश्रद्धा से रोमांचित हो उठती, ये भी एक्सेंट में थोड़ी त्रुटि होने अथवा काँटे-चम्मच के प्रयोग में थोड़ी भूल देखते ही ठीक उसी प्रकार अपराधी व्यक्ति के मनुष्यत्व के सम्बन्ध में सन्देह करने लगतीं, वे देशी गुड़ियाँ थीं ये विदेशी गुड़ियाँ। ये मन की गति के वेग के अनुसार नहीं चलती, अभ्यास की चाबी या कल ही इनको चलाती है। परिणाम यह हुआ कि मुझे मन-ही-मन स्त्री जाति के ही ऊपर अश्रद्धा हो गई; मेरी धारणा हो गई कि जब उनमें बुद्धि की ही कमी है तब वे स्नान-आचमन-

१. ताश का एक खेल।

उपवास, अकर्म-कण्ड की अधिकता के बिना जिएँ भी कैसे ! पुस्तकों में पढ़ा था कि ऐसे प्राणी भी होते हैं जो बराबर चक्कर काटते रहते हैं। किन्तु, मनुष्य चक्कर नहीं लगाता, मनुष्य चलता है। उन जीवाणुओं के परिवर्धित संस्करणों के साथ ही क्या विधाता ने हतभागे पुरुषों के विवाह का सम्बन्ध निश्चित किया है !

दूसरी ओर जैसे-जैसे आयु बढ़ने लगी वैसे ही विवाह के सम्बन्ध में द्विधा भी बढ़ने लगी। मनुष्य की एक अवस्था होती है जब वह चिन्ता किये बिना ही विवाह कर सकता है। वह अवस्था पार हो जाने पर विवाह करने में दुःसाहस की आवश्यकता होती है। मैं उन बेपरवाहों के दल में से नहीं था। इसके अतिरिक्त कोई अच्छी-भली लड़की बिना कारण एक दम मेरे साथ क्यों विवाह कर लेगी, यह मैं किसी तरह नहीं समझ सकता था। सुना था प्रेम अन्धा होता है, किन्तु यहाँ उस अन्धे के ऊपर तो कोई भार था नहीं। संसारी बुद्धि के पास तो दो से भी ज्यादा नेत्र होते हैं—वे नेत्र जब बिना नशे के मेरी ओर ताकने लगते तब मुझमें क्या देख पाते थे, मैं यही सोचा करता था। मुझमें अवश्य ही अनेक गुण थे, पर उनको पहचानने में तो देर लगती, एक ही नजर में तो समझे नहीं जा सकते थे। मेरी नाक में जो छोटाई है उसको बुद्धि की प्रखरता ने पूरा कर दिया था यह मैं जानता था; किन्तु नाक तो रहती है प्रत्यक्ष और बुद्धि को भगवान् ने निराकार कर डाला है। जो हो, जब देखता कि कोई वयःप्राप्त लड़की अत्यल्प समय के नोटिस पर भी मुझसे विवाह करने में जरा भी आपत्ति न करती, तब लड़कियों के प्रति मेरी श्रद्धा और भी घट जाती। यदि मैं लड़की होता तो श्रीयुत् सनत्कुमार की अपनी छोटी नाक की लम्बी साँस से उसकी आशा और अहंकार धूल में मिल जाते।

इस प्रकार विवाह के बोझ से मुक्त मेरी नाव बीच-बीच में किनारे को तो छू जाती—किन्तु घाट पर आकर नहीं लगी। पत्नी के अलावा संसार के अन्यान्य उपकरण, व्यवसाय की उन्नति के साथ बढ़ते चले गए। एक बात भूल गया था, आयु भी बढ़ती जा रही है। सहसा एक घटना ने इसका स्मरण करा दिया।

अभ्रक की खान खोजते-खोजते छोटा नागपुर के एक शहर में जाकर देखा, पण्डितजी वहाँ शालवन की छाया में एक छोटी-सी नदी के किनारे अच्छा-खासा घर बनाए बैठे हैं। उनका लड़का वहाँ काम करता था। इसी शालवन में मेरा तंबू लगा था। उन दिनों देश-भर में मेरे वैभव की ख्याति थी। पंडितजी ने कहा कि कालान्तर में मैं असाधारण व्यक्ति बनूंगा यह वे पहले ही जानते थे। हो सकता है, किन्तु यह बात उन्होंने आश्चर्यपूर्ण ढंग से छिपा रखी थी। इसके

अतिरिक्त किन लक्षणों से उनको यह ज्ञात हुआ था यह मैं नहीं कह सकता। कदाचित् असाधारण लोगों को छात्रावस्था में षत्वणत्व ज्ञान[1] नहीं होता। काशीश्वरी ससुराल में थी। अतः बिना बाधा के मैं पण्डितजी के घर का आदमी हो गया। कई वर्ष पहले उनका पत्नी की वियोग हो चुका था—किन्तु वे नातिनियों से घिरे थे। सब उनकी अपनी नहीं थीं, उनमें से दो उनके स्वर्गवासी बड़े भाई की थीं। वृद्ध ने इनसे अपनी वृद्धावस्था के अपराह्न को नाना रंगों से रंगीन बना लिया था। उनके 'अमरुशतक', 'आर्या सप्तशती', 'हंसदूत', 'पदाङ्कदूत' के श्लोकों की धारा शिलाओं के चारों ओर पर्वतीय नदी के फेनोच्छल प्रवाह के समान इन बालिकाओं को घेरकर सहास्य ध्वनित हो रही थीं।

मैंने हँसते हुए कहा, "पण्डितजी, मामला क्या है।"

उन्होंने कहा, "बेटा, तुम्हारे अंग्रेजी शास्त्र में कहा है कि शनि ग्रह चाँद की माला पहने रहते हैं—यह मेरी वही चाँद की माला है।"

उस दरिद्र परिवार का यह दृश्य देखकर अचानक मुझे याद आया कि मैं अकेला हूँ। 'मुझे अनुभव हुआ मैं अपने बोझ से स्वयं थक गया हूँ। पण्डितजी नहीं जानते थे कि कि वे वृद्ध हो गए हैं', किन्तु मैं हो गया था यह मैंने स्पष्ट रूप से जान लिया था। वृद्ध हो गया हूँ। कहने का तात्पर्य यह था कि अपने चारों ओर के जगत् को पार कर आया हूँ, चारों ओर से ढील पड़ जाने के कारण दरारें हो गई हैं। ये दरारें रुपयों से, ख्याति से नही भरी जा सकतीं। धरती से रस नहीं मिल रहा था, केवल वस्तु संग्रह कर रहा था, इसकी व्यर्थता को अभ्यासवशतः भूले हुए रहा जा सकता था। किन्तु जब पण्डितजी का घर देखा तब समझा, मेरे दिन शुष्क थे, रातें शून्य। पण्डितजी पूर्ण रूप से तय किये बैठे थे कि मैं उनकी अपेक्षा भाग्यवान् पुरुष था—यह बात सोचकर मुझे हँसी आई। इस वस्तु-जगत् को एक अदृश्य आनन्द-लोक घेरे हुए है। उस आनन्दलोक के साथ हमारे जीवन का योगसूत्र न रहने पर हम त्रिशङ्कु के समान शून्य में घूमते रहते हैं। पण्डितजी के साथ वह योग था, मेरे साथ नहीं, यही अंतर था। मैं आराम-कुर्सी के दोनों बाजुओं पर दोनों पैर रखकर सिगरेट पीते-पीते सोचने लगा, पुरुष के जीवन के चार आश्रमों के चार अधिदेवता हैं। बाल्यावस्था में माँ, यौवनावस्था में पत्नी, प्रौढ़ावस्था में कन्या, पुत्रवधू, वृद्धावस्था में नातिनी, नात-बहू। इस प्रकार स्त्री के द्वारा पुरुष अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। इस तत्व ने मुझे उस मर्मरित शाल-वन मे अभिभूत कर लिया। मन के सामन अपनी भावी वृद्धावस्था के अन्तिम छोर तक झाँककर देखा—देखकर उसकी निरतिशय

१. 'ष' और 'ण' की व्यवहार-विधि का ज्ञान॥

नीरसता से हृदय हाहाकार करने लगा। उस मरुपथ में होकर मुनाफ़े के बोझ को सिर पर लादे हुए न जाने कहाँ जाकर मुँह के बल गिरकर मर जाऊँगा! अब और देर करना ठीक न होगा। इस समय चालीस पार कर गया हूँ—यौवन की बाकी थैली को झटक लेने के लिए पचासवीं रास्ते के किनारे बैठी हुई है, उसकी लाठी का सिरा यहाँ से दिखाई दे रहा है। अब जेब की बात छोड़कर थोड़ी जीवन की बात सोच देखूँ। किन्तु, जीवन का जो भाग स्थगित रह गया है उसमें तो लौटकर जाया नहीं जा सकता। तो भी उसके छेद में पैबन्द लगाने का सारा समय अब भी नहीं बीता है।

कार्यवश यहाँ से पश्चिम के एक शहर में जाना पड़ा। वहाँ विश्वपति बाबू एक धनी बंगाली महाजन थे। उनके साथ मुझे काम के बारे में बातें करनी थीं। आदमी बड़े होशियार थे, अतः उनके साथ कोई बात पक्की करने में काफ़ी समय लगता था। एक दिन खीझकर जब सोच रहा था, इनके साथ काम करने में मुझे सुभीता नहीं होगा, यही नहीं, नौकर को अपना सामान पैक करने के लिए कह चुका था, तभी विश्वपति बाबू संध्या-समय मुझसे आकर बोले, "आपकी तो निश्चय ही अनेक प्रकार के लोगों से जान-पहचान होगी, अगर आप जरा ध्यान दें तो एक विधवा बच सकती है।"

घटना यह है—

नन्दकृष्ण बाबू बरेली में पहले एक बंगाली-अंग्रेज़ी स्कूल में हेडमास्टर होकर आए थे। खूब अच्छा काम करते थे। सभी को अचंभा हुआ था—ऐसा सुयोग्य सुशिक्षित व्यक्ति घर छोड़कर, इतनी दूर, साधारण वेतन पर नौकरी करने क्यों आया! केवल परीक्षा पास कराने के लिए ही उनकी ख्याति हो, ऐसा नहीं, सभी भले कामों में वे हाथ लगाते थे। इस बीच न जाने कैसे बात फैल गई कि उनकी स्त्री रूपवती अवश्य है किन्तु कुलीन नहीं, किसी मामूली जाति की लड़की है। यहाँ तक कि उनके स्पर्श करने पर जल पीने योग्य नहीं रहता और अन्यान्य भीतरी सात्त्विक गुण नष्ट हो जाते हैं। जब उनको सभी ने घर दबाया तो वे बोले, 'हाँ, जात की छोटी है, किन्तु फिर भी मेरी पत्नी है।' तब प्रश्न उठा, 'ऐसा विवाह वैध कैसे हुआ!' जिन्होंने प्रश्न किया उनसे नन्दकृष्ण बाबू ने कहा, "आपने तो शालग्राम को साक्षी करके एक के बाद एक दो स्त्रियों के साथ विवाह किया है, और द्विवचन से भी सन्तुष्ट नहीं हैं इसके अनेक प्रमाण दिए हैं। शालग्राम की बात नहीं कह सकता किन्तु अन्तर्यामी जानते हैं, मेरा विवाह आपके विवाह की अपेक्षा अधिक वैध है—प्रतिदिन प्रतिक्षण वैध है—आपके साथ मैं इससे अधिक आलोचना करना नहीं चाहता।"

जिनसे नन्दकृष्ण ने यह बात कही वे खुश नहीं हुए। तिस पर उनमें लोगों का अनिष्ट करने की असामान्य क्षमता भी थी। फलस्वरूप इस उपद्रव के कारण नन्दकृष्ण ने बरेली छोड़कर इस वर्तमान शहर में आकर वकालत शुरू की। आदमी अत्यन्त कट्टर प्रकृति के थे—भूखे रहने पर भी झूठा मुकद्दमा वे किसी तरह न लेते थे। पहले उनको इससे चाहे कितनी असुविधा हुई हो, अन्त में उन्नति होने लगी। क्योंकि हाकिम उनका पूरा विश्वास करते थे। एक घर बनाकर जरा जमकर बैठे ही थे कि देश में दुर्भिक्ष पड़ा। देश उजाड़ हो रहा था। जिनके ऊपर सहायता वितरण करने का भार था उनमें से किसी-किसी ने चोरी की थी। मजिस्ट्रेट से उनके यह कहने पर मजिस्ट्रेट ने उनसे कहा, "सच्चे आदमी मिलें कहाँ?"

उन्होंने कहा, "यदि मुझ पर विश्वास करें तो इस काम का कुछ भार मैं ले सकता हूँ।"

उनको भार सौंप दिया गया और यह भार ढोते हुए ही एक दिन दोपहर को मैदान में पेड़ के नीचे वे मर गए। डॉक्टर ने कहा, 'उनके हृदय की गति बन्द होने के कारण मृत्यु हुई है।'

इतनी कहानी मेरी पहले से ही जानी हुई थी। न जाने कैसे किसी ऊँचे आदर्श की झोंक में मैंने अपने क्लब मे उन्हीं की बात चलाकर कहा था, "इन नन्दकृष्ण के समान जो आदमी संसार में असफल होकर सूखकर मर गए है—न नाम छोड़ने की चिन्ता की, न रुपया जमा किया—वे ही भगवान् के सहयोगी होकर संसार को ऊपर की ओर—"

इतना कह पाया था कि पाल तनी हुई नौका के अकस्मात् किनारे से छू जाने के समान, मेरी बात बीच में ही बन्द हो गई। क्योंकि, हम में से एक खूब सम्पत्ति और प्रतिष्ठावान् व्यक्ति अखबार पढ़ रहे थे—वे अपने चश्मे के ऊपर से मेरी ओर दृष्टि डालकर बोल उठे, "हियर, हियर!"

जाने दो। सुना गया कि नन्दकृष्ण की विधवा स्त्री अपनी इकलौती लड़की के साथ इसी मुहल्ले में रहती हैं। दीवाली की रात को पैदा होने के कारण बाप ने उसका नाम दीपालि रखा था। विधवा को किसी समाज में स्थान न मिलने के कारण उन्होंने बिलकुल अकेली रहकर इस लड़की को लिखना-पढ़ना सिखाकर पाला-पोसा। उस समय लड़की की आयु पच्चीस से ऊपर होगी। माँ का शरीर रुग्ण था और आयु भी कम नहीं थी—किसी दिन वे मर जायँगी, इस लड़की का कहीं कोई ठिकाना नहीं होगा। विश्वपति ने मुझसे विशेष अनुनय करते हुए कहा, "यदि इसके लिए कोई पात्र ढूँढ दें तो बड़ा

पुण्य हो।"

विश्वपति को शुष्क, स्वार्थपरायण मूर्खतापूर्ण कामों में रत व्यक्ति समझकर मैंने मन-ही-मन उसकी कुछ अवज्ञा की थी। विधवा की अनाथा लड़की के लिए उनका ऐसा आग्रह देखकर मेरा मन विचलित हो गया। सोचा, पुरानी दुनिया के मृत मैमथ के पेट में से खाद्य बीज निकालकर, बोकर देखा गया है कि उसमें से अंकुर निकले हैं—उसी प्रकार मनुष्य का मनुष्यत्व विपुल-मृत-स्तूप के बीच रहते हुए भी पूर्ण रूप से मरना नहीं चाहता।

मैंने विश्वपति से कहा, "पात्र मेरा परिचित है, कोई बाधा नहीं पड़ेगी। आप लोग बात एवं दिन पक्का करें।"

"किन्तु लड़की को देखे बिना तो और––"

"बिना देखे ही हो जायगा।"

"किन्तु, पात्र को यदि सम्पत्ति का लोभ हो तो बहुत ज्यादा नहीं है। माँ के मरने पर केवल यह घर मिलेगा, शायद थोड़ा-बहुत और मिल जाय।"

"पात्र की अपनी सम्पत्ति है, उसके लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।"

"उनका नाम, विवरण आदि—"

"यह अभी नहीं बताऊँगा, क्योंकि चर्चा फैलने पर विवाह में बाधा पड़ सकती है।"

"लड़की की माँ को तो उसका कुछ विवरण देना पड़ेगा।"

"कह दें, व्यक्ति अन्य साधारण मनुष्यों के समान गुण-दोषों से युक्त है। दोष इतने अधिक नहीं हैं, जिनके लिए चिंतित होना पड़े; गुण भी इतने अधिक नहीं हैं कि लोभ हो। जहाँ तक मैं जानता हूँ इन बातों से कन्याओं के माता-पिता उसे विशेष रूप से पसन्द करते हैं; स्वयं कन्याओं के अपने मन की बात का ठीक पता नहीं चल पाया।"

विश्वपति बाबू इस मामले से जब अत्यन्त कृतज्ञ हुए तो उनके प्रति मेरी भक्ति बढ़ गई। उसके पहले जिस कार-बार में उनके साथ मेरी दरें तय नहीं हो रही थीं, उसमें नुकसान सहकर भी मैं रजिस्ट्री प्रमाण-पत्र सही कराने के लिए उत्सुक था। जाते समय वे कह गए, "पात्र से कहिएगा, अन्य बातों में जैसी भी हो, ऐसी गुणवती लड़की कहीं नहीं मिलेगी।"

जो कन्या समाज के आश्रय और आदर से वंचित है उसे यदि हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया जाय तो क्या वह अपने-आपको उत्सर्ग करने में तनिक भी कृपणता करेगी? जिस लड़की की आशाएं बड़ी होती हैं उसीकी आशा का

अन्त नहीं होता। किन्तु इस दीपालि का दीपक मिट्टी का था, अतः मेरे मिट्टी के घर के कोने में उसकी ज्योति की हेठी न होगी।

सन्ध्या समय रोशनी जलाकर विलायती अखबार पढ़ रहा था कि सूचना मिली, एक लड़की मुझसे मिलने आई है। घर में कोई महिला नहीं थी, इसलिए मैं परेशान हो उठा। कोई शिष्ट उपाय सोच पाऊँ इसके पहले ही लड़की ने कमरे में आकर प्रणाम किया। बाहर से किसी को विश्वास नहीं होगा, किन्तु मैं बहुत ही लजीला आदमी हूँ। न मैंने उसके मुँह की ओर देखा, न कोई बात कही। वह बोली, "मेरा नाम दीपालि है।"

गला बड़ा मीठा था। साहस करके मुँह की ओर देखा, वह चेहरा बुद्धि और कोमलता से सिक्त था। सिर पर पल्ला नहीं था—सादी देशी धोती आजकल के फैशन के अनुसार पहने हुए थी। क्या बात करूँ यही सोच रहा था कि इतने में वह बोली, "मेरे विवाह के लिए आप कोई प्रयत्न न करें।"

और जो हो, दीपालि के मुँह से इस प्रकार की आपत्ति की मैंने प्रत्याशा नहीं की थी। मैंने सोच रखा था, 'विवाह के प्रस्ताव से उसके देह मन, प्राण कृतज्ञता से भर उठेंगे।'

पूछा, "ज्ञात अज्ञात किसी भी व्यक्ति से तुम विवाह नहीं करोगी?"

उसने कहा, "नहीं, किसी व्यक्ति से नहीं।"

यद्यपि मनस्तत्त्व की अपेक्षा वस्तुतत्त्व की मेरी अभिज्ञता अधिक है—विशेष रूप से नारी का मन मेरे लिए बँगला हिज्जों से भी कठिन है, तो भी बात का सीधा अर्थ मुझे सच्चा अर्थ प्रतीत नहीं हुआ। मैंने कहा, "जो पात्र मैंने तुम्हारे लिए चुना है वह अवज्ञा करने योग्य नहीं है।"

दीपालि बोली, "मैंने उनकी अवज्ञा नहीं की, किन्तु मैं विवाह नहीं करूँगी।"

मैंने कहा, "वह व्यक्ति भी सच्चे मन से तुम पर श्रद्धा करता है।"

"किन्तु, नहीं, मुझसे विवाह करने के लिए न कहें।"

"अच्छा, नहीं कहूँगा, किन्तु क्या मैं तुम्हारे किसी काम नहीं आ सकता।"

"मेरे लिए यदि लड़कियों के किसी स्कूल में पढ़ाने का काम जुटाकर मुझे यहाँ से कलकत्ता ले चलें तो बड़ा उपकार हो।"

मैं बोला, "काम मौजूद है, जुटा सकूँगा।"

यह बात पूरी तौर पर सच नहीं थी। लड़कियों के स्कूल के बारे में मैं क्या जानूँ। किन्तु लड़कियों का स्कूल स्थापित करने में तो दोष नहीं है।

दीपालि ने कहा, "आप मेरे घर जाकर एक बार माँ से इस बात पर चर्चा करना चाहेंगे?"

मैंने कहा, "मैं कल सवेरे ही आऊँगा।"

दीपालि चली गई। मेरा अखबार पढ़ना समाप्त हो गया। छत पर जाकर चौकी पर बैठ गया। तारागणों से प्रश्न किया, 'कोटि-कोटि योजन दूर स्थित तुम क्या सचमुच चुपचाप बैठे-बैठे मनुष्य के जीवन के सम्पूर्ण कर्म-सूत्र एवं सम्बन्ध-सूत्र बुनते रहते हो।'

इसी बीच बिना कोई सूचना दिये विश्वपति का मँझला लड़का श्रीपति अचानक छत पर आ उपस्थित हुआ। उसके साथ जो बातचीत हुई, उसका सार यह है—

श्रीपति दीपालि से विवाह करने के हठ में समाज छोड़ने के लिए प्रस्तुत था। पिता कहते थे, ऐसा दुष्कार्य करने पर वे उसे त्याग देंगे। दीपालि कहती, उसके लिए इतना बड़ा दुःख, अपमान और त्याग कोई स्वीकार करे इतनी योग्यता उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रीपति बचपन से ही धनी घर में पला है; दीपालि के मत में वह समाजच्युत एवं निराश्रित होकर दारिद्र्य का कष्ट नहीं सह सकेगा। इसीको लेकर बहस छिड़ रही थी, किसी प्रकार इसका निर्णय नही हो पा रहा था। ठीक इस संकट के समय मैंने बीच में पड़कर उनके बीच और एक पात्र को खड़ा करके समस्या की जटिलता अत्यन्त विषम कर दी। इसी हेतु श्रीपति मुझसे इस नाटक मे से प्रूफ़-शीट के कटे अंश के समान निकल जाने के लिए कह रहा था।

मैं बोला, "जब आ ही पड़ा हूँ तो फिर निकलूंगा नहीं। और यदि निकलूंगा तो ग्रन्थि काटकर ही निकलूंगा।"

विवाह का दिन नही बदला गया, केवल पात्र बदल गया। मैंने विश्वपति का आग्रह पूरा कर दिया, किन्तु वे उससे सन्तुष्ट न हुए। दीपालि का अनुरोध मैं पूरा नही कर पाया, किन्तु उसके भाव से लगा, वह सन्तुष्ट थी। पता नहीं स्कूल में काम खाली था या नही, किन्तु मेरे घर में कन्या का स्थान खाली था, वह भर गया। मुझ-जैसा फालतू आदमी निरर्थक नही है, यह मेरे अर्थ ने ही श्रीपति के समक्ष प्रमाणित कर दिया। उसका गृह-दीप मेरे कलकत्ता के घर में ही जला। सोचा था कि समय पर न किये गए स्थगित विवाह की पूर्ति असमय में विवाह करके करनी पड़ेगी, किन्तु देखा ऊपर वाला प्रसन्न हो तो दो-एक क्लास लाँघकर 'प्रमोशन' मिल जाता है। आज पचपन वर्ष की अवस्था में मेरा घर नातिनियों से भर गया है, ऊपर से एक नाती भी आ धमका है। किन्तु, विश्वपति बाबू के साथ मेरा कार-बार बन्द हो गया है—क्योंकि, उन्हें पात्र पसन्द नहीं आया।